आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग परमहंस श्री स्वामी

दयानन्द 'गिरि' जी महाराज

भाग–2





प्रकाशकः

अम्बाला, कराला एवं मजरी गाँव धार्मिक भक्त-समाज

सन्त-निवास, कराला कुटी, कराला गाँव, दिल्ली–81





आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह

भाग-2

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग

अनन्त श्री स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज



प्रकाशक :

अम्बाला, कराला एवं मजरी गाँव का धार्मिक भक्त-समाज सन्त-निवास, कराला कुटी, कराला गाँव दिल्ली-1100081

मूल्य :

श्रद्धा-भाव-पूर्वक अध्ययन, मनन एवं आचरण

(निःशुल्क वितरणार्थ)
धर्म-प्रेमी भक्तों के सहयोग से

स्वामी जी महाराज के प्रवचनों के प्रथम लेखक, सम्पादन-सहयोगी एवं सम्पादक श्री बलवन्त माथुर, श्री राम शर्मा, श्री बालकृष्ण गुप्ता एवं श्री अश्विनी कुमार।

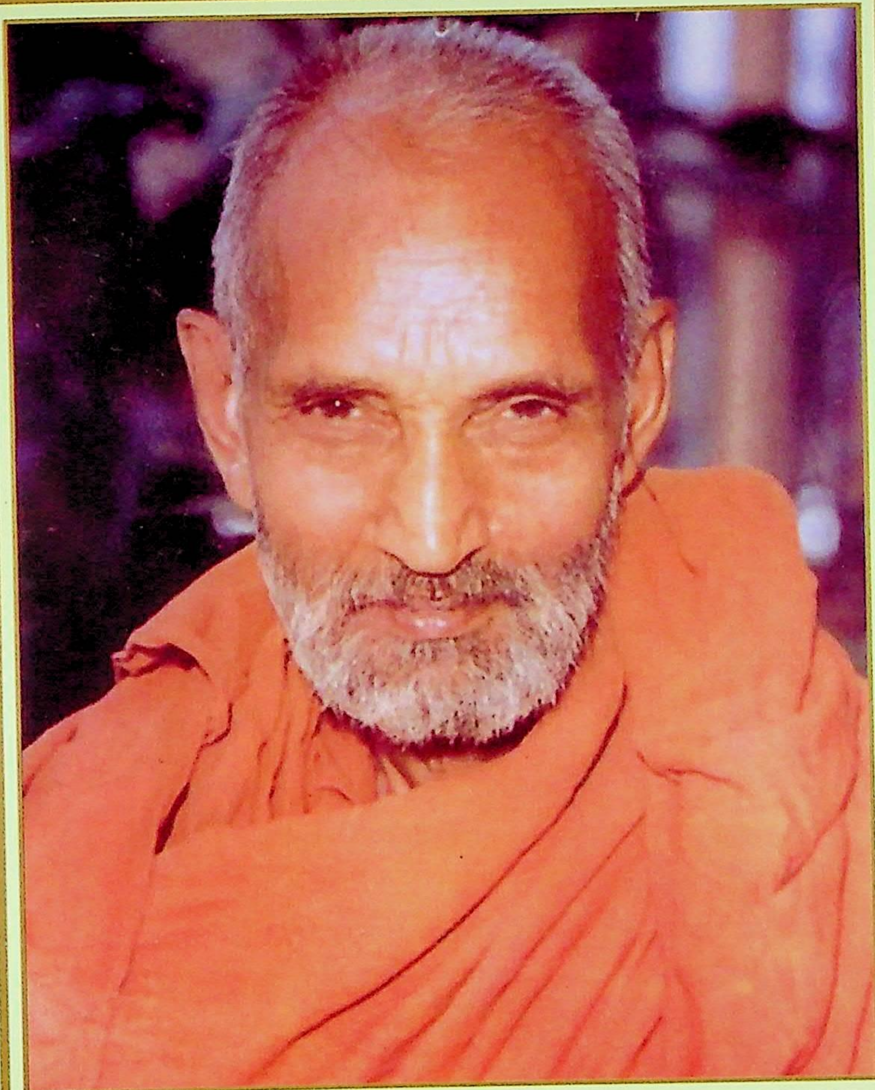
संशोधित सातवां संस्करण : 2018 1100 प्रतियाँ

प्राप्ति स्थान :

1. सन्त-निवास
उजड़ गाँव कुटी, रामा विहार के सामने,
कराला गाँव, दिल्ली -1100081

2. ज्ञान चन्द गर्ग
99, प्रीत नगर
अम्बाला शहर-134003 (हरियाणा)
दूरभाष : 0171-2552761

मुद्रक :
अफीफ प्रिंटर्स
लाल कुंआ, दिल्ली-6



परमहंस वीतराग

स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज

(19 मार्च,1919 – 23 नवम्बर, 2004)

श्री गणेशाय नमः

ॐ श्री गुरवे नमः, श्री परमात्मने नमः

इस शरीर का इसमें कुछ भी नहीं है। अतः 'तेरा तुझ को अर्पण' के भाव से श्रद्धा, कृतज्ञतायुक्त आराधना के रूप में गुरु सत्ता के श्री चरण-कमलों में सादर समर्पित —

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये !

सद्गुरुदेव भगवान् की चरण-रज का
एक अति सूक्ष्म कण।

सेवक
समस्त भक्त-जन

विषय सूची

ॐ

निवेदन

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वीतराग परम पूजनीय श्री स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज ने, जो प्रवचन 1986-87 में कराला कुटी, दिल्ली व 1993-94 में अम्बाला कुटी (हरियाणा) में अपना बहुमूल्य समय प्रदान कर अपनी अमृतमयी वाणी से सुनाने की असीम कृपा की थी। उनमें से 1986-87 के 21 प्रवचन "आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह" भाग -1 में प्रकाशित हो चुके हैं और 1986-87 के 13-प्रवचन व 1993-94 के 8-प्रवचन इस प्रकार कुल 21-प्रवचन इस पुस्तक "आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह" भाग-2 में प्रकाशित किये जा रहे हैं।

श्री बलवन्त माथुर तथा श्री बालकृष्ण गुप्ता जी ने बड़ी मेहनत से टेप से सुनकर इन प्रवचनों को लिखने का, स्वामी जी महाराज को सुनाने का एवं प्रारम्भ में प्रैस में छपवाने का श्रम साध्य सेवा-कार्य किया था और कुमारी रजनी (अम्बाला शहर) ने भी अम्बाला कुटी के 8-प्रवचनों को टेप से सुनकर लिखने का सेवा-कार्य बहुत लगन व मेहनत से किया था। इन प्रवचनों को कई बार शुद्ध करके लिखने व श्री महाराज जी को सुनाने का कार्य महात्मा श्री देवेन्द्रानन्द 'गिरि' जी, श्री राम शर्मा और श्री अश्विनी कुमार कक्कड़ आदि ने बड़े सुचारू रूप से किया था। इस सराहनीय मूल सेवा-कार्य के लिए धर्मप्रेमी समुदाय उन सब का हृदय से बड़ा आभारी है।

प्रथम इस ग्रन्थ का सम्पादन कार्य श्री गणेश शंकर द्विवेदी (शास्त्री) पूर्व रीडर (शिवाजी कालेज) व श्री बलवन्त माथुर ने बड़ी कुशलता से किया था। धर्म-प्रेमी उनका भी अभार व्यक्त करते हैं।

पहले इस पुस्तक के प्रकाशन के लिये श्री स्वामी जी की कृपा से जिन दाताओं ने दिल खोलकर दान दिया था, वे सब बहुत आभार के पात्र हैं। धर्म प्रेमी समुदाय उन सबका हार्दिक धन्यवाद करता है।

इस संस्करण को प्रैस में छपवाने का सेवा-कार्य जिन भक्तों ने भक्ति-भाव से किया वे सब भी आभार के पात्र हैं।

कराला-मजरी एवं अन्य ग्रामों के धार्मिक भक्तों के पूर्ण सहयोग से जो महाशिवरात्रि का भण्डारा (5.3.2000 को) हुआ था उसमें से शेष बैंक में जो राशि थी उस धन राशि में से ही भाग-2 का चतुर्थ संस्करण छपवाया गया है, इसके प्रकाशन के लिए सभी धार्मिक भक्त-जनों को विशेष तौर पर धन्यवाद।

सभी परम उन्नति को प्राप्त हों–यही परम पूज्य श्री स्वामी जी महाराज का असीम आशीर्वाद सभी पर है।

पिछले संस्करण के बारे में जो भी त्रुटियों की सूचना थी, उन त्रुटियों को सामान्य रूप से लगभग संशोधित कर ही दिया गया है। जिन धार्मिक सज्जनों ने ऐसा सेवा कार्य किया है, हम सभी उनके अत्यंत आभारी हैं।

वास्तव में भगवान् के अनन्य प्रेमी भक्तों को नाम व आभार आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती है वे तो अपने-आप में ही धन्य हैं। व्यक्ति तो निमित्त मात्र है, परमात्म कृपा से ही सब कुछ होना सम्भव है।

इस पुस्तक की विषय वस्तु की तैयारी के दौरान यद्यपि इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि जिस सुन्दर ढंग से पूजनीय स्वामी जी ने अपने प्रवचनों में दर्शनशास्त्र की गम्भीर-से-गम्भीर उक्तियों को साधारण-से-साधारण जनों के ज्ञान हेतु क्रियात्मक ढंग से बड़ी सरल भाषा में उपयुक्त उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न किया है, उनको जहाँ तक हो सके, उसी रूप में प्रकाशित किया जाये। परन्तु प्रवचन, क्योंकि बोलचाल की भाषा में अपने ढंग से कहे गये हैं, अतः उनको छपवाने के उद्देश्य से संक्षिप्त करने के कठिन कार्य में कुछ-न-कुछ-त्रुटि अवश्य रही होगी और यह हमारी सीमित योग्यता तथा समय के अभाव के कारण हुई होगी। आशा है कि आप पाठकगण उन त्रुटियों के लिये हमें क्षमा करेंगे।

पुनः हम धार्मिक-भक्त समाज परम पूजनीय श्री सद्‌गुरु देव "परमहंस स्वामी दयानन्द गिरि" जी महाराज को नतमस्तक होकर प्रणाम् करते हैं। उन्होंने भक्तों पर बड़ी कृपा व दया करके इस पुस्तक के प्रकाशन की अनुमति प्रदान की और इसमें छपे प्रवचनों को बार-बार सुनने का और अन्तिम रूप देने के लिए दिन-रात अपना बहुमूल्य समय दिया, ताकि जन-हित और श्रृद्धालुओं के कल्याण के लिए सरल व सादी भाषा में यह ग्रन्थ उपलब्ध हो सके। हमारे पास सद्‌गुरु भगवान् की कृपा व दया का आभार प्रकट करने के लिये कोई शब्द नहीं है और हम केवल श्री महाराज जी के श्री चरणों में पुनः-पुनः दण्डवत् प्रणाम् ही कर सकते हैं। हम सब प्रार्थना करते हैं कि भगवान् हमारे ऊपर इसी प्रकार अपनी कृपा बरसाते रहें।

निवेदक :
समस्त धार्मिक जन व भक्त-समाज
कराला-मजरी गाँव, दिल्ली-110081

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ "आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह" भाग-2 में जनवरी 1987 में कराला कुटी, दिल्ली में दिये गये 13-प्रवचन व 1993-94 में अम्बाला शहर कुटी (हरियाणा) में दिये गये 8-प्रवचन हैं, इस प्रकार कुल 21-प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

स्वामी दयानन्द 'गिरि' जी महाराज ने वेद और शास्त्रों में वर्णित गूढ़ आध्यात्मिक ज्ञान को सरल व सहज रीति से लौकिक उदाहरण देकर जन साधारण के लिए प्रस्तुत किया है। कम पढ़े-लिखे साधारण जन भी इन प्रवचनों को पढ़ व समझ सकते हैं और धर्म मार्ग की ओर अग्रसर होते हुए लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इस पुस्तक में श्री महाराज जी ने आध्यात्मिक जीवन व भौतिक जीवन के सम्बन्ध में बड़े सुन्दर ढ़ंग से अपनी अमृतमयी वाणी द्वारा इन प्रवचनों के माध्यम से सरल व सादी बोलचाल की भाषा में समझाया है।

श्री महाराज जी का मूल उपदेश दस बन्धनों से छुटकारा पाना व परम सुख व शान्ति प्राप्त करना है ताकि दुःख से सदा के लिये छुटकारा मिल जावे। ये दस बन्धन हैं 1. दृष्टि 2. संशय 3. शील-व्रत-परामर्श 4. राग 5. द्वेष 6. रूप राग 7. अरूप राग 8. मान 9. मोह और 10. अविद्या। इन्हीं दस बन्धनों से काम, क्रोध, लोभ आदि विकार तथा ईर्ष्या, मत्सर, अधीरता, भय आदि कुत्सित भावनायें उत्पन्न होती हैं। ये दस बन्धन और इनसे उत्पन्न विकार हर जीव व मनुष्य को संसार में जकड़े रहते हैं और सुख का श्वास भी नहीं लेने देते हैं।

संसार में रहते हुए भी इन दस बन्धनों व विकारों से मुक्ति पाने के लिए भगवान् के दस बलों की भक्ति करनी पड़ती है। ये दस बल हैं:- 1. मैत्री 2. करुणा 3. मुदिता 4. उपेक्षा 5. क्षमा 6. शील 7. दान 8. वीर्य 9. ध्यान और 10. प्रज्ञा। यदि इन दस बलों की भक्ति इस जीवन में न बन पायी, तो प्रकृति अपने बल से ही चलाती रहेगी और पता नहीं कहाँ दुर्गति के गड्ढे में डालेगी? इस दुर्गति से बचने के लिये व सुगति (जीवन की सुखमय अवस्था) पाने के लिए इन दस बलों की भक्ति श्री महाराज जी ने नितान्त आवश्यक बतलाई है।

अपने प्रवचनों में श्री महाराज जी ने आध्यात्मिक व भौतिक जीवन के ऊपर बड़ा ही सुन्दर प्रकाश डाला है। आध्यात्मिक जीवन का तात्पर्य यही है कि अपनी आत्मा (अपने-आप) में जीने का रास्ता प्राप्त कर लेना व बाहर

के प्राणी व पदार्थों के ऊपर जरूरत से ज्यादा आश्रित न रहना। जहाँ तक जीवन धारण करने के लिये बाहर के प्राणी व पदार्थों का संग करना है, वहाँ तक तो उचित है, लेकिन व्यर्थ में आवश्यकता से अधिक उनका संग करना प्रकृति की दासता है। अपने-आप में ऐसा जीवन चला जाये कि बाहर बिखरा हुआ मन व प्राण-शक्ति अन्दर एकत्रित हो जाये अर्थात् संसार से बिछुड़ कर केवल अपने-आप में इकट्ठी हो जाये। आध्यात्मिक जीवन से बिल्कुल विपरीत भौतिक जीवन है, जो प्रकृति (आदतों की शक्ति) द्वारा उसकी इच्छा के अनुसार चलाया जाता है। इस जीवन में बाहर संसार में स्वार्थ रखते हुए व्यक्ति का मन दूसरों में उलझा हुआ है। इस भौतिक जीवन में जीव विवश-सा चलता रहता है, जिसका अन्तिम फल—रोग, शोक आदि दुःखों की प्राप्ति है। आध्यात्मिक जीवन का फल दुःखों से छुटकारा होकर अपनी आत्मा और परमात्मा में स्थिति है, जो सदैव सुखरूप है। यह जीवन आरम्भ में कड़वा व अन्त में सुखरूप है, जबकि भौतिक जीवन पहले मीठा लगता है, परन्तु अन्त में दुःखद हो जाता है। परिपक्व ज्ञान (प्रज्ञा) द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि के लिये आध्यात्मिक (अपने-आप में) जीवन को उन्नत तथा विकसित करना पड़ता है। आध्यात्मिक जीवन, भौतिक जीवन की उलझन से मुक्त होने के लिये अपने-आप में या आत्मा में ही होता है।

श्री महाराज जी ने हर कार्य करते समय मन की उपस्थिति व स्मृति रखने पर विशेष बल दिया है। मन की एकाग्रता ही ध्यान की कुंजी व जीवन में सफलता है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य एक ऐसे सुख की प्राप्ति है, जो कि एक बार मिलने पर बिछुड़े नहीं। प्रकृति, जिसने ये संसार रचाया है, उसने ऐसे सुख की रचना की है, जो थोड़ी देर के लिये प्राणी या पदार्थों के संग से मिलता है और फिर समाप्त हो जाता है। प्रकृति वाली बुद्धि थोड़े सुख की प्राप्ति के लिये ही अपना निर्णय देती है लेकिन भगवान् के मार्ग की निश्चयात्मक बुद्धि शाश्वत सुख अर्थात् अन्तिम भलाई के बारे में अपना निर्णय देती है। मनुष्य को अपने जीवन में कर्मयोग, भक्तियोग व ज्ञानयोग तीनों को ही अपनाने की आवश्यकता है अर्थात् जब मन के साथ जुड़कर कर्म करने की आदत डालेंगे तो भक्ति की योग्यता आयेगी अर्थात् ध्यान योग में प्रवेश मिलेगा। ध्यान में अन्दर के सत्यों का पता चलेगा—यही ज्ञान योग है। यही ज्ञान योग आपको सब बन्धनों से मुक्त कर देगा। प्रकृति की झूठी प्रेरणाओं को लाँघ जाने पर मन शान्त हो जायेगा। शान्त मन में भगवान् का आनन्द प्रकट होता है।

श्री महाराज जी ने व्यक्त और अव्यक्त ज्ञानरूप चेतनदेव भगवान् व

क्षण के साक्षात्कार के बारे में बड़ा सुन्दर विवेचन जन-साधारण को समझाने के लिये किया है। भव तृष्णा (रजोगुण) व विभव तृष्णा (तमोगुण) ये दो तृष्णायें ही मनुष्य को किस प्रकार जीवन में बाँधे रखतीं हैं, इसकी व्याख्या भी बड़ी विस्तृत रूप से की गई है।

इस आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह भाग-2 का मुख्य उपदेश अपनी आत्मा में स्थायी (सदा बना रहने वाला) सुख तथा शान्ति है और इसके लिये थोड़ा आदतों का सुख छोड़ना रूपी त्याग व ऐसी आदतों का सुख छोड़ने से पहले होने वाली थोड़ी तंगी को सहन करना रूप तप अवश्य करना पड़ता है। व्यर्थ के बाहर के प्राणी व पदार्थों का संग त्यागने का प्रयास करना चाहिये और इनको त्यागने की युक्ति व रास्ता अपने मन में ध्यान करने से ही मिलेगा। त्याग का तंगी रूप दुःख, जो कड़वी दवाई के समान है, को सहन करने की युक्ति, ध्यान द्वारा बुद्धि बतलाती है। इस प्रकार बुद्धि रखकर, ध्यान द्वारा सत्य को पहचान कर अपने को संयम, त्याग, तप आदि धर्मों द्वारा व विवेक, वैराग्य, सन्तोष आदि गुण उपजाकर सही मार्ग पर चलाना ही आध्यात्मिक जीवन का सार है।

जो इन धर्मों को अपना सके तथा अन्तरात्मा के स्थायी सुख तथा शान्ति पाने का इच्छुक हो और बाहर उत्तम बर्ताव, अन्दर का ध्यान तथा ध्यान द्वारा सही ज्ञान को उपजाकर अपने को इस संसार के बन्धनों से बचाने की इच्छा रखता हो, वही इस आध्यात्मिक जीवन का अधिकारी है। बाहरी जीवन की शुद्धि के लिये बाहर संसार में अपने को पापों से बचा-बचा कर चलाना है। अपने अन्तःकरण या चित्त (मन) की शुद्धि (सफाई) के लिये आध्यात्मिक जीवन को उन्नत करना होता है। इस मन की शुद्धि हो जाने पर वह बाहर या संसार की बहुत बड़ी उलझनों या बन्धनों के झंझट से मुक्त हो जायेगा। मुक्त हुआ मन अपने-आप में एकान्त आसन पर व सब में विचरण करता हुआ परम सुख (आनन्द) का अनुभव करेगा—यही मुक्ति है।

इस ग्रन्थ के पढ़ने से ऐसा लगता है कि परम पूजनीय श्री महाराज जी के सान्निध्य में बैठकर ही उनकी करुणामयी व मधुर वाणी से उनको साक्षात् सुन रहे हैं और श्री महाराज जी के प्रवचनों का सीधा प्रभाव पड़ रहा है। उनके उपदेश बड़े मार्मिक व आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर करने वाले हैं। श्री महाराज जी के चरण कमलों में इस अपार कृपा दृष्टि के लिये हम कोटिशः प्रणाम् करते हैं।

—श्री राम शर्मा

—गणेश शास्त्री

समर्पण

हमें आध्यात्मिक प्रवचन संग्रह भाग-2 का पंचम (संशोधित) संस्करण आप भक्त-जनों के हाथों में सौंपते हुए अपार हर्ष हो रहा है। इस ग्रन्थ के चार संस्करण पहले छप चुके हैं जो हज़ारों पाठकों एवं धर्म प्रेमियों तक पहुँच चुके हैं और वे सभी इनका भरपूर लाभ उठा कर अपना जीवन सार्थक बना रहे हैं।

देश-विदेश के धर्म प्रेमियों ने इन ग्रन्थों का अध्ययन व मनन करके अपने विचारों एवं प्रतिक्रिया से हमें पत्रों एवं मौखिक रूप से अवगत कराया है। उनके सुझावों के अनुरूप ऐसा अनुभव किया गया कि जो-जो सुझाव एवं त्रुटियां चौथे संस्करण में रह गईं थीं उनको पांचवें संस्करण में स्वामी जी के आशीर्वाद व प्रेरणा से दूर करने का प्रयास किया जाये ताकि स्वामी जी महाराज द्वारा बोले हुए अनमोल प्रवचनों का भक्त-जन शुद्ध रूप में अध्ययन, मनन एवं आचरण कर सकें। कार्य तो बहुत ही कठिन था किन्तु इसे किया जाना भी ज़रूरी था। इस संदर्भ में मुझे कुछ ऐसे महानुभावों एवं विद्वानों की आवश्यकता महसूस हुई जो निःस्वार्थ भाव से समस्त त्रुटियों को देख कर उन्हें शुद्ध कर सकें। संयोगवश मेरे मित्र एवं स्वामी जी के परम भक्त श्री सी० एल० पुरी पत्रकार के माध्यम से डॉ० सुरेन्द्र गुप्त जी से मेरी भेंट हुई और अपेक्षित कार्य को पूरा करने के लिए उनकी ओर से पूरा सहयोग प्राप्त हुआ, जिसके लिये सभी भक्त-जनों की ओर से मैं उनका आभारी हूँ। डॉ० सुरेन्द्र गुप्त जी के अतिरिक्त श्री सुरजीत लाल वासुदेव जी तथा श्री सुरजीत नागपाल जी ने भी यथासंभव इस पुण्य कार्य में सहयोग दिया, जिसके लिए वह भी आभार के पात्र हैं।

यद्यपि इस संशोधित संस्करण में अशुद्धियां देखने में पूर्ण रूप से सावधानियां बरती गई हैं तथापि इसकी छपाई में यत्र-तत्र त्रुटियां

अवश्य हो सकती हैं, उसके लिए सहृदय धर्म प्रेमी भक्त-जनों से विनम्र प्रार्थना है कि वे इन त्रुटियों के लिए हमें क्षमा करेंगे।

यह पंचम संस्करण अम्बाला, कराला, मजरी, बरवाला एवं समीप-ग्रामों (दिल्ली-81) तथा अन्य स्थानों के भक्त-जनों के सहयोग से छपवाया गया है। इस पुण्य कार्य के लिए इन सभी भक्त-जनों का मैं हृदय से धन्यवाद करता हूँ। निश्चित रूप से परम पूज्य स्वामी जी महाराज का इन सभी भक्तजनों पर सदैव के लिए आशीर्वाद बना रहेगा।

जीवन की मैंने सौंप दी है, अब डोर तुम्हारे हाथों में।
उद्धार-पतन अब मेरा है, भगवान् तुम्हारे हाथों में।।
संसार असार है सार नहीं, प्रभु शेष रहे ना भूल कहीं।
मैं हूँ संसार के बंधन में, संसार तुम्हारे हाथों में।।
आँखों में सदा यह ध्यान रहे, मन प्रभु चरणों में लगा रहे।
यह अन्तर मन की चाहत है, भगवान् तुम्हारे हाथों में।।
यह बार-बार प्रभु बिनती है, ये भाव सभी भक्तन के हैं।
सब भक्तन का कल्याण है अब, भगवान् तुम्हारे हाथों में।।

99, प्रीत नगर
अम्बाला शहर-134003 (हरियाणा)
दूरभाष : 0171-2552761

विनीत
ज्ञान चन्द गर्ग

प्रवचन-1

दिनांक : 9.1.1987

1. धर्म के तीन स्तम्भ बताये गए हैं, जिनके सहारे पर यह धर्म खड़ा है। जैसे मकान में थम्भे (पिल्लर) लगे होते हैं, इसी को संस्कृत में स्तम्भ कहते हैं। धर्म के तीन स्तम्भ कर्म, भक्ति या ध्यान और ज्ञान हैं; जिन्हें कर्मकाण्ड, भक्ति या ध्यान काण्ड और ज्ञान काण्ड का नाम दिया गया है। इन्हीं स्तम्भों के ऊपर धर्म का मकान खड़ा है। प्रत्येक मनुष्य, जो धर्म को अपने मन में बसाना चाहता है, उसको इन तीनों (कर्म, भक्ति और ज्ञान) की उपासना (आराधना) अर्थात् सेवा करनी पड़ती है। ऐसी बात नहीं है कि मनुष्य का एक ही धर्म के स्तम्भ को अपनी मर्जी से अपनाने पर ही बेड़ा पार हो जायेगा। हर एक मनुष्य को समय-समय के अनुसार धर्म के तीनों स्तम्भों को ही अपने जीवन में अपनाना पड़ता है।

2. जब मनुष्य ठीक कर्म करने में दृढ़ (पक्का) हो जायेगा, तो उसमें ध्यान और भक्ति भी ठीक जगेगी। जब ध्यान और भक्ति ठीक होने लगेगी तो सत्य का ज्ञान भी होने लगेगा। जब सत्य का ज्ञान हो जायेगा, तो उसके आगे अन्तिम फल है; संसार के बन्धनों से मुक्ति अर्थात् इन बन्धनों से छुटकारा। इस प्रकार मुक्त हुआ मन अपनी शक्ति अपने निकट (नज़दीकी) से एकत्रित (इकट्ठी) करेगा। उसी शक्ति के सहारे उसको परमानन्द मिलेगा, जो भगवान् का अपने अन्दर का सहज स्वाभाविक सुख है। यह अन्तरात्मा का सहज स्वाभाविक आनन्द ही इस जीवन में सब से उत्तम पाने की वस्तु है।

3. बाहर की किसी भी वस्तु का भी सुख मनुष्य के लिए सदा बना रहने वाला नहीं है। बाहर का सुख या आकर्षण; जिसके

कारण से मन बाहर ही बंधा रहता है; चाहे वह सुख किसी भी प्राणी या पदार्थ के संग से मिलने वाला है; वह सब सुख थोड़ी देर का ही होता है, वह बाह्य सुख सदा बना रहने वाला नहीं है। मनुष्य को उस सुख से पूरी तृप्ति (सन्तुष्टि) सदा रहने की नहीं है। बाहर की वस्तुओं का सुख कई शर्तों से बंधा हुआ है अर्थात् कई निमित्तों से प्राप्त होने वाला है। जैसे कोई सुख उस खास समय की आयु अर्थात् बालपन अथवा लड़कपन की आयु के कारण से है, जिसमें कि कोई चिन्ता-फिकर नहीं होती है; यह आयु (उम्र) ढल गई तो वह सुख भी समाप्त (खत्म) हो गया, जैसे खाने-पीने आदि से प्राप्त होने वाला सुख है। कोई भी सुख हो, वह इन्द्रियों की शक्ति समाप्त (खत्म) होने या रोग इत्यादि के कारण या शरीर में शक्ति कम हो जाने से समाप्त हो जाता है। इस प्रकार से बाहर के सब सुख, कई कारणों से बंधे हुए होते हैं। ये निमित्त (कारण) एक जैसे किसी के भी नहीं रहते। यह जीवन तो बहती हुई गंगा है। इस शरीर के बीच में वह चेतन धारा बह रही है। बहते-बहते आज जो बचपन दीख रहा है, कल लड़कपन व जवानी और फिर बुढ़ापा आ जाता है। इस तरह से जीवन का सारा समय निकल जाता है। वह किसी विशेष समय का सुख भविष्य में (आने वाले समय में) रहने वाला नहीं है। जब वे सुख रहने नहीं हैं, तो ये ही बाहर के सुख कहे गए हैं, जो कि बाहर की वस्तुओं के सम्बन्ध से ही टिके रहते हैं। परन्तु बाहर की वस्तुओं से प्राप्त (मिलने) होने वाला कोई भी सुख सदा (हमेशा) टिके रहने वाला (बना रहने वाला) नहीं है।

4. सुख के बिना मन सन्तुष्ट नहीं रहता, जहाँ भी कहीं इसको सुख मिलेगा, यह उसी के बारे में चिन्तन करता रहता है। इसको एक ही लालच है कि जो वस्तु अच्छी लगती है; बस यह उधर ही भागता रहता है और उसी में डटे रहना अर्थात् बंधा रहना चाहता

है। जो वस्तु या परिस्थिति अच्छी नहीं लगती, उसका नाम दुःख है और वहाँ से यह पीठ दिखा करके भागना चाहता है। जिन स्थानों (जगहों) में इस मन ने सुख की कल्पना कर रखी है अर्थात् सुख मान रखा है और जब वहाँ सुख नहीं रहता तो बताओ, यह कहाँ भाग कर जायेगा? तब भाग कर जाने का एक ही रास्ता है कि वह मन धर्म के रास्ते पर आ जाये। यदि वह मन अन्दर की धारणा करने लग जाये तो बाहर के सुखों की आवश्यकता उसे नहीं रहेगी। अन्दर का बड़ा सुख जो है, वह थोड़ी देर के लिए मनुष्य को नींद में तो मिलता है। थके हारे मनुष्य को थकावट उतारने का भी एक सुख है जो कि अन्दर अपनी आत्मा का ही सुख है। कोई भी दुःख शान्त होने से जो सुख मिलता है, वह अन्तरात्मा का सुख होता है। जैसे धूप में चलते हुए मनुष्य को कहीं छाया व ठण्डा पानी मिल जाये तो उसको सुख महसूस होता है, जो केवल उस चलने के दुःख व ताप से निवृत्ति या छुटकारा है, जो कि सुख रूप से महसूस करने में आता है। वहाँ कोई ऐसी वस्तु नहीं है; जो कहने-सुनने में आये, खाली उसके अन्दर जो थकावट परेशानी थी, उसके उतर जाने का ही वह सुख है।

5. संसार में मन ने जितनी भाग-दौड़ मचा रखी है; इसी से थक करके वह परेशान हो गया है और हार गया है। कई बीमारियाँ व रोग-शोक अपने अन्दर उसने बैठा लिये हैं और अपने अन्दर इतनी चिन्ता लाद ली है (इकट्ठी कर ली है) कि वे पूरी नहीं होती और उससे इसका साँस भी सुख से नहीं चलता और इसका जीना भी भारी हो जाता है। इस प्रकार यह मन इतना अपने अन्दर हारा हुआ है कि इसको अपने-आप में कोई सुख शान्ति नहीं मिलती। इसका एक ही रास्ता है कि बाहर की सब चिन्ताओं आदि को छोड़कर वह अपनी अन्तरात्मा में आ जाये, जिसका सुख सहज व स्वाभाविक है।

6. जैसे, कोई सोया हुआ मनुष्य अपने में ही सुख लेता है। यह नींद का अर्थात् निद्रा का सुख कोई ऐसा सुख नहीं है जो किसी दूसरे व्यक्ति या वस्तु से प्राप्त होता हो। यह सुख तो केवल बाहर संसार की वस्तुओं आदि को ठोकर मारकर अपनी अन्तरात्मा में एकत्रित (इकट्ठा) होने से ही मिलता है। यह ठीक है कि वहाँ इन्द्रियाँ व मन नहीं जाग रहे हैं; परन्तु अन्दर आत्मा का ही सुख होने से नींद कितनी मीठी लगती है। सारे काम-काज़ को पटक कर वह कोई ख्याल नहीं करता कि मेरी कोई वस्तु या सम्पत्ति रहने पायेगी या नहीं; कहाँ वह (सम्पत्ति) जाती है; कहाँ बिगड़ती है; या कहीं चोरी हो जायेगी। लेकिन जब नींद आती है तो इन सब सांसारिक वस्तुओं का ख्याल छोड़ कर नींद का सुख लेने के लिए वह अपने-आप को उसके अर्पण कर देता है और सो ही जाता है। इस प्रकार से नींद का सुख संसार के जाल को मन से उतार देने पर या निद्रा के वेग से उसके स्वयं उतर जाने से अर्थात् सांसारिक चिन्ताओं को एक तरफ पटक देने पर अकेले में ही मिलता है। जब तक मन में बाहर संसार की चिन्ता-फिकर लदी रहती है अर्थात् मन बाहर से छुट्टी नहीं पाता तो उसको नींद भी नहीं आती। चिन्ता रहित को ही सुख की नींद आती है। नींद में किसी को पता नहीं रहता कि कौन अपना है और कौन पराया है। वहाँ कोई मित्र या बैरी नहीं है जो इस नींद के सुख को बिगाड़ सके।

7. जब तक वह सोया रहता है, वह तृष्णा वाला मन नहीं जागता, तब तक ही उसे सुख है। लेकिन यदि उसकी आँख खुल गई और तृष्णा भड़क गई कि यह करना था, वह करना था या यह खाना था, वह पीना था इत्यादि, तो फिर नींद भी मीठी नहीं लगती। इसका तात्पर्य (मतलब) यह है कि जो सहज अन्दर का सुख है, वह आत्मा का सुख बिना किसी बाहर की शर्त या कारण

से अपनी आत्मा में ही मिलता है और वह अपनी आत्मा का ही होता है। वह सुख इतना सहज व स्वाभाविक है कि वह सदा ही आत्मरूप से बना रहता है, यदि बाहर की तृष्णा व चिन्ता आ करके उसे न दबाये अर्थात् विक्षिप्त न करे (इधर-उधर नहीं पटके)। यदि बाहर की कोई चिन्ता आ गई तो उसको फिर नींद में भी सुख व शान्ति नहीं मिलती। यदि आप विचार करके देखेंगे तो पता चलेगा कि बाहर की भाग-दौड़ से होने वाला सुख सदा बना रहने वाला नहीं है। बाहर जो कुछ भी आप बनोगे तो उसका सुख माप का ही है और कुछ समय तक ही रहने वाला है। फिर यदि उस बाहर के सुख को आप सदा बनाये रखना भी चाहेंगे तो कल्पना में भले ही पड़े रहो, किन्तु वह सुख सदा बना रहने का नहीं है।

8. शरीर, वृद्ध (बूढ़ा) हो गया, शरीर की शक्ति नहीं रही; इन्द्रियों में ताकत नहीं रही और बाहर भी दूसरों का अपने लिए कोई उतना प्यार व प्रीति नहीं रह गई तो वह सुख कैसे बना रहेगा? इसके साथ-साथ खाने-पीने की शक्ति ठीक नहीं रही; हज़म होने की शक्ति नहीं रही; तो भी पहले वाले सुख कैसे रहते? जब देखने की भी शक्ति (आँख) नहीं रही, तो नाटक-सिनेमा कैसे देख पाओगे? कान मारे गये तो गाने-बजाने का सुख कहाँ रह गया? इस तरह से कोई भी ऐसा सुख नहीं है, जिसको आप कह सको कि हम इसके सहारे सदा जीते रहेंगे अर्थात् जीवन व्यतीत कर सकेंगे। सुख के बिना मन एक मिनट भी यह नहीं समझता कि मैं आराम से रह जाऊँगा, अब दुःख में समय कैसे बितायेगा? इस दुःख को दूर करने के लिए मन दूसरे सहारों के बारे में सोचेगा। दूसरे और भी जितने सहारे हैं, वे सब भी ऐसे ही अस्थायी हैं अर्थात् टिकने वाले नहीं हैं।

9. एक ही ऐसी जगह है कि यदि मन सब बाहर से छुट्टी पा

करके जागता–जागता, अन्दर का सुख प्राप्त कर जाये तो वहाँ यह आराम से टिक जायेगा व सदा सन्तुष्ट रहेगा। इसलिए धर्म के आचार्य, शास्त्र वाले कहते हैं कि थोड़ा इस अन्दर के सुख की खोज करो। यहाँ खोज करने पर जो सुख मिलेगा वह बड़े एकान्त का है। जैसे निद्रा का सुख बड़े एकान्त का है, उसी प्रकार अपनी अन्तरात्मा का सुख भी बड़े एकान्त का है। ऐसी अवस्था में अकेले तो जरूर पड़ जाओगे। जिस समय उस सुख के लिए आप ध्यान में गए, तो समझो मन एकाग्र हो गया। संसार से छुट्टी पाने पर अकेले में यह सुख मिलेगा। यदि उस जगह अकेले में जा करके उसको डर लगने लग जाये कि मैं यहाँ पर अकेला पड़ गया तो यह अकेला पड़ने का डर भी उस सुख को नष्ट करने वाला है। इसलिए बहुत से धार्मिक आचार्य पुरुष संसार में ही रमण करना चाहते हैं, कारण कि वे समझते हैं कि अकेले में तो मन सदा रमने का (लगा रहने का) नहीं है, और अकेले में तो डर लगता है, क्योंकि यह मन बहुत व्यक्तियों में रमने का आदी हो गया है। इसलिए यह जागता हुआ भी इस संसार को बिल्कुल त्यागने के पक्ष में नहीं है। यद्यपि यह भय केवल अविद्या का ही है, अर्थात् जब तक आत्मा, परमात्मा रूप में या सर्वरूप में नहीं दिखाई दिया, तब तक ही यह भय बना हुआ है। जब अकेले डर लगने लगे तो उस समय ध्यान में शब्द बोल–बोल कर अपने मन को इस प्रकार कहे कि हे मना! तू अकेले में तो डर मान रहा है, लेकिन जहाँ जुड़ने जा रहा है; वहाँ भी सदा सुख कैसे रहेगा? वहां कौन सा सुख मिलने वाला है? बाहर जो कुछ भी सुख चाहता है, उसके लिए बाहर कुछ तो तुझे बनना पड़ेगा अर्थात् किसी का पिता, पुत्र, मित्र व किसी के लिए कुछ बनोगे। जो बाहर बनने का सुख है, वह भी सदा कहाँ रहेगा? इज्जत, आदर मान का सुख भी थोड़ी देर का है अर्थात् सदा

बना नहीं रहता। इज़्ज़त,आदर-मान का सुख भी तब तक ही रहता है, जब तक उसकी इज़्ज़त करने वाले बैरी नहीं बनते। यदि वे बैरी बन जायेंगे तो आदर-मान का सुख भी बना नहीं रहेगा। चाहे संसार के किसी अधिकार का आपको सुख हो, वह सदा एक जैसा सुख नहीं रहेगा तो फिर मन बाहर किस लिए लपकता है? और बाहर जा करके क्या बनेगा? जो कुछ बनेगा, वहाँ धक्के ही खायेगा। यदि यह विचार ध्यान में आप जगा लेंगे तो आपको एकान्त में अविद्या परेशान नहीं करेगी कि "मन नहीं लग रहा है और अकेला पड़ गया।" उस समय आप ध्यान में अकेले नहीं रहोगे।

10. ध्यान ही एक ऐसा सुख दे देगा कि जिससे संसार का सारा ज्ञान पता लगने लगेगा अर्थात् संसार मन में जाग जायेगा। यह एक आपका ध्यान का लोक बन जायेगा। ये धर्म की बातें मनुष्य को पहले-पहले तो समझ में आनी कठिन (मुश्किल) हैं। जैसे कई कहते हैं कि आँख बंद करते हैं तो अन्धकार दीखता है और उसमें मन नहीं लगता तो किसके सहारे मन को लगायें और कैसे मन डटेगा? मन तब तक नहीं डटता है जब तक वह खाली मन रहता है और उसके अन्दर अविद्या छाई रहती है। अविद्या में कुछ ज्ञान तो होता नहीं अर्थात् वह मन ज्ञान शून्य जगह में पड़ जाता है। वह मनुष्य ज्ञान शून्य होकर कैसे टिकेगा? ज्ञान तो उसकी आत्मा है। कुछ समझता रहे तो जीवन है। जब वहाँ समझ ही कुछ नहीं तो मन अकेले में टिकता नहीं। ऐसी अवस्था में बाहर से तो छुट्टी पाई; बाहर तो वस्तुएँ त्याग दीं और अन्दर ज्ञान जागा नहीं तो अकेले में भय (डर) ही लगता है और भय (डर) के कारण वहाँ मन भी नहीं लगता। मन नहीं लगेगा तो दूसरों के बीच में ही जाना पड़ेगा। किसी तरीके से चाहे अच्छी संगत ही कर ली या कोई पुस्तक ही पढ़ ली अर्थात् शास्त्र का

अध्ययन कर लो, परन्तु ये साधन भी सदा के लिए आपको सुख नहीं दे सकते, कारण कि संगत कराने वालों ने भी बिछुड़ जाना है और पढ़ने के लिए आँखों की शक्ति भी समाप्त हो जानी है।

11. जिसने मर करके अकेले होना ही है और उसने अकेले का अपना नक्शा मन में खींच लिया है तो पहले जीते जी ही अकेले हो करके इसका सुख अनुभव कर लो। अब अकेले होकर कौन नहीं सुखी होने देता? वही मन, जो दूसरों के सुखों के सहारे बंधा हुआ है। दूसरे, चाहे वे प्राणी (मित्र, प्यारे) हैं या पदार्थ (खाने-पीने, देखने-सुनने के) हैं, जिनके संग से सुख होता है, इन दोनों के संग से होने वाला सुख सदा बना रहने वाला नहीं है। जो अपने मन को एकान्त में जगाने वाला है, उसका जगा हुआ मन अपनी आत्मा में ब्रह्म का अनुभव करने की शक्ति पा जाता है। ब्रह्म में तो सारा जगत प्रतिष्ठित (स्थित) है। जैसे, सोये हुए जीव की आत्मा में सारा संसार स्वप्न में दीखता है, इसी प्रकार सारा संसार ध्यान में आत्म-ज्ञान को जगाने वाला देखता है। इसलिए उसके लिए अकेलेपन का कोई कष्ट, शंका में भी नहीं आता। परन्तु ध्यान में सत्य ज्ञान को जगा कर सब बन्धनों को देखना चाहिए और सब बन्धनों को त्यागने का उद्योग करना चाहिए। इस पूर्ण फल की प्राप्ति के लिए धर्म के ये तीन स्तम्भ बताये गये हैं।

12. इस फल को प्राप्त करने के लिए धर्म के तीन स्तम्भों, क्रमशः एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे की भक्ति अपने मन में आराम से करते रहोगे, तो ये ठीक आराम से सब जगह से आपकी मुक्ति (छुट्टी) करवा देंगे। जैसे आँख को भी उस जगह डालना, जहाँ देखने की आवश्यकता (ज़रूरत) है। जिस जगह मेरी कोई देखने की ज़रूरत नहीं है और फालतू की वस्तु है, उधर से आँख को भी रोकना है, इसी का नाम संयम हो जायेगा।

इसी प्रकार कान, जिह्वा (रसना) को भी ज़रूरत से ज्यादा बाहर नहीं जाने देना है। यह सारा जितना है, कर्म स्तम्भ है अर्थात् कर्मकाण्ड है। थोड़ा बाहर जीवन में अपने मन को रोके। जितना-जितना इसे रोकोगे, इन्हीं वस्तुओं का बिछोड़ा, जिधर से मन को रोका है, आपको अकेले जीने नहीं देगा या अकेले में आपको आराम से टिकने नहीं देगा। जब अकेले में टिकने नहीं दे तो उस समय यह ध्यान करना है कि इन वस्तुओं के बिछोड़े से दु:ख तो है परन्तु इनके सहारे से सुख भी तो नहीं है। जितना-जितना भी आप किसी दूसरे के संग से सुख पाते हैं, वह सुख भी सदा रहने का नहीं है तो फिर इनका संग भी कहाँ तक किया जा सकेगा। इनके बिना केवल जो अपने अन्दर आत्मा व परमात्मा का सुख होगा, वही सदा के लिए निर्भय व बना रहने वाला होगा।

13. अकेले बैठ करके थोड़ा अपने-आप में ध्यान करे कि अकेले में यह मन इसलिए नहीं लग रहा है कि आँखें बाहर नहीं घुमा रहा; कानों से सब दुनियावी मतलब की बातें नहीं सुन रहा, जैसे कि पुरानी आदत थी। और इसी तरह से कई प्रकार के रसों से जिह्वा को भी रोक दिया है। नाना प्रकार की कई संगतों से मन को भी रोका है। इस प्रकार अकेले में आपका मन नहीं डटता, थोड़ी तंगी होती है, जिसको मन बुद्धि को बनाये रखते हुए सहन करना पड़ता है, इसी का नाम तपस्या या तितिक्षा है। जैसे अकेला बैठा मनुष्य बीमारी, सिर दर्द, गिर पड़ने या किसी के अपमान का दु:ख भी तो झेलता है और भी नाना प्रकार के दु:ख झेलता है, जो कि एक दम दवाई लेने से भी दूर नहीं होते और बिना किसी दूसरे के सहारे अकेलेपन में ही इन दु:खों को झेलना पड़ता है, वैसे ही इस आँख, कान आदि का संयम करने से होने वाले दु:ख को, जो कि बीमारी, कटे जले आदि से ज्यादा नहीं है,

अकेला बैठा झेलता रहे, जो कि तपस्या रूप है। आँख भी गलत जगह नहीं डालनी, थोड़ा कान को भी गलत जगह नहीं ले जाना; वाणी को भी थोड़ा रोकना है। इस प्रकार से हर एक इन्द्रिय को समझ के साथ रोकना और इस रोकने का अभ्यास करते जाना, जिससे कि एक दिन यह स्वाभाविक हो जाये। और देह के भी कई मिथ्या कर्मों (जैसे अपने मन को बहलाने के लिए ताश, चौपड़ खेलना और भी नाना प्रकार की कई आदतें अर्थात् व्यर्थ नशों के चक्कर में पड़ जाना आदि) को भी टालना, यही संयम अर्थात् कर्मकाण्ड है। इन मिथ्या कर्मों में जकड़ा रहने वाला मन कभी भी ध्यान करने के योग्य नहीं हो सकता।

14. जिन कर्मों में मन को भटकाया है, वह बार-बार उधर ही जाया करेगा। जब मन उधर जाये तो मन में सोचना कि उधर क्या मिलेगा? उसके सुख का चित्र मन में खींचते हुए विचार (चिन्तन) करना कि क्या यह सुख सदा बना रहेगा? इस सुख ने एक दिन तो बिछुड़ना ही है। फिर इसके बिछोड़े को अभी देख लें। ऐसा करते हुए एकान्त में समय बिताने का अभ्यास करे और धीरे-धीरे इसे बढ़ातें जायें। अन्त में यह समय बिताना दुःख रूप नहीं रहेगा। इसलिए धीरे-धीरे थोड़ा उन सब पुराने कर्मों से मन को रोकना। रोकने से, जितना समय उन कर्मों में लगता था, उतने समय के लिए किनारे (एकान्त) में बैठ गए। अब यह नहीं कि एकान्त में बैठने पर एकदम ध्यान समाधि पर चढ़ जायेगा। किनारे बैठने पर थोड़ी मन में तंगी अवश्य होगी। उस थोड़ी तंगी को सहन करने की आदत डाले। पहले इस तंगी पर अपनी दृष्टि खोले और इस तंगी को झाँकना सीखे और इस तंगी पर दृष्टि लगा कर इसे पहचाने और इस तंगी को झाँकते-झाँकते समय व्यतीत करने का अभ्यास करे। एक दिन यह तंगी देखते-देखते अपने-आप अपने समय पर विदा हो जायेगी, तब

अन्दर का सुख भी प्रकट हो जायेगा और वह पुरानी वस्तुओं के बिछोड़े का दु:ख भी याद नहीं आयेगा। यही मुक्ति के सुख की एक झलक है। इस प्रकार इस तंगी को सहन करना भी धर्म मार्ग पर चलने का एक कर्म है। तप नाम खेद या तपने का है। थोड़ा मन तपेगा तो सोचेगा कि यह तो ठीक नहीं है; मन के मुताबिक नहीं है; मन नहीं लग रहा, क्या करें? बच्चा तो मन नहीं लगने पर रो पड़ता है और तंगी मानने लगता है, तो दूसरे उसको सहारा भी दे देते हैं। अब मनुष्य भी यदि इस तरह से रहेगा और सारा जन्म बाहर का दास रहेगा तो ऐसे में बाहर से मुक्ति (छुट्टी) नहीं मिलेगी और मर करके तो सबको छुट्टी लेनी ही पड़ेगी। मरने पर यदि मन नहीं लगेगा तो भगवान् ही जाने क्या होगा? अर्थात् दुर्गति ही होगी। फिर संसार में कहीं भटकना पड़ेगा। इस मन की खोटी दासता के कारण खोटी योनियों में भी जन्म सम्भव हो सकता है। यही सब दुर्गति है जो कि सांसारिक सुखों का दास मन उनके न रहने पर अपने ऊपर लाद लेता है। इसलिए इनको त्यागने की तंगी में भी अपने-आप को धारण करना व जीना सीखे। एक दिन यही तंगी भी सुख रूप बन जायेगी। इस तंगी में आत्मा का सुख प्रकट हो जायेगा और जैसा कि ऊपर बताया है तब वह अकेलेपन का दु:ख भी सदा के लिए शान्त हो जायेगा।

15. यदि उसने अपने मन को अकेले में लगा लिया तो मर करके भी अकेला ही होना है। अकेले मन को लगाने के लिए इस तंगी को दवाई की कड़वी गोली की तरह निगलना पड़ता है। चलो मन नहीं लग रहा तो दो मिनट या दस मिनट तो एकान्त में बैठे; बीमारी (सिर दर्द) का समय भी तो अकेले में बिताया था। बीमारी जितनी तंगी तो अकेला बैठने में नहीं है। इस तरीके से मनुष्य थोड़ा इस संयम को अपना करके एकान्त में समय

बिताने का आदी होने की कोशिश करे। पहले उसको यह तप करना पड़ता है। उस तप के सहारे जो तंगी होती है, उसको हज़म करने की आदत पड़ती है। ऐसी अवस्था में यह नहीं सोचना कि हमारा ध्यान लग जाये और हम ऐसी जगह पहुँच जायें जहाँ सुख मिलने लग जाये तो यह आरम्भ में ही विचार करना ठीक नहीं है। यदि आप सुख की दासता पहले ही खोजने लग गये तो धर्म का रास्ता फिर पूरा नहीं चला जायेगा। जो सुख के ही दास होकर भजन, तप में बैठते हैं तो समझना कि उनका धर्म का रास्ता अभी अधूरा ही होगा। उस सुख के रास्ते से जो कुछ भी आपको मिलना है, वह एक प्रकार का धोखा ही है। जैसे नशा पी करके भी कोई मनुष्य नशे की मस्ती में सुख लेता रहता है, लेकिन वह सुख का रास्ता ठीक नहीं है। सुख का रास्ता तो वही ठीक है, जो सहज, स्वाभाविक, अन्दर का सदा बना रहने वाला हो।

16. यदि सदा बना रहने वाला आनन्द लेना है तो वह थोड़ा कमाई के रास्ते से ही आयेगा। कमाई यही है कि जब कोई बाहर की आदत का सुख नहीं मिलता तो थोड़ी तंगी होती है। ऐसी अवस्था में थोड़ी तंगी झेल लेना और साथ में बुद्धि को बनाये रखते हुए अपने मन को भी सादा रखना। तंगी के बीच में बुद्धि भड़कती है और भड़क कर सस्ते रास्ते से तंगी मिटाना चाहती है, जो सस्ता रास्ता बचपन से प्राणी, पदार्थों का संग करने से मिला है। बच्चे के लिए तो यह रास्ता ठीक है, जो संसार में बंध गया है। परन्तु बच्चे से बढ़कर मनुष्य के लिए, जिसने अपने कुछ कर्त्तव्य लेकर अपना भला साधना है, उसको उस रास्ते से कैसा जीवन मिलेगा? इसके लिए फिर यही है कि जिधर यह मन लग रहा है, उसको भी वह समझे व पहचाने और जिस तरफ से जैसा चाहिए उसके अनुसार इस मन को भी साधे। इस साधना का नाम ही कमाई है। थोड़ा अपने ज्ञान को बढ़ाना है और ज्ञान

को बढ़ाने के लिए सोचना, विचारना ही पड़ेगा। पुस्तकों का पढ़ा हुआ ज्ञान इतना काम नहीं आता और जो सुना हुआ है, यह भी ज्यादा काम नहीं आयेगा, क्योंकि जो कुछ सुना, वह तो उसी समय सुना जिस वक्त (समय) मन के बीच में न जाने सारा संसार और तरह से लद रहा था अर्थात् सुनने के समय तो मन संसार में घूम रहा था। और जैसे आप सुनने से वियुक्त (किनारे) हुए तो पहले का ही संसार मन में चल पड़ेगा और सुना-सुनाया या पढ़ा-पढ़ाया पता नहीं लगेगा कि कहाँ गया?

17. एकान्त में बैठकर यदि आपने अपने मन में उसको अन्दर से ही बुद्धि लगाकर समझा और महसूस किया और उसके अनुसार अपने मन को भी प्रेरित किया; दीप्त प्रचंड किया, तो यही चलने का धर्म का मार्ग है। ऐसा करने के लिए जो कुछ भी थोड़ी तंगी हुई उसको सहन करके और थोड़ा सुख को भी त्याग करके आपने एकान्त सेवन किया, वही साधना या कमाई है। इस रीति से कमाई करने वाले को कोई समस्या नहीं है। उसको कभी अविद्या तंग नहीं करेगी, चाहे वह अकेले में कितना ही सोचता रहे; कारण कि जब तक सोचता रहेगा तब तक अविद्या नहीं है। यदि वह कुछ समझता रहेगा तो अविद्या नहीं है। जब किसी प्रकार की सोच नहीं आ रही है और कुछ समझ भी नहीं पड़ रहा है और अन्धकार सा मन में छा रहा है, तो ज्यादा देर अकेले में मन नहीं लगेगा, यही अविद्या की अवस्था है। ऐसी अवस्था में मन कुछ ज़ानने के लिए लपका तो रहता है परन्तु जब जानने के लिए कुछ नहीं मिलता तो दुःखी होता है। क्योंकि इसको ज्ञानरूप जो अपना आत्मा है, वह प्राप्त नहीं होता। मन ऐसी अवस्था में चाहेगा कि या तो नींद आ जाये और यदि नींद नहीं आयेगी तो अकेला मन नहीं लगेगा। इसी को शास्त्रकारों ने अविद्या कहा है। यह मन में पहचाननी पड़ती है। मन की आदत है कि आदत के रास्ते से

टलते ही झट वह अन्धकार में समाता है और अन्धकार में आपका ज्ञान नहीं जगने देगा और नींद का सुख दिखाएगा। नींद लगने पर आप सोने का यत्न करेंगे तो यह आदत का ही रास्ता है।

18. मन इन दो तृष्णाओं (भव और विभव) में ही आपको लपेटे रखेगा अर्थात् कहेगा कि यदि आँख खोलते हो तो दुनिया में ही रमो (भव तृष्णा)। और यदि उधर से आँख बन्द करते हो अर्थात् संसार की नहीं सोचते हो तो फिर आराम से धीरे-धीरे अन्धकार में छिप जाओ (विभव तृष्णा)। भव का अर्थ है कि संसार में ही किन्हीं दूसरों के संग में होना और विभव का अर्थ है कि जब वह संसार का संग टले तो निद्रा आदि में खो जाना, उसमें भी एक सुख है। उसी सुख की तृष्णा से वह भी प्रिय लगती है और उससे मन छूटना भी नहीं चाहता। अब इस अन्धकार को जन्माना है अर्थात् इसी अन्धकार में सत्य का ज्ञान उत्पन्न करना है, जिसका संस्कृत में नाम 'कृष्ण' है। जिस समय मन का आपने संयम किया अर्थात् थोड़ी आँख भी समेटी है; कान व वाणी भी समेटे हैं; खोटे कर्मों से भी बचे हैं; चोरी, झूठ तथा तूफान इनसे टले हैं और भी नाना प्रकार के संयम खाने-पीने व मन को पवित्र रखने में आपने किया है और कोई खोटी वस्तु भी आपने नहीं सोची है तो इनसे बची हुई खाली मन की शक्ति अन्दर घुटी-घुटी आपको परेशान तो ज़रूर करेगी, कारण कि पहले उधर लगा हुआ जीवन ठीक आराम से चलता था, उसकी नौका ठीक चल रही थी और समय ठीक बीत जाता था। आदत के जीवन से मुड़ने में परेशानी ही पहला सत्य है। धर्म के रास्ते पर चलने वालों को परेशानी थोड़ी अवश्य आती है। यह परेशानी कोई ऐसी नहीं जो दूसरा कोई किसी को देता है। ऐसी भी परेशानी नहीं कि आपने कुछ खो दिया है। परेशानी केवल मन की बीमारी को थोड़ा खोने की और एक नया इलाज करने की है। यह परेशानी

तो दवाई रूप है। इस परेशानी में जरा हिम्मत करके यदि आप बैठेंगे तो दूसरी तरफ नींद वाला मन कहेगा कि चलो जी परेशान क्यों होते हो; सो जाओ; लेट ही जाओ; आलस्य सुस्ती का सुख ले लो। इसलिए थोड़ा आलस्य निद्रा को रोकने का भी दुःख झेलना पड़ेगा।

19. व्यर्थ के कार्यों (कामों) से बचकर एकान्त में अकेले जागते हुए समय बिताने में तंगी तो ज़रूर है। इस तंगी को ऐसे ही सहन करे, जैसे बीमारी या चोट लगे की तंगी को सहन करते हैं। लेकिन हाय-हाय करके सहन नहीं करना, थोड़ा अपने मन को शान्त करके, ज्ञान का दीपक जलाकर व ज्ञान की आँखें खोल करके सहन करना है। तंगी सहन करने वाले रास्ते से आपके मन में सारा संसार आ जायेगा, तो आप अकेले नहीं रहेंगे। जहाँ ध्यान के रास्ते सारा संसार आपके मन में आ गया और अन्दर के सत्य आपकी बुद्धि में समझ में आने लग गये तो आप अकेले नहीं हैं। जब उधर सांसारिक वस्तुओं से मन हटाया और इधर कुछ सोचने का बना नहीं, तो मन कहता है कि "या तो मुझे वही आदत की वस्तुएँ दो, जो तृष्णा पूर्ति की हैं" या मन कहता है कि "सो जाओ।" आपने उधर सोने नहीं देना और यदि सोने लगे तो क्षण-क्षण मन को जगाते रहना। इसके लिए धीरे-धीरे नींद के सुख को भी त्याग देवें। जिस समय मन उस नींद के सुख को अन्दर छा देता है, तो मनुष्य उसको ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाता है कि इस सुख को आने दो। जब नींद के सुख को आने दो करके लेने के लिए आप तैयार हो गए तो वह सुख आलस्य, सुस्ती ला करके आपको लेटा देगा और झपकी लगा ही देगा। यदि उस समय आपने पहचान लिया कि नींद का सुख आ रहा है, परन्तु मैं इस सुख को नहीं लेना चाहता और धीरे-धीरे जागता ही जाऊँ व कोशिश करूँ कि सोऊँ नहीं। इस नींद के सुख को

क्षण-क्षण टालता हुआ जागता रहे। निद्रा को रोकने का तात्पर्य यह नहीं कि निद्रा बिल्कुल लेनी ही नहीं। अपने समय पर निद्रा लेना दोष नहीं है। परन्तु यह भी उचित नहीं है कि जब साधन के समय निद्रा आये तो निद्रा को ही अपना-आपा अर्पण कर देना। उस समय की निद्रा का निरोध अवश्य करना है। उससे तंगी तो ज़रूर होगी। इस क्लेश को सहन करते-करते समय बिताते गए और एक दिन जब दो घण्टे तक आपका मन जागते-जागते बिता सकेगा, तो यही मन ध्यान के योग्य हो जायेगा। इसको जागना भी दुःख देने वाला नहीं प्रतीत होगा। ये सारे कर्म हैं अभी इसमें अर्थात् धर्ममार्ग पर ध्यान नहीं लगा है। ध्यान तो तब लगेगा जब मन एकाग्र हो करके कुछ चिन्तन करने लायक एक जगह टिकने लग जायेगा।

20. ध्यान लगने पर जीवन के सत्य समझ में आने लग जायेंगे कि जीवन किधर चल रहा है? जिधर आम मनुष्य चलता है, वह कहाँ पहुँचता है और पहुँच करके अन्त में इसको क्या मिलेगा? जो मिलेगा, वह सार वाली वस्तु है या नहीं? कुछ बना रहने वाला सुख होगा या दुःख होंगा। यदि यह नहीं तो दूसरी सार वस्तु क्या है? ये सारे अन्दर के सत्य हैं। मनुष्य ही इनको सोच सकता है, क्योंकि बुद्धि भगवान् ने मनुष्य को ही दी है। मनुष्य ही अपने अन्दर इस बुद्धि को इस दिशा में (धर्म मार्ग पर) चला सकता है। यदि इस तरह से बुद्धि चेतन नहीं हुई तो संसार के रास्ते पर तो मनुष्य बहुत बुद्धिमान् है। जितना संसार के रास्ते वह बुद्धिमान् है, उतना ही अपनी बुद्धि को अन्दर जगा ले। सूर्यनारायण में अर्थात् दिन में सूर्य की रोशनी में तो अपने स्वार्थ के कारण मनुष्य जागता रहता है। यदि चन्द्रमा जाग जाये अर्थात् सोते हुए मन के अन्दर ज्ञान यदि जाग जाये तो वह पूर्ण ज्ञानी हो जाये; परन्तु निद्रा का सुख उसे जगने नहीं देता। ज्ञान जगाने के

लिए क्षण-क्षण नींद के सुख को छोड़ता हुआ इसको जीतने का प्रयास करता रहे। इसी निद्रा के सुख को त्यागने के लिए तंगी सहन करना रूप तपस्या करनी पड़ती है और यही तपस्या एक दिन परमानन्द का अनुभव करने तक पहुँचा देगी। जैसे ही मिथ्या निद्रा के रोकने पर मन जागना आरम्भ करेगा, तो वह संसार की तरफ भागना शुरू करेगा। जिधर-जिधर मन संसार में जाये या भागे, उधर-उधर से ज्ञान उपजा-उपजा कर उसको रोकना शुरू करे तो आपके अन्दर ज्ञान पैदा होगा। वही सच्चा कृष्ण अर्थात् अन्धकार का जन्म है। जो अन्धकार का जन्म होगा, उस अन्धकार के बीच में जन्म हुआ मनुष्य अपने अन्दर पूरा ज्ञान-योग पायेगा।

21. पहले कर्म की भक्ति (उपासना) करने पर फिर थोड़ा ध्यान लगेगा। थोड़ा निद्रा आदि को जीतने से वहाँ मन यदि जाग गया तो असल में अन्धकार जागा। जो आप सूर्य नारायण के बीच में खुली आँखों से देखते व सोचते हैं तो यह दुनिया के स्वार्थों की सोच है और एक दूसरे से मिले हुए जीवन के बारे में है। वहाँ अन्धकार जन्मने पर आप सबसे हटकर अकेले पड़ जायेंगे परन्तु केवल आपके अन्दर आत्मा का विचार होगा कि किधर यह मन जा रहा है, क्या करने जा रहा है, इसका परिणाम (नतीजा)क्या होगा? एक-एक करके विचार जागते गए। यदि मन नींद से हट गया तो समझो आपने नींद जीत ली। उस अवस्था (हालत) में जितना-जितना वह जानेगा, वह सारा प्रत्यक्ष सत्य ज्ञान और उसको प्रभावित करने वाला होगा और उसके ऊपर असर करने वाला होगा। अपने-आप मन में एक भाव बन जायेगा।

22. इस ध्यान को बढ़ाने के लिए कर्म की भक्ति करनी पड़ती है। इस शरीर को चोरी, झूठ, तूफान, मिथ्या-कर्म वगैरह से रोकना है। इनसे रुका हुआ मन दुःखी तो जरूर होगा। इसके

दुःख को भी थोड़ा हज़म करने की ताकत बनानी है। इस तरह शरीर को रोकते-रोकते आँख, कान, नाक इत्यादि इन्द्रियों को भी रोकना है ताकि ये इन्द्रियाँ भी खाली बैठे बाहर की तरफ़ नहीं जायें।

23. जब तक यह संसार समझने की आदत पड़ी है तब तक यही सारे संस्कार अन्दर बैठे हुए जन्म भर मनुष्य को ध्यान की कोटि में नहीं जाने देते अर्थात् ध्यान की कक्षा में प्रवेश पाने नहीं देते। जब अकेला बैठेगा तो बस! पुराने देखे व सोचे हुए के चित्र मन में खड़े हो जायेंगे। उन्हीं की तमन्नाएँ सामने आयेंगी और पूरी नहीं होने से क्रोध आयेगा। यदि इनसे थोड़ा हटे तो नींद, आलस्य व सुस्ती आयेगी।

24. पुस्तकों में पढ़ लो, दूसरों से सत्संग सुन लो, इसका जितना भी ज्ञान है, वह उतना ही रहेगा। आपने जितना सुना, उतना ही निकल जाता है। यदि प्रभाव (असर) डालने वाला और अन्दर गहरी लकीर डालने वाला और मोक्ष के रास्ते को चलाने वाला ज्ञान पाना है, तो इसको अपने अन्दर गहराई में जाकर अन्धकार में जन्माना पड़ेगा। इसके लिए दूसरों की संगत छोड़कर, थोड़ा नींद से टलकर अकेले बैठने की आदत डाले और उसमें विचार को जगाये और जीवन के सत्यों का ध्यान करे। ऐसे बैठते-बैठते एक, दो, तीन घंटे तक बैठने की आदत आपको हो जायेगी और आपको आत्म-चिन्तन की योग्यता भी प्राप्त हो जायेगी।

25. एकान्त में अकेले में बैठने पर मन बड़ा तनाव डालता है और कहता है कि कुछ भगवान् का भजन ही कर लो; कुछ नाम स्मरण ही कर लो; खाली बैठे-बैठे क्या होगा? उसी अवस्था(हालत) में ध्यान का पहला विघ्न दृष्टि का है अर्थात् दूसरों की दृष्टि या नज़र बनती रहती है और फिर दूसरा विघ्न शंका या संशय का आ जाता है। संशय के कारण ही इच्छा होती

है कि भगवान् का ही नाम जप लो, चाहे अभी वह भगवान् को जानता ही नहीं कि भगवान् क्या वस्तु है। इस प्रकार चाहे कुछ ही करते रहो, वह समय बिताने का ही मार्ग होगा और सत्य हाथ में नहीं आयेगा। सत्य जहाँ हाथ में आना है, वहाँ ज्ञान उपजाना पड़ेगा। ज्ञान तब होगा, जब अन्धकार में मन जाग जाये और विचार द्वारा जीवन के सत्यों को सम्मुख लाये और उससे यह ठीक प्रेरणा पाकर जीवन को ठीक दिशा में चलाने के लिए उत्साहित होगा। पढ़ने-लिखने का ज्ञान तो अधूरा है। ज्ञान, नींद को जीतने से जागता है, जिसमें अर्थात् नींद में यह सारा संसार मन छुपाने जा रहा है।

26. जैसा कि पहले भी बताया है कि इस संसार में दो धाराएँ है, एक को तो शास्त्रों ने भव तृष्णा कहा है; अर्थात् कुछ भी दुनिया के बीच में होना; किसी का मित्र, बैरी, बाप (पिता), पुत्र बनकर सुख लेना। यही बनना या होना-इसी को संस्कृत में 'भव' कहते हैं। इसी के चक्कर में पड़े रहे तो यही समझो कि संसार में ही रमे रहोगे। यदि इधर से थोड़ा मन टला तो मन में अन्धकार छायेगा। यदि इस अंधकार को आपने जगा लिया, तो समझो अन्धकार का जन्म हो गया अर्थात् अन्धकार में ध्यान के विकसित हो जाने पर जीवन के सत्य समझ में आने लगेंगे और वे सत्य जीवन को ठीक दिशा में प्रेरित और उत्साहित करेंगे। उसी समय मन के संस्कार इधर-उधर भटकने लगेंगे, क्योंकि मन के जगते ही संसार मन में आयेगा। नींद में पहले जा रहा था तो संसार दब रहा था। जैसे ही नींद में से आपने उसको (मन को) उखाड़ने की कोशिश की तो फिर वह अपनी रंगत सामने डालेगा और उन्हीं पुराने संस्कारों को खड़ा करेगा। अब इन रंगतों के बारे में सोचो, चिन्तन करो। यह चिन्तन रूप ध्यान स्मरण आपको मिल जायेगा-यही भगवत् चिन्तन है, क्योंकि सत्य का ज्ञान पाने

के लिए आप कर रहे हैं। सत्य ज्ञान पाने के लिए आप समझोगे कि क्या वस्तु क्या है; सत्य क्या है और अन्त में कहाँ ले जाता है? सारा ज्ञान व विवेक वहाँ जागेगा कि इस रास्ते से बहने पर जीवन कहाँ पहुँचेगा, जहाँ पहुँचेगा वहाँ क्या मिलेगा? केवल दुःख ही मिलेगा। केवल पुरानी आदतों की शक्ति ही वहाँ धक्के देकर ले जा रही है। आप यह संकल्प करें कि मैंने तंगी सहन करके भी इन धक्कों के रास्ते पर नहीं चलना है। यदि इस प्रकार तंगी सहन करता हुआ वह अपने को जगाता गया, तो यह एक दिन तंगी रूप भी नहीं रहेगी और मन हल्का होकर अपने अन्दर का ही आत्म-सुख अनुभव करेगा और इस सुख के साथ ही अपने को कृतकृत्य मानेगा और यह समझेगा कि जो करना था सो कर लिया। केवल औषधि इतनी ही कड़वी है कि वह जो आदतों से रोक कर मन को संसार की दिशा में भागने नहीं देना और उस अवस्था में यदि निद्रा आये तो उसको भी रोकने का यत्न करना। इस यत्न की जो तंगी है, उस तंगी को भी सहन करने का अभ्यास बना कर परमानन्द की प्राप्ति करना। यही सहज व स्वाभाविक आत्मा का आनन्द है और यह कभी समाप्त होने वाला नहीं है और यह सनातन व अनन्त है।

27. आदत की तंगी सहन करने का नाम तपस्या है। थोड़ा तप करो व थोड़ा उसके बारे में समझो। अब जो तप होगा, वह सच्चा तप होगा, क्योंकि मन समझ के साथ तैयार होकर आया है और समझ के साथ दुःख को सहन कर रहा है और यह सहन करना विफल नहीं है और अन्त में परमानन्द की प्राप्ति इसका फल होगा। सुनने-सुनाने व श्रद्धा से जो तप करोगे और श्रद्धा से कोई वस्तु टालोगे, तो अन्दर तो मन में अभी उसका सुख पड़ा हुआ है; अन्दर तो उसका लालच है। उस लालच की हालत में उसका त्याग भी ठीक नहीं बन पायेगा, कारण कि दुःख ओटने

में मन अभी कच्चा है। अन्धकार में जगा मन सारे संसार का ज्ञान आपको देगा। इस तरीके से चिन्तन करते-करते जो मुक्ति मिलेगी, वह ज्ञान से मुक्ति है। नींद और संसार की लपक से रहित हो करके अन्धकार में जो ज्ञान जागेगा, वह पूरा मन के अन्दर उतर जायेगा। इस उतरे हुए ज्ञान का नाम ही समझ लो, भगवान् कृष्ण का अवतार है। यही अन्धकार में जन्मा हुआ ज्ञान इस शरीर (देह) में सब काम (इच्छा), क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार रूपी राक्षसों को समाप्त (खत्म) कर देगा, क्योंकि आपने दु:ख सहन करके तप करना सीख लिया है। बुद्धि को ठिकाने रखना और साथ-साथ कुछ समझकर ज्ञान पैदा करना। ज्ञान पैदा करके फिर उसी रास्ते से आगे-आगे उस ज्ञान को बढ़ाते जाना। जब ज्ञान मन में है तो मनुष्य अकेला नहीं है। ज्ञान नहीं है तो अकेलापन ज़रूर अखरता है (बुरा लगता है) और फिर वहाँ मनुष्य का समय भी व्यतीत नहीं होता। मनुष्य को समय व्यतीत करना भी समस्या बन जाती है।

28. जब अन्दर ही ज्ञान जागने लग गया तो किसी पुस्तक या संगत के सहारे की ज़रूरत नहीं है। परन्तु यह तभी होगा, जब नींद के बन्धन को जीतेंगे और उस मन को भी जीतेंगे, जो बाहर नाना प्रकार के सुखों की तरफ आँखे तना रहा है और कान भी तना रहा है। थोड़ा उधर से भी बचना सीखना और थोड़ा निद्रा को भी रोकना। इसका मतलब यह नहीं है कि नींद बिल्कुल नहीं लेनी है। नींद लेनी है, किन्तु यह नहीं कि जिस समय मन चाहे बिस्तरे पर लेट जाये अर्थात् सो जाये।

29. इस मन के साथ एक, दो या तीन घंटे तक लड़ करके फिर यदि ज्ञान जाग गया और अपने-आप में अन्दर कुछ समझने लग गए तो यह समझ स्थायी रहेगी व कुछ ज्ञान देने व प्रभावित करने वाली होगी और एकान्त में समय व्यतीत करना समस्या

रूप से प्रतीत नहीं होगा। जैसे प्रत्यक्ष किसी को पता लग जाये कि यहाँ आने से खाली मेरे को दुःख होता है तो जब ऐसा देख लिया; वह कभी वहाँ जाना नहीं चाहेगा।

30. अविद्या का राज्य तो व्यर्थ की वस्तुओं के सोचने में मन को लगाये रखने से भी टूट जायेगा और फिर उस व्यर्थ सोच की धारा टूटने के बाद अविद्या फिर छा जायेगी। परन्तु हमारा प्रयास यह होना चाहिए कि अविद्या ऐसी टूटे कि जहाँ जा करके वह अन्दर का सत्य सच्चिदानन्द रूप परमेश्वर जाग जाये और उसका आनन्द सदा मिलता रहे। वह तब मिले जब संसार का सारा बन्धन मिट जाये। संसार का बन्धन का तात्पर्य (मतलब) है कि छोटे-मोटे सुखों में मन बंधा (रंगा)हुआ है; अर्थात् कहीं राग, द्वेष, काम (इच्छा), क्रोध, दूसरों की संगत में, कहीं पदार्थों में मन बंधा हुआ है। इन सारे बन्धनों से उसकी मुक्ति (छुटकारा) हो जाये तो अन्दर चुपचाप जो मन बैठेगा वह परमात्मा को पहचानेगा और उसका सुख समझेगा व अनुभव करेगा। यहाँ पर समझो, अविद्या बिल्कुल टल गई।

31. यदि व्यर्थ का चिन्तन नहीं किया और उसमें यदि मन खड़ा है तो थोड़ी उसकी तंगी झेलना सीख ले। जब मन की तंगी आप झेलने लग जायेंगे तो ज्ञान जाग जायेगा। तंगी की हालत में मन नींद में जाने लगेगा। यदि नींद से आपने रोक लिया तो अन्दर ज्ञान जागना शुरू हो जायेगा और पहचान जाग जायेगी अर्थात् पता लगेगा कि तंगी किस वस्तु की है? तंगी केवल उन्हीं पुराने सुखों की है, जो कभी सदा बने नहीं रहते। परन्तु वे फिर भी होना चाहते हैं। मनुष्य उन्हीं सुखों के लिए लपकता रहता है। इसी तृष्णा को मिटाना है। इस तृष्णा की तंगी सहन करते-करते मिटा देना है। एक दिन यह तृष्णा की तंगी अवश्य मिटेगी। इसके मिटते ही परमात्मा का सुख प्रकट होगा। उसको पा करके मनुष्य

कृतकृत्य हो जायेगा। उसके लिए फिर कुछ करना बाकी (शेष) नहीं रहेगा। यदि अपने मन को जगा-जगा करके थोड़ा विचार करने लगोगे तो यह विचार सत्य को पाने के लिए ध्यान रूप हो जायेगा। जितना आप सत्य को समझने के लिए विचार करोगे, तो इससे बाहर का बन्धन हटेगा। बाहर का बन्धन हटने से जगा हुआ मन अन्दर ही जो ज्ञान रूप भगवान् है, उसका सुख प्रकट कर देगा। उसका सुख प्रकट होने से फिर अपने-आप मन आराम से उसमें लगा रहेगा। यह सुख कहीं जाने का नहीं है। यह सुख दो कारणों अर्थात् नींद की तृष्णा (विभव तृष्णा) और बाहर भटकने की तृष्णा (भव तृष्णा) से दबा हुआ है। संसार से हटते ही नींद में मन जाता है। नींद से उचटते ही अर्थात् नींद के खुलते ही मन बाहर जाता है। इन दोनों तृष्णाओं को रोकना है। रोकने का रास्ता यही है कि तंगी ज्ञान के साथ सहन करना अर्थात् युक्ति को भी समझना कि यदि इस तंगी को सहन नहीं करेंगे तो मनुष्य की भलाई नहीं है। यदि इस तृष्णा को खुली छुट्टी दे देंगे तो यह दु:खों के गड्ढों में फेंक देगी। जितना-जितना थोड़ा रोकने की आदत आप इस मन को डालोगे तो तंगी होगी। इस तंगी (क्लेश) को तप रूप समझकर अपने अन्दर धारण करना शुरू कर दे; चाहे पहले यह धारण करना पाँच मिनट से शुरू हो, जिसको तीन घंटे तक बढ़ाया जा सकता है।

32. यदि उसके अन्दर कुछ समझ जाग गई और अन्दर के सत्य समझ में आने लग गये, तो यह मन अब अकेला नहीं है। यह मन सारी समझ अन्त तक जगा ही लेगा। यह अन्त में उस जगह पहुँच ही जायेगा, जहाँ सब जगह से मन बिछुड़ कर अपनी आत्मा में शान्त होगा व शान्त सुख पायेगा।

33. पहले यदि आप अपने कर्म में पक्के होंगे कि बाहर कोई खोज (कर्म) नहीं होने देना तो बहुत जगह से मन फुर्सत

पा लेगा। बाहर यदि आँख, कान, इन्द्रियाँ वग़ैरह ज्यादा नहीं भटकाईं तो इसको अकेले में ध्यान करने की काफी फुर्सत मिल सकती है। यदि इसकी आदत टालने में थोड़ी तंगी (क्लेश) हो तो वह तप भी एक कर्म है। तंगी (क्लेश) सहन करते हुए ध्यान नहीं लगने से खाली बैठना भी एक कर्म है। ऐसी अवस्था में यह समझे कि यदि तंगी भी मेरे को हो रही है तो वह बीमारी की तंगी से ज्यादा नहीं हैं। किसी बीमारी या दर्द, चोट वाले मनुष्य को इससे भी ज्यादा तंगी होती है। यह मेरे को कोई ज्यादा नहीं है; खाली थोड़ी आदत के बिछोड़े की तंगी है, जो मनुष्य को सहन करने की आदत नहीं है। इस समय कोई खोटा चिन्तन भी नहीं करना है। यदि सोचने का रास्ता गलत हुआ तो ध्यान नहीं बढ़ेगा। यह नहीं कि खाली मन में कुछ भी व्यर्थ (फिजूल) का सोचने लग गए केवल जीवन में काम आने की बातें ही सोचनी हैं। जैसे ही तंगी को देखते-देखते इधर ही आँख खुल गई तो अब यह ज्ञान जागने लग जायेगा कि यह तंगी किस कारण से हो रही है? अर्थात् खाली बैठने से तंगी हो रही है; जब कि नींद में छह घंटे व्यतीत हो जाते हैं और गप्पें लगाने में कितना समय चला जाता है और उस समय कोई तंगी नहीं होती। यह पहला दुःख का दर्शन है अर्थात् दुःख का ध्यान है।

34. यह दुःख ही बतायेगा कि आदत की तंगी है। उसी आदत के रास्ते ही समय बिताना सीखा था और उधर समय ठीक बीतता था। अब उधर (आदत) से हटे हुए हैं। वह बाहरी सुखों का आदी बना हुआ मन एक किस्म का बन्धन अपने अन्दर कर बैठा है। बाहर बंधा हुआ मन केवल प्राणी व पदार्थों या दूसरों के सहारे टिकना जानता है। उधर से बिछुड़ने में इसको सुख नज़र नहीं आ रहा है और वही आदत वाला मन दुःखी हो रहा है। दुःखी होकर नींद या और कोई बाहर के सहारे लेना चाहता है।

यह सब अन्दर का ज्ञान है और यह सारा ज्ञान मनुष्य को सत्य का सुख पाने के मार्ग में प्रेरित व उत्साहित करेगा। इसलिए इस सत्य ज्ञान को पाने के लिए जो थोड़ी तंगी होती है, उस तंगी को सहन करने का अभ्यास करे। मन को समझाये कि देखते हैं कि दुःख कितना ज्यादा है। यदि दुःख देखने में आपकी आँख खुल गई तो यह दुःख भी हमेशा नहीं रहेगा। मन के अन्दर कोई भी स्थिति सदा टिकी नहीं रहती। यदि दुःख को ही देखना (झाँकना) आपने शुरू कर दिया तो समझो! दुःख में आपकी आँख खुल गई। यह दुःख ही एकदम सुख रूप हो जायेगा। परन्तु तृष्णा के टलने पर ही सुख होगा। जैसे, खुजली का दृष्टान्त कई बार दिया गया है कि यदि आप खुजली को केवल देखते ही रहें परन्तु इसे करें नहीं तो वह खुजली देखते-देखते टल ही जायेगी। जैसे ही खुजली टली, उसी जगह उसके टलते ही वहाँ पर सुख प्रकट हो जायेगा।

35. तृष्णा का दुःख भी खुजली जैसा ही है। जिधर से मन हटाओगे, उधर ही मन खींचेगा कि उधर ही चलो यह खुजली सी उसकी बनेगी। अब उस तृष्णा को पूरा न करते हुए इसका दुःख सहन करते-करते वह मन इतना तेज़ हो जायेगा कि सारी तृष्णा को बुझा देगा और नींद के बवाल को भी हटा देगा। अन्दर ब्रह्म या परमात्मा का आनन्द ज्ञान रूप जाग जायेगा और उसमें इसको नित्य सनातन सुख मिल जायेगा। यह वही मनुष्य कर सकता है, जो अपनी बुद्धि को जगा सके। यह बुद्धि अंधकार में अर्थात् नींद जीतने पर जागेगी। अब इस अन्धकार को जगाना है। यदि यह अन्धकार जग जाये तो वह सारे शरीर में अपने-आप उतर आयेगा अर्थात् स्वयं ज्ञान का प्रभाव मन में आ जायेगा इससे जो मन प्रेरित होगा, वह ठीक अपनी दिशा (लाइन) बदल लेगा। आदतें धीरे-धीरे समाप्त होने लगेंगी जो दुःख से कटती हैं। कारण

कि आदतें सुख से बनी थीं। थोड़ा-थोड़ा उनके बिछोड़े का दुःख सहन करते गए तो यह प्रकृति का सारा बन्धन टलता जायेगा। टलते-टलते एक दिन देखते-देखते उसका दुःख जैसे ही टलेगा तो सुख निकल आयेगा। जैसे सुख निकल आया तो कहते हैं कि साक्षी का, परमात्मा का, भगवान् का सुख प्रकट हो गया। इस सुख को पाकर मनुष्य समझेगा कि इसके बाद मेरा करने का कुछ शेष नहीं रहा और पाने का भी कुछ शेष नहीं रहा; कारण कि यह सुख एक बार मिलने पर समाप्त (खत्म) होने वाला नहीं है। खत्म होने वाले वे सुख थे, जो दूसरों के सहारे मिलते थे अर्थात् बाहर के प्राणी व पदार्थों के सहारे प्राप्त होते थे। यह सुख तो अपनी अन्तरात्मा के सहारे अन्दर मिला है। अब इसने क्या समाप्त (खत्म) होना है? यह सुख सारे संसार का आत्मा रूप से सब में समान है। सब प्राणी जीते हैं। सब की देह के अन्दर ज्ञान है। ज्ञान के अनुसार सब की देहों की हरकत होती है। हरकत करने वाला तत्व न्यारा-न्यारा किसी में भी नहीं है अपने-आप में सुख रूप है। उसका सुख नींद में ज़रूर प्रकट होता है, जो अज्ञान में छुपा हुआ होता है। यदि जागते-जागते उसका सुख प्रकट हो जाये, तो समझो, बस! मुक्ति हो गई। मुक्ति का मतलब है कि वह सुख मिल गया जो कभी बिछुड़ने वाला नहीं है।

36. इस प्रकार धर्म के तीन स्तम्भ हुए। एक तो वह जो कर्म काण्ड का, दूसरा वह जो भक्ति (ध्यान) वाला, तीसरा यह जो ज्ञान उपजाना। बस चौथा यह है कि फिर मुक्ति पा करके उस में प्रतिष्ठित हो जाना अर्थात् उसमें सदा बना रहने वाला टिकाव पा लेना। यही अन्तिम सार है, यदि कोई इसे समझे तो फिर करना-कराना तो अपने हाथ की बात है। यदि कोई आसान रास्ता चाहते हो तो यह अपने को धोखा ही देना है कारण कि वह आसान

रास्ता चाहने वाला बेचारा दुःख से डरता है। धर्म के रास्ते में थोड़ी तंगी (क्लेश) को तो सहन करना उचित ही है। यदि इस तंगी को सहन नहीं करोगे, तो धर्म और ज्ञान का सच्चा रास्ता मिलना तो मुश्किल ही है। यह तंगी कोई ऐसी नहीं है कि खाना, नींद या और कोई वस्तु आपको अत्यन्त छोड़नी है। सारे प्राणी भी दुनिया के रहेंगे। तंगी सिर्फ (केवल) इतनी है कि आपने आदतों का रास्ता पूरा नहीं करना है क्योंकि आदतों का रास्ता पूरा न करने से सुख तो मिलना नहीं, किन्तु उनके साथ-साथ बहने में सुख के स्थान पर दुःख ही दिनों-दिन अधिक प्राप्त होगा। उससे जो तंगी होती है, इसी को शास्त्र वाले 'तप' कहते हैं। थोड़ा तप को बनाना पड़ता है और इसमें कोई ज्यादा ऐसी बात नहीं; यही सारे का निचोड़ है।



प्रवचन-2

दिनांक : 10.1.1987

1. कल धर्म के बारे में बोला जा रहा था कि धर्म के तीन स्तम्भ कर्म, भक्ति और ज्ञान हैं। जैसे आम यही कहते हैं, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। गीता में भी यही तीनों कहे गए हैं। इन तीनों के बारे में कल सामान्य रूप से थोड़ा बहुत बोल दिया गया था, आज इसी के प्रसंग में इनके व्यवस्थित प्रयोग "अर्थात् इन तीनों को किस तरह एक मनुष्य को अपने काम में ला करके या जीवन में उतारकर अपना भला साधना चाहिए" के बारे में बताया जाएगा। जब तक इन तीनों का व्यवस्थित ढंग से अर्थात् कायदे के अनुसार अपने लिए प्रयोग नहीं किया जायेगा, तब तक ये कैसे जीवन में काम करेंगे। इसका हमें ज्ञान होना चाहिए कि इनको किस प्रकार अपने जीवन में उतारना है; कैसे अपनाना है और कायदे के अनुसार कैसे इनका अपने लिए प्रयोग करना है?

2. जैसे किसी मकान का निर्माण करने के लिए तीन, चार या पाँच स्तम्भ (थम्बे) होते हैं, जो उसको मिलकर उठाते हैं। ऐसे ही मनुष्य की अन्तिम भलाई के लिए जो धर्म का मकान बनना है, वह भी तीन थम्बों पर बनना है, जिन्हें धर्म के तीन स्तम्भ भी कहते हैं। थोड़ा कर्म भी ठीक कायदे से अपनाना पड़ेगा; उसी कायदे के अनुसार भक्ति तक पहुँचाना पड़ेगा और फिर ज्ञान तक उठाना पड़ेगा। तीनों जिस समय मनुष्य के अन्दर कायदे के अनुसार खूब एक-दूसरे से मिल करके सारा काम साधने वाले अर्थात् व्यवस्थित ढंग से उतर आयेंगे तो उससे मनुष्य की भलाई पूर्ण रूप से हो सकती है।

3. सबसे पहले कर्मयोग है कि कर्म में जुड़ करके कर्म करना। छोटा-मोटा कर्म भी उससे जुड़कर करना, अर्थात् सारा

ध्यान उसी में लगा करके कर्म को करना, जिससे इधर-उधर भागने वाला और भटकने का अभ्यास करने वाले मन को रोकने का अवसर (मौका) मिल सके। फिर सारे अच्छे कर्म करना और चोरी, झूठ, तूफान और भी नाना प्रकार के खोटे कर्मों से दूर रहना। ज्यादा खाना, सोना, बोलना और भी कई प्रकार से बाहर अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का बुरा करने को तैयार हो जाना आदि खोटे कर्मों को भी त्यागना और इनकी जगह सारे अच्छे कर्मों को अपनाना।

4. स्वार्थ या बाहर का सुख मनुष्य को इस तरफ नहीं चलने देता, कारण कि सारे खोटे काम उसने छोटे-मोटे बाहर के सुखों के कारण अपनाए हुए हैं। यदि वह उन खोटे कार्यों (कामों) का सुख त्यागने के लिए तैयार नहीं है तो वह त्यागी नहीं बन सकता। फिर किस तरह से सारे अच्छे काम बन पायेंगे? इसलिए मनुष्य थोड़ा त्यागी बने। सुख का त्याग करने में थोड़ी तंगी, परेशानी भी होती है, उसको वह सहन नहीं कर सकता तो भलाई कैसे सधेगी? उस तंगी,परेशानी को तप रूप समझकर बुद्धि के साथ सहन करके थोड़ा तपस्वी भी बने। यदि कर्मयोग को सफल करना है तो अपने छोटे-मोटे आदतों के सुखों को छोड़ कर थोड़ा त्यागी बनना पड़ेगा और सुखों के छोड़ने से होने वाला खेद, दुःख (कष्ट) को स्मृति के साथ सहन करते हुए थोड़ा तप करने वाला तपस्वी भी बनना पड़ेगा।

5. इस प्रकार अपने में उतरा हुआ कर्मयोग धीरे-धीरे फिर भक्ति तक बढ़ेगा अर्थात् भक्ति तक ले जायेगा। कर्मयोग करते हुए पता लगने लग जायेगा कि मन थोड़े सुखों के लिए कहाँ-कहाँ भटकता है और इसको हम कैसे-कैसे बचा रहे हैं? यह कर्मयोग का ही परिचय करवायेगा कि मन क्या-क्या करना चाहता था अर्थात् किस तरह से वाणी से उल्टा बुलवाना, उल्टे ढंग से

खिलाना-पिलाना चाहता था; ज्यादा नींद में ले जाता था; खोटा सुचवाता था और सोचों में पड़े-पड़े निद्रा भी नहीं आने देता था। यह सब उसका वृत्तान्त पता लगेगा। यह सब मन का वृत्तान्त अन्दर जानना ही समझो, ध्यानयोग शुरू हो गया। जब बाहर से मन हट करके अन्दर के विषयों के बारे में सोचने लग जाये और सोचने के बाद कुछ समझने भी लग जाये तो सोचने का नाम ध्यान है और समझने का नाम ज्ञान है। पहले छोटा-मोटा यही ध्यानयोग बनेगा और फिर ज्ञानयोग बनेगा अर्थात् धर्म के लिये या अपनी अन्तिम भलाई के लिये थोड़ा ज्ञान होगा। यदि इस ध्यानयोग को बढ़ाते जायें तो बढ़ते-बढ़ते विश्व व्यापक परमात्मा तक सारे का ज्ञान हो जायेगा। अपने अन्दर बारीकी में बैठे हुए सूक्ष्म दोष व विकारों की समझ होगी और ये अपने-आप में अन्दर प्रत्यक्ष ऐसे दिखाई देंगे, जैसे खुली आँखों से आप बाहर मनुष्यों को देखते हैं।

6. हमें अपने विकार व दोष नहीं दिखाई देते हैं कारण कि वे सब अन्धकार में छुप जाते हैं। मन जब संसार से थोड़ा टलता है, तो एकदम नींद लाने लगेगा। यदि आप आलस्य, सुस्ती व निद्रा के चक्कर में पड़ गए तो आँख, कान सब बन्द करके मन नींद में चला जाता है। निद्रा में कुछ पता नहीं लगता अर्थात् वहाँ अज्ञान का राज्य है। निद्रा और मृत्यु एक बराबर हैं। निद्रा में यदि अन्धकार को चेताया जाये तो ज्ञान रूप कृष्ण का जन्म वहाँ होगा। जैसे कल बोला था "कृष्ण जागे अन्धकार में।" अन्धकार को जगाने या जन्माने से ही कृष्ण का जन्म होना कहा जाता है। यदि अन्धकार जाग गया तो फिर वहाँ से निद्रा गायब हो जाती है, जिसमें जाकर सब विकार छिप जाते हैं। अब इस ज्ञान के प्रकाश में सब अन्दर के दोष और विकार साफ़ नज़र आयेंगे कारण कि इनके ऊपर से निद्रा का पर्दा हट गया है।

7. रात्रि के गाढ़ अंधकार में सूर्यनारायण तो वहाँ नहीं है लेकिन मन वही सूरज नारायण वाला अर्थात् सारी दुनिया के स्वार्थों वाला, सब के बीच में विचरने वाला व सारे पुराने संस्कार लिए बैठा हुआ है। जब तक वह जागता रहेगा तो संसार के ख्याल ही सामने लाता रहेगा। यदि आप ऐसा नहीं करना चाहोगे अर्थात् मन के ढंग से नहीं चलना चाहोगे तो वह निद्रा लाकर ध्यान और ज्ञान का रास्ता बन्द कर देगा। वह गाढ़ अंधकार छा देगा। इस अंधकार का नाम ही कृष्ण है अर्थात् काला है, जिसमें देखने या सत्य को समझने पहचानने की शक्ति काम नहीं करती। इस अंधकार में सूर्यनारायण तो निकलेगा नहीं परन्तु चन्द्रमा तो निकलेगा। जैसा कहते हैं कि जन्माष्टमी के दिन रात में चन्द्रमा उदय होने पर भगवान् श्री कृष्ण का जन्म होता है। वह चन्द्रमा मन का देवता है। वेदों में आता है कि चन्द्रमा विश्वरूप व्यापक भगवान् के मन से पैदा हुआ है। यदि अंधकार में मन ज्ञान रूप से जाग गया और कुछ समझने लग गया तो उस समय मन दुनिया से तो अलग हो रहा है तो समझो! कृष्ण का जन्म हो गया अर्थात् अन्धकार में ज्ञान उत्पन्न हो गया। यही अंधकार में ज्ञान रूप कृष्ण पैदा हो करके अन्दर की सारी विद्या बतायेगा। इसको यहाँ तक बढ़ा देना है कि वह सारा संसार अपने मन में लाकर विवेक करे कि "भगवान् की भक्ति बाहर क्या है? और क्या करने से क्या होता है? यह संसार कैसे चल रहा है? साधारण जन अच्छा बुरा क्यों करते हैं? सारे जन जिनमें इनका बुरा होता है, वे ऐसा क्यों करते हैं; उनसे ऐसा कौन करवाता है? यह सब चिन्तन का काम है। जब वह अन्दर अन्धेरे में मन को जगाकर अर्थात् निद्रा को जीत कर पुनः सत्य की खोज करेगा तो यह सब मन यथार्थ में सत्य का ज्ञान पायेगा।" इन सब सत्यों का ज्ञान आपको अन्दर पता लगेगा [illegible] कि आप अकेले हैं और उस समय आपके

लिए संसार बुझा पड़ा है।

8. वही मन जो संसार में खड़ा करता था, अब सोने की तरफ जाना चाहेगा। वह अपने-आप सब इन्द्रियों की क्रियाओं व सोचने की शक्ति को बुझा देगा ताकि इन सब को लात मार कर निद्रा का सुख ले सके। ऐसी अवस्था में आपने विचारने (सोचने) की शक्ति को बुझने नहीं देना अर्थात् यही ज्ञान रूप चन्द्रमा जागता रहे व ज्ञान उदय होता रहे। यदि समझने की शक्ति (ताकत) बनी रही तो समझते-समझते ज्ञान उपजने लग जायेगा। यही ज्ञानयोग है, जिसके लिए पहले थोड़ा भक्ति योग करना पड़ता है।

9. श्री कृष्ण भगवान् ने गीता में कहा है कि हे अर्जुन! मेरी भक्ति सबसे बड़ी है। उस भक्ति को भी थोड़ा समझना चाहिए कि "उसकी भक्ति क्या है?" उसकी एक अपरा और एक परा भक्ति है अर्थात् एक छोटे दर्जे की और एक बड़े दर्जे की भक्ति है। यह भक्ति ज्ञान के अनुसार अपने काम में लाने लायक ढंग से है और खाली ऐसे ढंग से कोई भी भक्ति नहीं है जो समझ में नहीं आ सके। परा भक्ति तो वह है कि सबके अन्दर समान एक ही आत्मा समझना, जैसी वह अपने अन्दर है। इसके लिए गीता के अठारहवें अध्याय में भगवान् ने सार रूप से अन्तिम चार पाँच श्लोकों की तरफ़ इशारा किया है अर्थात् गीता, निचोड़ रूप में इन्हीं श्लोकों में सुनने व अपने-आप में धारण करने योग्य है।

10. जैसे गीता में कहा है, "बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो इत्यादि-इत्यादि।" पहले विशुद्ध बुद्धि से युक्त होना चाहिए, फिर बुद्धि में यह समझ लानी चाहिए कि जीवन को शुद्ध रूप से चलाना है। शुद्ध रूप का अर्थ है कि यहाँ विषयों के मलिन विचारों का सम्बन्ध नहीं है, यही बुद्धि विशुद्ध है। संसार की मैल, बुराइयाँ व गन्दगी वाला जीवन व्यतीत करना ठीक नहीं है। चोरी, झूठ,

तूफान, दूसरे का बुरा करना व नाना प्रकार के खोटे कर्म करना ही अशुद्धि का जीवन है, जिससे पहले टलना है। पहले अपनी बुद्धि को विशुद्ध करे चाहे अभी ये सब खोटे कर्म नहीं भी टल पायें। परन्तु अभी बुद्धि में यह निश्चय कर ले कि शुद्धि का जीवन व्यतीत करते हुए हमें इस अशुद्धि के जीवन से बचना है। अर्थात् बुद्धि इन खोटे कर्मों के साथ नहीं हो और इन बुरे कर्मों को करने का समर्थन नहीं करे और इनके करने का विचार भी न करे। इसके लिए मन में थोड़ा धैर्य (धीरज) भी होना चाहिए।

11. जब आप थोड़ा भी शुद्धि का जीवन अपनाना चाहेंगे तो वह बुरे रास्ते से सुख लेने वाला मन रोयेगा कि "शुद्ध जीवन का सुख कोई भी लेता नहीं दिखता व तुम भी इसके चक्कर में मत पड़ो। पुरानी आदतों के रास्ते पर चलने वाला जीवन ही ठीक है।" इस प्रकार रुलाई करने वाले मन को कोई धैर्यवाला मनुष्य ही रोक पायेगा। वही इस मन को समझाएगा कि "छोटे-मोटे सांसारिक सुखों के पीछे पड़ना ठीक नहीं है कारण कि इनके साथ आगे नरक का दुःख है। फिर हाय-हाय करके भी समय नहीं व्यतीत हो पायेगा।" इसलिए हे मना! धीरज धारण कर। जैसे बीमार मनुष्य एक-दो दिन का भोजन त्याग करके स्वास्थ्य (तन्दुरुस्ती) पाकर सब प्रकार का सुख पाता है वैसे ही बुरे कर्मों को छोड़कर सुखी हो जाओगे, इनको त्यागने की हिम्मत करो। झटपट बाहरी सुखों के पीछे मत लपको; थोड़ा धीरज रखो। सस्ते व झटपट मिलने वाले सुखों के साथ सारे निकम्में कार्य (काम) होते हैं।

12. इस प्रकार बुद्धि को विशुद्ध रखना और धीरज से अपनी आत्मा को नियमों में रखना अर्थात् जितना भोजन उचित हो, उतना ही खाना; फालतू जिह्वा के स्वाद के लिए नहीं। जितना बोलना आवश्यक (ज़रूरी) हो, उतना ही बोलना व व्यर्थ ही अपने

मनोविनोद के लिए बोलना भी ठीक नहीं। बाहर सब अच्छे काम ही करना और फालतू (व्यर्थ) के कार्यों (कामों) को दुःख पाकर भी रोक देना। इस तरह धैर्य से अपनी आत्मा को सोने, जागने, बोलने, चलने, बाहर अच्छे कर्म करने व दूसरों से ठीक बर्ताव करने आदि नियमों से बाँधना। ऐसा करते हुए सांसारिक स्वार्थ आपके सामने बेड़ा गर्क करने आयेगा; बुद्धि पर परदा डाल देगा व शुद्ध बुद्धि नहीं रहने देगा। वही स्वार्थ वाला मन यही बतायेगा कि सारी दुनिया ऐसे ही करती है तो फिर आप कोई अलग होकर थोड़ा ही चलोगे, ऐसे-ऐसे वह बाहर का स्वार्थ वाला मन भाव बना देगा। अब यदि आप धीरज रख पाओगे तो अपने नियमों के द्वारा इस जीवन को धर्म पर चला सकोगे।

13. इन नियमों को अन्दर का प्रकृति का देवता, जिसके बारे में पहले बताया गया है, निभने नहीं देता। इस देव को पहचानना चाहिए, जो बचपन से पला बैठा है। उसकी शक्ति इतनी तेज़ है कि वह भाव धारा बनाता है जो मनुष्य को ऐसे धक्का देती है, जैसे तेज़ तूफान की हवा सूखे पत्तों को उड़ा कर ले जाती है। वह अन्दर की प्रकृति का देवता इतनी तेज़ी से अन्दर भाव व विकारों को पैदा करता है कि मनुष्य विवश (लाचार) होकर उन्हीं भाव व विकारों की तरफ़ चल पड़ता है और उन विकारों की तरफ़ चलने से यह होश नहीं रहती कि मनुष्य अपनी अन्तिम भलाई और बुराई के परिणाम सोच सके। एक छोटा-सा दृष्टान्त है- एक महात्मा थे। किसी एक आश्रम में टिके हुए थे। वहाँ पास (नज़दीक) से रेलवे लाइन जाती थी। उनके स्थान से दो-तीन फलाँग पर रात के समय गाड़ी बड़ी तेज़ सीटी देती रही। गाड़ी वहाँ आधा घंटा तक खड़ी रही। महात्मा ने सोचा कि क्या कोई झगड़ा हो गया? कारण कि वहाँ कोई स्टेशन नहीं था। उसको भी थोड़ा शक तो हुआ और सोचा कि गाँव पास में है; सुबह

गाँव वालों से इस घटना के बारे में जरा पूछ लेंगे। सवेरा हुआ और उधर से कोई गाँव वाला आया, जिनका वह स्थान (आश्रम) था। महात्मा जी ने उससे पूछा "क्या बात थी? रात में आधा घंटा गाड़ी पहले बड़ी चिल्लाती रही और फिर खड़ी रही।" उस गाँव वाले ने कहा, "अजी महाराज बाबा जी, क्या बात बतायें; रात को बहुत बुरी दुर्घटना हुई है।"

उस गाँव वाले ने बताया कि एक औरत ने अपने बच्चे के साथ आत्महत्या कर ली है। महाराज जी ने पूछा, "क्यों आत्म-हत्या कर ली; क्या बात हो गई ?" उसने बताया कि बात तो कुछ विशेष नहीं; घर में कुछ कलह (झगड़ा) हुआ और उस औरत के मन में आया कि इस घर में तो जीना भी मुश्किल व फ़िज़ूल है। वह घर से उठी और लाइन की तरफ चल दी। गाड़ी आने का समय हो गया था। जब घर से निकल गई, तब उसका बच्चा सो रहा था और उसको बच्चे की भी याद आ गई और सोचा मेरे पीछे यह बच्चा दुःख पायेगा तो इसको भी साथ ले चलूँ। उस बच्चे को भी गोद में लेकर गाड़ी के आने से पहले-पहले रेलवे लाइन पर पहुँच गई। गाड़ी आई और उसने आकर दोनों को कुचल दिया। गाड़ी तेज़ गति में होने की वजह से जोर-जोर से सीटी दे रही थी। इस घटना के बाद गाड़ी धीरे-धीरे रुक गई और जब तक उस घटना की रिपोर्ट वगैरह दर्ज नहीं हुई, तब तक गाड़ी वहीं खड़ी रही। महात्मा जी ने कहा, "जो मनुष्य जीने का सुख चाहता है वह मौत का दुःख क्यों ग्रहण करेगा? लेकिन यह जो प्रकृति की शक्ति लिए अन्दर बैठा देव है, वह जन्म के साथ होता है और वही अन्दर तरंगें पैदा करता है कि इस अपमान में रहना ठीक नहीं है। उस माई ने यह नहीं सोचा कि उसके घर वाले का क्या कसूर था? यह तो मान-

अहंकार का कसूर था; वह अपनी मैं-मान का सुख लेना चाहता

था और भड़क-भड़क कर बोलता था। मेरे अन्दर भी मान के सुख का राग भड़क रहा था और उसके संग द्वेष, जो भड़क कर कुछ करवा रहा था। इसलिए यदि वह अपने मान-अहंकार को नीचे नहीं कर सकता तो मैं ही समझ जाऊँ। यदि वह माई इस प्रकार असलियत समझ लेती तो बच जाती। परन्तु उसके अन्दर ज्ञान नहीं आया और उसके अन्दर प्रकृति या स्वभाव वाली तरंगें ही चला कर ले गईं और उसे मरवा दिया। उस स्त्री के घरवाले के अन्दर भी इतना ज्ञान नहीं पैदा हुआ कि उसके दुर्वचन उसकी औरत को ऐसे ही जलाते होंगे जैसे दूसरों के कड़वे वचनों से उसको दुःख होता है। यदि यह ज्ञान उसके घरवाले के अन्दर पैदा हो जाता, तो शायद यह घटना टल जाती। उसने अपने समान ही दूसरे की आत्मा को नहीं समझा। इस घटना का मुख्य कारण यही था कि वे दोनों ही नासमझ थे।"

14. इसलिए थोड़ा कहीं से अपमान हो जाने पर जैसे उस स्त्री का मन दुःखी हुआ, ऐसे ही किसी भी व्यक्ति का मन दुःखी हो जाता है। अतः आप थोड़ा बाहरी सुखों का राग त्यागें; मान त्यागें और दुःख सहन करने की शक्ति पैदा करें। अपमान की स्थिति में मरने से क्या ज्यादा सुख मिल जायेगा? बल्कि इसके विपरीत दुर्गति ही होगी। मनुष्य के मिले हुए जीवन से यदि नफ़रत (घृणा) करते हो; तो आगे क्या पशु जीवन में रहोगे और कौवा या कुत्ता बनोगे? उस योनि में कोई सुख मिलने वाला नहीं है। यदि मनुष्य जीवन से घृणा (नफ़रत) करते हो, तो इसका अर्थ है कि आपने मनुष्य जीवन का मूल्य नहीं समझा है, जिसमें परमसुख की उपलब्धि (प्राप्ति) हो सकती है। जैसा कि ऊपर कहा है कि मान और अपना सुख नहीं मिलने से उनके अन्दर दुःख का तेज़ तूफान था; जिसने उनके अन्दर गुब्बार (गर्द) छा दिया। तूफान आँधी के बीच में मनुष्य अन्धा हो जाता है और उसकी अपना

रास्ता भी नहीं सूझता है। यह क्या तेज़ तूफ़ान उन्हीं के अन्दर था? नहीं, यह सब के अन्दर है। ऐसी अवस्था में वही मनुष्य बुद्धिमान होता है, जो इस प्रकृति की अपने अन्दर उठती हुई लपक को पहचाने और इसके झटकों को समझे। झटकों को समझ करके धैर्य (धीरज) रखता हुआ अपनी बुद्धि को शुद्ध रखे और कोई खोटा कर्म नहीं होने पाये; तभी वह कर्मयोगी है। कर्मयोगी होने के साथ-साथ दूसरों के बीच रहते हुए यदि मन बार-बार उनके दोष दिखाये तो भक्तियोग उत्पन्न करके वहाँ भी देखे कि उन दूसरे मनुष्यों के भी बस की बात नहीं है, जिन्होंने मेरे लिए कुछ बुरा सोचा है, वे विवश हैं। यह मेरे अन्दर, जो तूफ़ान पैदा कर रहा है, यही शक्ति (बल) उनके अन्दर भी बैठी है। इस तरह सब में अपनी आत्मा के समान ही आत्मा समझे; यह ब्रह्म-भाव कहा जाता है।

15. इस ब्रह्म-भाव को प्राप्त करने के लिए गीता में कहा है कि मनुष्य पहले बुद्धि से विशुद्ध होवे और धैर्य (धीरज) से अपनी आत्मा को नियम से रखे। फिर राग, द्वेष आदि से रहित होकर विषयों का त्याग करे अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि के चक्कर में ज्यादा नहीं रहे। इन्हीं का सुख प्राप्त करने के लिए हम दूसरों को दुःख देते हैं। इसलिए अपने को नियमों में रखकर अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध आदि का जब त्याग करेगा, तो नींद जीतने पर अंधकार में मन जाग जायेगा अर्थात् अज्ञान के अंधकार में भी मन ज्ञान प्राप्त कर लेगा। जैसे गीता में कहा है :-

"अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।"

16. काम, क्रोध, राग, द्वेष, मान, मोह आदि सब का त्याग करके फिर निर्मम (ममता रहित) हो जावे अर्थात् उनमें अपना

'मैं' पना नहीं रखे। फिर भी यदि दूसरों से अधिक अपनी 'मैं' रखता है; दूसरों को सम (अपने बराबर) करके नहीं समझता अर्थात् दूसरे का हृदय नहीं पहचानता कि दूसरे के हृदय में क्या है तो यह जीव-भाव ही है। यदि आप अपनी आत्मा के साथ दूसरे की आत्मा को एक करके समझते हैं तो समझो आपने परमात्मा को पहचाना है और यही ब्रह्म-भाव है। यदि अपनी 'मैं' ही आपने समझी है तो आप जीव-भाव में ही हैं। दूसरों को तो समझा ही नहीं, जो कि ब्रह्म-भाव रूप हैं। पशु-पक्षी भी तो यही करते हैं; जो अपना स्वार्थ तो जानते हैं; परन्तु दूसरों के अन्दर की बात नहीं जानते। जितना आपने पहचान लिया कि जो मैं यहाँ हूँ; वही वहाँ भी हूँ अर्थात् दूसरे में भी हूँ और जो मैं अपने लिए चाहता हूँ तो दूसरा भी वैसा ही चाहता है तो समझो! आप ब्रह्म-भाव अपनाने के मार्ग (रास्ते) पर चल पड़े। इसलिए मैं वहाँ ऐसी भक्ति करूँ कि यदि किसी का अच्छा नहीं कर सकूँ तो मेरे से किसी का बुरा तो नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार अच्छाई समझ करके अपने-आप को काबू में रख ले और अपने-आप को नियमों में बाँधते हुए धीरज भी रखे। इसके लिए चाहे अपना सुख जाता है तो जाने दे। यही भक्तियोग है कि सब में समभाव रखना।

17. 'ब्रह्म' नाम व्यापक का है, जो चारों तरफ फैला हुआ है। इस भाव को वही प्राप्त होता है, जो अपने और दूसरों में कोई भेदभाव नहीं रखता है। वह समझता है कि जो वहाँ है, वही यहाँ मेरे अन्दर है अर्थात् जो सुख-दुःख महसूस करने वाला तत्त्व मेरे अन्दर है वही तत्त्व दूसरों के अन्दर भी है। इसलिए मैं ऐसे ढंग से शब्द प्रयोग करूँ कि जिनसे दूसरे के अन्दर आग नहीं लगे। जब मैं नहीं चाहता कि मेरे अन्दर दूसरे के अपशब्द से आग लगे तो मैं भी कटु वचन बोलकर दूसरे के अन्दर अग्नि क्यों जलाऊँ,

जिससे उसको दुःख हो? ऐसा भाव ही दूसरे की आत्मा को एक करके समझना है। इस प्रकार यदि आपने अपने कर्मयोग व भक्तियोग द्वारा दूसरे के अन्दर का ख्याल नहीं किया तो आपके ऐसा कहने व सोचने का कोई प्रभाव(असर)नहीं होगा कि "एक ही परमात्मा सब जगह रमा हुआ है; एक ही ब्रह्म है; बस और तो कोई नहीं है; वही ब्रह्म सब काम करवाता है; और हम आप कुछ करने वाले नहीं हैं।" इस प्रकार कहने का प्रभाव तब होगा, जब इस तरह समझ करके कुछ कार्यरूप से अपने अभ्यास में लाओगे अर्थात् कर्मरूप से उसका उपयोग करते हुए अपनी आत्मा को ठण्डा कर लोगें और दूसरों के प्रति कोई अपराध भी होने नहीं पायेगा। अपराध करने पर उसका कर्मफल अवश्य भोगना पड़ेगा। जिस प्रकार मनुष्य स्वप्न में अपने ऊपर दुःख या विपत्ति का अनुभव करता है और इस स्वप्न को उत्पन्न करने वाली निद्रा होती है। इसी प्रकार मृत्यु मनुष्य को इस संसार से दूसरे संसार में ले जाती है और वहाँ भी इस प्रकार से अनुभव करता है, जैसा कि उसने पूर्व जन्म में कर्म किया है। यदि उसने किसी दूसरे को दुःख दिया है तो वह उस दुःख के कारण से दुःखी और बाध्य (लाचार) होकर अपने-आप का नाश करेगा। यह सबके अन्दर बैठे प्रकृति के देवता का खेल है।

18. जब तक आप ध्यानयोग नहीं जगाओगे और भक्तियोग द्वारा बाहर से मुक्ति (**छुट्टी**) नहीं पाओगे, तब तक अन्दर की बारीकी की यह विद्या समझ में नहीं आयेगी और ज्ञान रूप कृष्ण भगवान् नहीं जन्मेगा अर्थात् असलियत समझने वाला मन नहीं जागेगा। जब तक असलियत नहीं समझोगे तो पूर्ण मुक्ति नहीं मिलेगी। असलियत समझने पर उसी के अनुसार अपने-आप अन्दर प्रेरणा आयेगी। इस के लिए प्रकट ज्ञान रूप कृष्ण भगवान्

को अन्धकार में जगाना पड़ता है तो थोड़ा इसके लिए निद्रा को

जीते; कर्मयोग द्वारा थोड़ा इस बाहर की तृष्णा को भी जीते। फिर एकान्त में हिम्मती होकर असलियत को समझकर सबके अन्दर आत्मा एक रूप से पहचाने, तो समझो भक्तियोग शुरू हुआ। इसके लिए थोड़ा खेद (तंगी) को सहन करना पड़ेगा व थोड़ा आदतों का सुख भी त्यागना पड़ेगा, तो आपके अन्दर वह हिम्मत बन पायेगी कि हम दूसरे की आत्मा के साथ अपनी एक आत्मा करके समझ सकेंगे। इसी का नाम संस्कृत में ब्रह्म-भाव है। ब्रह्म-भाव प्राप्त होने पर क्या मिलता है, वह गीता के निम्न श्लोक में बताया गया है :-

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा" इत्यादि।

इस ब्रह्मभाव को वही प्राप्त करता है, जो मनुष्य धैर्य से अपने को नियमों में रखता है और बाहर के सब प्रकार के काम (इच्छा), क्रोध, लोभ, मोह आदि को छोड़ता है, कारण कि यही सब अपने सुख के लिए दूसरों का बुरा करवाने वाले होते हैं। जब कोई इन सब को छोड़ पायेगा तो मेरी भक्ति को प्राप्त होगा। जब सब प्राणियों के लिए ब्रह्मभाव हो जायेगा अर्थात् जब कोई सबके अन्दर समान भाव से ब्रह्म देखेगा तो उसकी आत्मा में प्रसन्नता (खुशी) आयेगी। दूसरे की आत्मा को समझने से वह देखेगा कि एक विधान ही काम कर रहा है; 'तू, मैं' इसमें कोई नहीं है। एक ही कायदा (नियम) काम कर रहा है। इस प्रकार समझने पर उसको बड़ी खुशी होगी। जब दूसरा कोई भी करने-कराने वाला नहीं है तो मैं किसको जिम्मेवार ठहराऊँ? फिर किससे बदला लेने जाऊँ व किसका मैं बुरा करूँ? इस प्रकार से वह अपनी आत्मा में इतना प्रसन्न (खुश) होगा कि वह किसी भी गई वस्तु (चीज़) का शोक और दुःख नहीं मानेगा और जो वस्तु (चीज़) अभी मिली ही नहीं है, उसको पाने की इच्छा भी नहीं करेगा अर्थात् वह जाने वाले का शोक नहीं करता है और अप्राप्त

की इच्छा भी नहीं करता है। वह सब प्राणियों में समभाव वाला हो जाता है। कृष्ण भगवान् कहते हैं कि "तब वह मेरी परे की भक्ति (परा-भक्ति) को प्राप्त हो जाता है बाकी सब नीचे दर्जे की अपरा भक्तियाँ हैं। अर्थात् पहले भगवान् पर श्रद्धा और विश्वास करते हुए व उसका नाम ले-ले कर पापों से टलना है, यही नीचे दर्जे की भक्ति अपरा भक्ति कहलाती है। इसके बाद असलियत को समझ करके जैसी मनुष्य की स्थिति होनी चाहिए, उसी के अनुसार अपनी स्थिति बनाना अर्थात् अपनी अवस्था बनाना ही भगवान् की परा-भक्ति है।"

19. उस भगवान् की भक्ति करनी है जो "पूर्ण ज्ञान से सम्पन्न है और विद्या व अविद्या को जानता है; कर्मों की गति और अगति को जानता है; सब बन्धनों और मोक्ष को भी भली प्रकार से जानता है।" ज्ञान ही भगवान् का स्वरूप है। यदि आपने अपने अन्दर जान लिया कि जो मैं खोटा कर्म करने जा रहा हूँ, उसका नतीजा अच्छा नहीं है, तो समझो! आपके अन्दर भगवान् की एक कला उतर आई, जो आपको सम्भाल लेगी। यदि यही ज्ञान आपके अन्दर नहीं जन्मा तो केवल परमात्मा ही अपनी माया लिए हुए बैठा है, जो अपने विधान (नियम) के अनुसार ही काम करेगा। जैसे उसके अन्दर उद्वेग (जोश) आदि आयेंगे तो उसको उस समय सम्भालने वाला कोई नहीं होगा। इसलिए भगवान् की भक्ति करने के लिए राग, द्वेष त्यागना व अपने-आप को नियमों में रखना और बुद्धि को जगा कर परमात्मा को भी समझना कि अपनी माया के साथ वह अपने नियमों (उसूलों) के द्वारा किस तरह सारी दुनिया को चला रहा है? फिर मैं इसके चक्कर से निकल जाऊँ, जो माया आकर मुझे भी चला जाती है। जब आप अपना स्वार्थ ज्यादा रखेंगे तो आप कार्यरूप (व्यवहार रूप) में समभाव प्राप्त करके इसके चक्कर से नहीं निकल पायेंगे। इसके लिए थोड़ा त्यागी व

तपस्वी बनना पड़ता है। आपकी पूर्ण भक्ति तभी होगी, जब सबके अन्दर आपने अपने समान आत्मा को समझ लिया और दूसरे के अन्दर भी एक आत्मा समझकर कार्यरूप में उसको बदलने लग गए व उसको बढ़ाने लग गये।

20. इसके लिए आप यत्न तब करेंगे जब आप इस रास्ते से चलेंगे अर्थात् थोड़ा स्वार्थ त्याग करके मन्दे (खोटे) कर्मों से दूर रहेंगे, यही कर्मयोग है। फिर इतना कर्मों में जागना कि हर समय जागते-जागते कार्य (काम) करना ताकि बुराई का मन में आने का पता लगे और पता लगने पर टालने की कोशिश हो। कर्मयोग इतना बढ़ जाये कि देखते-देखते बुराई पहचान में आये और कर्म करते-करते ही टल जाये। जैसे आप दातुन कर रहे हैं, उस समय किसी का वैर मन में आ गया तो दातुन को ही ध्यान से करते-करते ही उस वैर भाव को टाल दिया। इस प्रकार आपको बुराई टालनी भी आ गई। यह कर्मयोग बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जायेगा कि अंधकार में भी ये भाव ध्यान में आने लग जायेंगे। ऐसे ही जब रात्रि के अन्धकार में भी अपने मन में सब दोष विकारों का संसार दीखने लग जाये और टालने वाला मन सबको टालता जाये तो समझो हम परमेश्वर के आनन्द के क्षेत्र में उतर आये। इस प्रकार जब अंधकार में आपका मन जाग गया तो समझो कृष्ण का जन्म हो गया।

21. परमात्मा की माया ही सबको चलाने वाली है। जो इस माया से मुक्त हो जाये, वही सबसे बड़ा है। वह सत्य का ज्ञान रूप भगवान् ही उसे मुक्त करेगा, यदि वह उसके अन्दर बैठ जाये। यदि यह ज्ञान आप नहीं जन्मा सके तो समझो ईश्वर की दो शक्तियाँ अभी आपके अन्दर नहीं जाग पाईं अर्थात् जानने की शक्ति कि मेरा हित (भलाई) किसमें है और जानने के अनुसार कर सकने की शक्ति। यदि ऐसा नहीं हो पाया तो मनुष्य के

जीवन का लाभ तो नहीं है। मनुष्य के अन्दर ही यह भगवान् ने बुद्धि दी है कि वह मनुष्य जीवन का लाभ प्राप्त कर सकता है। यदि बुद्धि का उपयोग नहीं हुआ तो समझो मनुष्य का जीवन ऐसे ही व्यतीत कर दिया और जो परम आनन्द प्राप्त करना था, वह नहीं मिल सका।

22. इस कर्मयोग द्वारा भक्ति को जगाकर, ध्यानयोग द्वारा ज्ञान को जगाकर, सभी के अन्दर एक समान आत्मा को पहचान कर अपने कर्त्तव्य से ऐसे मुक्त हो जाना है कि किसी आये हुए प्राणी और पदार्थ का हर्ष (खुशी) नहीं हो और गए हुए प्राणी या पदार्थ का शोक और दुःख भी नहीं हो अर्थात् हर्ष शोक से बिल्कुल रहित हो जाये। इस प्रकार मुक्त होकर जब किसी का भी बाहर ध्यान नहीं रहे तो अपनी आत्मा में जागते हुए चुप बैठे रहें तो आपको उस समय उस अन्दर के ज्ञान रूप देव का पता लगेगा जो सबके शरीर के अन्दर कार्य चला रहा है। उस ध्यान में जीवन देने वाली उस शक्ति का अनुभव होगा। इस शक्ति का अनुभव केवल बाहर के स्वार्थ ही नहीं होने देते कि "मेरा उसने यह किया; वह ऐसा है; आप ऐसा करते हैं; वह ऐसा करता है तो फिर मैं भी क्यों मानूँ?" यह तेरी-मेरी ही नहीं छूटती, जिसका भयंकर चक्कर स्वार्थ पर टिका हुआ है जो उस प्रकृति की शक्ति के देव का है। इसी ने संसार में सबसे पहले आँख खोली है। यदि आप इसी की तरंगों और विकारों में बहते रहे और इस प्रजापति देव की सारी पूँजी आपके पास पड़ी रही तो आपके लिए मुक्ति का मार्ग (रास्ता) कहीं भी नहीं है।

23. यदि आप किसी भी जीव को मन से दुःख देना नहीं चाहते तो यद्यपि यह भाव आपके मन के अन्दर का है, फिर भी यह भाव आपके बर्ताव में अवश्य प्रकट हो जायेगा और दूसरे इस भाव को समझ भी जायेंगे। आपके प्रति उनकी प्रीति, प्यार

व श्रद्धा हो जायेगी। आप इस भाव के कारण उस सच्चे भगवान् की दुनिया में होंगे। आपको कोई कर्म भी बन्धन में डालने वाला नहीं होगा और आप धीरे-धीरे भगवान् के राज्य में पहुँच जायेंगे। ऐसे मनुष्य को ज्यादा सोचना भी नहीं पड़ता। सोचना ज्यादा उसको पड़ता है जो बाहर अपने सुख के लिए या दुःख से बचने के लिए कोई ऐसे खोटे कर्म कर जाता है, जिससे दूसरों से शंका होती है और भय (डर) लगा रहता है। यदि आप किसी के बारे में खोटा सोच भी गए तो उसका भी आपको एकान्त में शंका, भय होगा। जैसे आप अकेले बैठे-बैठे किसी की बुराई सोच रहे हैं और बाहर से कोई आवाज़ आई कि कोई मनुष्य आ रहा है तो आप झट चौंक जायेंगे और आपको भय (डर) लगने लगेगा और शंका हो जायेगी कि कहीं वही मनुष्य तो नहीं आ गया, जिसके बारे में मेरे द्वारा बुराई सोची जा रही थी। इस शंका, भय का कारण अन्दर बसा हुआ पाप ही है। जब यह अन्दर बैठा भगवान् आपको एकान्त में अपना परिचय दे रहा है तो निद्रा और मौत में भी प्रकट होकर वही चलायेगा।

24. इस प्रजापति देव को पहचानते हुए दूसरों के प्रति क्षमा बसाएँ; अपने अन्दर थोड़ा दया भाव रखें और अपनी 'मैं' को थोड़ा त्यागें। इस प्रकार संसार में चलो कि किसी का अच्छा नहीं कर सको तो कम से कम बुरा करने से तो बचते रहो। जैसे-जैसे आप भगवान् के दस बल (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, शील, दान, वीर्य, ध्यान व प्रज्ञा) और गुण (वैराग्य, संतोष व तप वगैरह) अपनाते जायेंगे तो यही सच्ची भगवान् की भक्ति आपकी हो जायेगी। फिर एकान्त में बैठकर आपको ज्यादा सोचना भी नहीं पड़ेगा। वैसे चाहे आप अहंकारी बनकर व अपना मन बहलाने के लिए भले ही सोचते रहो कि मैंने बड़ी अच्छाई की है। इस प्रकार आप अपनी 'मैं' लिये बैठे रहो, यह कोई उचित

सोच नहीं है। फिर इस 'मैं' का भी त्याग करें। 'मैं' तो अपनी ठीक वही है, जो किसी दूसरों को समय पर नज़र आ जायेगी।

25. भगवान् की भक्ति करने के लिए आप सब जगह अपनी होश व स्मृति में रहें; ध्यान में हर क्षण अपने को चेताते रहें और ज्ञान उपजा करके अपने को सम्भालते भी रहें। एक क्षण भी चूकने का नहीं है। हर समय जागते हुए यदि आप इस तरह से भक्ति करते रहे तो कर्मयोग, भक्तियोग (ध्यानयोग) और ज्ञानयोग अर्थात् एक-दूसरे के साथ जुड़े-जुड़ाए होकर आपको उस परमात्मा के पद (धाम) पर पहुँचा देंगे। यह सारा व्यवस्थित प्रयोग है वह परमात्मा बारीकी में बैठकर सब की देह की मशीन को चला रहा है और उसका पता किसी को भी नहीं लगता, कारण कि तू-तू, मैं-मैं के अन्दर सब भूले बैठे हैं।

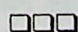
26. इस शरीर के सब कर्म स्वार्थ के लिए होते हैं, जिनसे टलने, बचने व मुक्ति पाने का रास्ता मनुष्य नहीं सोचता। यदि इधर से (संसार से) थोड़ा मनुष्य मुक्त हो तो अन्दर ज्ञानदेव प्रकट हो। लेकिन संसार से छूटने के बाद निद्रा, ज्ञानदेव को प्रकट नहीं होने देती, जिसमें विलीन होकर वह सो जाता है। फिर निद्रा में मन जागे अर्थात् अंधकार 'जिसमें विकार छुपे हुए हैं' के जगने के बाद सारे संसार से मुँह मोड़ने पर ज्ञानदेव प्रकट होता है। जब बाहर करना कुछ नहीं रहा तो सोचना भी समाप्त हो जाता है कारण कि पहले बाहर अपना हित (भलाई) साधने के लिए सोचते थे। जब सोचना कुछ नहीं और फिर अन्दर मन जाग रहा है तो भगवान् अपना अन्दर दर्शन देगा जो सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप है, उसका सुख भी प्रकट हो जाएगा। यदि आनन्दरूप ब्रह्म को आपने जान लिया और उसका आनन्द परख लिया तो आपको किसी का भय नहीं रहेगा। सबसे बड़ा भय मृत्यु (मौत) का है। ब्रह्म को जानने के बाद मृत्यु रहती ही नहीं, तो मरेगा कौन और क्या?

यदि आनन्द रूप ब्रह्म मर गया होता तो यह संसार उजड़ जाना था। संसार तो आराम से चल रहा है और कभी समाप्त नहीं होगा। जब संसार समाप्त नहीं होगा तो इसकी जड़ में बैठी हुई शक्ति भी समाप्त (खत्म) होने वाली नहीं है, जो सभी देहों को चला रही है। वही एक ही अनन्त है, जिसमें जाकर आराम मिलेगा। जब ध्यान में बैठे हुए संसार को भूले हुए हैं; देह की कोई होश नहीं है और आनन्द ही आनन्द आ रहा है तो समझो! आपको भगवान् का साक्षात्कार हो गया और सब दीखने वाली वस्तुओं की बारीकी में छुपे हुए तत्व में प्रवेश मिल गया। यही अन्तिम गति है।

27. चलने के लिए तीन ही रास्ते हैं अर्थात् धर्म के तीन ही स्तम्भ हैं, जिन पर धर्म का यह मकान खड़ा है। इस धर्म के मकान में बस करके ही मनुष्य मुक्ति पायेगा। ये तीन स्तम्भ शील, समाधि और प्रज्ञा अर्थात् कर्म, भक्ति और ज्ञान के नाम से जाने जाते हैं। पहले सब अच्छे कर्म करने होंगे और बाहर सब खोटे कर्मों से दूर रहना पड़ेगा। कर्म में मन जोड़कर करें ताकि अन्दर का कुछ पता लगता रहे। जिसका पता लगता रहे, उसको समझने का यत्न करें। वही थोड़ा समझना ही ज्ञान हो जाएगा। समझ-समझ कर खोटे कर्मों से, भावों और विकारों से बचते रहने की कोशिश करते रहें। ज्ञान को जगाने के लिए अन्धकार को जगाना है, जिसमें विकार और संस्कार छिपे हुए हैं। अकेले में जाकर असलियत देखनी है। फिर पता लगेगा कि बाहर कुछ करने-कराने में जिम्मेवार कोई नहीं है। एक अन्दर ही ऐसी शक्ति है, जो सबको धक्के से (जबरदस्ती) चला रही है। वह शक्ति वायु की तरह बड़े तेज़ तूफान में बहती है। काम (इच्छा), क्रोध, राग, द्वेष, मान, मोह पैदा करके मनुष्य को इस तरह चलाती है कि वह विवश होकर उधर चल पड़ता है। इसलिए मेरा धर्म यह है कि मैं चक्कर से निकलूँ। इसके चक्कर से आप चाहे त्यागी और तपस्वी बन करके निकल गए तो आपका बेड़ा पार हो गया।

आप सब का भला करने वाले हो गए कारण कि आपसे किसी को डर लगना ही नहीं व आपसे किसी का बुरा होना ही नहीं है। आप सबसे पहले यही सबका हित (भलाई) करने वाले हैं। और आपसे बड़ा समाज का हित करने वाला कोई नहीं है। यदि आप दो पैसे या अपनी शक्ति या किसी और ढंग से किसी का भला करते हैं तो यह आपका बाहर के ढंग से भला है। यदि इस तरीके से अर्थात् कर्म, भक्ति व ज्ञान रूपी धर्म के मकान में बस कर अपनी आत्मा को संयम में रखकर दूसरों को यदि आप सुखी या उनका भला करेंगे तो यह अन्दर के ढंग से सबका भला है।

अपनी आत्मा को साधने के लिए तीन ही रास्ते कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग हैं। इनको व्यवस्थित ढंग से एक-दूसरे के साथ जोड़कर अपने साथ बनाये रखे। यह नहीं समझे कि कोई कर्मयोगी है तो उसका कर्मयोग से ही बेड़ा पार हो जायेगा और यदि कोई भक्तियोग वाला है तो उसका उससे (भक्तियोग से) बेड़ा पार हो जायेगा। ज्ञानयोग वाले इन दोनों से अलग होते हैं। ऐसी बात नहीं है कि किसी एक योग से ही किसी का बेड़ा पार हो जायेगा। ये तीनों योग एक मनुष्य के लिए हैं और एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। यदि व्यवस्थित ढंग से अर्थात् एक-दूसरे से जुड़े-जुड़ाए ढंग से आप इनका प्रयोग करेंगे और अपने काम में लायेंगे तो मुक्ति अवश्य मिलेगी अर्थात् परमसुख मिलना निश्चित है। यह सारी गीता एक मनुष्य के लिए है। करोड़ों मनुष्यों के लिए अलग-अलग नहीं हैं। धर्म सबके लिए एक होता है। आपने अपने धर्म का मकान इन तीन स्तम्भों पर खड़ा करना है और वहाँ तक खड़ा करना है; जहाँ उस परमपिता परमात्मा के आनन्द रूप धाम का प्रकाश हो जाये। उस प्रकाश में आपको ऐसा अनुभव हो जाये कि जो करना था, सो कर लिया और जो पाना था; सो पा लिया और पाने का शेष (बाकी) कुछ नहीं रहा; बस यही सारे का निचोड़ है।



प्रवचन-3

दिनांकः 11.1.1987

1. पिछले सप्ताह यह बतलाया गया था कि मनुष्य का सबसे उत्तम लक्ष्य वही है कि जहाँ पर पहुँचकर उसके सब दुःख टल जायें और एक ऐसे सुख की प्राप्ति हो, जो एक बार मिलने पर बिछुड़े नहीं। इस उत्तम वस्तु को छोड़ कर मनुष्य के लिए इस जीवन में कोई उत्तम लक्ष्य या उद्देश्य नहीं है। जो सुख मिले वह थोड़ी देर रहने वाला नहीं होना चाहिए अर्थात् ऐसा नहीं हो कि थोड़ी देर सुख हुआ फिर समाप्त हो गया। ऐसा सुख नहीं हो कि उसके मिलने के बाद किसी दूसरे, तीसरे सुख को प्राप्त करने की इच्छा हो और कुछ समय के बाद वह भी बिछुड़ जाए। इस प्रकार से संसार के बहुत से सुख प्राप्त होकर बिछुड़ गए और अन्त में जहाँ पर जा करके इन सुखों ने पहुँचाया, वहाँ दुःख, व्याधि और शोक ही हैं। इस प्रकार के सुखों का कोई सदा बना रहने वाला महत्त्व(कीमत) नहीं है।

2. जिस प्रकृति ने यह सकल संसार रचाया है, उसने तो इसी प्रकार के सुखों की रचना की है, जो थोड़ी देर के लिए मिलने के बाद समाप्त (खत्म) हो जाते हैं। फिर भी यदि ऐसे सुखों के पीछे हम तृष्णा के कारण से लगे रहें तो अन्त में दुःख, शोक व व्याधि ही पल्ले पड़ेंगे अर्थात् मिलेंगे। प्रकृति के रास्ते का सुख तो बहुत थोड़ा है। मनुष्य इस तरफ़ उस सुख को पाने के लिए चल तो पड़ता है, क्योंकि प्रकृति बलवती (ताकत रूप) होने से बड़े जोर से उधर जाने के लिए धक्का देती है; लेकिन अन्त में उसे दुःख ही वहाँ मिलता है।

3. प्रजापति देव, जन्म से जिसने पहले इस संसार में आँख खोली है, उसकी अपनी एक शक्ति (बल) है। वह अपनी शक्ति

से मनुष्य को धक्का देकर इधर बाहर ही चलाता है कि "चल बाहर ही देख, सूँघ, चख व बाहर की ही सारी वस्तुओं को समझो और मन भी उधर ही लगाये रखो। बाहर ही जो कुछ थोड़ा अच्छा लगता है, उसी सुख क़ो पाने के लिए यत्न भी करो। जिधर से दुःख लगता है उधर से भागो।"अर्थात् दुःख की स्थिति में रहना अच्छा नहीं लगता है। प्रकृति जन्म से यही बताती है कि इस संसार में कुछ दुःख होता है और कुछ सुख होता है। जहाँ दुःख होता है, उससे भागने के लिए उसी के अन्दर से कार्य शुरू हो जाता है। रोना, हँसना, क्रोध आदि भाव आप और हम जान करके किसी मशीन में पैदा नहीं कर सकते, इनको पैदा करने वाला वही सूक्ष्म देव है, जिसने जन्म से ही बाहर आँखे खोली हैं। इसी को शास्त्रों में प्रजापति कहा है, जो सब के अन्दर समान रीति से बैठा हुआ है।

4. सुख-दुःख भी प्रकृति (आदतों की शक्ति) के अन्दर हैं, इन्हीं से नाना प्रकार के भाव, काम आदि विकार, उद्वेग (जोश) उत्पन्न होकर तूफ़ान की तरह मनुष्य की बुद्धि को भी भ्रष्ट कर देते हैं। उस प्रकृति ने यही बताना है कि जो थोड़ी देर के लिए अच्छा लगता है, वही ठीक है और जो खोटा (बुरा) लगता है, वही ठीक नहीं है। जो अच्छा लगता है, उसकी तरफ़ ही बढ़ो और खोटा लगने वाले से दूर भागो। राग-द्वेष को यही सुख-दुःख ही पैदा करते हैं और इन्हीं राग-द्वेष से इनकी सन्तान काम (इच्छा) और क्रोध (गुस्सा) आदि विकार पैदा होते हैं।

5. प्रकृति का मतलब स्वभाव (कुदरत) है, जिसने संसार चलाया है। हर एक जीव के अन्दर वह बसी हुई अपने ढंग से उसको चलाती है। यदि मनुष्य भी उसी ढंग से चलता रहे, तो समझना चाहिए कि वह भी उस प्रकृति शक्ति का दास है। हमारे शास्त्रों में यह कहा है कि यदि आप अपने अनुभव में यह सब

कुछ करके देखेंगे तो आपको शास्त्र सुनने की भी आवश्यकता (ज़रूरत) नहीं है। आप उतनी आँख खोलो अर्थात् अपनी समझ को जागृत करो, कि आपको अपने अन्दर अपने-आप का या आत्मा का ज्ञान हो जाये। आपको भी पता लग जायेगा कि जिस रास्ते से प्रकृति ले जा रही है या ले जाने के लिए उत्तेजित कर रही है, तो उस मार्ग पर जाने से अन्दर की दृष्टि से रोग, शोक, दुःख ही पैदा होंगे। यदि बाहर की दृष्टि से देखें, तो प्रकृति के मार्ग पर चलने से वैर, विरोध, लड़ाई, झगड़े, शंकाएँ और भय ही पैदा होंगे। इनके साथ किसी भी मनुष्य को सदा रहने वाला सुख नहीं मिल सकता। इनसे बचने के लिए प्रकृति के राज्य से निकलना पड़ेगा व उसकी दासता से किनारा करना पड़ेगा।

6. प्रकृति की दासता से निकलने के लिए तंगी (क्लेश) अवश्य सामने आती है। प्रकृति यदि दुःख मानकर हमें विपरीत भी प्रेरणा करे तो उससे थोड़ा झगड़ा भी करना पड़ेगा। भगवान् ने मनुष्यों के अन्दर ही इतनी शक्ति प्रदान की है कि वह इस प्रकृति के सारे वृत्त (दायरे) व वृत्तान्तों को अपने अन्दर समझने के लिए बुद्धि को चेतन कर सकते हैं, यदि आपने बुद्धि को चेतन कर लिया तो इस बुद्धि का दूसरा नाम भगवान् की बुद्धि है। प्रकृति की अपनी बुद्धि है, जो उसके अपने ढंग से निश्चय करने वाली होती है। यह प्राकृतिक बुद्धि तो पशु-पक्षियों में भी है, जो जानते हैं कि मेरे खाने की वस्तु क्या है? गर्मी-सर्दी (ठण्डी) कैसी है? और कैसे इनसे बचना है? ये जानवर मेरे बैरी हैं; ये मेरे प्यारे हैं इत्यादि-इत्यादि। और कैसे इनसे बचना है? आपको जो बुद्धि उत्पन्न करनी पड़ेगी, वह केवल मनुष्य के अन्दर ही सम्भव हो सकती है, जो दोनो पक्षों को सामने रख करके फिर जज (न्यायाधीश) की तरह निश्चय करती है कि सामने तो यह उपस्थित (हाज़िर) है, फिर इनमें ठीक क्या है? जब इस प्रकार

से आप निर्णय करने वाले होंगे, तो यह मनुष्य बुद्धि का काम है। यह बुद्धि ध्यान में जागेगी। यदि आपके अन्दर का ज्ञान जाग जाए और थोड़ा निद्रा में छुपे इसी प्रकृति के विकारों की समझ आने लगे, तो संसार से थोड़ा मुँह मोड़कर अकेले बैठ गए और अकेले में यदि निद्रा को जीतकर आप जाग सके तो वहाँ यह बुद्धि उत्पन्न होती है। इसी का नाम मीमांसा है। एक मीमांसा शास्त्र भी है जो अपने ढंग का है। आपको अपने अन्दर का मीमांसा रखना पड़ेगा, जिसका मतलब है "बुद्धि युक्त विचार।" शास्त्रों के ढंग से बुद्धि दो प्रकार की है— एक पक्षपात वाली बुद्धि और दूसरी निष्पक्ष बुद्धि। प्रकृति के संग वाली बुद्धि पक्षपात वाली है। जहाँ थोड़ा सुख हुआ, वह प्रकृति वाली बुद्धि कहती है कि यदि इसमें मुझे सुख हो रहा है तो मेरे भले की यही वस्तु है और यही लेनी चाहिए। इस बुद्धि का निर्णय (फ़ैसला) तो यह है कि यह सुख वाली वस्तु मिलनी चाहिए तो यह पहला निर्णय (फ़ैसला) एक पक्ष का मिलता है। इस पक्षपात वाली बुद्धि के फ़ैसले पर विचार करने से दूसरे पक्ष का फ़ैसला मिलता है। जैसे कोर्ट (कचहरी) में वादी और प्रतिवादी दो होते हैं और एक बीच में बैठा न्याय अधिकारी (जज) होता है। इस प्रकार न्याय अधिकारी तो मनुष्य में दी हुई भगवान् की बुद्धि बनेगी। गीता में इसका नाम 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' है।

7. सत्य का निश्चय करने वाली बुद्धि तो एक ही है; वह चाहे मेरे अन्दर है; चाहे आपके अन्दर है । वह बुद्धि 'मै-तू' नहीं देखती। जहाँ 'मैं-तू' देखने वाली बुद्धि है, वह खाली मिथ्या निश्चय करने की प्रकृति की शक्ति है वही पक्षपात वाली बुद्धि है जो प्रकृति अपने ढंग से निश्चय करवाती है। यह निश्चय बन्धनों में ही डालने वाला होता है। इस बुद्धि के निश्चय से जीव हमेशा बन्धनों में आकर फँसेगा और अन्त में दुःखों को ही

इकट्ठा करेगा। दूसरी बुद्धि निष्पक्ष वाली है, जिसमें कोई पक्षपात नहीं है। वह बुद्धि तेरी-मेरी नहीं सोचेगी। वह बुद्धि यह सोचेगी कि अन्तिम भलाई व सदा बना रहने वाला सुख किस में है? यही बुद्धि सत्य का निर्णय करने वाली होती है कि "सत्य क्या है? और दुःख सदा के लिए कैसे मिट सकता है?" अब प्रकृति की बुद्धि बीच में यदि रोना रोये तो वह निष्पक्ष बुद्धि सुनने वाली नहीं है। प्रकृति की बुद्धि अपनी 'मैं' रखती है और अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर अपना फैसला देती है। यह बुद्धि एक-एक के अन्दर होती है और एक निष्पक्ष बुद्धि है, जो अपने अन्दर एकान्त में बैठ कर दोनों पक्षों को सामने रखकर निर्णय करती है।

8. जो बुद्धि अपने और दूसरे को अर्थात् दोनों पक्षों को सामने रखकर तराजू से तोले तो यही 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' है। यह भगवत्-रूप होती है। यह मनुष्यमात्र में उत्पन्न हो सकती है, यदि मनुष्य उचित रीति से करना चाहे तो यह बुद्धि तो भगवान् में पूर्ण होती है। भगवान् वही है, जिसके अन्दर यह पूर्ण बुद्धि है, जो विद्या, अविद्या, कर्मों की गति और अगति, नाना प्रकार के सारे बन्धनों और मोक्ष को जानने वाला है। यदि इस बुद्धि को आप लेकर बैठेंगे तो यह बढ़ती-बढ़ती भगवान् की तरफ़ आपको ले जायेगी। इस अवस्था में आप जो कुछ भी निर्णय करेंगे तो शास्त्र वाले इसका नाम मीमांसा देते हैं।

9. मीमांसा का मतलब है कि दोनों पक्ष सामने खड़े करने हैं। एक पक्ष तो वह है, जो आम सामने आ रहा है, वादी का और एक दूसरा पक्ष वह होगा, जो विचार करने पर सिद्ध होता है। यदि विचार करने पर सिद्ध होने वाले पक्ष के ढंग से आपने अपनी जीवन रचना शुरू कर दी तो आप भगवान् की आज्ञा का पालन करने वाले होंगे। प्रकृति वाली बुद्धि चाहती है कि राग-द्वेष

करने से बाहर की वस्तु इकट्ठी करने से अपना स्वार्थ पूरा करना है, दूसरा चाहे मरे या कुछ करे। यही बच्चे का मन कहलाता है। अब वह विचारवान सोचता है कि जिस रास्ते यह प्रकृति मुझे ले जा रही है उस रास्ते मेरा भला है या नहीं। ऐसा आप तब सोच सकेंगे यदि थोड़ी निद्रा व बाहरी सुख के स्वार्थ को जीतेंगे। यदि आप स्वार्थ, कामनाओं व आदतों के बाह्य सुख के चक्कर में ज्यादा पड़े रहे तो वे आपको आगे धर्म मार्ग पर बढ़ने नहीं देंगे।

10. आदतों का बन्धन तो यही कहेगा कि यह आदत हमने छोड़ी है; अब हम दुःखी हो रहे हैं; किसी से आराम से बोल भी नहीं सकते। यदि थोड़ी-सी आदत की वस्तु को ग्रहण करने से जीवन की नौका ठीक चल सकती है, तो इसको छोड़ने में क्या लाभ है? यह प्रकृति कोई भी ज़हर अर्थात् बुरी आदत, नशा और खोटे काम (कार्य) भी नहीं छोड़ने देगी, क्योकि उनके रास्ते उसके बाहरी सुख इतने हो चुके हैं कि वह उनमें बंधा हुआ है । दूसरी बुद्धि दूर तक की निगाह खोल करके देखेगी कि उस रास्ते आप जिस जगह पहुँचेंगे, वहाँ उस अवस्था में आपको अन्दर ही बैठे-बैठे कौवे,कुत्ते, नोच-नोच कर खायेंगे, तो यह रास्ता ठीक नहीं है। इसलिए थोड़ी तंगी सहन करके भी धीरे-धीरे तिल-तिल उन आदतों, खोटे कर्मों व खोटे बाहरी सुखों से निकलने का यत्न करो। यह मीमांसा का काम है, जो अपने मन में उतरती है।

11. हर एक मनुष्य को यह मीमांसा अपनी बुद्धि में उतारनी पड़ती है। हमारे अन्दर पक्षपात वाली बुद्धि बैठी रहती है जो सब जीवों में एक जैसी है, चाहे कोई पशु हो, पक्षी हो या मनुष्य हो। वह कहती है कि "मेरे को तो ऐसा कुछ कहने में सुख है; यही करने में सुख है; नशे पीने व खोटी आदतें पूरी करने में ही सुख मिलता है, इनके बिना मैं किसी से अच्छी तरह बात भी नहीं कर

सकता। मेरे को तो नींद भी नहीं आती।" यह सब प्रकृति की

दासता है। ऐसी अवस्था में अपने मन को समझाना कि "हे मना! तेरे इस प्रकार सुख लेने के थोड़े ही वर्ष (साल) हैं फिर आगे नरक का ही दुःख है। यदि तू नहीं समझता तो दस, पन्द्रह, बीस मनुष्यों को इस अवस्था में आँखें खोल कर देख ले, जो तेरे जैसे घूम रहे हैं। तेरे रास्ते (दिशा) पर चलने वालों की यही दुर्दशा होती है। यदि तुमने भी यही अवस्था (दशा) पानी है तो पा लो। नहीं तो अभी थोड़ा ही इस तरफ़ बढ़े हो, जिसको सहन भी कर सकते हो। थोड़ा–सा दूसरों को देखकर इससे बचने की कोशिश करो। भगवान् की कृपा से यदि बुद्धि आपके अन्दर उतर आई और आप प्रकृति के रास्ते से टल गए तो यह निष्पक्ष बुद्धि होगी।

12. एक पक्ष तो आपकी पहली प्रकृति वाली बुद्धि का है और दूसरा पक्ष विचार करने पर सामने आता है। उसके अनुसार फिर अपने जीवन को ढालना। सब बुराइयों को छोड़ना, सब अच्छाइयों को अपनाना और अपने मन की सफ़ाई करने के लिए यत्न करते रहना। यह पहला धर्म का नियम है। इस मीमांसा के साथ तीन और चाहिएँ। ध्यान बिना मीमांसा नहीं होती। जब तक मन में एकाग्र हो करके चिन्तन करने की आदत आपको नहीं पड़ेगी, तब तक आप कैसे न्यायाधिकारी का काम कर सकेंगे। ध्यान में आपको विचार करना पड़ेगा कि आदत तो कहती है कि "मेरी आज्ञा के अनुसार चलो; थोड़ा सुख होता है; आराम की नींद भी आ जाएगी; सारे कार्य (काम) भी ठीक होंगे, दूसरों से अच्छा भी बोला जायेगा।" परन्तु यदि यह आदत चलती रही तो कहाँ पहुँचायेगी। यदि यह ध्यान करने की युक्ति आपको आ गई और आप ध्यान कर सके तो आप जज (न्यायाधिकारी) बन ज़ाओगे।

13. ध्यान करते समय या तो नींद आने लगती है या फिर

वही पुरानी आदतें तंग करने लगती हैं। ये आदतें बार-बार साधक को उकसाती रहती हैं कि बीड़ी पी-लो या चाय पीकर फिर ध्यान में बैठ जाओ। अभी मन नहीं लग रहा है तो थोड़े रिकार्ड ही सुन लो। ऐसी अवस्था (हालत) में ध्यान नहीं होने का है। इसलिए मीमांसा के साथ थोड़ा ध्यान करने की आदत भी चाहिए। ध्यान के साथ इसका तीसरा हिस्सा हिम्मत (वीर्य) का है, जिससे खोटी आदत से बचने के लिए इच्छा और क्रोध को भी टाला जाये। क्रोध, प्रकृति के सुख को पाने के लिए व अपनी कामना पूरी करने के लिए होता है। कामना पूरी न होने से क्रोध आता है। इस क्रोध को भी टाले। ऐसा करने में अर्थात् क्रोध टालने से जो तंगी हो, उस तंगी को भी सहन करे। जब तक आप इन वस्तुओं को टालने की तंगी नहीं स्वीकार कर लेंगे; इस तप को नहीं आपना लेंगे; और थोड़ा सुख का त्याग करके भी जीने की आदत नहीं डालेंगे तो धर्म के रास्ते पर उन्नति होना असम्भव है।

14. ये आदतें तो बचपन में पड़ जाती हैं। परन्तु बचपन से पड़ी आदतें सदा निभाये जाने में अब कुछ सार नहीं है, बल्कि दुःख ही ज्यादा बढ़ता है। इसको बुद्धि के साथ थोड़ा-थोड़ा हटाने में तंगी तो ज़रूर है। जैसे बच्चे को कोई आदत की वस्तु नहीं देते तो वह रोता है। जब दूसरे जानते हैं कि इसके रोने में कोई चिन्ता का विषय नहीं है; कड़वी दवाई दे रहे हैं; इसका रोग ही ठीक होगा। हम जबरदस्ती भी बच्चे के मुँह में कड़वी दवाई कई बार डालते हैं। इसी प्रकार धर्म के मार्ग की तंगी रूपी दुःख की यह कड़वी दवाई भी जबरदस्ती ही मनुष्य को खानी पड़ती है। वह मन बच्चा ही है, जो इस धर्म की दवाई का कड़वापन मान रहा है।

15. इस रीति से जहाँ पर आपको मीमांसा (विचार) चाहिए वहाँ ध्यान भी चाहिए। जहाँ ध्यान चाहिए वहाँ इन विकारों को खण्डन करने की हिम्मत भी चाहिए; इसी का नाम वीर्य है। ये सब आपके तब बन पायेंगे, यदि थोड़ी सोधी (स्मृति) आप में बनी रहे। यदि आप को होश ठिकाने रख करके सारे कर्म करने की आदत पड़ गई तो मौके पर आपको झट याद आ जायेगी कि जिधर यह मन खींच रहा है या प्रकृति (आदतों की शक्ति) ले जा रही है, वह रास्ता ठीक नहीं है। थोड़ी स्मृति (सोधी) रही तो वह झट सोच जायेगा कि मैं जरा सोच तो लूँ कि जिधर मुझे मन जाने की प्रेरणा दे रहा है; वह रास्ता ठीक भी है या नहीं। जैसे कोई किसी से बातचीत कर रहा है और ऐसा करते हुए किसी मनुष्य को दूसरे की बात से जोश व क्रोध आ गया। यदि होश ठिकाने है तो झटपट उसको याद आ जायेगा कि मेरा मन भड़क गया है। कुछ उल्टी बात मुख से निकलने को जा रही है। मैं इस भड़के हुए मन को थोड़ा दबा करके चाहे, मन को मार लूँ, थोड़ा गम खा लूँ, मान भी जाता है तो जाने दूँ, परन्तु इस मौके को किसी प्रकार टाल जाऊँ। यह सारा जितना भी है वह सत्य कर्म करने की हिम्मत है। इसी का नाम संस्कृत में वीर्य है अर्थात् वीर-भाव है। वीर-भाव (हिम्मत) यही है कि "जो मन के अन्दर प्रकृति का उद्वेग (जोश) आ रहा था; उसको उड़ाने के लिए थोड़ा-सा अपने मन में गम खा लिया; और उसकी आग को सहन कर लिया अर्थात् एक मिनट के लिए क्रोध को अपने अन्दर ही रोक लिया। इतना थोड़ा अपमान का दुःख सहन करके एक बार मौका टाल दो। दो मिनट के बाद पीछे सोच लेंगे, जो कुछ भी उसका अच्छा बुरा प्रभाव (असर) होना है।" अभी इस मौके पर यदि आप चूक गए तो कुछ उल्टा ही परिणाम प्राप्त होगा। हाथ से तीर निकलने पर बाद में पछताने से कोई लाभ नहीं है।

16. स्मृति का नाम केवल याद ही करना नहीं है, परन्तु होश को ठिकाने रखना भी है। थोड़ा होश को ठिकाने रख करके अपने मन में उस जगह बसना, जहाँ अपनी याद ठिकाने रहे कि इन कामों से कोई खोटे कर्म व खोटे नतीजे भी हो सकते हैं। यदि होश (याद) ठिकाने है तो मनुष्य हिम्मत करके अपने विकारों को समय पर (मौके पर) दबा भी सकेगा। विकारों को दबा करके फिर अपने मन को ध्यान में भी लगा देगा और ध्यान द्वारा असलियत को पहचान लेगा। वह मीमांसा (विचार) भी आ जायगी।

17. यदि स्मृति, वीर्य, ध्यान और मीमांसा—ये चार आपके अन्दर नहीं हैं तो भगवान् का राज्य और सत्य की परख होनी असम्भव है। फिर तो यही प्रकृति के राज्य वाले लोभ, लालच, काम, क्रोध, मोह व अहंकार आदि ही शासन करेंगे। बचपन का मन तो यह जानता ही नहीं कि मैं किधर की तरफ़ चल रहा हूँ। जैसे ये पशु और पक्षी चलते हैं; इसी तरह उत्तेजनाओं (जोश) में तो प्रकृति सब में समान ही है। वह किसी को क्षमा नहीं करती; चाहे वह मनुष्य या कोई भी जीव-जन्तु है। उसने तो सुख दिखाकर इसको छलना है। उसी के अनुसार प्रकृति वाली बुद्धि ने वहाँ निश्चय देने हैं। उस बुद्धि के निश्चय का नाम ही पक्षपाती जज का कार्य या निर्णय (फैसला) है, जिसके अनुसार मन बनता है।

18. प्रकृति वाला मन सोचता है कि जब इसी में मेरा सुख नज़र आता है तो फिर मैं इसी वस्तु की चाह करूँगा व पाने का यत्न भी करूँगा। जब मैंने अपने सुख के लिए इस वस्तु को ज़रूरी पाना है तो दूसरा मेरी तरफ से चाहे मरे या जीये। परन्तु बताओ, इस तरह करते हुए इतने बड़े संसार के व्यापक जीवन में, जिसका नाम परमेश्वर या भगवान् है, आप कहाँ तक मनमानी करने में स्वतन्त्र हैं? अर्थात् ऐसा असम्भव है। बच्चे का मन तो

मनमानी करता है। यदि उससे आपने बचना है तो ये चार चाहिये अर्थात् थोड़ी मीमांसा चाहिये; ध्यान चाहिये; हिम्मत (वीर्य) और स्मृति भी चाहिये। यदि ये चारों हो जायेंगे तो भगवान् आपको सच्चा ज्ञान दे देगा। वह ज्ञान देकर स्वयं आपकी रक्षा भी कर लेगा।

19. ध्यान से निश्चय कर लो कि जिस तरफ़ यह प्रकृति खींच कर ले जा रही है क्या उसमें अन्तिम भलाई है? यदि ध्यान लग गया, तो आपको निश्चय हो जायेगा कि प्रकृति के रास्ते पर चलने में केवल दुर्गति ही है; जैसे कई मनुष्यों को जो इस मार्ग पर चल कर दुर्गति पाये हुए हैं, नज़र खोल कर देख रहा हूँ। इसलिए थोड़ा गम खा करके भी बचे रहे चाहे किसी प्रकार का भी दुःख सहन करना पड़े और इस प्रकृति की प्रेरणाओं के चक्कर में नहीं पड़े। खोटे कर्मों से दूर रह जाओगे, किसी से बैर-विरोध नहीं क़रोगे और किसी का खोटा नहीं करोगे, तो आपको बाहर भी जीवन ठीक मिल जायेगा। मन में भी संयम से रहोगे, तो कोई राग-द्वेष, विकार आदि नहीं आयेंगे।

20. यदि प्रकृति (आदतों की शक्ति) का आप विरोध करेंगे तो वह तीन प्रकार से आपको प्रेरित करेगी—1. आपके मन की प्रसन्नता (खुशी) बिगाड़ देगी। जैसे आप सिगरेट, बीड़ी पीने की आदत वाले हैं; आपने सिगरेट, बीड़ी पीने का मौका टाल दिया, जब पीने की इच्छा थी; और उस इच्छा को पूरा नहीं किया, तो प्रकृति का मन आपके चेहरे पर उदासी (शोक) छा देगा। इसका मतलब है कि जिस मन ने सिगरेट, बीड़ी पीकर प्रसन्न होना था, उसने उस मन की प्रसन्नता उड़ा दी। प्रसन्नता बिना जीवन नहीं है अर्थात् जीने की भी इच्छा नहीं रहती। जीवन को धारण करना दुर्भर है अर्थात् जीना भारी सा मालूम होता है। मनुष्य के अन्दर तीन कारक हैं; यदि ये तीनों बने रहे, तो जीने की इच्छा

होती है अर्थात् मन में खुशी बनी रहे, जीवन में प्रीति रहे और बेपरवाही (उपेक्षा) भी हो। यदि किसी मनुष्य का घर में कोई प्राणी अपमान कर दे तो उसकी जीने की इच्छा भी नहीं रहती। जैसे कल (10.1.87) एक घटना सुनाई थी कि किसी देवी का घर में अनादर हुआ । वह गाड़ी के नीचे सिर दे करके बच्चे को भी साथ लेकर मर गई। उसने ऐसा इसलिए किया कि उसके मन में जीवन की खुशी नहीं रही। उसने सोचा कि मेरा जीने का रास्ता रुकता है; उसका रास्ता नहीं रुका था परन्तु वह प्रकृति का रास्ता बन्द हो गया था कि उसको मान नहीं मिला जो बचपन में माँ-बाप ने दिया था। उस पति के घर में उसको मान नहीं मिला और उसका सुख का राग पूरा नहीं हुआ। उस सुख वाले राग और मान के पूरा नहीं होने से उसको जीने की प्रीति भी नहीं रही तो उसने अपना जीवन ही समाप्त (खत्म) कर दिया।

21. मन बाहर दूसरों से मिलने वाले आदर-मान की खुशी से ही बंधा रहता है। यदि किसी के अन्दर भगवान् की खुशी अर्थात् अपनी आत्मा की खुशी जागृत हो जाये अर्थात् अपने अन्दर का आनन्द जाग जाये तो वह बाहर की वस्तुओं के पीछे नहीं पड़ेगा और दूसरे प्राणी और पदार्थों की दासता भी नहीं करेगा। जीवन की तीन शर्तें हैं—1. हमारे मन के अन्दर खुशी रहनी चाहिए, 2. जीवन की प्रीति बनी रहे, 3. हमारी उल्टी-सीधी (विपरीत) वस्तुओं और परिस्थितियों की हम उपेक्षा (बेपरवाही) कर सकें। यदि हर समय दिमाग में यही रड़कता रहे कि यह प्राणी या पदार्थ दुःखी करने वाला है, इसमें कैसे जीवन चलेगा व इन्हीं में मन चिड़चिड़ा रहा तो समझो उपेक्षा आपकी नहीं है। उपेक्षा नाम बेखबरी(बेपरवाही)का है। जो प्राणी, पदार्थ या स्थिति आपके मन को बुरी तरह से उलझाए रखते हैं उनकी तरफ से बेखबरी या, बेपरवाही सी रहे। यदि बेपरवाही रही तो इसे संस्कृत में

'उपेक्षा' कहते हैं। मन हर समय भय (डर) लगने वाली स्थिति में यदि उलझा रहता है तो उपेक्षा (बेपरवाही) नहीं होने से जीवन की प्रीति नहीं रहती और मन की प्रसन्नता भी नहीं रहती।

22. यदि आपने धर्म के रास्ते पर चलना है और उस बुद्धि की सुननी है, जो भगवत् रूप है, तो यह निष्पक्ष बुद्धि ही आपका अन्तिम भला करेगी व सब दुःखों से छुटकारा करेगी अर्थात् मुक्ति भी दिलवा देगी। यह बुद्धि नित्य सुख देने वाली है। पहले उसने कड़वी दवाई पिलानी है। कड़वी दवाई ने प्रकृति का विरोध करना ही है। प्रकृति का विरोध करने पर वह तीन दूत खड़े करती है– मैं प्रसन्न नहीं हूँ, मेरे नशे की आदत पूरी नहीं की, तो मेरे को खुशी नहीं है। इस प्रकार जीवन की प्रीति समाप्त होने लगी। यदि अब वही मन में रड़कता रहा कि नशा नहीं पीया, वह कार्य नहीं किया, मुझे मान नहीं मिला, तो समझो कि उपेक्षा भी नहीं है। उपेक्षा नहीं है तो, ऐसी अवस्था में मन की प्रसन्नता और जीवन की प्रीति भी समाप्त हो जाती है। अब आपने उस भगवान् की बुद्धि को जगाना है और यही भगवान् की भक्ति है कि वह अपना सत्य का ज्ञान जगा करके यह दिखा दे कि हमारी जीवन की प्रीति इसी में बनी रह सकती है यदि इसका (प्रकृति का) कहना नहीं माने। बुद्धि जागने पर ज्ञान होगा कि यदि इस प्रकृति के रास्ते चलेंगे तो वह चलना जलती हुई आग जैसा दुःखदायी है। इस प्रकृति के मार्ग के त्यागने का इतना ज्यादा दुःख नहीं है, जितना कि इसके मार्ग पर चलते हुए भयंकर दुःख उठाने (झेलने) पड़ते हैं। जैसे मीठा छोड़ने का तो ज्यादा दुःख नहीं है, परन्तु मीठा खा करके वह दुःख झेलना बहुत बड़ा है कि दो महीने तक चारपाई से नहीं उठा जायेगा और सादा खाना भी नहीं खाया जायेगा व दूसरों की दासता भी होगी।

23. इन दुःखों को देखते हुए वह कहेगा कि हे भगवान् !

मीठे को मैंने त्याग दिया। परन्तु वह कहना अभी तक बुद्धि में नहीं आया अर्थात् यदि उतनी गहराई तक बुद्धि नहीं जागी, मीमांसा (विचार) नहीं किया, हिम्मत नहीं रख पाये व स्मृति नहीं रही और मीठा खा ही गये तो फिर मौत ही होगी। थोड़ी देर के लिए मन की खुशी व जीवन की प्रीति को पूरा करने में कुछ नहीं रखा है। किन्तु उस अवस्था (हालत) में यदि वह भगवान् की बुद्धि जाग गई कि मीठा खाने में मौत जैसा दुःख है और वह दुःख निगाह में बस गया तो थोड़ा मन अपने-आप खुश हो जायेगा।

24. यह मीमांसा (विचार) तब तक पूरी नहीं होती, जब तक वह अन्धकार नहीं जागता। यह तो बाहर का मन है, जिस समय आप इधर संसार से मुँह मोड़ते हैं, तो यह नींद की तरफ़ जाकर अन्धकार छा देता है। वह नींद आपको प्रिय व मधुर लगती है और आप उस समय उस निद्रा को झटपट लेने को तैयार हो जाते हैं। आपसे नींद जीती नहीं जाती। नींद टूटने पर फिर यह मन संसार के विकार जगाने लगेगा। उस अवस्था (हालत) में आप निर्णय (फैसला) करें कि जिधर के विकार यह मन जगा रहा है, इनमें अन्तिम भलाई है या नहीं? वहाँ जो ज्ञान उत्पन्न (पैदा) होगा, वह भगवान् कृष्ण रूप है। असली भगवान् का अवतार वहाँ होता है, जहाँ आठों प्रकृति होती हैं। आपने बाहर से कान, आँख, नाक, जिह्वा और त्वचा (चमड़ी) बन्द कर लिये जिनकी पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध) हुईं, छठा यह मन (अहंकारी रूप में) और साथ में उसकी बुद्धि है। परन्तु आठवाँ वह जो अन्धेरा है, जिस अव्यक्त (अंधेरे) में जाकर ये सब छुपते हैं इसी का स्वरूप निद्रा है। निद्रा का स्वरूप अंधेरा या अज्ञान है। इस अंधेरे में यह मन सारा बवाल लिये बैठा है। जहाँ इन पाँचों से मुँह मोड़ा और बुद्धि ने बाहर की अच्छाई-बुराई का निर्णय नहीं किया फिर यदि अन्धकार में आप जन्म गए अर्थात्

निद्रा को जीत कर उसमें छिपे विकारों को आप पहचान गए जो यहाँ वह ज्ञान जन्म करके प्रत्यक्ष देखने लगेगा कि क्या वस्तु मेरे भले व बुरे की है। यहाँ का जन्मा हुआ सच्चा ज्ञान भगवान् कृष्ण रूप है। वह खींच करके भी संसार के चक्कर से आपको बाहर निकाल देगा।

25. नींद मधुर लगती है और आप बाहर सब को लात मार कर सो जाते हैं अर्थात् सात प्रकृतियों (पाँच तन्मात्राएँ मन व बुद्धि) को नींद समेट कर ले जाती है और आठवीं अन्धकार वाली प्रकृति मीठी लग रही है कारण कि इन सातों को उसमें छुपना है फिर ज्ञान कब जागेगा? कहाँ मीमांसा (विचार) होगा; कहाँ वह प्रेरणा मिलेगी? शास्त्र की सुनी हुई श्रद्धा कहाँ तक काम करेगी ? इसका कार्य तो थोड़े दिन का है। इसलिए थोड़ा श्रद्धा से खोटे कर्म त्याग दो और नियमों को अपना लो परन्तु जब तक बुद्धि नहीं जागेगी तो आपको वह कैसे सम्भालेगी? जो आप बुद्धि से समझ के साथ काम करोगे, तो वह पक्का होगा। जब आप बुद्धि से समझते हैं कि मीठा खाने से मेरी मृत्यु (मौत) है, फिर ही मीठा खाना छोड़ पायेंगे। वरना उसकी मीठास की आपको इतनी आदत पड़ी हुई है और उसका इतना सुख नज़र में घूम रहा है कि मीठा त्यागना (छोड़ना) अच्छा नहीं लगेगा।

26. यह प्रकृति कहाँ तक ले जाती है? यह ज्ञान सिरे तक जगाना है। यह ज्ञान वहाँ तक जागेगा, जहाँ ध्यान में, आपने जागते-जागते सातों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मन व बुद्धि) को ठुकरा दिया, जिन्हें नींद में जाता हुआ मन भी लात मार देता है। आपने थोड़ा संसार से तो मुँह मोड़ लिया, परन्तु अन्धेरे में छुपने वाला मन काबू में नहीं आता। वह कहता है कि यदि बाहर कुछ नहीं करना है तो आलस्य सुस्ती का आनन्द तो लो अर्थात् सो जाओ। नींद का सुख टालने में क्रोध भी आयेगा, संशय भी

पैदा होंगे कि निद्रा त्यागने से दिमाग खराब हो जायेगा, सवेरे उठा नहीं जायेगा, काम कौन करेगा? नींद नहीं आयेगी तो क्या बनेगा? देखो! अन्दर अज्ञान का बैठा हुआ राक्षस कितना तंग करता है? इसको भी (निद्रा को भी) यदि क्रमशः पाँच-पाँच, दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह मिनट, आधा-आधा घंटा समय निकाल करके शंकाओं को दूर करते हुए जो मनुष्य जीतना चाहेगा तो यहाँ वह भगवान् कृष्ण रूप से जन्मेगा। पहले तो अन्धकार जन्मेगा इसका तात्पर्य है कि निद्रा से जगा हुआ मन विवेक करने की दशा में पहुँचेगा। इस अन्धकार में आप ज्ञान जन्माओगे।

27. जन्माते-जन्माते एक दिन वह जगने वाला मन आँख, कान आदि खोलेगा और बाहर मन भी खुलेगा व प्राणी और पदार्थों की संगत चाहेगा। यहाँ आपको मीमांसा (विचार) काम आयेगी अर्थात् सोचने का मौका मिलेगा। इसी से ऐसी अवस्था में दुर्गति को प्राप्त होते हुए मनुष्यों की अवस्था को दिखलाकर ज्ञान उपजाना है। थोड़ा मन मार करके रहो। दातुन, कुरला, नहाते, धोते, चलते हुए भी अपनी इतनी होश ठिकाने रखना कि वहाँ भी यह पापी मन आने नहीं पाये। यदि आ जाये तो हिम्मत व स्मृति रख करके उसी समय इसके भाव विकारों को अपने मन से हटाते जाना। यदि स्मृति रख करके आप नहाते, धोते, दातुन, कुरला करते, खाते-पीते, दूसरों से बातचीत करते भी इच्छा, संशय, विकार टालते गए; फालतू इच्छाओं को हटाते गए; क्रोध इत्यादि को खत्म करते गए तो यही सब आपको ध्यान में अकेले बैठ कर करना पड़ेगा अर्थात् इन्हीं सभी विकारों इच्छाओं को ध्यान में बैठकर भी समाप्त करते रहना पड़ेगा। तभी अन्त में प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का मार्ग शुद्ध होगा। यदि आप जागते-जागते कर सके तो अकेले बैठकर भी कर सकेंगे।

28. यदि नित्य नैमित्तिक कर्म करते हुए खोये-खोये काम

कर रहे हो तो कर्मयोग ठीक नहीं बनेगा। जैसे हाथ धो रहे हैं और मन सोच रहा है, किसी के साथ बुरा करने की या किसी के द्वारा अपमान किए जाने की, और उससे बदला लेना चाह रहा है, या मन सुख पाने की और बाहर कुछ करने की योजना बना रहा है तो यह सब भटके-भटके मन द्वारा किया गया कर्म है। कामना (इच्छा) सिर पर लदी हुई है तो निष्काम कर्मयोग नहीं हो पायेगा।

29. निष्काम कर्मयोग के बिना उसको कभी भी यह ज्ञान नहीं जाग पाता, जो उसको सम्भालेगा। प्रत्यक्ष ज्ञान रूप भगवान् बिना कौन सम्भालेगा? अन्दर से उत्पन्न हुआ निष्पक्ष (सच्चा) ज्ञान ही भगवान् का पहला स्वरूप है। चाहे हमारे में छोटी कला रूप में उत्पन्न हो और धीरे-धीरे बढ़ता जाये। जब तक यह ज्ञान नहीं जन्मेगा, तब तक शरीर में जमे बैठे हुए राक्षस तो समाप्त नहीं होंगे। वे काम (इच्छा) क्रोध रूपी राक्षस अपनी तरफ़ खींचेंगे व प्रेरणा करेंगे कि हम उदास हो गए; हमारा तो मन नहीं लग रहा; हमारी तो खुशी बिगड़ गई। यदि यही करना है तो फिर जीना ही क्यों? इसलिए हमें सारी आदत की वस्तुएँ चाहिए।

30. इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान (बोध) के सात अंग है कि- (1)मन में प्रसन्नता आवे (2)जीवन की प्रीति बनी रहे और (3)मन में अखरने (बुरी लगने) वाली वस्तुओं व स्थितियों से उपेक्षा (बेखबरी) हो जाये अर्थात् उनसे बेपरवाही रहे। यह बेखबरी (उपेक्षा) तब होगी, यदि आप ध्यान के साथ विचार को जगा सकेंगे और उसकी खोज कर सकेंगे जो वास्तविकता (असलियत) है। इसे मीमांसा (विचार) कहा है। ये ध्यान और मीमांसा तब होंगे, यदि विकारों को टालते गए और सोधी (होश) बनी रही अर्थात् स्मृति बनी रही। (4) स्मृति (5) वीर्य (6) ध्यान और (7) मीमांसा (विचार) और इनके साथ फिर मन में खुशी भी आ जायेगी; जीने की प्रीति भी आ जायेगी और अपने मन में प्रकृति का विरोध करने की जो तंगी (क्लेश) है, उससे मन

बेपरवाह भी हो जायेगा।

31. जो इस ढंग से जीवन को साधता है उसके लिए धर्म के तीन थम्भे (स्तम्भ) हैं। पहला कर्म काण्ड, फिर भक्ति काण्ड और इसके बाद ज्ञान काण्ड। कर्म काण्ड द्वारा सारे खोटे कर्मों से हर समय (वक्त) स्मृति रखते हुए बचना पड़ेगा। निष्काम कर्मयोग करने के लिए कर्म से जुड़ कर करने की आदत डालनी पड़ेगी अर्थात् काम कर रहा हूँ अर्थात् मन को जोड़कर कर रहा हूँ, खोया-खोया नहीं। जुड़े हुए से उल्टा खोया-खोया है। खोया-खोया का मतलब है कि काम करने की आदत पड़ी हुई है जिसमें मन कहीं और घूम रहा है और काम कहीं हो रहा है। कर्मयोग में ऐसा होता है कि यदि चल रहा हूँ तो चलने में ही ध्यान है; दातुन कर रहा हूँ तो उसी में ध्यान है; हाथ धो रहा हूँ तो उसी कर्म का पता लग रहा है; हाथ धोते-धोते यदि मन ठण्डी मानने लग गया कि सर्दी के दिन होने के कारण पानी ठण्डा लग रहा है तो ठण्डी के भय को भी पहचान रहा हूँ कि मन ठण्डी मान रहा है। ऐसी अवस्था में झटपट अपने मन में वीर्य-भाव (हिम्मत) उत्पन्न करना और उस ठण्डी को देखते-देखते स्मृति रखते हुए हाथ धोने का कर्म करना अर्थात् तंगी सहन करते-करते हाथ धोना। नुकसान करने लायक ठण्डी से अवश्य बचाव करना चाहिए। जब देखते हैं कि खाली मन का डर ही है और कुछ भी नहीं है, अर्थात् ठण्डी के दुःख का भय ही डरा रहा है तो इससे ज्यादा घबराने की आवश्यकता (ज़रूरत) नहीं है। इस प्रकार मन को जोड़ करके कर्म करना, भटकते मन से नहीं करना कि कहीं ठण्डी देख रहा है या खाने-पीने की वस्तुओं के बारे में सोच रहा है। ऐसे कोई भी कर्म करते समय तृष्णा बीच में आ पड़े और अपना राग अलापने लगे तो मन तो तृष्णा के साथ जुड़ा है, कर्म के साथ नहीं जुड़ा है। मन को जोड़कर और तृष्णा को टालते-टालते यदि कर्म किया जाये तो यही कर्मयोग होगा अर्थात्

कर्म करते समय या कोई भी काम करते समय मन काम (कार्य) में जुड़ा रहे और उसी को समझ-समझ कर करता रहे। तृष्णा और कामना को टाल कर कर्म में मन जोड़-जोड़ कर कर्म सम्पन्न करे, यही कर्मयोग है। इसी प्रकार सब जप, पूजा-पाठ आदि-आदि भी कर्म करे। सब प्रकार की कामना व तृष्णा टाल कर यदि कर्म होगा, यही निष्काम कर्मयोग कहा जायेगा। यदि इस कर्मयोग में पूर्ण एकाग्रता होगी तो यही ध्यान का स्वरूप भी बन जायेगा। इसका तात्पर्य होगा कि सब कर्मों को ध्यान से करना। ऐसे व्यक्ति के सारे कर्म ध्यानमय होंगे और सारा जीवन ही ध्यानयोग रूप होगा। वह सदा अपने-आप में रहेगा और सर्व व्यापक परमेश्वर में भी होगा।

32. जो स्मृति वाला मनुष्य है, जिसकी होश ठिकाने है, वह प्रत्येक कर्म करता हुआ अर्थात् दैनिक कर्म करता हुआ भी यह देखता है कि मन कहाँ भटक रहा है और उसकी शंका, भय, इच्छा, क्रोध, द्वेष आदि को उसी समय उड़ाता जाता है। यदि आपके अन्दर ऐसा करने की हिम्मत आ गई तो यह एक न्यारा (अलग) ही जीवन का रास्ता है। प्रत्येक (हरएक) कर्म को जुड़ करके करना अर्थात् बुद्धि वहाँ हाज़िर रहे, मन वहाँ उपस्थित रहे, इसी का नाम स्मृति व मन की हाज़िरी है। आराम से कार्य करने की आदत डालनी चाहिए। जल्द-बाजी में कार्य (काम) बिगड़ता है श्वास भी भटक जाता है। जल्दी-जल्दी करोगे तो श्वास लेने वाला मन रुक-रुक करके श्वास लेगा अर्थात् स्वास्थ्यानुकूल श्वास का लेना व छोड़ना नहीं कर सकेगा। इससे आपके अंगों की धड़कन खराब होगी। यदि स्मृति बनी रहे; और होश ठिकाने रहे, तो कार्य ठीक बन पायेगा।

33. हर स्थिति (हालत) में अपनी स्मृति को कायम रखते हुए; मन के विकारों को शान्त करते हुए जो जीवन चला जायेगा, वह स्मृति वाला है और वही जीवन सुखी है। इस तरह यदि आप

अपने-आप में नही रहोगे, तो हर समय बाहर संसार के प्राणी और पदार्थों में खोये हुए, अपना मतलब साधने के लिए, उन्हीं में उलझे रहोगे। यह सब सांसारिक या भौतिक जीवन है। इसके विपरीत दूसरा आध्यात्मिक या धार्मिक जीवन है। इसमें थोड़ा अपने-आप को ही मनुष्य ने चेतन करना है। होश रख करके सारे कर्म करना; यह कर्मयोग धर्म का पहला थम्भा है, जिसमें जुड़-जुड़ कर कर्म करने की आदत डालनी है। इससे धीरे-धीरे ध्यानयोग लगने लग जायेगा। यह कर्मयोग ध्यान कैसे बन जायेगा? जो विकार आपके मन में पैदा होते हैं जब आप जुड़ करके कर्म करोगे तो वे विकार समझ में आने लगेंगे कि क्रोध आ गया; उसका पता लगेगा। इच्छा आ रही है; उसका पता चलेगा। जिस समय (वक्त) आपको विकार नज़र आने लगें; उनको शान्त करते जाओ। विकारों को शान्त करना ही मन को काबू करने का मार्ग (रास्ता) मिल जाना है। यदि आप दुनिया में सब के बीच रहते हुए इसको शान्त करने की आदत डालने लग गये तो एकान्त में आसन पर भी यही होगा। ध्यान पर बैठे वही विचार (ख्याल) जागेंगे और उसी तरह आपका मन जागेगा। उसी को शान्त करते-करते आप समय बिताने लग गए तो यह मन अकेला हो गया और ध्यान के लायक बन गया। यदि निद्रा (नींद) पर भी उचित रीति से आपने काबू पा लिया तभी यह ध्यानयोग सफल होगा।

34. जिस तरीके से बाहर जीवन बिगड़ता है; उन सारी बुराइयों को त्यागना; जो कि राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, मोह और नाजायज़ अपना स्वार्थ व छोटे-मोटे सुखों की दासता आदि हैं। जब इनको त्यागते-त्यागते यहाँ तक त्याग गए कि खाली मन में अकेले जाग रहे हैं तो शान्त अवस्था में जहाँ मन टिकेगा; वहाँ वह परमात्मा का राज्य है, जहाँ पर आपको आनन्द व शान्ति मिलेगी। जब

तक समझ के साथ बन्धनों व दोषों के विकारों का सारा त्याग

नहीं होगा, तब तक आपका मन अपने-आप में नहीं लगेगा अर्थात् एकान्त में शान्त नहीं होगा। इस मन को प्रकृति अर्थात् आदतों की शक्ति का बन्धन नहीं लगने देता। अभी आपमें टालने की हिम्मत नहीं है, कारण कि दोष-विकार, जानने में ही नहीं आ रहे हैं। ये विकार ध्यान करने से जानने में आयेंगे।

35. ध्यान कर्मयोग से शुरू होगा, जिसमें जुड़ कर कर्म करते-करते कुछ मन की समझ आने लगेगी। धीरे-धीरे समझते-समझते इसी कर्मयोग में विकार दीखने लग जायेंगे। यदि विकार टालने की हिम्मत बनने लग गई तो अपने-आप विकारों का ज्ञान अन्दर होने लगेगा। जब अविद्या जाने लग गई तो समझो अन्दर की विद्या आने लग गई। यह पता लगेगा कि कैसे विकार ठगी करके उलझाते हैं और इनका मुकाबला करने के बाद इनके टलने से कैसा सुख मिलता है, कैसे ज्ञान का सूर्य प्रचंड जागता है; कैसे सारा ज्ञान होता है? ये सारी अपनी अन्दर की विद्या है। पूर्ण तो इसमें भगवान् थे जो सारी विद्या जानते थे। धीरे-धीरे जब मनुष्य इसी रास्ते से चलेगा तो किसी समय जा करके पूर्ण भी हो ही जायेगा।

36. इस धार्मिक जीवन के लिए बाहर (संसार में) भी भक्ति भाव बना रहना चाहिए। दूसरों के अपराधों को क्षमा करना है और दूसरों से आने वाले दुःखो को सहन करने की अपने अन्दर एक शक्ति उपजानी है। जो मेरे अन्दर प्रकृति धक्का करती है, सबके अन्दर वही है। जो मेरे अन्दर चेतन चलाने वाला है; दूसरों के अन्दर भी वही है। ऐसा समझ करके मैं तो उस भगवान् पर ही दृष्टि रखूँ। यही भगवद्-भक्ति है। मैं क्षमा अपने अन्दर बसाऊँ और दूसरों के अपराधों को भी सहन करूँ। यदि आप बाहर व्यापक जीवन की उलझन और अपने अन्दर नाना प्रकार की तृष्णा, उलझनों से रहित होकर जाग सके तो वहाँ भगवान् का राज्य मिलेगा। वहाँ अनन्त शान्ति

है और सारे दु:खो की समाप्ति है।

37. ज्ञान के सात अंग हैं जो कि ऊपर कहे जा चुके हैं, जिससे अपने को ठीक प्रेरणा मिले। सत्संग या पुस्तकों से पढ़ने से मिलने वाली प्रेरणा केवल श्रद्धा रूप है; जिससे धर्म सिरे तक नहीं पहुँचेगा। इसके लिए युक्ति जाननी पड़ेगी। इसके लिए सात अंगो की भक्ति करनी पड़ेगी। (1) मीमांसा (विचार) रखनी पड़ेगी, (2) ध्यान जगाना पड़ेगा, (3) स्मृति और (4) वीर्य (वीर-भाव) रखने पड़ेंगे। तब आपको जीवन की (5) प्रीति बनी रहेगी (6) मन में प्रसन्नता (खुशी) रहेगी और जो भी इसका विरोध करने से मन में तंगी क्लेश वगैरह आते हैं उनसे (7) उपेक्षा (बेपरवाही) भी हो जायेगी। इस रास्ते धर्म की नौका ठीक चलेगी। चलते-चलते वही धर्म के तीन स्तम्भ (कर्म, भक्ति और ज्ञान) बढ़ते जायेंगे।

38. इसके लिए सब खोटे कर्मों से बाज आना; सब पापों से हटना और सब प्रकार से अपने को संयम से रखना अर्थात् खाना, पीना, बोलना-चालना, दूसरों का संग करना, दूसरों के संग का सुख लेने में, चाहे वह प्राणी या पदार्थों का हो, इन सब में अपने-आप को सम्भाले रखना। यह सारा ही कर्म काण्ड (कर्मयोग) है। इसमें मन के विकारों को पहचानते जाना और सहन करते हुए उनको हटाते भी जाना। इससे ध्यान लग जायेगा। ध्यान में कई प्रकार की समस्याओं का पता चलेगा कि जैसे अपना जीवन है और दूसरे बेचारे भी वैसे ही हैं। उनके दु:ख में हमको हमदर्दी (दया) होनी चाहिए। वे प्रकृति की प्रेरणा से सुख चाह रहे हैं और उधर भाग रहे हैं; उनके बस की बात नहीं है। यह प्रकृति ज्ञान भी नहीं जागने देती। इसलिए दूसरों के अपराध को सहन करके क्षमा कर देना है। क्षमा का मतलब उसको ज्यादा माफ़ करना नहीं है। जितना अपने-आप में सहन करना है या

अपने-आप में शान्त होना है और थोड़ी तंगी सहन करके भी मन

को ठीक रखना और बुद्धि बल को बनाये रखना है।

39. एक ही चेतन भगवान् है और उसकी माया प्रेरणा दे रही है। उसकी प्रकृति उससे चेतित होकर सबको चलाने वाली है, मैं तो उसी को नज़र में रखूँ। यह आप की भगवद्-भक्ति है। धीरे-धीरे, देखते-देखते जब सहन करते हुए सब विकारों को टाल दिया और सब बन्धनों को समाप्त कर दिया तो आपको उसी परमात्मा का सुख मिलेगा। उस सुख के बाद आपकी अनन्त क्षमा हो जायेगी। ऐसी अवस्था में वह भगवान् के राज्य में पहुँच गया और उसका प्रत्यक्ष ज्ञान मिल गया कि यह अन्दर बैठा हुआ चेतन सब को जीवन देने वाला है और सारी प्रकृति को धकेलने वाला है।

40. जब तक व्यवस्थित जीवन नहीं चला जायेगा, तब तक भगवान् का पता नहीं लगता। इसके लिए कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों चाहिए। ठीक कर्म करेंगे तो भक्ति (ध्यान) की योग्यता आयेगी और ध्यान में सत्यों का पता लगेगा। यही ज्ञान हो गया। यह सब से आपको सम्भालकर ठीक तरह से आपको बल देगा और सारे बन्धनों से मुक्त कर देगा। आप प्रकृति की झूठी प्रेरणाओं को लाँघ जाओगे। अब सब लाँघने से मन शान्त हो गया; उधर जाता ही नहीं। जब उधर जाता ही नहीं तो जहाँ मन टिका है; वहीं आराम है। टिके हुए मन में भगवान् व्यक्त होगा और उसका आनन्द भी प्रकट होगा। जब आनन्द प्रकट हो गया तो आपको अपने-आप विश्वास हो जायेगा कि जो करना था, सो कर लिया, जो पाने का था, सो पा लिया, अब कुछ पाना शेष(बाकी)नहीं रहा। सारा पहुँचने का रास्ता यही है और पहुँचने की जगह भी यही है। इसके लिए उद्योग (यत्न) करना चाहिए, जितना जिस से बन सके; अपने-आप समझकर करता रहे; तो यही सारे का निचोड़ है।

□□□

प्रवचन-4

दिनांक:13.1.1987

1. पिछले सप्ताह धर्म के तीन स्तम्भ (कर्म, भक्ति या ध्यान व ज्ञान) बतलाये थे, जिनकी प्रत्येक मनुष्य के लिए परम आवश्यकता है। इसमें ध्यान ही भक्ति की मुख्य जड़ है। यदि थोड़ा ध्यान का रास्ता अर्थात् ध्यान करने की युक्ति मिल जाये और मन में ध्यान करने की योग्यता प्राप्त हो जाए तो भक्ति भी ठीक चलती है। फिर भक्ति द्वारा ज्ञान भी सम्पन्न (पूरा)हो जाता है अर्थात् ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। जब तक ध्यान, चिन्तन व मन को एकाग्र करने की युक्ति नहीं मिलती है और मन संसार में भटकता रहता है, तब तक भटकते मन में ध्यान होना सम्भव नहीं है।

2. मन को भटकाने वाली संसार की स्वाभाविक आदतें हैं, जो दुनिया में अपना स्वार्थ अर्थात् कुछ मतलब रखने से पड़ी हुईं हैं। आयु के साथ-साथ अब इनका समय भी निकल गया है अर्थात् इन आदतों को इस आयु (उमर) में पूरा करना भी ठीक नहीं है। उन आदतों का स्वार्थ (मतलब) निकल जाने पर भी मन वहाँ से हटता नहीं है। कारण कि जब संसार में हमारा जीवन चलता था, तब हम उधर की ही इतनी सेवा करते रहे अर्थात् संसार में ही इतने बहते रहे कि उधर बहने की एक पक्की आदत बन गई है। वह संसार में ही इच्छा पूरी करने की आदत, जड़ पकड़ गई है। जड़ पकड़ने के कारण, यदि आप उससे विपरीत (उल्टा) भी चलना चाहें, तो वह आदत अपनी तरफ़ खींच करती है। यद्यपि इन आदतों के रास्ते पर चलना अब ठीक नहीं है और उधर जाने में कुछ भी सुख नहीं मिलता है, बल्कि दुःख ही होता है। फिर भी मन उन्हीं पुरानी आदतों के रास्तों की तरफ़ ही जाता

है। जिधर आप मन को लगाना चाहते हैं, उधर नहीं लगना चाहेगा।

3. यदि धर्म के रास्ते से चिन्तन करें और चिन्तन करते हुए सत्य को समझने की कोशिश करें तो सत्य रूप से ही जो तत्व परमेश्वर भगवान् अपने अन्दर बैठा है, वहाँ तक पहुँचा जा सकता है। इसका सुख अपने-आप में इतना सहज व स्वाभाविक और बिना निमित्त (कारण) से है कि एक बार यह परमानन्द मिलने पर पुनः उसका कभी वियोग (बिछोड़ा) नहीं होता। उस सुख को प्राप्त होने पर मनुष्य को निश्चय हो जाता है कि अब मृत्यु भी नहीं है। मृत्यु का मतलब यही है कि जीवनकाल में जो अपने-आप के बने रहने वाला ज्ञान है उसकी धारा टूट जाती है अर्थात् मनुष्य ज्ञान से भटक जाता है। मृत्यु में दूसरों का संग छूट जाने पर दूसरे के संग से जो अपने-आप का ज्ञान होता था या उसको अपनी 'मैं' अनुभव में आती थी वह मृत्यु में नहीं रहती। जब वह नहीं रहती इसी विचार से वह परेशान होता है और उससे उसको भय प्रतीत होता है। ज्ञान से शून्य मनुष्य ही महसूस करता है कि मैं मर गया। यदि उसकी ज्ञान धारा सदा बहती रहे अर्थात् उसका ज्ञान सदा प्रकट होता रहे तो फिर बताओ, मौत कहाँ है? और वह ज्ञान के साथ सदा बना रहता है। भगवान् का अनन्त ज्ञान कभी समाप्त नहीं होता है। हमारे निद्रा (नींद) में चले जाने पर भी वह ज्ञानदेव नहीं सोता है। नींद आने पर हमें ऐसा लगता है कि हम खो गए। जैसे ही हम सो जाते हैं तो हमको कोई होश नहीं रहती कि हम कहाँ है? परन्तु शरीर के अन्दर ज्ञान रूप चेतन हमेशा जाग रहा होता है। यह चेतन सारे देह के कर्म कर रहा होता है। हृदय की धड़कन, खाना हज़म करना, खून का संचार करना आदि कार्य शरीर में करता रहता है। जिस प्रकार वह चेतन नींद में जाग रहा होता है, ऐसे ही प्रलय और मौत में भी जागता रहता है। परन्तु हम उस चेतन तक पहुँचने से

पहले ही सो जाते हैं अर्थात् हमको उस चेतन का कुछ पता ही नहीं लग पाता है। यही अविद्या या अज्ञान का पर्दा है, अर्थात् जब कुछ पता नहीं लगता है तो इसी का नाम अविद्या या अज्ञान है। इसका मतलब है कि वह आनन्द रूप भगवान् (परमेश्वर) इस अज्ञान (अविद्या) में ढका हुआ है अर्थात् परदे के अन्दर है। उस भगवान् का जब हमें अन्दर कुछ पता ही नहीं लगता, तो हम यही समझते हैं कि बाहर संसार में ही ज्ञान है, जो कि प्राणी व पदार्थों के संग से प्राप्त होता है। संसार में ही भटकते हुए सब वस्तुएँ प्राप्त करने योग्य हैं अर्थात् मिलने लायक हैं। ऐसे बाहर भटकने वाले प्राणी यही सोचते रहते हैं कि संसार के प्राणी व पदार्थों को छोड़ कर अन्य कोई वस्तु उत्तम नहीं है, जो प्राप्त की जा सके। वे अन्दर के सुख से बिल्कुल अपरिचित होते हैं।

4. संसार में तो देखना, सुनना, बातचीत करना व सारी दुनिया के रौनक मेले के बीच में रहना उचित है और इन्हीं सब में रहते-रहते अपनी 'मैं' मिलती है अर्थात् अपने बने रहने का ज्ञान होता रहता है। इनके बिना वह अपने-आप को उजड़ा हुआ या खोया हुआ ही महसूस (प्रतीत) करता है। इसलिए उसे मृत्यु का भय है। अब यदि इसी रौनक मेले (बाहरी दिखावा)को ही आपने सब कुछ समझ रखा है तो यह अवश्य ही बिछुड़ेगा। कुछ समय बाद आँख और कान भी बन्द होंगे और इनके सहारे रहता हुआ मन भी मुर्दा होगा। देह के अन्दर भी चेतन नहीं रहेगा। इस बाहर के सांसारिक जीवन का तो थोड़ा ही माप है और इस माप के बाद इसने तो समाप्त हो जाना है।

5. इसलिए उस परमेश्वर में आँख खुलनी चाहिए जो हमारे अन्दर ही है और जो कभी नष्ट भी नहीं होता। परन्तु संसार की लपक और निद्रा (नींद) उसकी तरफ़ अन्दर का विवेक तथा ज्ञान रूपी चक्षु (आँख) नहीं खुलने देती अर्थात् आँख खुलते ही

बच्चे वाला मन दुनिया में ही बाहर भागता है। जब संसार से थक कर मनुष्य लौटता है,तो फिर आलस्य, सुस्ती व नींद में चला जाता है। यदि इन दोनों प्रकार के विघ्नों के ऊपर विजय प्राप्त की जाये अर्थात् थोड़ा-थोड़ा इनको जीतने के लिए सामर्थ्य रखे तो उस मनुष्य की इस अन्दर के परेमश्वर पर आँख खुलती है और इसकी कुछ खबर भी पड़ने लगती है। तब उसको पता लगेगा कि परमेश्वर का एक-एक क्षण कितना जीवित (चेतन) है।

6. भगवान् क्षण-क्षण चेतता है अर्थात् क्षण-क्षण व्यक्त और अव्यक्त होता रहता है। भगवान् की व्यक्त और अव्यक्त की लीला शास्त्रकारों ने कई प्रकार से बताई है। लेकिन केवल बताने से यह लीला समझ में नहीं आती है। जब आप अपने अन्दर इसकी लीला को होती हुई देखेंगे अर्थात् वहाँ आपकी आँख खुलेगी तो ही पता लगेगा कि यह लीला एक बड़ी मधुर (मीठी), प्रिय व मन को लुभाने वाली है और सदा के लिए मनुष्य का शोक (दुःख) हरने वाली लीला है। अब इस लीला पर उसकी नज़र खुलेगी। जब तक इसकी झाँकी अपने अन्दर प्रकट नहीं होती है, तो पढ़ने व सुनने से तो इसका कुछ पता नहीं लगता है। पढ़ने-सुनने से प्रेरणा तो मिल जाती है कि यह एक बढ़िया और जीवन में पाने या जानने योग्य वस्तु या सत्य है और ऊपर कहे हुए दोनों विघ्नों को जीत कर उस लीला तक पहुँचने में ही जीवन की सफ़लता है। अब इन विघ्नों के बारे में थोड़ा बतलाते हैं जो वहाँ तक मनुष्य को जागते-जागते नहीं पहुँचने देते हैं।

7. पहला विघ्न तो यह है कि आँख खुलते ही प्राणी बाहर दुनिया में ही भटकना या लपकना चाहता है अर्थात् बाहर संसार के क्षणिक सुखों को प्राप्त करने की आदतें ही उसको खींचती रहती हैं। दूसरा विघ्न निद्रा (नींद) का है अर्थात् वही प्राणी जब

बाहर संसार की आदतों को पूरा करते-करते थक जाता है, तो सबको लात मार कर निद्रा (गहरे अन्धकार) में चला जाना चाहता है। पहले विघ्न का नाम भव-तृष्णा और दूसरे विघ्न का नाम विभव-तृष्णा कहा गया है। अर्थात् प्राणी आँख खुलते ही संसार में कुछ होना या बनना चाहता है, जिसके लिए वह जी तोड़ कर मेहनत करता है। इसे ही भव-तृष्णा कहते हैं। बाहर संसार में कहीं पुत्र बन कर, कहीं बाप, मित्र, वैरी आदि बन कर संसार में ही भटकता रहता है। यह एक-दूसरे के सम्बन्ध से बनना व होना ही भव है। जब यह संसार में ही होना है, तो आत्मा से तो वह बिछुड़ा रहेगा। यही भव-तृष्णा प्रथम विघ्न का स्वरूप है। फिर इस होने-हवाने से तंग आकर वह नींद में जाना चाहता है, जहाँ उसको थोड़ा-सा क्षणिक सुख मिलता है अर्थात् संसार के काम-काज़ व होने-हवाने से तंग आकर वह चाहता है कि अब मैं संसार में न रहूँ। इसे विभव-तृष्णा अर्थात् भव(होना)से विपरीत कहते हैं। ये दो ही विघ्न ऐसे हैं जो मनुष्य को भगवान् तक या भगवान् की लीला तक नहीं पहुँचने देते हैं। परन्तु क्या करें? मनुष्य को बचपन से ही इन्हीं दो तृष्णाओं में बहने की आदत पड़ी हुई है। यदि कोई उद्योग द्वारा इन आदतों से पार निकल सके, तो ऐसा कहा जाता है कि उसने बन्धन जीत लिये हैं अर्थात् रजोगुण और तमोगुण को जीत लिया है। काम (इच्छा), क्रोध आदि रजोगुण रूप हैं, जो बाहर ही संसार में भटकाते हैं। जब बाहर से मनुष्य टलता है, तो आलस्य, सुस्ती व निद्रा (नींद) में चला जाता है, जो तमोगुण रूप है। इन दोनों से टलकर जिसका ज्ञान जागता रहता है और जागते ज्ञान से वहाँ पहुँच जाता है, जहाँ भगवान् अपनी लीला कर रहा है, अर्थात् परमात्मा अपनी माया रच रहा है तो उसको ही सही पता लगता है कि यह लीला कैसे हो रही है और इसमें कितना आनन्द है?

8. भगवान् की माया रूपी तरंगें अनादि काल से चली आ रही हैं और जब तक काल है, ये तरंगें खड़ी होने वाली नहीं हैं; चाहे काल भले ही खड़ा हो जाये। जैसे पानी के ऊपर तरंगें चलती हैं; और चलती ही रहती हैं अर्थात् एक तरंग ऊपर उठती है; फिर गड्ढा पड़ता है। फिर तरंग उठती है; फिर गड्ढा पड़ता है। इसी प्रकार भगवान् की भी यह लीला है। एक बार भगवान् झाँकता है, तो ज्ञान रूप से प्रकट होता है, जो भगवान् का व्यक्त रूप है। दूसरी बार अन्दर डुबकी मारता है कि जैसे सो गया; निद्रा आ गई; उसका नाम अव्यक्त भगवान् है अर्थात् भगवान् अव्यक्त हो गया, अब प्रकट नहीं रहा। वहाँ से फिर ऊपर उठता है तो भगवान् व्यक्त रूप में हो जाता है। इस व्यक्त-अव्यक्त होने में उसके छह क्षण हैं। बताने वालों ने बताया है कि एक कुण्डल (तरंग) रूप में जब भगवान् ऊपर उठता है तो व्यक्त रूप में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, और प्राणी मात्र के अन्दर मन के भावों को रच देता है और फिर इन छहों को अर्थात् भाव, आकाश, हवा, तेज, जल और पृथ्वी को तोड़ता हुआ नीचे दूसरी डुबकी मारता है, तो अव्यक्त हो जाता है। छह क्षणों में छह को रच करके ऊपर जाता है। जब नीचे जाता है तो इन छहों को तोड़ता जाता है। इस प्रकार से एक तरंग ऊपर जाने की है और एक नीचे आने की है। यह भगवान् (चेतन)की अनन्त लीला कभी समाप्त (खत्म) नहीं होती है। यह व्यक्त और अव्यक्त की लीला अनादि काल से चली आ रही है। इस लीला का छोटा-मोटा रूप तो बाहर आँख का पलक झपकना है। एक बार पलक खुलता है, फिर बंद होता है। पलक के खुलने पर इतना लम्बा-चौड़ा संसार फैल जाता है। जब भगवान् पलक बन्द करता है, तो सारा संसार समेट लेता है। यह सब भी उसी की लीला के कारण से है। यह किसी के बस की बात नहीं है। कोई जान करके ऐसा नहीं करता

है चाहे मनुष्य या पशु-पक्षी कोई भी हो। यदि शक्ति (ताकत) लगा कर भी कोई अपनी पलक खुली रखना चाहे तो वह ऐसा नहीं कर सकता, कारण कि अन्त में वह भगवान् पलक मार करके उसको अव्यक्त रूप कर ही देगा। इसी प्रकार उसकी लीला दिन और रात हैं। दिन भगवान् का व्यक्त रूप है और रात अव्यक्त रूप है।

9. इस प्रकार उसकी लीला में संवत्सर (वर्ष) आदि हैं। छह मास (महीने) इसके दक्षिणायन के हैं और छह मास उत्तरायण के हैं। इस तरह करते-करते बड़े लम्बे सालों के बाद युगों का परिवर्तन होना, यह सारी उसकी लम्बी लीला है। यह उत्पाद और विनाश; व्यक्त और अव्यक्त उसकी लीलाएँ हैं। पुराणों, वेदों व शास्त्रों में इनका विस्तार से वर्णन है। जहाँ तक इनका वर्णन है वहाँ तक तो मनुष्य की मनोविनोद (हँसी-मज़ाक) की वस्तुएँ हैं और वह सोचता है कि इस प्रकार की लीलाओं के वर्णन में क्या रखा है? यह सब फालतू की बातें हैं व किसी की समझ में आने वाली नहीं हैं।

10. जब इस लीला को देखने के लिए आप अन्दर झाँकना शुरू करेंगे अर्थात् अपने निकट (नज़दीक) से इस देह में होती हुई इस लीला को देखेंगे, तो पता लगेगा, कि किस तरह क्षण-क्षण वह चेतन श्वास खींचता है और श्वास को बाहर छोड़ता है अर्थात् श्वास लेता है और छोड़ता है। श्वास लेते समय उसकी एक अलग प्रकार की हरकत है और फिर छोड़ते समय एक और प्रकार की हरकत होती है। इसी प्रकार उस हरकत में हृदय को देखो, तो पता लगेगा कि एक श्वास में लगभग आठ बार हृदय फुदकता है और बन्द होता है। जब हृदय बन्द होता है, तो सारे देह के खून को सिकोड़कर सब अंगो में फेंकता है। जिस समय हृदय खुलता है, तो सारे देह का रक्त खींच कर अपने में लेता है। इस हृदय

की हरकत का किसी को पता ही नहीं लगता।

11. भगवान् की यह विद्युत् (बिजली) शक्ति ही यह सब क्रियाएँ (हरकतें) करने वाली है। वह समझता है और फिर हरकत करता है अर्थात् जानता है और हरकत करता है। जानना (समझना) और हरकत करना ही उसका ज्ञान रूप व क्रिया शक्ति रूप हैं। यह क्रिया शक्ति ही उसकी माया है, जिसको विद्युत् (बिजली) शक्ति भी कहते हैं। ज्ञान स्वरूप से वह चेतन है, जो हरकत देती हुई उसकी शक्ति है, वह उसकी विद्युत् (बिजली) रूप माया शक्ति है, जो सारे संसार को रचे हुए है। माया शक्ति के साथ महेश्वर भगवान् की सारी लीला वेदों, शास्त्रों में वर्णन की गई है।

12. देह के अन्दर सारी लीला करने वाला वह ज्ञानदेव ही है, जो जान (समझ) रहा है तो लीला होती है। यदि शरीर में जानना बन्द हो जाता है तो देह मुर्दा पत्थर-जैसा हो जाता है। इस समझ के बिना शरीर में कुछ भी सार तत्व नहीं है। जब तक ज्ञान है तो वह हर क्षण चेत रहा है। सैकण्ड तो बहुत लम्बा होता है, उससे भी जो बहुत छोटा समय है, उसका नाम 'क्षण' है। यह केवल न्याय व तर्क के ढंग से खाली कल्पना में तो आता है, परन्तु इतना सूक्ष्म होने की वजह से इसको कोई मनुष्य व्यवहार में नहीं ला सकता। सैकण्ड, मिनट का तो हमें पता लगता है ; लेकिन विचारकों ने समय के सब से छोटे हिस्से का नाम 'क्षण' रख दिया है। इसकी गति (चाल) बहुत तेज है। जैसे तरंग ऊपर उठती है तो उसी के अन्दर गड्ढा पैदा करने की हरकत होती है। तरंगें सदा ही बहती रहती हैं। इसी तरह भगवान् के अन्दर भी यह एक लीला है कि ऊपर की तरफ झाँकना और फिर छुप जाना। यह क्रम अनन्त काल से चला आ रहा है।

13. यह सारा विश्व, जीव और परमात्मा सहित सचेतन है।

यदि अपनी देह के अन्दर देखें तो यहाँ भी मिट्टी, पानी, गर्मी, हवा और आकाश (पोल) हैं और आकाश(पोल)में ये चारों ही घूम रहे हैं। इन पाँचों के साथ छटा ज्ञान-देव है। बस! यही उसके छह क्षण हैं। इन छह क्षणों में वह छह छलांगें ऊपर की तरफ लगाता है और फिर उन छहों को तोड़ता हुआ नीचे की तरफ जाता है। उत्पन्न (रचना) करना और फिर तोड़ना ही इसके काम हैं। वही चेतन भगवान् रचना करता हुआ ब्रह्मा का रूप है और तोड़ता हुआ शंकर रूप है। जब तक स्थिर रहता है, यह सब सतोगुण रूप अर्थात् ज्ञान रूप विष्णु का काम है। इसलिए ज्ञान द्वारा यदि मुक्ति प्राप्त करनी है तो मुक्ति प्राप्त कर लो और यदि संसार में ही सफलता लेनी है तो दुनिया में सफलता प्राप्त कर लो।

14. जितना रस भगवान् की इस लीला देखने में है, उतना रस उपन्यास पढ़ने या सिनेमा नाटक देखने में भी नहीं है अर्थात् किसी भी संसार की अन्य वस्तु में इतना रस नहीं मिलता है। परन्तु यह रस तब मिलेगा, यदि वहाँ अन्दर उस बारीकी में आपकी आँख खुल जाये। लेकिन उस बारीकी में पहुँचते-पहुँचते नींद आ जाती है। यदि निद्रा को हटाते हुए आपने जागने की कोशिश भी की तो दुनिया के ही विचार आते रहते हैं कारण कि जागने के साथ तो मन यही जानता है कि चाय पीनी है; वह कार्य करना है; सिगरेट ही लगा लें। जैसे मन थोड़ा जागने का प्रयास करता है तो इन्द्रियाँ भी उस समय जाग जाती हैं व कहीं दूर की आवाज़ें ही सुनने लग जायेंगी। आवाज़ सुनते ही मन सोचने लगेगा कि यह किसकी आवाज़ है व आँख खोल कर देखने की तड़पन करेगा। जिसे आँख खोलकर मन देखना चाहता है उसे समझना भी चाहता है कि वहाँ क्या घटित हुआ है; कहीं हमारे नुकसान की बात तो नहीं है। इस प्रकार जागते समय यही अविद्या तंग

करती रहती है। इस सारे बवाल का नाम तृष्णा है, जिसकी माँ 'अविद्या' है। हर समय मन यही खबर लगाने के लिए जागृत, उत्तेजित व चिन्तित रहता है कि बाहर क्या है? वहाँ क्या हो रहा है? जब तक जागता है, तब तक क्या हो रहा है, क्या हो रहा है; यही उसके समझ में नहीं आता है। यही सब अविद्या का खेल है। मन तो समझने के लिए लपकता है। लेकिन जब तक समझने का कोई चित्र नहीं बनता, तब तक मन अविद्या में पड़ा रहता है। यही अविद्या का राज्य है। उसके बारे में जानने के लिए मन बाहर ही लपकता रहता है। यह सब जितना बाहर जानने की भूख है, उससे मिलना ज्यादा कुछ भी नहीं है, कारण कि मन आदत से ऐसा करता रहता है। बचपन से लेकर जवानी तक जो मिलना था, वह अब तक मिल ही गया यह सब जानते हुए भी अविद्या मनुष्य को बाहर ही धकेलती रहती है।

15. अविद्या के साथ तृष्णा वाला स्वार्थ साथ रहता है कि कहीं अपनी इच्छा के विपरीत (उल्टा) तो नहीं हो रहा व कोई भय, शंका की बात तो नहीं है। जिस समय आप जागना चाहेंगे तो मन इसी उधेड़बुन में बाहर बहता रहेगा। जिस समय इस प्रकार विचार करते-करते आप थक कर नहीं जागना चाहोगे तो अव्यक्त माया की अन्धकार शक्ति आपको समेटकर निद्रा में डाल देगी, जहाँ कुछ पता ही नहीं लगता।

16. बाहर मित्र,प्यारों के लिए जागना व जानना लगा रहता है, जो सारी बाहर की अविद्या है। मनुष्य के लिए जीवन भर ऐसा करना हितकर नहीं है। बच्चे के सिर पर तो कर्तव्य बुद्धि से यह सब लद गया है, जो पूरा करना ठीक है। आपने बढ़ती आयु के साथ इसकी तुच्छता समझनी है कि जिधर यह मन जा रहा है, उधर सदा बना रहने वाला सुख कुछ भी नहीं है। जो यह मन प्राप्त करना चाहता है, उसका सुख भी सदा कायम रहने

वाला नहीं है। यदि थोड़ा-सा सुख मिल भी गया तो वह तृष्णा का ही रूप है, जो अन्त में दुःखों में ही समाप्त होता है। इस प्रकार विवेक पैदा करके यदि मनुष्य अपने अन्दर एकान्त में जागता रहे तो यही ध्यान का पहला रास्ता है और इससे थोड़ा बाहर से वैराग्य भी होता है।

17. जैसे गीता में आता है कि वैराग्य और अभ्यास से मन स्थिर होता है। मन तो अपने स्वार्थ, लगन व प्रीति वाले प्राणी व पदार्थों की तरफ जा रहा है। ऐसी दशा में उस मनुष्य को पहले अपने-आप में कर्तव्य पालन करते हुए बाहर से मन मोड़ने के लिए अपने अन्दर वैराग्य उत्पन्न करना पड़ेगा। और इसके लिए बाहर के सुखों का अन्त कहाँ है या किसमें है? इस प्रकार सत्य का ज्ञान उपजा कर अपने-आप को सही मार्ग पर रखने का यत्न करे। इन सब संसारी सुखों का अन्त तो भयंकर दुःखों में होना ही है। ऐसा समझ कर उन सुखों से अपने मन को दूर रखने का यत्न करे तथा भाव रखे, यही वैराग्य का स्वरूप है। अभ्यास का मतलब यत्न करना है। बार-बार एक जगह मन को लगाने का नाम अभ्यास है। मन अन्दर आने से बचना चाहता है और उसको आदतों की शक्ति खींच कर उधर बाहर संसार की तरफ ही ले जाती है। ऐसी अवस्था में आपने फिर मन को अन्दर लगाना है। इस खींचातानी मे तंगी अवश्य होती है। यदि आप उस तंगी के बीच में दुःख मान गए तो मन की एकाग्रता होनी कठिन है। संसार में कोई भी कार्य बिना तंगी सहन किये पूरा नहीं होता। बच्चा भी अपने चरित्र का निर्माण बाहर तंगी के सिर पर होने अर्थात् तंगी के सामने होने पर करता है। कोई भी कार्य खुशी व आराम से पूरा नहीं होता है। पढ़ाई भी तंगी के साथ होती है। कोई व्यापार, धन्धा या हुनर सीखना आदि भी सब तंगी के साथ

पूरे होते हैं। इनमें तपस्या भी करनी पड़ती है और दूसरों की

पराधीनता भी है। वैराग्य और अभ्यास में दूसरों की पराधीनता तो बिल्कुल नहीं हैं। केवल अपने नियम और कायदों (असूलों) की ही पराधीनता है और थोड़ा तप भी करना पड़ता है अर्थात् थोड़ी तंगी सहन करनी पड़ती है।

18. इसके लिए आपको पहले अपने दैनिक जीवन में ही साधना आरम्भ करनी पड़ेगी। प्रत्येक कर्म को चाहे देह का छोटा-मोटा कर्म है, मन लगाकर करना सीखे। यदि एक कर्म में भी आपने मन को स्थिर करके देख लिया, तो समझो ध्यान की युक्ति मिल गई। यदि एक कर्म में भी मन स्थिर नहीं है तो समझो वह उन्हीं अविद्या और तृष्णा वाली आदतों के कारण बाहर भटकता रहता है। यदि आप ध्यान की विद्या पाना चाहते हो; ध्यान द्वारा भगवत्-भक्ति करनी है व परमात्मा को पहचानना है और भक्ति द्वारा सारे विश्व में एक आत्मा का साक्षात्कार करना है, तो सबसे पहले इस मन को ऐसे साधो तथा इस जीवन को ऐसे बनाओ कि यह ध्यानमय जीवन बन जाये और अपने अंदर ही सारी विद्या पाने के लायक हो। ध्यान से विद्या मिलती है, विद्या नाम ज्ञान का है और अन्तिम ज्ञान इस प्रभु (परमात्मा) का है, जो सबकी देहों के अन्दर बैठा है। वही सब को हरकत दे रहा है व सारे संसार को चला रहा है। उसकी लीला इतनी प्रिय व रसमय है कि उसमें आँख खुलने पर कुछ शेष (बाकी) पाना रहता हुआ दिखलाई नहीं देता है। वही भगवान् क्षण-क्षण चेतता रहता है अर्थात् उसका ज्ञान कभी भी ऐसा नहीं है जबकि न रहे अर्थात् ज्ञान की ज्योति उसकी सदा जलती रहती है। यदि उस क्षण तक आपकी आँख खुल गई, तो समझो आपने उसको पा लिया।

19. यदि आपका क्षण इतना मोटा है कि आपको पन्द्रह मिनट किसी सोच में बैठे हो गये फिर भी कुछ पता ही नहीं लगा कि यह ख्याल कैसे निकल गया है और इस समय कैसे-कैसे भगवान्

व्यक्त-अव्यक्त हो रहा था अर्थात् क्षण-क्षण प्रकट हो रहा था। तो समझना चाहिए कि यह मन की जड़ता है। इसलिए भगवान् जिस बारीकी में चेत रहा है उस बारीकी में आपका ज्ञान अभी जागा नहीं है। हमको तो अपने श्वासों का ही पता नहीं लगता कि कितने श्वास निकल गये हैं। भगवान् की चेतन शक्ति का नींद में थोड़ा सुख हम को प्रकट होता है, कारण कि मन बाहर संसार को ठोकर मार कर अन्दर अपनी देह में इकट्ठा हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई वस्तु हमें मिल गई व इच्छा टल गई तो इसी शक्ति का सुख हमें महसूस होता है। दुःख टल गया तो भी इसी भगवान् चेतन का सुख है। दुनिया में सबसे प्यारी यही वस्तु है। आत्मा को छोड़कर कोई दूसरी वस्तु इतनी प्रिय व रसमय नहीं है। अपनी देह के अन्दर होते हुए उसका नाम आत्मा है। विश्व के अन्दर व्यापक रूप से होते हुए उसका नाम परमात्मा है। न्यारा-न्यारा तो कुछ भी नहीं है। चेतन, भिन्न (अलग) रूप में तो केवल "तू-तू, मैं-मैं" में दिखाई देता है, जो कि वास्तविकता नहीं है। चेतन तो एक ही विश्व व्यापक तत्व है।

20. उस भगवान् की लीला में जो अन्दर बारीकी में हो रही है, वहाँ 'तू-मैं' कुछ नहीं है। सारे मनुष्य सोये पड़े हैं परन्तु उसकी लीला सबमें समान रूप से चल रही है। बिना किसी के यत्न के साँस चल रहा है। प्रत्येक अंग के अन्दर भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रिया हो रही है और क्षण-क्षण उसके चेतन ज्ञान की तरंगों द्वारा बच्चों का देह बढ़ता रहता है। ये केवल एक के ही अन्दर नहीं है, सब जगत के अन्दर हो रही है और इसमें 'तेरी-मेरी' किसी की भी नहीं है। ये समान रूप से सब जीवों में समान है और उसी का हमने अनुभव करना है और अपने ज्ञान में प्रकट रूप से जानना है। जब ध्यान में जा करके बारीकी में उसकी लीला को आप देखेंगे, तो वहाँ आपने कमाई कुछ नहीं करनी, केवल अज्ञान

के पर्दे को, जो उसको छुपाये हुए था, तोड़ने का और सारे संसार की उलझन से मुक्त करके जागने का यत्न करना है। जैसे ही अज्ञान का पर्दा टूट गया, तो बस! उसके अन्दर आपकी सत्य की आँखें खुल गईं। जो कुछ है, वहाँ दीख जायेगा। फिर आपको मालूम होगा कि किस तरह इसकी लीला अन्दर होती है; क्या इसका खेल व अनुभव है? यही सब अन्दर की विद्या है। कितना यह चेतन, मधुर(मीठा)रसयुक्त अपने अन्दर उलझाने व पकड़ने वाला है? यह भी पता लगेगा कि यह सृष्टि कैसे चलती है? यह सब तब पता लगेगा, जब मन को एक जगह लगाने की आदत हो अर्थात् मन को एकाग्रता की आदत हो। आदत तो मन को संसार में बाहर निकलने की और भटकने की है। इसलिए उसको अन्दर एकाग्र होने की आदत नहीं है। यदि आप थोड़ा भी एकान्त में बैठने की आदत व हिम्मत करते हैं तो मन छत्तीस बार बाहर की तरफ़ ही लपक-लपक कर जाता है ।

21. यदि मन को जागते-जागते ही इस रीति से आपने साध लिया और एक कर्म भी उसने टिक करके करना सीख लिया तो सारे कर्म वह टिककर कर सकेगा अर्थात् स्थिरता व एकाग्रता के साथ कर लेगा। स्थिरता व एकाग्रता ही ध्यान का सार है। जिस समय भी आप कोई कर्म करते हो तो उसको खूब ख्याल से जागते-जागते करने का यत्न करें अर्थात् उस कर्म के बीच में अपने मन को देखें कि वह कहाँ-कहाँ भागता है? मैं इस मन को एक ही कर्म में लगाऊँ अर्थात् जो कार्य कर रहा हूँ उसी में मन को लगाता जाऊँ, इस प्रकार का भाव रखना है। इसी प्रकार के भाव के साथ स्मृति व सावधानता रखनी है। जैसे चल रहा हूँ तो चलने में; हाथ धो रहा हूँ तो हाथ धोने में; स्नान कर रहा हूँ तो स्नान करने में और भोजन कर रहा हूँ तो भोजन करने में ही लगाये रखूँ। इसका मतलब है कि जो भी कर्म कर

रहा हूँ, मुझे उसकी खबर पड़ती रहे। ऐसा ठीक नहीं है कि कर्म तो कुछ हो रहा है और मन इधर-उधर छत्तीस जगह बाहर ही भटक रहा है या और विषयों के बारे में सोच रहा है। ऐसी अवस्था (हालत) में आपने अपने मन को कर्मयोग के बीच में अभी नहीं साधा। ऐसा नहीं साधने से मन का टिकाव नहीं हो पाता। यदि एक कर्म में भी टिकाव नहीं हुआ तो ध्यान में भी मन भटकता रहेगा। ध्यान में यदि मन को साधना है तो जीवन ही ऐसा नियमबद्ध बनाना पड़ेगा व दिन के सब कर्म ध्यान मय बनाने पड़ेंगे।

22. प्रातःकाल से उठकर बाहर सब कर्म लगन, प्रीति और कर्त्तव्य समझकर करने हैं, यही कर्म योग है। यदि आपको कर्म में जुड़ करके काम करने की आदत पड़ गई और एक ही कर्म में जिस दिन मन स्थिर हो गया तो उस स्थिर मन में सुख प्रकट होने लग जायेगा।

23. जैसे आपने कर्म करते-करते मन को देखा है, ऐसे ही आसन पर बैठे-बैठे भी देखना है कि मन किधर-किधर भागता है? यदि आसन पर दुःख अथवा तंगी हो रही है, तो उस दुःख में मन लगाते-लगाते या किसी एक शब्द का जप करते-करते उस दुःख को टाल देना है। आलस्य, सुस्ती में ऊँघते नहीं रहना है। यदि इन्हीं भव और विभव तृष्णाओं ने ही आपको लपेटे रखा अर्थात् संसार में ही भटकना या उससे मुँह मोड़कर निद्रा इत्यादि के सुख की ओर लपकना यही बना रहा तो समझो आपके जीवन में कहीं भी ध्यान, एकाग्रता और ज्ञान नहीं है। फिर उस भगवान् का कैसे ज्ञान होगा, जो अन्तरात्मा में आनन्द रूप से बैठा है? इसलिए यदि परम-तत्व पाना है और धर्म के परम परमार्थ तक पहुँचना है, तो पहले मन को एकाग्र बनाने के लिए अपने जीवन को ही नियमबद्ध व ध्यानमय बनाना पड़ेगा।

24. ये बाहर संसार के सारे खेल उस दो तृष्णाओं से बंधे

हुए मन के हैं। इस खेल के लिए अपने को या किसी दूसरे को दोष देना ठीक नहीं है। इस सत्य को समझ लेना चाहिए कि मन को भटकाने वाली ये दो तृष्णाएँ हैं। अपनी इच्छाओं के अधिक होने से संसार में स्वार्थ भी लम्बा-चौड़ा है। इसलिए कर्त्तव्य-परायण बुद्धि नहीं है। मन दुःख से ज्यादा डरता है। इस दुःख के डर के कारण या तो मन आलस्य, सुस्ती, नींद में जाना चाहता है या फिर बाहर अपने प्यारे मित्रों, जिनसे उसे कभी सुख मिला है, उन्ही प्राणी व पदार्थों में उलझा रहना चाहता है। यदि इन्हीं दो तृष्णाओं में फँसा रहेगा तो समझो। कोई भी कर्म, भक्ति (उपासना) रूप नहीं है व यह कर्मयोग नहीं है। कोई भी कामना, चाहे वह सुख लेने की हो या दुःख मिटाने की हो, दोनों को पहचान कर इस काम (इच्छा) को कर्म के बीच में से निकाल देना है और लगन के साथ वही कार्य करना है जिसको कि करना आरम्भ किया है। कहीं दूसरी जगह मन नहीं जाने देना। तब यह ध्यान से किया गया कर्म, कर्मयोग हो जायेगा। सादे में इसका भाव यह है कि मन को जोड़कर सब कर्म करने का यत्न करना न कि भटकते मन से कर्म करना।

25. संसार में छत्तीस प्रकार के बवाल कामना के हैं । दुनिया की दृष्टि के अनुसार सामाजिक जीवन चलाने के लिए भले ही इनका कोई समर्थन करे, परन्तु संसार से मोक्ष की दृष्टि से और अन्दर के नित्य सहज सुख पाने की दृष्टि से तो यह मनुष्य का अपने-आप को कमज़ोर बनाना है। उस मनुष्य के दो मन हो जायेंगे अर्थात् एक तो वहाँ कर्म में लगा हुआ और दूसरा चोरी वाला मन, जो अपने अन्दर कामना(इच्छा) लिये बैठा है। जिस समय वह कोई कर्म कर रहा है, उसी को लगन से जागता हुआ करे और उसी कर्म के बीच में इतना एकाग्र हो जाए कि उस कर्म में ही उसकी समाधि लग जाये।

26. जैसे कि अर्जुन का एक दृष्टान्त महाभारत में आता है। अर्जुन को उसके गुरु द्रोणाचार्य जी बहुत प्यार करते थे, कारण कि वह बड़ी लगन से विद्या सीखता था। बाकी दुर्योधन आदि कौरवों और युधिष्ठिर आदि पांडवो को गुरु जी, ज्यादा महत्त्व नहीं देते थे, क्योंकि वे इतनी लगन के साथ विद्या नहीं सीखते थे। जब अर्जुन कोई बात पूछता तो गुरु जी बड़ी लगन से बताते थे। सब को इस सम्बम्ध में बड़ी शंका थी कि आचार्य जी अर्जुन से इतनी प्रीति (प्रेम) किस कारण से रखते हैं? क्या अर्जुन ने गुरु जी को रिश्वत दे रखी है? उसमें क्या विशेष गुण है जिस कारण से गुरु जी उस पर इतनी कृपा रखते हैं? आचार्य जी को इनकी शंका के बारे में पता चल गया और सोचा कि उनकी इस शंका को दूर कर दिया जाये। आचार्य जी ने कहा, "अच्छा विद्यार्थियो! आज तुम्हारी परीक्षा का दिन है अर्थात् तुम्हारी थोड़ी परीक्षा ली जायेगी कि तुमने अब तक कितनी धनुष विद्या सीखी है।" उन्होंने एक चिड़िया पेड़ के ऊपर लटका दी, जो फुदकती थी और उसकी पूँछ हिलती सी नज़र आ रही थी। सबको गुरु जी ने कहा कि तुम अपने-अपने धनुष बाण लेकर यहाँ बैठो और इस चिड़िया को निशाना मारना है अर्थात् इसकी पूँछ में बाण मारना है। पहले एक-एक करके उन सब विद्यार्थियों को क्रमशः बुलाया और उनको निशाना बेंधने के लिए कहा और गुरु जी ने आगे कहा कि तुम अपने बाण से उस लक्ष्य को बेंधने के लिए निशाना बाँधो और उसके बाद जब उन्होंने ऐसा कर लिया तब आचार्य जी ने कहा कि "क्या आपको जहाँ निशाना मारना है वह चिड़िया दिखाई दे रही है?" उन्होंने लगभग सबने एक जैसा ही उत्तर दिया कि "चिड़िया दीख रही है" आचार्य जी ने पूछा "और क्या-क्या दीख रहा है ?" उन्होंने उत्तर दिया 'चिड़िया' के अलावा पेड़ भी दीख रहे है और भी आसपास की चीज़ें दीख

रही हैं। उनका यह उत्तर सुनकर गुरु जी ने कहा "बस बैठ जाओ तुम्हारी परीक्षा हो गई।" उसके बाद क्रमशः एक-एक करके दुर्योधन, शकुनि और दुःशासन आदि कौरव आये। जैसे प्रथम एक से पूछने पर उसने उत्तर दिया था, लगभग सभी ने वैसा ही उत्तर दिया। यह सुनने पर गुरु जी ने कहा कि "तुम सबसे यह निशाना नहीं बिन्धेगा और तुमको बाण चलाने की कोई ज़रूरत नहीं है।" फिर पांडवों की तरफ से युधिष्ठर, भीम, नकुल व सहदेव आये और गुरु जी के पूछने पर कि तुम को क्या-क्या दिखाई देता है उन सबने भी उन्हीं जैसा जवाब दिया कि चिड़िया के अलावा सब कुछ दिखाई दे रहा है व पत्ता-पत्ता दीख रहा है। सबसे पीछे अर्जुन को बुलाया और कहा कि "अर्जुन, देखो निशाना बेंधना है।" अर्जुन ने पूछा कि गुरु जी! कैसे निशाना मारना है? आचार्य जी ने कहा कि "जो चिड़िया की पूँछ हिल रही है उसी में बाण मारना है, क्या तुम बाण मार सकते हो?" अर्जुन ने कहा "गुरु जी, बाण मार सकता हूँ।" गुरु जी ने कहा, "अच्छा तो निशाना बाँधो, परन्तु जिस समय मैं कहूँ, उस समय बाण छोड़ना।" अर्जुन ने कहा "जी ठीक है।" आचार्य जी ने अर्जुन से भी पूछा कि "अर्जुन तुम को क्या दीख रहा है?" उसने कहा "बाण की नोक और जहाँ पर निशाना लगाना है अर्थात् वह चिड़िया की पूँछ ही दिखाई दे रही है" अर्जुन ने कहा "इन दो के सिवाय और कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा है, जिस समय आप कहेंगे उसी समय ही तीर छोड़ूँगा।" आचार्य जी ने कहा,"बस रहने दो, तुम ही पास हो।" सब को आचार्य जी ने कहा कि "इसमें और तुम्हारे में कितना अन्तर है यह देखते हो। कार्य इस लगन से किया जाता है।" सब लज्जित (शर्मिन्दे) हो गये और उनको पता चल गया कि आचार्य जी का अर्जुन के प्रति विशेष प्रेम का यही कारण था। दृष्टान्त तो यहीं समाप्त होता है लेकिन कर्मयोग व मन की

एकाग्रता की पूरी शिक्षा इसमें समायी हुई है ।

27. आपने भी भगवान् का निशाना बिंधना है। जैसे बाण चलाने वाला मनुष्य निशाने में इतना तन्मय हो जाता है कि उसको उस समय दूसरी वस्तु की खबर ही नहीं रहती है; उसी तरह आप भी ॐ ॐ रटते-रटते अन्दर अपनी आँखे खोलते जाओ **अर्थात्** नींद, आलस्य, सुस्ती से हटते जाओ। सब तरफ से काम (इच्छा) क्रोध, तृष्णा, राग, द्वेष, मान, मोह और अविद्या आदि विकारों को अन्दर नहीं रहने देना है। अपने ध्यान में इतना तन्मय हो जाना है कि वही एक सर्वव्यापक भगवान् ही केवल दिखाई दे और यह बेंधने वाला बाण रूपी आत्मा, जो जा करके उसमें पड़ेगा। जब इस प्रकार आप तन्मय (तल्लीन) हो जाओगे तब वह भगवान् का निशाना आपसे बिन्धेगा। भगवान् भी प्रेम उससे ही करता है जिसकी लगन उसके साथ सीधी जुड़ी हुई होती है। बाण तो अपना-आपा (आत्मा) ही है। इसको ऐसे साधना पड़ेगा कि यह आत्मा काम,क्रोध, सुख-दुःख आदि द्वन्दों से रहित हो जावे। ऐसा करने के लिए इसमें किसी दूसरों की दासता नहीं है; कोई किसी का पैसा नहीं लगता है, किसी दूसरे का स्वार्थ नहीं है; आपका कुछ बिगड़ता भी नहीं है। शास्त्रों में बताये गये अनुशासन को समझते हुए उसके अनुसार ही आपको चलना है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इसके लिए पहला साधन कर्मयोग है अर्थात् कर्म में मन को जोड़ना सीखे। यदि मन को कर्म में जोड़ने लग गये तो काम (इच्छा) का विघ्न बीच में आता है। इस काम (इच्छा) को बीच में से निकालकर कर्म करे अर्थात् निष्काम कर्म करे। जो कभी कोई सुख बाहर मिला था, वही मनुष्य को लपेटे रखता है । इसी का नाम 'काम' है अर्थात् अच्छा प्रिय लगकर जो खींच लेता है। यदि इस काम (इच्छा) के बन्धन से टल करके एक भी कर्म आपने करना सीख लिया तो समझो आपको निष्काम

कर्मयोग करने का रास्ता मिल गया। जिस समय आप कोई भी कर्म कर रहे हैं उस वक्त कामना (इच्छा) सिर पर नहीं लदी हुई होनी चाहिए।

28. जो भी आपने कर्म करना है चाहे नित्य निमित्त का देह सम्बन्धी हो, उसी को चौकस होकर चेतन मन से करने की आदत डालें। इस तरीके से यदि हर कर्म में आप जागते रहे तो आपको संसार की कोई खबर नहीं रहेगी कि दुनिया किधर चल रही है; कारण कि आप अपने कर्म के साथ पूर्णतया जुड़े हुए हैं। यदि ऐसा नहीं होता है तो मन व्यर्थ में संसार में ही भटकता रहता है और कर्म आदत से होते रहते हैं। आदतें ध्यान करते समय भी बनी रहती हैं और ध्यान में बाधा पहुँचाती हैं। इन आदतों के वशीभूत जीवन कभी भी ध्यान के योग्य नहीं बन पायेगा। ऐसे मनुष्य का कभी ध्यान नहीं सध पाता और उसको ध्यान का अन्तिम फल सच्चिदानन्द रूप भगवान् भी नहीं मिल पाता है।

29. यदि ध्यान का फल प्राप्त करना है तो वैसा ही धार्मिक अर्थात् आध्यात्मिक जीवन बनाना पड़ेगा। इसके लिए जो भी कार्य आप करें उसी में जुड़कर करना सीखें और हर एक कर्म को अपनी भक्ति बना लें। कर्म में उस समय मन को ऐसे जोड़ना है कि दुनिया का कोई भी स्वार्थ मन में नहीं आये। जब कोई सांसारिक या पारिवारिक कर्त्तव्य करना है तब उसमें मन रखने में कोई दोष नहीं है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हर समय संसार ही मन में लदा रहे और बाह्य (बाहर) संसार के सुख सम्बन्धी स्वार्थ उसके मन में तनाव पैदा करते रहें और भगवान् के रास्ते पर चलने में विघ्न डालें। इसलिए जो कार्य (काम) करना है उस समय उसी में ध्यान रहे; जैसे अर्जुन का ध्यान बाण चलाने में था। यह सब कर्मयोग द्वारा मन को चेतन करना है। जैसे बुझी (दबी) हुई आग को फूस लगा करके फूँक मार-मार

कर चेताया जाता है ; इसी तरह संसार में जड़ (मुर्दा) मन को कर्मयोग द्वारा चेतन करना है। चेतन रूप का बन्धन कोई नहीं है, चेतन रूप अमर है। चेतते-चेतते मन को इतना चेताना है कि उस अनन्त चेतन में पहुँच जाना है, जिसके अन्दर आलस्य, सुस्ती व नींद कहीं भी नहीं है।

30. उस अनन्त चेतन में केवल झाँकियाँ हैं अर्थात् कभी कोई झाँकी, कभी कोई झाँकी आती है। जब उसके क्षण में आपकी आँख खुल गई तो बस! वहाँ अनन्त ज्ञान-विज्ञान है। फिर किसका शोक और मोह करना है? वह मनुष्य देखेगा कि सारी सृष्टि इस अनन्त ज्ञान-विज्ञान रूप भगवान् में है। उसको यह महूसस नहीं होगा कि हम कभी संसार से बिछुड़ जायेंगे व संसार का रौनक मेला नहीं रहेगा, कारण कि उस चेतन का ही यह सब अनन्त रौनक मेला है। यह तब सम्भव होगा; जब वहाँ तक आपकी आँख खुले। चेतन में आँख तब खुलती है जबं अपने-आप में अन्दर मनुष्य की विवेक रूपी आँख (चक्षु) खुल जाती है अर्थात् उसको अन्दर कुछ समझ में पड़ने लग जाता है। इसका सादा रास्ता यही है कि आप संसार में रहते हुए कर्मयोग शुरू कर दें। आपने कोई भी वस्तु छोड़नी नहीं है; सब वस्तुएँ जहाँ पड़ी हैं, वहीं पर पड़ी रहने दो व अपना संसार का कर्त्तव्य (कामकाज़)भी करना है। लेकिन ऐसा करते हुए उस कर्म के बीच में अपना स्वार्थ शून्य (नहीं के बराबर) रखना है। भोजन की तो शरीर को ज़रूरत है। जितने घंटे निद्रा के चाहिए वे भी ठीक हैं; परन्तु फालतू हर समय जहाँ कहीं अवसर (मौका) मिल जाये, वहीं आराम करने की सोचना ठीक नहीं है। कहीं से चोरी करके माल एकत्रित (इकट्ठा) करना और भी छोटी-मोटी वस्तु के लिए संकल्प उठाते रहना और उन्हीं की सोचों में मन का आदत से

बहते रहना ठीक नहीं है। जन साधारण प्राणी तो प्रकृति शक्ति द्वारा ऐसे ही चलाये जाते हैं।

31. शास्त्र कहता है कि प्रकृति से विमोक्ष पाओ अर्थात् प्रकृति से छुटकारा पाओ। प्रकृति के बन्धन से मुक्त होना है। प्रकृति की पाश (जाल) से मुक्त होने पर ही परमात्मा मिलता है। यदि आप अपने जीवन द्वारा इसको प्रमाणित नहीं करते हैं, तो शास्त्रों की सुनी हुई बातों को दूसरों के सामने सुना कर अपना अहंकार ही दिखाना है और केवल जीवन भर शास्त्रार्थ (बहस करने) में ही लगे रहना है। यदि आप कुछ धर्म की कमाई में लग गए तो चुप और मौन हो जाओगे। बाहर इसके बोलने की भी ज़रूरत नहीं है। यदि कोई मनुष्य अपनी भलाई के लिए कुछ सुनना चाहे तो उसको दो शब्द कहने में कोई हानि नहीं है। इसके अतिरिक्त धर्म के बारे में तर्क-वितर्क करने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं हैं। इतनी बारीक (सूक्ष्म) विद्या के बारे में हम तर्क कर ही नहीं सकते हैं; कारण कि चेतन तो वर्णनातीत है अर्थात् जिसका सही रूप से निरूपण नहीं किया जा सकता वह तो केवल अनुभव में ही लाया जा सकता है ।

32. ढीला मन जो थोड़े दुःख से डरने वाला और सुख की तरफ हर समय लपक रखने वाला अर्थात् कामना (इच्छा) के चक्र में पड़ा हुआ कोई कर्म भी ठीक नहीं कर पाता है। हर एक कर्म भटकते हुए ही करता है। भटके हुए मन से यदि आप ध्यान में भी बैठेंगे तो दो ही इस मन की दिशाएँ होंगी अर्थात् या तो मन संसार में भटकता रहेगा या फिर भटकन कम होने पर आलस्य, सुस्ती या नींद में चला जायेगा। उस समय नींद भी बहुत मधुर व प्रिय लगती है। इस प्रकार आपने इन दोनों तृष्णाओं को अपने अन्दर परखना है। स्वयं विद्वान् बने। केवल ग्रन्थों को पढ़ करके कोई पूर्ण विद्यावान नहीं होता और न ही आत्मदर्शी (अपने-आप

को देखने वाला अर्थात् अपनी परीक्षा करने वाला) होता है।

33. ध्यानमय जीवन बनाने के लिए सब बुराइयों से दूर रहना है। छल, कपट, पाप, चोरी, झूठ, तूफ़ान आदि इनसे पहले बचना है। फिर अपना जीवन नियममय बनाना है। मन के अन्दर कोई भी खोट नहीं रहने देना है। किसी के सुख को देखकर चिढ़ना नहीं है और दूसरे के दु:ख को देखकर हँसना भी नहीं है। किसी की थोड़ी-सी भी अच्छाई दिखाई देने पर मनोमन वाह-वाह (प्रशंसा) करनी है। किसी के दोष को अपने मस्तिष्क (दिमाग) में नहीं रखना है। ये सब मैत्री, करुणा, मुदिता व उपेक्षा आदि भगवान् के बल हैं। इनसे उल्टे जो बने हुए हैं वे अभी प्रकृति के हैं।

34. प्रकृति के अन्दर सब खोट हैं। बच्चे के अन्दर तो सब खोट आ जाते हैं, परन्तु उसके अन्दर यह कोई निन्दा का विषय नहीं है। यह तो प्रकृति स्वभाव से सबके अन्दर बचपन से उत्पन्न करती है। अब आपका काम इस प्रकृति के बन्धन से निकलना है, इसके लिए अपने अन्दर सारी अच्छाइयाँ अपनानी पड़ती हैं। प्रकृति ने सारे पाप करवाने के लिए आपको या किसी और को प्रेरित कर दिया है। इसलिए सबसे पहले पापों से टलना है। इसके लिए दूसरों के साथ किसी प्रकार की कोई उलझन नहीं होनी चाहिये। आपको किसी भी समय दूसरों से किसी प्रकार का डर नहीं लगे, ऐसे ही कर्म करने चाहिए। पाप करने वाले मनुष्य में दूसरों से शंका व भय (डर) बना रहता है। जैसे आप ध्यान में बैठे हैं और दूसरों से डर (भय) लग रहा है, तो ध्यान कैसे होगा और मन एकाग्र नहीं हो पायेगा? अर्थात् यदि आपके मन में दूसरों के बारे में शंका है,तो आपका कभी भी ध्यान नहीं लग पायेगा। यदि बाहर कामनाएँ नाच रही हैं और आप ध्यान करने के लिए बैठे हैं; तो मन, ध्यान में कैसे लगेगा? क्योंकि मन तो उन कामनाओं की तरफ ही भागेगा। ये सारे प्रकृति के खेल हैं। आपने इनके

विपरीत (उल्टा) मन रचना है। रचने के लिए एक-एक विकार को पहले पहचानना है, कारण कि पहचानने के बिना ये विकार समाप्त नहीं होंगे, जो मन में बहते रहते हैं। जब आप कर्म करेंगे तो ये सब विकार अपना चक्र लगायेंगे। इन सब विकारों को टालना है। यदि किसी को इन विकारों को टालना आ गया, तो वह एक न एक दिन भगवान् तक पहुँच ही जायेगा। यही विकार भगवान् का रास्ता रोके हुए हैं।

35. प्रकृति का मतलब है कि बार-बार किसी कर्म को करने से कोई आदत पड़ गई है और वह शक्ति रूप में अन्दर बैठ जाती है। इसी का नाम प्रकृति है। बार-बार एक कर्म करने से वह शक्ति पकड़ जाती है और उसका कर्म करने का एक स्वभाव बन जाता है, जिसे प्रकृति (आदतों की शक्ति) कहा जाता है। जैसे कागज़ को मोड़ कर रखने से वह गोलाई पकड़ जाता है और फिर अपनी पूर्व दशा में सीधा भी नहीं होना चाहता है कारण कि गोलाई में रहने से वह गोल ही रहने की शक्ति पकड़ गया है और उसका वैसा ही रहने का अर्थात् गोल ही रहने का स्वभाव बन गया है। संस्कृत में आदत कहते हैं कि आ+दत्त जो एक दम चारों तरफ से मनुष्य ने अपने अन्दर ग्रहण कर ली है। अब यह आदत एक बन्धन बन गई है। इस बन्धन से निकलने के लिए पहले सिरे से 'क्षण' को चेतना होगा अर्थात् हर क्षण मन को चेतन करना पड़ेगा। सैकण्ड तो बहुत लम्बा होता है; परन्तु हर क्षण पता लगते रहना चाहिए कि मन के अन्दर क्या हो रहा है? जैसे भय आ रहा है, तो उसका पता हर क्षण लगते रहना चाहिए और चेतन मन से उसको प्रत्येक क्षण टालने का प्रयास, विचार जगाकर करना चाहिए व साक्षी भाव से खुज़ली के समान देखते-देखते भय को दूर कर देना चाहिए।

36. सारा कर्मकाण्ड करते-करते जिस समय ज्ञान में आपकी दृष्टि खुल गई और बन्धन पहचानने में आने लग गए व

पहचानते-पहचानते टलने लग गए तो समझो! आपकी मुक्ति होने लग गई। जैसे किसी का मन में संशय आ गया और आपने देखते-देखते उस संशय को टाल दिया, तो समझो आपने संशय का आना भी देखा और जाना भी देखा। यही आवागमन का चक्र आप ध्यान में बैठे हुए देखते रहें कि कौन भाव आया है और कौन भाव मन के अन्दर से चला गया है? इस आवागमन को देखते-देखते अन्त में सारे भाव मिट जायेंगे। कभी भी मन एक जगह नहीं रहता है। जो मन अभी दु:ख दिखा रहा था, वह बहते-बहते किसी समय या तो निद्रा(नींद)का सुख देगा और यदि आपने नींद का सुख नहीं लिया तो फिर मुक्ति का सुख अवश्य देगा। आप इस विद्या को अपने अन्दर की आँख खोलकर देख सकते हैं। दूसरों से कहा सुना हुआ तो केवल प्रेरणा के लिए होता है, करना-कराना तो अपने-आप ही है। अपने मन को इतना जगाना है कि वह अपने-आप में ही समाधान को प्राप्त हो जाये अर्थात् समाहित हो जाये और बाहर के संसार की भी उसको कोई खबर नहीं रहे। फिर हर एक कर्म आपके लिए आनन्दमय हो जायेगा। आपका बाहर और अन्दर का जीवन सुखमय होगा। यह सब करने-कराने का खेल है, खाली पढ़ने व सुनने से बहुत कुछ प्राप्ति नहीं होगी ।

37. जैसे कि बोलना शुरू किया था कि परमात्मा के बारे में कुछ समझ आने पर ही उसकी भक्ति बन जाती है। भक्ति, ध्यान बनने पर बन पाती है अर्थात् भक्ति, ध्यान पर आधारित है। इसके लिए ध्यानमय जीवन ही बनाना पड़ता है। सब जगह अपने मन को एकाग्र करने की आदत डालनी है जिसके लिए भटके-भटके कोई कर्म नहीं करना है। कर्म तो अवश्य ही करने पड़ेंगे, कारण कि शरीर, परिवार, और समाज की आवश्यकताएँ पूरी करनी पड़ती हैं। हर एक कर्म को मनोयोग अर्थात् उसके साथ जुड़ कर करना है और आपने यह देखना है कि कोई व्यर्थ का काम

या इच्छा उस कर्म करने की एकाग्रता में अड़चन नहीं डाले। हर एक कर्म में हमको उस कर्म के होने का पता लगता रहे। जब कर्म करते-करते ही मन में स्वभाव से चक्कर लगाने वाले विकारों को टालना आ गया तो समझो यहाँ तक आपका कर्मयोग सफल हो गया। जब यह सफल हो गया तो आपका ध्यानमय जीवन आराम से बन पायेगा।

38. जैसे कि मन तो प्रत्येक साधारण कर्म में भी तंगी मान सकता है। शीतकाल में दातुन करते समय ठण्डी मान सकता है। मन में कोई इच्छा पूरी न होने का दुःख या कोई अपमान होने का दुःख मान सकता है। इसलिए तंगी कोई ऐसी वस्तु (चीज़) नहीं है कि किसी के जीवन में नहीं हो। लेकिन मनुष्य इस तंगी में अपनी बुद्धि को स्थिर रख करके सब कर्म करने का अभ्यास करे तो यह तंगी उसकी भलाई साधने में विघ्न नहीं डाल सकती। तंगी सहन करने वाले तपस्वी के लिए तंगी एक साधारण घटना है। वह तंगी कहीं भी इसके कार्य में विघ्न नहीं कर सकती। इसी तरह आसन पर बैठे-बैठे भी वह ऐसा विचार करे कि देखते हैं कि इस तंगी का दुःख कहाँ तक ठहरता है और कितनी देर तक यह दुःख बना रहता है? विचार करते-करते आसन पर बैठने का दुःख भी देखते-देखते टल जायेगा। दुःख के टलते ही सुख होने लग जायेगा। सुख को भी देखते-देखते समय बिताते गये और आपने इस सुख को कायम रखने की इच्छा भी नहीं करनी है वरना आपका ध्यान सुख पर ही रुक जायेगा और अन्तिम सत्य हाथ नहीं लगेगा। इस प्रकार दुःख-सुख टलते ही अन्दर की विद्या मिल जायेगी, दुःख-सुख में सम रहने का स्वभाव बन जायेगा और वह क्षण जाग जायेगा, जिसके बारे में पहले वर्णन किया गया है। इस क्षण में ही भगवान् अपनी व्यक्त और अव्यक्त लीला करता रहता है। इस लीला को आप जितना अपने अन्दर देखेंगे, उतना ही आनन्द व रस आयेगा और मन इसी में लगा रहेगा। इस

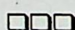
ध्यानावस्था में संसार में छुट्टी मिल जाती है और मौत की कहीं खबर ही नहीं रहती है अर्थात् मौत से भी डर समाप्त हो जाता है।

39. जब तक क्षण का साक्षात्कार नहीं होता है तब तक जीवन में धर्म का मूल्य तो बहुत कम (थोड़ा) ही है। ध्यान की सफलता के लिए अपने जीवन को ऐसे रचना है कि वह धार्मिक अर्थात् आध्यात्मिक जीवन बन जाये। यदि आप एक कर्म को भी मन जोड़कर करके देख लें तो पता चलेगा कि किस तरह से कर्म पूर्ण ध्यानरूप हो जाता है। जब जागते-जागते मन में आपको आनन्द आने लग जाये तो फिर अकेले बैठे मन में भी आनन्द ही आनन्द है। उस ध्यानमय मन में केवल आनन्द ही नहीं है, वहाँ विद्या भी है। विद्या का मतलब है कि जो वस्तु जैसी है, वैसी ही दिखाई देना; यही उस सत्य का ज्ञान है। सत्य का ज्ञान होने पर बस! अनन्त आनन्द ही आनन्द है। उसके बीच में मन कभी उदास नहीं होता है और कभी संसार में सुख पाने के लिए नहीं लपकता है कारण कि बाहर के रौनक मेले से ज्यादा रौनक मेला अन्दर ही उसे मिल जाता है, यही सारे का निचोड़ है।

40. पीछे जो कुछ कह कहा गया है, उसका भावार्थ यह है कि नित्य सुख या परमानन्द पाने के लिए मनुष्य को बाहर से या संसार से मन को हटा कर अन्तर्मुख होकर मन को पहचानने की योग्यता व युक्ति मिलनी चाहिए। जब मन बाहर से टल कर अन्दर की वस्तुओं अर्थात् अन्दर के सत्यों को पहचानने लग गया, तो उसको बाँधने वाले अपने सारे बन्धन अन्दर की दृष्टि से प्रकट दीखने लगेंगे। यदि बन्धन स्पष्ट रूप से दिखलाई देने पर उन बन्धनों को टालने की युक्ति और उद्योग भी इसके हाथ लग गया तो यही उन बन्धनों से छुटकारा रूप मुक्ति होगी। ऐसी मुक्ति अनुभव में आते ही परमानन्द का अनुभव भी होने लगेगा।

इस आनन्द के अनुभव होने पर सकल अन्दर की विद्याएँ,

आत्मा-परमात्मा की एकरूपता तक ये सब विद्याएँ स्वयं ही प्राप्त होने लग जायेंगी। इससे उसको अपने-आप में परम सन्तुष्टि प्राप्त हो जायेगी। यदि आपने थोड़ा अन्दर के सारे बन्धनों को पहचानना है, तो आरम्भ में हर कर्म में मन जोड़-जोड़ कर करने का अभ्यास करें। जब आप मन जोड़कर कर्म करने लगेंगे तो मन के जोड़ने पर आपको यह भी पता लगेगा कि मन किधर खींच रहा है। जिधर मन खींच रहा है, उन सारे तत्त्वों का भी ज्ञान होगा। जैसे कि राग, द्वेष, मान, मोह और भी जितने तत्त्व हैं, जो कल्याण के मार्ग में बाधक हैं, वे सब दिखाई देंगे। जब ये राग-द्वेष आदि दिखलाई देंगे तो इनके बारे में विचार भी उत्पन्न होगा कि ये हमारे कितने मित्र व शत्रु हैं। जब इनके सत्य भाव (वैरी व मित्रता) का पता लगेगा तो इनसे छूटने की भी सच्ची इच्छा होगी। छूटने की इच्छा के साथ-साथ इनसे मुक्ति का यत्न भी हो जायेगा। छूटने का यत्न करते-करते एक दिन मनुष्य परमपद को प्राप्त हो ही जायेगा, यही सारे का अन्तिम भाव है।



प्रवचन-5

दिनांक: 14.1.1987

1. जिस प्रकार हीरा परखने वाला जौहरी ही हीरे की परख करता है। परख का तात्पर्य(मतलब)है कि हीरा एक ऐसा पदार्थ है जो बहुतों के समान जैसा दीखता है; जैसे कि काँच, बलोर, स्फटिक आदि (वगैरह)। परन्तु ये सब समान दिखाई देने पर भी जौहरी हीरे को चुन लेता है और काँच वगैरह आदि कोई भी हीरा रूप में उसको देना चाहे तो वह उसको स्वीकार नहीं करता। स्फटिक सस्ता-सा होता है परन्तु वह भी एक प्रकार से हीरे जैसा ही है। उसकी बाज़ारों में मालायें वगैरह बिकती हैं। ऐसे ही कई ढंग की वस्तुएँ हैं जो हीरे के समान चमकती हैं। यदि कोई हीरे की ठीक पहचान करने वाला नहीं हो, तो वह काँच व बलोर को भी हीरा मान कर ले लेगा या हीरे को ही काँच या बलोर समझेगा।

2. इसी प्रकार से देह में जो आत्मा या चेतन है, जिसके साथ मनुष्य को एक आत्म-भाव अर्थात् एकरूपता अनुभव करने पर एक जीव की कृतकृत्यता मालूम होती है कि करने का कार्य तो कर लिया। अब अन्दर जो तत्व है वह सर्वव्यापक, आनन्दमय, बिना किसी बाहर की शर्त के व बिना किसी बाहर की वस्तु के संग के जो आनन्दरूप है, उसको पाने के लिए उसको इसी तरह परख करने का मन बनाना पड़ेगा। उसके लिए ध्यान करना पड़ेगा। ध्यान क्या है? हर एक मनुष्य ध्यान करता है और अपने ध्यानों में ही जीता है परन्तु वह ध्यान कैसे हैं? वे ध्यान संसार के ही हैं। जैसे अपने परिवार की समस्याएँ, अपने व्यवसाय को (व्यापार धंधे को) कैसे सफल बनाना है, उसके लिए जो कुछ भी विचार, चिन्तन करता है, वह बड़े मन की एकाग्रता से करता है। कोई भी काम है वह सोचने के बिना तो होता नहीं, तो इसी सोचने का

नाम ध्यान है। ऐसे एक-टक मन से वह सोचने की धार आसपास की चीज़ों से बिगड़े नहीं। यदि वह सोचने की धार इधर-उधर की चीज़ों में उलझ गई तो फिर वह ध्यान नहीं रहेगा। जैसे मान लो उस हीरा परखने वाले जौहरी को किसी चमकती हुई चीज़ की ओर झाँकने से एकदम तो उसको पता नहीं लगेगा कि ये हीरा है या और कुछ है। वह जो हीरे के लक्षण या चिह्न हैं उनको वह अपने मन द्वारा इतनी एकाग्रता से देखेगा कि वह आसपास की बातों में, चित्त में, मन के संस्कारों में, आलस्य, सुस्ती व नींद में, कहीं भी मन को जाने नहीं देगा। यदि वह झाँक तो रहा है हीरे को या उस पत्थर को, और मन जो है बाहर कहीं आवाज़ों में खिंच गया और उन्हीं की सोचने लग गया, या उसके मन में तेरी-मेरी आ गई या किसी का अपमान आ गया, किसी का प्रेम आ गया, किसी के संशय आ गए और उन्हीं में उलझ गया तो पदार्थ चाहे एक घण्टा सामने पड़ा रहे उसको हीरे के लक्षण उसमें नज़र नहीं आयेंगे।

3. इसी प्रकार ज्ञानदेव, चेतन देव जो सबके अन्दर समान बैठा है उसको हीरे के समान परखना है और उस तक ध्यान ले जाना है। अब उसका लक्षण केवल यही है कि वह ज्ञान रूप है, मिट्टी नहीं, हवा नहीं, पानी नहीं, गर्मी नहीं, ये तो सारे दिखाई ही दे रहे हैं। सबके अन्दर इन पाँचों (मिट्टी, पानी, गर्मी, हवा और आकाश) बाहर के पदार्थों को वह इस तरह से गूँथ देता है (मिला देता है) जैसे कोई धागों का ताना-पेटा करके कपड़ा बुन दे। उस ज्ञानदेव में ही इन पाँचों को गूँथने की और एक-दूसरे को मिला करके कपड़े के समान रच देने की शक्ति है। ज्ञान रूप से वह इस देह की मिट्टी से भी मिला बैठा है और देह के अन्दर ज्ञान रूप में जो पानी है उससे भी मिला बैठा है और देह के अन्दर हवा के साथ मिला हुआ साँस खींचता है। श्वास खींच

करके अन्दर वह इतना बारीकी से श्वास को गहराई में नज़दीकी से गुजारता है कि उसमें आग पैदा करता है। जैसे देखते हैं, बिजली चमकती है, वह देखो पानी के बीच में हवा के दो चक्कर इतनी नज़दीकी से एक-दूसरे के साथ संघर्ष करते हैं कि आग निकलती है। यदि यह कहीं पेड़ों पर पड़ जाये तो उन पेड़ों को फूँक देती है। इसी प्रकार हमारे देह के अन्दर वह प्राण, अपान हवा के साथ मिला हुआ श्वास लेता है, छोड़ता है। आपस में दोनों के चक्करों को ठोकर मार-मार कर आग पैदा करता है और फिर आग से जल को पैदा करता है। फिर इस देह की मिट्टी को देखो कैसे बना रहा है। जैसा-जैसा जीव ऐसी-ऐसी मिट्टी को रच रहा है, उसी के अनुसार मनुष्य की देह में मनुष्य की शक्ल दे दी, पशु-पक्षी की देह में उसी की शक्ल दे दी। जैसा-जैसा जीव है—कीड़ा, पतंगा, मकोड़ा उन सबको उसके ढंग की वह आकृति देता है।

4. जो-जो जीव जैसा-जैसा अन्न खाता है उस जीव की वह अन्न उसी प्रकार की शक्ल (आकृति) बनाता है जो वह जीव है। मनुष्य द्वारा खाया गया अन्न मनुष्य की शक्ल बनाता है। इसका तात्पर्य है कि जिन-जिन रूपों में अन्न देव खाया जाता है वह ज्ञानदेव उन्हीं-उन्हीं रूपों की आकृति (शक्लें) बना देता है। इस प्रकार सर्व का स्वरूप ज्ञानदेव ही बना बैठा है। मनुष्य के अन्दर सोचने की शक्ति है इससे ये शक्ल बन गई, जो हम लोगों की है। जिनके अन्दर इतनी ज्ञान शक्ति नहीं, जैसे पशु-पक्षी, सिंह इत्यादि। कोई ज़हर वाले जानवर वगैरह कैसे-कैसे बना दिये। अब ये हर एक देह में बैठा है, परन्तु दूसरे देहों में तो ध्यान का मौका मिलता नहीं क्योंकि सारे जानवर एक-दूसरे से डरते हैं। कीड़ा है उसको पक्षी का डर है कहीं चुग ना ले जाए। साँप, बिच्छु आदि हैं ये तो बेचारे छुपे ही रहते हैं। साँप क्यों इतना

ज्यादा छुपता है? उसको पता है कि मेरे अन्दर जो चीज़ (ज़हर) है, यदि मैं किसी पर उसका प्रयोग कर दूँ तो मेरे को कोई छोड़ने वाला नहीं है। अपने कर्मों से ही वह सारी दुनिया का वैरी बना बैठा है और सारी दुनिया उसकी वैरी है। उसको तो मनुष्य-समाज अपने निकट बसने भी नहीं देता। दूसरे जीव हैं, जैसे कुत्ता घूम रहा है, आप जानते हैं ज्यादा नुकसान नहीं करता तो उसको आप जीने भी देते हैं। आप उसके ज्यादा वैरी नहीं हैं। जो ऐसे कर्म वाले हैं जिनसे आपको ज्यादा डर,शंका,भय नहीं है उनके प्रति आपके अन्दर भी दया भाव है कि चलो भई, जीव हैं बने रहने दो।

5. इस प्रकार मनुष्य भी यदि इसी तरह के कर्म करने वाला है कि किसी के सुख-दुःख की परवाह ही नहीं करता और अपने लिए स्वार्थ के वशीभूत होकर जो चाहे वह करने के लिए तैयार हो जाता है, तो ऐसे मनुष्य को भी जन साधारण (मनुष्य-समाज) अपने निकट आराम से बसने नहीं देता। ऐसे मनुष्य को अपने कर्मों का ही डर लगा रहता है और वह अकेला रहने में भी डरेगा तो ध्यान करने की तो बात ही दूर रही। जिस समय भी वह ध्यान में बैठेगा, उसी का किया हुआ खोटा कर्म उसकी निगाह में आ जाने के बाद,उसको दूसरों से शंका हो जाएगी और उनसे बचने की इच्छा और नाना प्रकार से क्रोध भी होगा। यदि ये सब नहीं तो नींद आ जायेगी।

6. ध्यान के पाँच विघ्न हैं। ध्यान का पहला विघ्न ये दृष्टि है। जिसका आपने वैर कर रखा है झट उसकी नज़र बन जाएगी। जैसे किसी का शब्द जो है आप में अटक गया और आपका शब्द किसी में अटक गया। एक तो यदि आप ऐसे ढंग से रहते हैं कि उसको कोई शब्द ऐसा बोला ही नहीं जो दूसरे के अन्दर चोट करे या दूसरे के अन्दर गड़ के बैठ जाए। दूसरा, यदि

अहंकार-मान का दूसरे को सेंधने वाला कोई शब्द आप बोल देंगे तो वह उसके अन्दर अटक ही जायेगा और उसकी चोब भी पड़ जाएगी। अब वह काँटे के समान गड़ा हुआ शब्द बार-बार उस मनुष्य में आपके बारे में वैरी जैसी दृष्टि भी उपजाएगा। यदि आपने उसको कोई ऐसा शब्द नहीं बोला और न ही ऐसा कोई बर्ताव या कर्म किया है जो उसको चोट करने वाला हो तो ऐसे में उस मनुष्य की (शक्ल)आकृति आपके मस्तिक (दिमाग) में नहीं रह सकती और दूसरों के मस्तिष्क (दिमाग) में भी आपकी आकृति नहीं रहेगी और आप दृष्टि बन्धन से मुक्त हो गए। नज़र (दृष्टि) उसकी बनती है; कि कोई ऐसा कर्म कर दिया, या तो वह दूसरे को दुःख देने वाला है, या दूसरे के सुख को बिगाड़ने वाला है। जब इसी प्रकार के आप कर्म करते हैं, तो उसका तात्पर्य (मतलब) है कि आपका ज्ञान अभी चेतन नहीं हुआ और जागा भी नहीं। यदि आपका ज्ञान व चेतन इतना जाग जाए कि मेरा शब्द, मेरा बोल, मेरा बर्ताव, और भी नाना प्रकार के मेरे कर्म दूसरों को कैसे मालूम होते हैं और उन पर कैसे प्रभाव डालते हैं, कहीं मेरे को और उसको उलझन में तो नहीं डाल रहे। इसी उलझन का नाम बन्धन है, और उसी प्रकार की सभी उलझनों से छूटने का नाम मुक्ति है। यदि आप उस समय इतने चौकस हैं, सचेत हैं, जागते रहने वाले हैं, कि कहीं गुत्थी या गुंजल पड़ने ही नहीं देते, क्यों मैं ऐसा काम करूँ, क्यों मैं ऐसा बोल बोलूँ, क्यों अगले के साथ ऐसा बर्ताव करूँ, जिससे अगला मेरे को मन में बसाये। यदि अगले के मन में बस कर बैठ गए तो आपकी नज़र उसके अन्दर बसी है। जब उसके अन्दर बसी है, तो आपको भी इसका पता है। जब आपको पता है तो जब आप ध्यान में बैठोगे, तो आपको पहले शंका पैदा होगी और ये नज़र बनेगी कि देखो! मैंने उसको ऐसा बोला था, उसने यूँ समझा होगा, कहीं मेरा बुरा

करने की सोचता होगा। बस! फिर ये जो हैं ध्यान को एक जगह लगने नहीं देते, तो हीरे को कैसे परखेंगे? अर्थात् हीरे के परखने के समान ही अपनी आत्मा को कैसे परखोगे? अब एक ही के साथ थोड़ा, ना जाने इतने लम्बे-चौड़े संसार में आपने अपने सुख की खातिर कितने मनुष्यों के साथ खोटा बर्ताव किया है और उनके सुख बिगाड़े हैं। जितने प्राणियों के सुख बिगाड़ोगे और जितनों के प्रति आप अन्याय करोगे उतनों की ही मन में बसी हुई आपके प्रति खोटी दृष्टि आपके ध्यान में भी आयेगी और कई प्रकार की शंकायें इत्यादि उत्पन्न करके आपकी शान्ति आदि को भी बिगाड़ेगी।

7. बस! वह आपको एकान्त में बैठने नहीं देगी। जिस समय आप ध्यान करने लगेंगे, बारीकी में मन लगाने लगेंगे, बार-बार वह याद आयेगा, बस याद आया नहीं कि ध्यान टूटा, तो ये ध्यान का पहला विघ्न है—दृष्टि। पर है ये उलझी हुई नज़र, इसके साथ कई शंकायें हैं। जिसकी नज़र बनती है तो शंका भी तो होनी है, कि "पता नहीं जी! वह क्या समझता होगा, वह क्या करने को तैयार होगा?" अब यह संशय है फिर इनके साथ कई तरह की इच्छायें है। "कैसे बचना चाहिए, कैसे अपने को ठीक रखना चाहिए" और यदि दूसरा है तो "उसका नुकसान कैसे करना" और फिर किसी पर क्रोध, किसी से नाज़ायज मिलने की हरकतें, तो ये जो हैं दृष्टि, संशय, इच्छा और क्रोध, चारों मनुष्य के मन में ऐसे घूम रहे हैं कि किसी समय भी उसके मन को चैन नहीं लेने देते। इससे निकलने के लिए सादे ढंग से रहना पड़ता है। जब ये चारों नहीं हैं तो फिर नींद, सुस्ती और आलस्य तो हैं ही।

8. ये ध्यान के पाँच विघ्न हैं, जो मनुष्य को आराम से बैठने नहीं देते। मनुष्य को अधिकार है (हक है) कि वह अपने ध्यान में बैठे क्योंकि जानवर तो बेचारे डरते हैं। इनके अन्दर इतनी

शक्ति नहीं है कि अकेले बैठ सकें, क्योंकि हर समय इनको अपनी रक्षा का डर लगा रहता है। छुपे रहते हैं, भागने को तैयार रहते हैं। परन्तु मनुष्य को ऐसा कुछ नहीं है। यदि वह ठीक (कायदे से) चलने वाला है, और अपने-आप को सम्भालने वाला है तो वह आराम से बैठ करके जगत् को भूल भी सकता है। जगत् को भूलने का मतलब (तात्पर्य) है कि एक जगह अपने मन को एकटक लगा देना, जैसे जौहरी हीरे को परखने में लगाता है। तो हीरा यहाँ कौन है, अपने अन्दर ही बैठा, चेतन, परमात्मा, भगवान् चाहे उसे आत्मा कहो। अब इसमें एकटक नज़र कैसे लगानी है? है ये देह में ही, देह में ही पहले नज़र (दृष्टि) खींचकर लानी है। अब उस समय यदि सुस्ती, आलस्य आये तो उसको हटाना है, और यदि दृष्टि (नज़रें), संशय, इच्छा, क्रोध आदि (वगैरह) आयें उनको भी हटाते जाना है। इस तरह हटाते-हटाते जागते रहना है। सुस्ती, आलस्य और नींद में पड़ना नहीं। यदि ऐसा है कि खाली बैठे हैं, आराम हो रहा है और मन में नींद का आनन्द लेने लग गए तो ध्यान गया, ध्यान से उचट करके दुनिया के विचारों में ही पड़ गए, तो भी ध्यान गया। जौहरी भी इन पाँचों को हटा करके ध्यान करता है। यदि किसी ने कोई अपना काम सोच-विचार कर करना है, तो बिना इन पाँचों को हटाये काम नहीं बनता। किसी चीज़ का भी निश्चय करना है या किसी चीज़ को भी ठीक तरह से समझना है, तो इन पाँचों को हटाना पड़ेगा। जब इन पाँचों को टाल करके एकटक आपको झाँकना आ गया तब तो आपको वहाँ की चीज़ें दिखने लग जायेंगी, पर यदि वह नज़र (दृष्टि) अभी नहीं खुलती, तो नज़र तो एक ही है। कभी दृष्टि मन को हरके ले गई, कभी संशय, कभी इच्छा तो कभी मन क्रोध में चला गया। यहाँ तो नज़र ही नहीं जगेगी। जिसको आपने पहचानना है, वह है तो देह में ही। कहने वाले

कहते हैं कि इस आत्मा पर पाँच खोल (कोष) चढ़े हुए हैं -

(i) आनन्दमय कोषः- एक तो आनन्द का कोष (खोल) है। कहीं सुख होता है, कहीं दुःख होता है, यदि उस दुःखी मन से परेशान हो गया तब भी आत्मा नहीं दिखेगा।

(ii) विज्ञानमय कोषः- संसार (दुनिया) की नाना प्रकार की बातों को समझने के लिए लग जाता है, वह भी विज्ञानमय कोष है। संसार की बातों का ही विचार करता रहा तो तब भी आत्मा नहीं दिखेगा।

(iii) मनोमय कोषः- फिर मन के चक्करों में कहीं काम, कहीं क्रोध, कहीं लोभ, कहीं मोह, कहीं संकल्प, कहीं इरादे, कहीं विकल्प, खोटा करने की बातें सोचना, इनमें पड़ गया तो ये मनोमय कोष है। तब भी आत्मा नहीं दिखाई देगा।

(iv) प्राणमय कोषः- अब इसके आगे साँस चल रहा है, कहीं ऊँचा हो गया, कहीं लम्बा हो गया, कहीं छोटा हो गया, इसमें भी मन उलझ गया, तो ध्यान गया।

(v) अन्नमय कोषः- यदि देह में ही है, कहीं हवा रड़क रही है, कहीं कुछ हो रहा है। इसके चक्कर में पड़ गया, तब भी आत्मा नज़र नहीं आयेगी।

9. अब ये देखो पाँच खोल इस आत्मा पर चढ़े हुए हैं। देह भी रास्ते में पड़ता है, प्राण भी पड़ता है, मन भी पड़ता है, बुद्धि भी पड़ती है, और सुख-दुःख जो हैं, ये भी पड़ते हैं, परन्तु इन पाँचो से परे हट करके, इन पाँचों को धीरे-धीरे भूलना पड़ेगा। इतना आपने ध्यान लगाना है कि, कोई बात नहीं, ये आते जा रहे हैं और मैं एक-एक को टालते जा रहा हूँ। हाँ भई! ये देह है, ये मिट्टी का बना है, इसमें तो पानी है, इसमें तो गर्मी है, ये हवा है, थोड़ा मन को जगाते गए, बोलते गए और इस तरह बोलते-बोलते ध्यान जो है संसार से टलता जायेगा। इस बोलने को शास्त्र वाले

'वितर्क' कहते हैं कि कुछ शब्द जगाते गये, विचार करते गये कि यह भई! देह है। इसी के बीच में एक ऐसी चीज़ है, जो बारीकी में बैठी हुई इस सारी देह की मशीन को चला रही है, साँस खींच रही है, देह के अन्दर खून का दौरा कर रही है; हृदय को धड़कन दे रही है, वह कौन सी बिजली है? और देखो! कोई मसाला नहीं,उसके बीच में और नींद के बीच में भी सारे काम हो रहे हैं। बस! ऐसे चिन्तन करते गए।

10. पुराने लोग कहते थे यदि ये चिन्तन का शब्द नहीं जागता, वितर्क भी नहीं जागता, तो कम-से-कम काई एक शब्द पकड़ लो, 'ॐ', 'राम', 'शिव', उसी शब्द के सहारे से मन को जगाओ। चुप बैठोगे, तो वही नींद का सुख लेने लग जाओगे, नींद का सुख नहीं लोगे तो दुनियावी बातों में मन उलझा रहेगा, अपने घर की, बाहर की, तेरी-मेरी में लगा रहेगा, तो उसको हटाने के लिए उस भगवान् को समझ लो कि वह परम पिता परमात्मा सिरे पर बैठा है, आनन्द रूप है, सबसे न्यारा है, और सब देहों की मशीन को चला रहा है, ये उसका नाम है, जो मैं ले रहा हूँ। अब इस रास्ते में देह जो कोई पड़े, तो विचार करे, ये तो देह है, ये तो मिट्टी है, पानी है, गर्मी है, हवा है, पोल है और फिर धीरे-धीरे चलते-चलते उसमें मन नज़र आने लगेगा, कहीं क्रोध आ गया, कहीं भय हो गया, कहीं शंका हो गई। ये तो मन है, अब ये एक तो रहता नहीं, कभी कुछ फुरा, कभी कुछ फुरा, चलो उसके फुरने को ही देखते-देखते समय बिताते गए। फिर मन सोचों में पड़ करके कोई निश्चय करने लग गया कि ये चीज़ यूँ है । निश्चय करते-करते फिर थोड़ी बुद्धि जाग गई। ये तो भई, दुनिया की वस्तुओं के बारे में विचार कर रहा है, निश्चय कर रहा है, कौन चीज़ कैसी है, ये वो नहीं है, वह इससे भी परे है। बैठे-बैठे दुःख होने लगा, तो मेरा मन दुःख में रम गया, वह तो दुःख से

भी परे है, फिर थोड़ा नींद, सुस्ती का आनन्द आने लगा, ये तो आलस, सुस्ती, नींद है, इससे भी वह परे है। वह तो कोई ऐसी ही बिजली होगी जो कि दूसरी है और इन सबसे परे है या इन सबमें भी है। इस तरीके से सोचते-सोचते बारीकी में जौहरी की तरह अपनी नज़र खोलनी पड़ेगी। फिर देह भी भूल गया, जैसे नींद में भूल जाता है, और आसपास की बातें भी भूल गया और साँस की भी खबर नहीं रही, और मन भी इधर-उधर के विषयों से हट करके अपने-आप में थोड़ा जागने लगा, सुख लेने लगा। अब सुख लेने लगा 'मैं' जाग गई, सुख में 'मैं' जागती है, उस सुख से भी परे हटना, "क्या मना,थोड़ा सुख हो गया", 'तू थोड़ा अच्छा बन गया', पर ये अच्छाई सदा बने रहने वाली नहीं है और ये सुख भी सदा बने रहने वाला नहीं है, जरा और देख, यह तो अभी हुआ है, पहले नहीं था, मशीन चलाने वाला तो पहले भी बैठा था,. इससे भी आगे कुछ और देख क्या है? इस तरीके से यदि बारीकी में जागते-जागते कुछ मन टिक गया तो फिर वह कोरा शुद्ध सच्चिदानन्द ज्ञाप रूप से अपना परिचय भी देगा। अब वह जो उसका परिचय है वह अपने ढंग का होगा, न वह शरीर है, न मन, न बुद्धि, न इन्द्रिय, न कोई प्राण, परन्तु तब भी ऐसा नहीं है कि नहीं है।

11. अब इससे आगे अपने-आप विचार चलेगा कि हाँ भई! मेरे में कोई काम कर रहा है, कीड़े में भी, पतंगे में भी, पशु-पक्षी में भी, सबमें तो करने वाला है, उसमें ऐसी शक्ति है। अन्त में करते-करते ऐसा होगा कि आकाश में भी वही हवा चला रहा है, देह में भी हवा चला रहा है। हवा के बिना देह में खून का दौरा नहीं होता। ये बाहर भी सारी हवा ज्ञान से चल रही है। अपने-आप अन्दाज़ा होने लगेगा कि ये सब वह अपनी स्मृति से, ज्ञान से कर रहा है। यदि उस मनुष्य को जो कि समझने के

लिए जाग रहा है, नींद ने ही दबाये रखा या संसार में ही मन बसा रहा फिर तो व्यक्ति (आदमी) का ध्यान जागता नहीं। इसलिए नींद से और संसार से थोड़ा फुर्सत पाओ। संसार से फुर्सत कैसे मिलेगी? यदि संसार से थोड़ी कामनाएँ कम हों, कामनाएँ कम हो जाऐंगी तो बाहर दूसरों के साथ गुत्थी नहीं पड़ेगी, उलझन नहीं होगी, उलझन नहीं पड़ेगी तो न आपकी नज़र दूसरे में बसे, न दूसरा आपकी नज़र में बसे। अकेले बैठे दूसरे की नजरें नहीं बनेंगी, तो सोचना किस चीज़ का? तो ये सारा जितना है जौहरी के समान जैसे मैंने दृष्टान्त दिया था कि, जैसे जौहरी जो है सब तरफ से मन हटा करके एक ही ओर (तरफ) झाँकता है। यदि बार-बार मन इधर-उधर होता रहे तो वह चीज़ तो पहचानने में आयेगी नहीं। इसी तरह से जब आपने अपनी आत्मा में ध्यान करना है तो अपनी अन्तरात्मा में कोरी नज़र उसमें खुलनी चाहिए। तो उसमें खुलने के लिए दूसरी चीज़ से हटती रहनी चाहिए। परन्तु ये जो बीच में आ रहे हैं पाँच कोष—देह है, प्राण है, मन है, बुद्धि है और सुख-दुःख हैं, थोड़ा इसको समझते रहे, हाँ आ रहे हैं, जा रहे हैं, मैं इनका बहता सिलसिला ही देखता रहूँ कि जैसे तरंगें हैं—पानी में उठ रही हैं, एक बैठ गई दूसरी खड़ी हो गई, दूसरी बैठ गई तीसरी खड़ी हो गई, बनी कोई सी रहती नहीं, इसलिए ज्ञान जो है पानी की तरह तरंगों में बहता रहता है। इसी प्रकार मन के अन्दर भी नाना प्रकार की तरंगें हैं। कभी कुछ पता लग रहा है, कभी कुछ पता लग रहा है। ये तो एक-एक तरंग है और ये सब दुनिया के सम्बन्ध वाली है, थोड़ा-सा 'मैं' और बारीकी में जा करके, कोरा ज्ञान अपने-आप में बसा रहे, जाग रहा हूँ, किसी तरफ मन नहीं जा रहा, फिर देखूँ तो सही इसका क्या अनुभव है? तो यह अनुभव करने के लिए यही है कि मनुष्य को थोड़ा-सा एकटक होकर झाँकने के लिए थोड़ा

उलझन से रहित होना पड़ता है। फुर्सत पाना पड़ता है, फुर्सत पाने के लिए अपनी कामनाएँ कम करनी पड़ेंगी। बचपन से ही ये बढ़ती जा रही हैं। इतनी बढ़ती जा रही हैं कि 24 घण्टे बिताने के लिए दूसरे का सहारा ही है, चाहे चीज़ों का है, चाहे संगी-साथी प्राणियों का है।

12. बस ये सारे काम हैं। काम माने इच्छायें, चलो जी! अब वहाँ चलेंगे, वहाँ उसके साथ बैठ करके समय बितायेंगे, गाना सुन लो, तमाशा देख लो, ताश खेल लो, हुक्का-बीड़ी तम्बाकू पी लो, बस यही है। अब यही उलझन यदि चौबीस घण्टे रहेगी तो जिस समय फुर्सत पायेंगे इन्ही के विचार फिर आयेंगे। इसलिए यदि इनसे अत्यन्त छुटकारा पाना है तो थोड़ा इनके साथ भी लड़ाई करनी पड़ेगी, इसकी तंगी भी सहन करनी पड़ेगी, थोड़ा छोड़ने की तंगी भी होती है। ये समय तो लम्बा लग ही जाता है। परन्तु और करना भी क्या है? जीवन भी काफी लम्बा है। इस सारे जीवन के बीच में धीरे-धीरे साधना इसी की करनी होती है कि भई! कोई भी कर्म करना, पूरा मन लगा करके करना। जहाँ मन लगा करके कोई काम करेंगे तो पहचानना कहाँ निकल गया, जिधर निकल गया, उसको वहाँ से हटा करके उसी एक कर्म में ही मन को लगाते जाओ। यदि कर्म में जोड़ने की आपको आदत पड़ गई, तो जिस समय अकेले आप बैठेंगे तो आत्मा में भी मन जोड़ने की आदत पड़ जाएगी। काम तो सब करने ही पड़ते हैं, किसी की बातें सुन रहे हैं, तो सुनने में ही मन को लगा दो, किसी को देख रहे हैं, झाँक रहे हैं, पुस्तक पढ़ रहे हैं, उसी में मन को लगा दो। जहाँ रस आता है वहाँ तो मन लग ही जाता है, परन्तु अन्दर का तो कुछ पता नहीं वह तो अभी सोया पड़ा है, अभी उसका रस तो दिखाई नहीं देता, तो बिना रस के इसमें मन जोडना पड़ता है, इसके लिए थोड़ी तपस्या है। यदि मन भटक

रहा है, इधर-उधर जा रहा है तो उसको इधर-उधर जाने न दे करके जबरदस्ती इसमें लगाना। जैसे बच्चे उपन्यास पढ़ते हैं, इसमें जासूसों की कहानी या और कोई आकर्षक कहानी है वह कहानी उनके मन में बड़ी अच्छी लगती है; उनका मन देखो कैसे लगा रहता है; कहीं ध्यान करने की विद्या नहीं सीखी, किन्तु वह वस्तु ही ऐसी मन को खींचने वाली है, इसलिए उनका मन इतना लगा रहता है कि यदि कोई पास में हल्ला-गुल्ला करे तो उनका मन चिढ़ जाता है कि "देखो जी! मेरे को पढ़ने नहीं देता और जो पढ़ा है, उसका भाव समझने नहीं देता।" इसी प्रकार यदि आप भी दो बातों में रस ले रहे हैं, कोई बीच में आ करके हल्ला करने लग जाये तो आपको भी बुरा लगता है।

13. यह मन तो रस व स्वाद से टिकता है परन्तु यहाँ आत्मा में तो ऐसा स्वाद अभी आया नहीं। यदि एक बार इसका स्वाद या सुख मिल गया तो फिर वह उसमें अपने-आप वैसे ही डट जायेगा। परन्तु जब तक इसका स्वाद नहीं आया, तब तक तो कर्त्तव्य समझ करके, जोर जबरदस्ती से लगाना पड़ता है। इन सब कर्मों में जितना भी है, जैसे दातुन, कुरला, नहाना-धोना, खाना-पीना, बातें करना, चलना-फिरना आदि, काम कोई दूसरा है और रस कोई दूसरे में है। जिसमें रस है, आनन्द है, सुख है उसमें निगाह (नज़र) टिकी हुई है। बाकी जितना चलने का रास्ता है, वह तो भूला-भूला ही चला जा रहा है। घर से चला, गर्मी के दिन थे, चार मील चलना है, एक घंटा रास्ते में लगेगा, तो उसका ध्यान यह है कि जहाँ जा करके पहुँचेगा, वहाँ पर ही आराम मिलना है, वहाँ ही मन खींचा पड़ा है। इसी तरह पक्षी है, रात को सो जायेगा, सूरज की किरण निकली नहीं, जहाँ दाना मिलना है, उसको वह दाना याद आयेगा। यह नहीं कि भगवान् सूर्यनारायण निकला है, मैं इसकी थोड़ी वन्दना कर लूँ,

कुछ उसकी ही पूजा कर लूँ। वह तृष्णा वाला मन जिधर इसका रस तथा सांसारिक सुख है, जो कि सदा रहना नहीं, उसी में गड़े-गड़े जीवन बीत जाता है। मन, बस! उन्हीं में गड़ रहा है, जहाँ इसका रस है। रस माने कामना का सुख, जो कि दुनिया की बाहर की वस्तुओं का तथा संसार के प्राणियों की संगत का है। अब यह जो रस है, यह तो जीते जी (जीवनकाल में ही) समाप्त हो जाना है; या किसी रोग ने भी समाप्त (खत्म) कर देना है। उस समय वह आदत का रस न होने से मनुष्य दुःखी ही होगा। मनुष्य रस तो चाहेगा ही और वह जो चाहना है वह किसी तरफ़ भी उसको लगने नहीं देगी। इसलिए बिना रस के बीच में भी मन को लगाना सीखो।

14. देह (शरीर) के लिए जो आप कर्म करते हैं, वह नित्य कर्म हैं। ये नित्य कर्म सब को करने पड़ते हैं जैसे बाहर जाना, दातुन, कुरला, नहाना, धोना आदि। परन्तु इन कर्मों के बीच में मन नहीं होता। ये तो आदत के हैं। मन कहाँ होता है? मन होता है कि कहीं चाय पीनी है, कहीं तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट में, कहीं अपने और काम धन्धे में मन होता है। उस समय यदि इन कर्मों के बीच में मन जोड़ कर आपने अपना कर्म करना सीख लिया, तो यहाँ ध्यान का पहला अभ्यास होगा। तो वह ध्यान का अभ्यास कैसे होगा? जो काम कर रहे हैं, ऐसा करते हुए बाकी काम तो भूला रहे, जैसे जिसके बीच में रस तथा आनन्द है, वह तो सिरे पर न रहे अर्थात् वह तो भूला रहे। जो कर्म कर रहे हैं, उसी के बीच में मन लगाते रहो। कर्म के बीच में मन लगाते हुए देखो कि कहाँ पर मन भाग गया; कहीं राग में, कहीं द्वेष में, कहीं भय आदि में। जिधर-जिधर यह मन जाता है, यदि आप इसको पहचानने लग गए, तो यह पहचानना ही मन को ध्यान करने की योग्यता देगा अर्थात् ध्यान की शक्ति देगा और ध्यान करने के

लिए लायक बना देगा। फिर यही मन, जैसे कर्मों में लगा रहे थे, अब इस देह (शरीर) में लगा देने पर देह के अन्दर मन बहता हुआ वह भी दीखने लगेगा। बुद्धि की पढ़ाई करेंगे। इस मन को निद्रा से भी हटा करके उसी आत्मा की तरफ़ लगा देंगे। घंटो लगे रहने पर वह सारे विश्व की शक्ति, जो इस देह को जीवन दे रही है, वह भी अपना परिचय देगी। वही हीरे की परख है। परन्तु जब तक मन को ध्यान में लगाना नहीं आया, तब तक वही छोटी-मोटी कामनायें ही उसे खींच कर बाहर की ओर ही ले जाती हैं। जैसे कि रात हो गई तो मन में यही भाव लदा रहता है कि अब तो सोने का समय हो गया है और वह सोना ही मन से नहीं उतरता। ऐसी अवस्था में अब सोना चाहे उसे दो घंटे बाद में है, परन्तु वह निद्रा की मिठास लेने के बारे में ही सोचता रहता है, कारण कि मन का रस तो सोने में है। इसलिए जब तक आप घंटा, डेढ़ घंटा ध्यान करना चाहोगे, वह आलस्य, सुस्ती वाला मन तो नींद का ध्यान करेगा, कारण कि उसको नींद याद है। उसको बैठ कर क्या-क्या करना है? कोई खबर (याद) नहीं। इसी तरह यदि सवेरे ध्यान लगायेंगे तो उसको जो दुनिया (बाहर संसार) में कर्म करना है, उसका ध्यान तो उसी में है, जहाँ रस आता है अर्थात् कहीं गाना सुनना है, कहीं और कुछ करना है। जो कुछ होगा, उसका मन तो वहीं होगा, क्योंकि ध्यान की आदत तो डाली नहीं। मन जो है, बचपन से ही अपने आदतों के सुख को छोड़ नहीं रहा। जिधर थोड़ा सुख होता है, उधर ही ढलता रहता है और जिधर दुःख होता है, उधर से भागता रहता है। आपने थोड़ा इसको दुःख के सामने भी चलाना है और थोड़ा सुख से भी हटाना है; क्योंकि जो संसार के सुख हैं; वे तो रहने नहीं और जो दुनिया में दुःख नज़र आता है, वह भी कोई बड़ा दुःख नहीं तथा कहीं जरूरत के कारण और बड़े सुख के कारण देखना भी

पड़ता है। ये ही सारे अन्दर के सत्य हैं, जो मन को इस तरह से ध्यान के योग्य बनाते हैं कि वह जिस जगह चाहे मन को लगा दे और जहाँ से चाहे मन हटा दे। यदि इस तरीके से मन लगाना आ गया, तो धीरे-धीरे यह मन जो है, अपनी आत्मा में भी लग जायेगा और लगा हुआ मन अपनी आत्मा और परमात्मा को, जो सब में एक रस है तथा एक व्यापक रूप है, उसको पहचान जायेगा। इसलिये यदि आत्मा का साक्षात्कार करना है तो जौहरी के समान ही अपनी निगाह को एकाग्र करके सब जगह से हटा करके एक ही जगह लगाने की ज़रूरत है। परन्तु जौहरी अपने मन को एकाग्र करता है, तो ऐसा करने के लिए, उसके मन में तो एक लालच है, कि इस हीरे को मैं अपने भाव से जैसा चाहूँगा, ले लूँगा। इसी तरह आत्मा भी अन्दर का एक हीरा है; इसको परखने पर सब प्रकार की मृत्यु का दुःख टलता है और बाहर के किसी भी निमित्त (शर्त)के बिना अपनी अन्तरात्मा का ही आनन्द मिलता है। बाहर के सुख तो सब बिछुड़ जाते हैं परन्तु यह आत्मा का सुख कभी बिछुड़ता नहीं। इसलिए है तो यह भी अपने लाभ की वस्तु; परन्तु इसका लाभ इतना अभी प्रकट रूप से नहीं है, जितना कि बाहर की वस्तुओं का है।

15. हमने सुन तो रखा है कि कोई एक परमात्मा है चाहे हमको अभी उसका पता नहीं परन्तु इतना ज़रूर है कि ऐसा एक तत्व है या एक आनन्दमय पदार्थ है, जिसको पा लेने के बाद मनुष्य कहेगा कि अब आगे और कोई पाने की वस्तु नहीं रही। जहाँ पर जन्म नहीं मरण नहीं और नाना प्रकार का कोई खेद, दुःख, व्याधि नहीं और इसको पाने के बाद ऐसा अनुभव होता है कि जो करना था सो कर लिया, कुछ करना भी बाकी नहीं रहा। तो चलो भई! उसकी खोज करें। यह जो आत्मा है, शुद्ध रूप है, ज्ञान रूप है तथा आनन्द रूप है। यह आत्मा चेतन रूप होने से

सब के अन्दर समान रूप से ही है, यह सादा ज्ञान है। यह बाहर जो एक-दूसरे का ज्ञान है, उलझा हुआ ज्ञान है। ये अलग-अलग हैं, भिन्न-भिन्न से अलग हैं, किन्तु इस चेतन में जो सबके अन्दर एक समान बसा हुआ है, इस देह की मशीन को चलाने वाला है, इसमें कोई अन्तर (फर्क) नहीं है। वह तो एक बिजली के समान है, हजारों बल्बों में जल रही है, पंखे चला रही है, कई किस्म की और मशीनें भी चला रही है। उनके रूप-रंग तो अलग-अलग हैं, जो अनन्त बल्ब जल रहे हैं, कोई छोटा है, किसी की ज्यादा लाइट है, परन्तु वह बिजली तो एक ही है। इसी तरह ज्ञान और ज्ञान के साथ क्रिया-शक्ति, यही वह कोरे भगवान् की है। इसको यदि अपने देह में पहचान लिया और वह ही यदि सब देहों में पहचानने में आ गया तो वह सादा कोरा पवित्र आनन्दरूप, दूसरों का कोई भिन्न(अलग) थोड़े ही है।

16. जब यही सब अपनी दृष्टि (नज़र) में बसा रहे, तो कौन किसी को देखे वैरी और कौन किसी को देखे मित्र, कोई दूसरी दृष्टि बनाने की ज़रूरत नहीं। ये जितनी दृष्टियाँ बनती हैं, ये एक चेतन की एक परमात्मा की दृष्टि न बनने के कारण से नाना दृष्टिएँ (नज़रें) बनती हैं। यह मेरा प्यारा, यह मेरा वैरी, ये ऐसा, यह वैसा, और वे वैसे-वैसे जो हैं, वे सबके लिए एक समान नहीं हैं। आपके लिए जो जैसा है वह आपकी ही दृष्टि (नज़र) में वह वैसा है, दूसरे की दृष्टि में वह और तरह का है। एक ने किसी के लिए मीठा बोला, वह मीठा बोलने वाला समझेगा। उसी ने किसी को कड़वा बोल दिया, वह कहेगा इस जैसा तो दुष्ट कोई नहीं। अब बताओ, एक ही मनुष्य को जितने समझने वाले हैं, वह उतने ही प्रकार का बन गया। तो ये जितना बाहर का ज्ञान है क्या मेरा, क्या तेरा, "तू-तू, मैं-मैं" यह दूसरे मनुष्यों के मन में यह सारा सत्व है। सत्व नाम वह है जिसे सत्वगुण

कहते हैं। थोड़ी देर के लिए सत्ता-सी (हस्ती-सी) आ जाती है, वह भी जैसा सुख-दुःख पाता है उसके अनुसार मन में कल्पना कर लेता है। असली चीज़ क्या है? बस जीने वाला एक है और जीवाने वाला एक है, जो सब देहों को समान रीति से चला रहा है, परन्तु इतना ज़रूर है कि उन्हीं में ये छुपा बैठा है, कहीं राग में, द्वेष में, मान-मोह में, और नाना प्रकार की सोचों के कारण सबमें एक नज़र में (दृष्टि में) नहीं आता। अब सबमें एक नज़र खोलनी है तो पहले इसको अपने अन्दर पवित्र रीति से देख लें, जब अपने अन्दर दिख गया तो जिस पवित्रता में और जिस आनन्द रूप में ये मेरे अन्दर दीखा है, दूसरे के अन्दर भी वह इसी तरह का बैठा है। वह किसी का वैरी भी नहीं और मित्र भी नहीं, यदि है तो सब का मित्र है, सब का दयामय रूप है, क्योंकि सबको जीवन देता है, संसार को चला रहा है और न जाने क्या-क्या आगे जा करके ज्ञान होंगे। जैसे कहते हैं, जब हवा नहीं चलती तो दीया आराम से जलता है। ये मन जो हवा के समान है, जब मन खड़ा हो गया और अन्दर किसी तरह (किस्म) की संस्कारों की राग-द्वेष, मान-मोह की किसी बन्धन की हवा नहीं, तो वह कोरी उसकी झलक तब मिलती है। जब उस झलक का वह आनन्द पहचान गया तो वह कहता है—मेरे अन्दर जो चीज़ है, कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जिसके अन्दर ये नहीं है। मेरे अन्दर है उसको आत्मा कह दिया, सबके अन्दर है यही सबका साँझा परमात्मा, तो अब परमात्मा ही सबके अन्दर देखे। मित्र,वैरी तो सुख-दुःख और राग-द्वेष दिखाते थे, जब राग़ नहीं, द्वेष नहीं और सुख-दुःख में सम हो गया तो उसको मुक्ति का रास्ता मिल गया।

17. इस आत्मा रूपी हीरे को परखने के लिए, ये मुर्दा मन चेतन करना पड़ता है। चेतन करने के यही रास्ते हैं कि सीखो,

समझो, दोषों से टलो, पापों से पीछे हटो, हटने का जो दुःख है उसको सहन करो, और पापों के सुख पर लात मार दो, बस! ये पाँच-सात मूल मन्त्र हैं, इनको यदि कोई जीवन में उतार ले। इसमें कोई बड़ी बात नहीं, किसी से कोई शिक्षा नहीं लेनी पड़ती, किसी स्कूल, कालेज, यूनीवर्सिटी में जाना नहीं पड़ता और किसी की दासता (गुलामी) नहीं है, और पैसे भी नहीं लगते, परन्तु अपने मन में जड़ पत्थर न रहे, ढीला न रहे, चलो जी जैसे दिन कट रहे हैं चलने दें, हाँ जी! सुख में दिन बीत रहे हैं बीतने दो, तो इस जीवन को प्रमाद कहते हैं, थोड़ा प्रमाद से बचे। छोटी-मोटी रास्ते में अड़चन हो रही है, इसलिए सत्य के रास्ते में चलने के लिए ग्लानि मान रहा है। संस्कृत में प्रमाद किसे कहते हैं? 'मदि' जो शब्द है इसमें मदि धातु का तात्पर्य है—थोड़ा हर्ष और ग्लानि। एक थोड़ी सी चीज़ में हर्ष हो रहा है हाँ जी! आनन्द से नौका चल रही है और जो बड़ा काम साधना है उसमें ग्लानि है, तो ये दो चीज़ों के साथ यह मद या माद होता है। ये बहुत करके होने लग जाये तो इसी को शास्त्र वाले प्रमाद (ढिलाई) कहते हैं, जो भले काम साधने में तो ढीला रहे परन्तु जो छोटी-मोटी चीज़ें हैं उन्हीं के पीछे पड़ा रहे। प्रकृति तो यही काम करती है कि जो स्वभाव पड़ा हुआ है, इसी के अनुसार वह मनुष्य में तनाव ला करके, क्रोध आदि भी ला करके, भय भी दिखा करके, दुःख भी दे करके, अपने ही रास्ते चलाती है अब ये भी एक बहुत बड़ा बन्धन है।

18. अन्त में इसमें थोड़ा-सा चेत करके, सीख करके, थोड़ा सुख को भी त्याग करके, दुःख भी सहन करके, एकाग्रचित से अपने को झाँकना आ जाये, मन कहीं नहीं जा रहा, तो वह लक्षण दीख ही जायेंगे जो कि शास्त्र में सुनते हैं। वह शुद्ध है, सच्चिदानन्द रूप है, ज्ञान रूप है और उसका आनन्द कहीं जाने वाला नहीं

और कोई उसमें दुःख नहीं, ये ही हीरे के समान इसके लक्षण हैं। जब ये एक-एक करके दीखने लग गये तो परख में आ गया। अब अपने-आप मन जो है बुद्धि द्वारा समझेगा कि बताओ जो मेरे में है वह कहाँ नहीं है, जो भी इसको देखना चाहे अपने-आप में देख ले। सब जगह यही आनन्दमय चेतन भगवान् है। यहाँ तक जिसकी पहुँच हो गई वह मनुष्य निर्भय हो जाता है। कोई पाप उसके मन में नहीं रहता, कोई पाप किया हुआ उसको फल देने वाला भी नहीं है और किसी प्रकार ये नहीं कि उसको मौत-डरावे। वह तो अपने-आप में कृतकृत्य हो जाता है, अर्थात् जो करना था सो कर लिया, ऐसा वह समझ वाला हो जाता है। यही सारे कहने का तात्पर्य है।

□□□

प्रवचन-6

दिनांक: 15.1.1987

1. कल आत्मा के ध्यान के बारे में चर्चा कर रहे थे कि किस प्रकार से बारीक व सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त हुआ मन एकाग्रता के साथ अपनी अन्तरात्मा का ध्यान करने की योग्यता प्राप्त कर सकता है। इस आदतों की शक्ति (प्रकृति) वाले मन को बाहर खींचने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध हैं, जो कि क्रमश: पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कान, त्वचा (चमड़ी), आँख, जिह्वा व नासिका (नाक) के विषय हैं। इन विषयों के सहारे ही लिपटा रहने वाला और काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान व अहंकार वाला मन, जब धीरे-धीरे अपने अन्दर सिमटता जायेगा तो वही मन एकाग्र होकर फिर अपनी आत्मा में टिकाव प्राप्त करेगा। जैसे जौहरी संसार की आवाज़ें, इच्छा, क्रोध, द्वेष व भय आदि के बारे में नहीं सोचता हुआ अपने मन को शान्त रीति से हीरे के परखने में ही लगा देता है, तभी एकाग्र मन से वह जौहरी हीरे की सत्यता या खोटेपन की पहचान करने मे समर्थ होता है। इसी प्रकार से इस बाहर बिखरे हुए मन को आपने अन्दर समेटना है; जो अपने तुच्छ सुख की प्राप्ति या दु:ख के डर के कारण कई प्रकार की शंकाएँ व भय लिये हुए बाहर ही कितनी जगह पर कुछ जानने के लिए लपकता रहता है कि इधर क्या है, उधर क्या है? यहाँ क्या करना है ताकि मेरा सुख न बिगड़ जाये व कोई दु:ख न आ पड़े। यही सब अविद्या व उसका परिवार है। इस ब्राहर बिखरे हुए मन को जब आप थोड़ा-सा समेटेंगे तो सिमटा हुआ मन अपनी अन्तरात्मा में इसी शरीर में एकत्रित (इकट्ठा) होगा व इसी को पहचानेगा कि इसी शरीर के बीच में मिट्टी, जल, गर्मी, हवा और आकाश सब तत्त्व विद्यमान हैं; प्राण भी चल रहे हैं और

इसी के बीच में मन फुदक रहा है। कभी इच्छा, कभी क्रोध आदि सब आते और निकलते रहते हैं और ये सब जल में तरंगों की तरह टिकते नहीं हैं। इनका प्रवाह (बहाव) हर समय जारी रहता है। यदि मन इनके प्रवाह (धार) में नहीं बह सका, क्रोध, इच्छा आदि तरंगों के साथ उसने मेल नहीं किया, तो फिर बुद्धि के निश्चयों व सुख-दुःख से भी परे उठ करके अन्दर शुद्ध ज्ञान रूप आत्मा (भगवान्) से अपना साक्षात्कार (प्रत्यक्ष अनुभव) करके तृप्ति प्राप्त कर सकेगा। यह ज्ञान-रूप चेतन भगवान् हर क्षण नया-नया झाँकता है; कभी ऊपर उठता है, कभी नीचे बैठता है; किन्तु समाप्त कभी नहीं होता। यह अनन्त है। जैसे वह एक के अन्दर है, ऐसे ही सब के अन्दर अपनी नई-नई झाँकियों वाला है।यह अनन्त शक्ति छोटे कीड़े से लेकर मनुष्य तक सब के अन्दर समान रूप से देहों (शरीरों) के काम चला रही है। अब इसका साक्षात्कार भी प्रेम सहित सर्वत्र (सब जगह) एक जैसा ही होगा। सब जगह एक जैसा होने से ही इसका नाम व्यापक तत्व परमात्मा है। परन्तु अपने अन्दर इसका अनन्त सुख अनुभव करने के लिए इस प्रकृति (आदतों की शक्ति) वाले मन को जो बहुत ज्यादा बाहर बिखरा हुआ है, उसे समेटना पड़ेगा।

2. यदि इस प्रकार इस आदतों की शक्ति वाले मन की योग्यता व कमाई उस व्यापक तत्व परमात्मा तक पहुँचने की नहीं हो सकी तो फिर वह मन बचपन से छोटे-मोटे सुख लेने की पड़ी हुई आदत में ही बहता रहेगा व इन सुखों के पीछे आने वाले दुःख पड़ने पर पछतायेगा। ऐसी अवस्था (हालत) में करने लायक ये पाँच उपाय बताए गए हैं-(1) श्रद्धा (2) वीर्य अर्थात् हिम्मत, (3) स्मृति मतलब होश, सावधानी (4) ध्यान, (एकाग्र अवस्था में चिन्तन)और (5) प्रज्ञा, यानी चिन्तन से छिपी हुई

वस्तु का होने वाला सत्य ज्ञान, जो वस्तु जैसी है उसकी वैसी ही

खबर पड़ जाना। जैसे जहाँ जिस प्राणी व पदार्थ की तरफ मेरा मन जा रहा है, उसका स्वभाव क्या है? यानी वह मन की लपक का ध्येय सुखकारी या दुःख में समाप्त होने वाला है, यह छानबीन करके असलियत को जानना। यह ठीक है कि किसी प्राणी व पदार्थ से मिलने वाला क्षणिक सुख बचपन में थोड़ा अच्छा लग गया था, जो कि सदा बना रहने वाला भी नहीं है। मन कभी उस अच्छा लगने के लालच से उधर ही खिंचा व लगा रहना चाहता है, परन्तु जिधर वह लगा रहना चाहता है, उसमें अन्त तक भला कभी नहीं है। यदि उसको विचार व ध्यान द्वारा यह ज्ञान हो जाये, तो समझो यह छिपे हुए सत्य का ज्ञान हुआ। प्रकृति तो मनुष्य को क्षणिक सुख दिखलाकर ही बाहर धकेलती है परन्तु अन्त में दुःख ही प्राप्त होता है। जब सत्य का ज्ञान हो गया तो इससे मन को अपना उचित रास्ता लेने की प्रेरणा मिलेगी। उचित रास्ता यही है कि मन अपने अन्दर सिमट कर आ जाये। इस तरह से बाहर बिखरा हुआ मन पीछे लौटेगा तो यह एक नये प्रकार का जीवन संसार में बनता जायेगा।

3. बच्चे ने नासमझी से ही छोटे-मोटे (थोड़े) सुख-दुःख के कारण इन्हीं के अनुसार अब तक चलना सीखा है और चलते-चलते वैसी ही उसकी आदत पड़ गई है। जो अब अपने अन्दर ग्रहण कर लिया उसी का नाम आदत है। जब कोई वस्तु बार-बार सेवन (ग्रहण) कर ली जाती है तो एक आदत रूप शक्ति बन जाती है। जब वह पूरी नहीं होती यानी आदत के अनुसार कोई कार्य नहीं होता तो वह आदत रूप शक्ति मन में खेद, तंगी, दुःख, विक्षेप (मन का इधर-उधर पटकना), अरति (मन का न लगना) आदि भावों को खड़ा कर देती है। फिर उधर ही खींच करके उसी रास्ते में डाल देती है। आपने इस आदतों की शक्ति को विफ़ल (शक्तिहीन) बनाना है, जिससे

कि आदतों की यह शक्ति अपना बल न रखती हुई मन को सत्य की तरफ़ जाने में बाधा (रुकावट) न डाल सके। अन्तिम पहुँचने का स्थान तो सबमें समरूप से रहने वाला शुद्ध ज्ञान रूप परमेश्वर ही है, जिसका अपने-आप में साक्षात्कार यही है कि उसके सुख की हर क्षण खबर पड़ते रहना।

4. अब गीता के अनुसार कहा जाता है कि वही ज्ञान रूप चेतन भगवान् अव्यक्त है, जो सबके अन्दर है, प्रकट नहीं हो रहा, छुपा हुआ है और एक है व्यक्त। उस अव्यक्त भगवान् तक पहुँचना अभी सब मनुष्यों के बस का नहीं है कारण कि इतना संयम (अपने-आप पर काबू) नहीं हुआ और संसार से अपने-आप को समेटना अभी मुश्किल पड़ रहा है। ऐसी अवस्था (हालात) में एक दूसरी उपासना है, जिसको व्यक्त भगवान् की उपसाना कहते हैं। व्यक्त शब्द का अर्थ है—प्रकट होना। जैसा मन होता है वैसा ही वह प्राणी के चेहरे से उसकी चेष्टाओं, देखने, सुनने, बोलने व हर एक बर्ताव में प्रकट होता है। यदि किसी के मन में क्रोध व किसी इच्छा के लिए उतावलापन है, तो उसके हाथ, पाँव भी काँपते हैं और वह बेचैन-सा मालूम पड़ता है। ऐसा कोई भी मनुष्य जानकर नहीं करता है। उसके अन्दर जो कुछ भगवान् बना बैठा है वह तो अव्यक्त (अन्धकार) रूप अविद्या की अवस्था में छुपा बैठा है। वह प्राणी तो समझता है कि मुझे कोई इस अवस्था में जानता ही नहीं है। किन्तु दूसरे जो हैं उनके अन्दर भी एक ऐसा यन्त्र (निश्चय करने वाला बुद्धि रूप यन्त्र)लगा हुआ है क्योंकि उनको भी अपने सुख-दुःख की बड़ी फिकर पड़ी रहती है । हर एक दूसरे की चेष्टा को पहचानने के लिए उसके अन्दर भी भगवान् उतना ही चेता हुआ (जागता हुआ) होता है, जितना कि दूसरों के अन्दर है। पशु-पक्षी में भी वही है। जैसे कोई कुत्ता यदि किसी की रोटी चुरा कर ले जाये और

घर का मालिक चाहे डंडे को छुपाकर ही उस कुत्ते के पीछे-पीछे आ रहा हो, तो भी वह कुत्ता उस मनुष्य की नज़र पड़ते ही यह समझता हुआ भाग लेगा कि यह आ गया मुझे मारने वाला। अब देखो! उस कुत्ते के अन्दर भी निश्चयात्मक बुद्धि है, जिसे गीता में व्यवसायात्मिक बुद्धि कहते हैं। क्या वस्तु कैसी है, प्रत्येक प्राणी को समझ में आती है। यह सब के अन्दर समझ करने वाला बैठा है कि यह मेरा हित करने वाला है या वैरी है? लेकिन वह समझ उसी तत्व की आती है, जो दूसरी तरफ से उसके देह से व्यक्त (प्रकट) होता है। प्रकट कौन होता है, वही जो अन्दर छुपा बैठा अव्यक्त भगवान् है। जैसे रोटी चुराने वाले कुत्ते को भी व्यक्त (प्रकट) हो गया अर्थात् मालूम पड़ गया कि वही जो भगवान् उस मनुष्य के अन्दर है अब डंडा मारने के लिए आ रहा है। उसको (कुत्ते को) वह मनुष्य कितना ही चूँ-चूँ करे (ऊपर से प्यार के शब्द भी बोलना चाहे), वह कुत्ता जल्दी उसके पास नहीं आयेगा, कारण कि उस समय कुत्ते का अन्दर वाला भगवान् उस मनुष्य को डंडा मारने वाला समझ रहा है। इसी प्रकार खरगोश आदि जानवर के अन्दर भी पहचानने वाली बुद्धि यन्त्र रूप से हर समय सचेत रहती है कि कौन किस लिए कैसा करने आ रहा है। वह दूर से ही जान लेता है कि मेरे हित के लिए या मेरा अहित करने के लिए वह मेरी तरफ आ रहा है। उसके अन्दर बैठा भगवान् ही सामने वाले के चेहरे के भाव व चाल-ढाल आदि देखकर उसको पहचान लेता है।

5. यह अव्यक्त भगवान् जो सब के अन्दर छुपा बैठा है, उसके चेहरे, चेष्टाओं व नाना प्रकार के आँख, कान द्वारा दर्शन से प्रकट (व्यक्त) हो रहा है। यह व्यक्त (प्रकट) नाम ही गीता या शास्त्रों में चेतन, समझ व ज्ञान कहा गया है और कोई दूसरी वस्तु (तत्त्व) उसके अन्दर नहीं है। यही जो चेतन है, व्यक्त

(प्रकट) होता हुआ सारी दुनिया को चलाने वाला है। अब मनुष्य चाहे अपने मन में तेरी-मेरी रखे बैठा रहे व 'मैं-मैं, तू-तू' में भूला रहे, जो कि व्यर्थ का अभिमान है। किन्तु यह व्यक्त भगवान् ही है, जो संसार में बाहर सारी लीला कर रहा है। वह क्षण-क्षण एक प्राणी के दूसरे के सम्मुख पड़ने पर जिस प्रकार का वह प्रकट होता है उसी प्रकार से वह देहों की मशीनों को चला जाता है। क्षण-क्षण में वह प्रकट होता है, फिर पता नहीं वह कहाँ छुप जाता है। इस व्यक्त भगवान् को अपनी नई-नई झाँकियों के साथ पहचानने पर मनुष्य सब प्रकार के राग-द्वेषों से पार हो जाता है। जो इस व्यक्त को ही सर्वत्र लीला करते हुए देखता है, वह 'मैं-तू, तेरी-मेरी' इत्यादि के चक्कर में नहीं पड़ता क्योंकि समय पर जो प्रकट हुआ है, उसमें मेरी-तेरी कुछ नहीं है और जो अपने क्षण पर ही व्यक्त (प्रकट) हुआ है उसमें 'मैं-तू', 'मेरी-तेरी' का कोई उत्तरदायित्व नहीं है। यदि यही सत्य है तो फिर करने-कराने वाला कौन है? वह एक ही है जो कि सारे संसार चक्र को चला रहा है। जो कोई भक्त इसी एक को ही दृष्टि में रखे तो उसके लिए 'तू-मैं' और 'मेरी-तेरी' क्या रह गयी? जब 'तेरी-मेरी' कुछ नहीं तो राग, द्वेष, मान, मोह आदि का जाल कहां रहेगा? जब इन सब राग-द्वेष आदि बन्धनों का जाल काम, क्रोध आदि विकारों सहित नहीं रहा, तो निर्मल हल्का मन उस शुद्ध ज्ञान रूप चेतन सब में सम एक रस ज्ञान रूप चैतन्य को आनन्द सहित अपने-आप में ही अनुभव करेगा व सब में भी इसी को पहचानेगा। यही आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार है। अब इस व्यक्त भगवान् की भक्ति यदि कोई ठीक ढंग से कर ले, तो उसका जीवन धर्म मार्ग पर चलने योग्य हो सकता है। यह भक्ति पहले अपने अन्दर ही करनी पड़ेगी।

6. मैं इस व्यक्त भगवान् को अपने अन्दर ऐसे विराजमान

करूँ कि यह दूसरे के अन्दर तो भले ही कैसा भी प्रकट हो परन्तु मेरे अन्दर से यह ऐसा प्रकट हो जो किसी का शत्रु, वैरी, खोटा करने वाला, सुख बिगाड़ने वाला, किसी को दुःख देने वाला, बदला लेने वाला और किसी शर्त पर भी किसी को भी नुकसान पहुँचाने वाला नहीं हो व अपने पर दुःख पड़ने पर सहन करने वाला हो। यदि आपके अन्दर ऐसा भगवान् धर्मरूप से बस गया तब कुछ सफलता मिलेगी। आपके अन्दर बसेगा तब, यदि उस धर्म को धारण करोगे तो। अब धारण करना थोड़ा कठिनता (दुःख) से होता है। क्योंकि बच्चा जो जन्मा है; उसको तो आदत उसी ढंग की पड़ी हुई है, जैसा जीवन बाहर परिवार,समाज, समुदाय या सम्प्रदाय का है। इस प्रकार का जीवन तो उसको जन्म से मिला हुआ है जिसमें राग, द्वेष, संशय, भय, मान, मोह आदि सारे हैं। उस संसार के जीवन के सहारे जो कुछ बनेगा, उन्हीं के ढंग का होगा। लेकिन धर्म के रास्ते पर सुख त्याग करके व दुःख सहन करते हुए नया जीवन धारण किया जाता है। दुःख सहन करने का नाम 'तप' है और सुख त्याग करने का नाम ही 'त्याग' है।

7. इस संसार में 'तू-मैं' तो करने वाला कोई नहीं है। करने-कराने वाला तो यह व्यक्त भगवान् ही है। जैसा आपके अन्दर से व्यक्त (प्रकट) बाहर होगा, वैसे ही दूसरे के अन्दर उसके प्रभाव होंगे। जैसे प्रभाव होंगे, उसके (दूसरे मनुष्य के) अन्दर से चेष्टाएँ, वाणी व व्यवहार भी वैसा ही उन प्रभावों के अनुसार आयेगा। दूसरे मनुष्य का सोचना व कुछ करने का ध्यान आदि भी वैसा ही होगा, जिस तरह का आपका कर्म है।

जब साधन करने वाले व्यक्ति ने अपनी आत्मा को उस आनन्द की अवस्था में प्रकट देख लिया, जिसमें किसी प्रकार का कोई विकार नहीं है या राग-द्वेष आदि कोई बन्धन नहीं है अर्थात् उसने

अपनी आत्मा को केवल आनन्दरूप, ज्ञानरूप तथा सत्-रूप में पा लिया। जिसको उसने अपने अन्दर पाया है, दूसरों के अन्दर भी वही है; परन्तु अभी ढका हुआ है। इसलिए दूसरों को भिन्न-भिन्न प्रकार से नज़र आता है; क्योंकि उनके अन्दर अभी उन दोषों और बन्धनों की समाप्ति नहीं हुई है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके अन्दर शुद्ध आत्मा नहीं है या एक-दूसरे से भिन्न है अर्थात् सत्-चित्-आनन्द रूप से विद्यमान नहीं है। यह वार्ता (बात) न्यारी (अलग) है कि यह सत्य स्वरूप आत्मा उन राग-द्वेष आदि बन्धनों से ढका होने के कारण साधारण जन में अभी आनन्द रूप से प्रकट नहीं हुआ है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनमें वह आत्मा है ही नहीं, जो कि सबमें है। आत्मज्ञानी अपने-आप में तो यूँ समझता है कि मैंने अपने सब बन्धन उड़ा दिये इसलिए यह छिपा हुआ आत्मा मेरे लिए तो अपने शुद्ध रूप में प्रकट हो गया। परन्तु दूसरों (जन साधारण) के लिए तो अभी छुपा हुआ बैठा है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि छुपा हुआ बैठा है, तो है ही नहीं। है तो यह सब में वैसे ही सच्चिदानन्द रूप से, जैसे मेरे अन्दर है और मैंने देखा है; परन्तु राग-द्वेष आदि बन्धनों के कारण सुख-दुःख आदि के निमित्त अपने-अपने स्वार्थों के द्वारा मित्र, वैरी आदि कई कल्पित (मिथ्या) रूपों में दीखता है; शुद्ध रूप में नहीं दीखता। अस्तु! दूसरों के अन्दर चाहे कैसे भी रूप में दीख रहा है, किन्तु जिन रूपों में भी दीख रहा है, वे सारे रूप मिथ्या ही हैं; सच्चा रूप तो सत्-चित्-आनन्द रूप ही है जो मेरे अन्दर प्रकट (भास) रहा है। अब मैं उन मिथ्या स्वरूपों से क्या लूँ; वे तो मिथ्या कल्पनाओं के हैं? मुझे तो सब में भी अपनी वही सच्ची दृष्टि रखनी है, जो कि अपने-आप में आत्मरूप से पाई है। इसलिए दूसरों के इन कल्पित रूपों को न देखता हुआ अपने सही और शुद्ध सच्चिदानन्द

स्वरूप को भी सब में प्रकट देख रहा हूँ। जब मेरे में यह अन्तर-आत्मा ऐसा है, तो दूसरों में विपरीत कैसे होगा? यह बात अलग है कि दूसरों (जनसाधारण) की अभी वैसी दृष्टि नहीं जागी है इसलिए उनको इस आत्मा का सही स्वरूप नज़र नहीं आता। मैंने अपनी दृष्टि शुद्ध कर ली है इसलिए मेरे को साफ़ दिखाई दे रहा है, जो कि इसका सही स्वरूप है। मैं दूसरों की मलिन दृष्टि को क्यों देखूँ? मैं तो उनके अन्दर भी अपने अन्दर देखा हुआ आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही देखूँ। इस प्रकार से उसने अपनी आत्मा को बढ़ावा देकर सब में ब्रह्मरूप से देख लिया। जिस प्रकार एक ही जल कई एक प्रकार के पात्रों में पड़ा हुआ होने से जन साधारण द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखा जाता है अर्थात् कई एक नज़रों से देखा जाता है। जैसे कोई कहता है कि मेरा जल साफ़ है; दूसरों का मैला है। परन्तु पात्र आदि का भेद होने के कारण से यह जल कई प्रकार का दृष्टि (नज़र) में आता है। यदि केवल जल मात्र को ही दृष्टि में रखें, भिन्न-भिन्न पात्रों पर ध्यान न दें; तो कोई भी कह सकता है कि जल ही जल है, चाहे थोड़ा है, मैला है या साफ़ है। क्या-क्या उसके भेद नज़र आ रहे हैं? परन्तु जिसकी दृष्टि जल मात्र को ही देखने वाली है, उसको तो जल ही जल दिखाई दे रहा है। जलमात्र पर दृष्टि रखने वाले को तो नदी, तालाब, समुद्र, गड्ढा या कोई छोटे-मोटे पात्र नाम-रूप आदि भेद से ध्यान में नहीं आते; उसे केवल जल ही जल नज़र आता है। इसी प्रकार जिसकी शुद्ध सच्चिदानन्द रूप आत्मा पर दृष्टि है, उसको मित्र, वैरी, कामी, क्रोधी आदि कोई भी नज़र नहीं आता। उसको तो सब में सच्चिदानन्द आत्मा ही दृष्टि (नज़र) में आता है। इसी आत्मा को सब में बैठाना है और उसी की दृष्टि रख करके सब बन्धनों से मुक्त होकर अपनी आत्मा का आनन्द अनुभव करना है।

8. इस सत्य का आपको स्वयं साक्षात्कार अन्दर करना होगा क्योंकि आपकी बुद्धि अभी चेती नहीं है तो इसलिए आपको यत्न इतना करना चाहिए कि अपनी बुद्धि को इस सत्य को पहचानने के लिए इतनी बारीकी तक ले जायें जहाँ यह प्रकट रूप से भगवान् का अधिनियम (कायदा) दिखाई दे; जिसको हम विधि कहते हैं। उसका विधान, जिसका नाम ब्रह्म है, जो अपने उसूलों (नियमों) के साथ कैसे इस जगत् को चला रहा है। हम तो परिवार, समाज या समुदाय के प्राणी अपनी 'तू-तू, मैं-मैं' में भूले हुए बैठे हैं। परन्तु हमारे अन्दर कार्य करने वाला उसी का विधान (कायदा) है। अब उसके व्यापक कायदे (विधान) को पहचान करके उसके बन्धन से आप यदि निकल गए तो इसका नाम मुक्ति है। यदि उसमें बंधे रहे तो वह (ब्रह्म का विधान) तो हमको सोये-सोये चला ही रहा है। अब वह सोये-सोये (अविद्या द्वारा भूल में पड़े हुए) जैसा चलायेगा, हम वैसे चलते रहेंगे और उत्तरदायी (जिम्मेवार) व दोषी एक-दूसरे को शरीर रूप से पहचानते हुए मानते रहेंगे। परन्तु मूल उत्तरदायी (जिम्मेवार) तो वह अपनी कमज़ोरी ही है कि थोड़ा सुख हम से त्यागा नहीं जाता और थोड़ा दुःख हमसे सहा नहीं जाता। जो कुछ हम को सुख-दुःख होता है; वह हमारे अन्दर से अपने ही ढंग से भगवान् व्यक्त (प्रकट) हो करके रचता है और दूसरे देहों के यन्त्रों को भी अपने ही ढंग से चलाता है और हमने अपने कर्मों का प्रतिफल (नतीजा) रूप से देखना है। सुख-दुःख का दाता दूसरा कोई नहीं,अपना अन्दर बैठा हुआ भगवान् ही है। वह जैसा बाहर प्रकट होता है, दूसरा सामने वाला मनुष्य उस प्रकट होने वाले व्यक्त भगवान् के अनुसार ही प्रभाव पैदा करेगा। वह स्वयं करने वाला कुछ नहीं, हम उत्तरदायी (जिम्मेवार) दूसरे देहधारी को ही ठहरायेंगे, परन्तु वह देहधारी बेचारा स्वयं अपने-आप में असमर्थ

है, किन्तु व्यक्त भगवान् का एक यन्त्र ही है जो नासमझी (अविद्या) के चक्कर में पड़ा है। इसलिए वह व्यक्त भगवान् में आराम लेने की सोचे व इस व्यक्त की ही भक्ति करे कि मेरे अन्दर से यह भगवान् ऐसे प्रकट हो कि कम-से-कम मैं जिस तरह का व्यवहार करूँ दूसरों से मेरे लिये खोटा तो न आये। यदि अपनी इच्छा पूरी न होने से घबराहट में आकर आपने दूसरे का बुरा करने की सोच भी मन में बसा ली तो वह आदमी (दूसरा मनुष्य) भी आपके लिए शान्ति से कुछ अच्छा करने की सोच भी नहीं सकता चाहे स्वयं का पिता, पुत्र, बन्धु (भाई), रिश्तेदार, या मित्र कोई भी हो।

सबको सब से पहले अपना सुख प्यारा है; क्योंकि आत्मा (अपना-आपा) सब को प्यारा है। अपना-आपा वही है, जो कि सुखी हुआ। यदि सुखी नहीं है, तो सुख लेने के लिए या दुःख को हटाने के लिए अपना-आपा है। इसलिए अपना-आपा सब से ज्यादा (बड़ा) मित्र है। यदि अपना सुख मिलता है अर्थात् अपना-आपा सुखी है तो भाई-बन्धु सब अच्छे लगते हैं वरना उसके लिए कोई नहीं है।

9. सब में एक चेतन है। अपने कायदों (नियमों) से सब के ऊपर वह चेतन अपना प्रकाश प्रकट करता है और अपने ढंग से व्यक्त होता है। परन्तु वहाँ सामने वाले से व्यक्त (प्रकट) इस तरह होता है कि जैसे मैं उसके सामने पड़ता हूँ तो मेरे अन्दर पहले बैठ करके उस दूसरे मनुष्य की मशीन को प्रभावित करता है और उसको चलाता है। उसके प्रभावों द्वारा जो मेरे अन्दर बैठे चेतन के ही रूप हैं, मेरे सामने उनको प्रकट करता है। तो मैं अपने-आप को ऐसा रख लूँ कि किसी प्रकार का खोटा दूसरी तरफ से न आये। कोई मनुष्य संसार को पहले ठीक बना करके

आप ठीक नहीं हो सकता। यदि आप ठीक बन गए तो समझो,

आपके लिए सारा संसार ठीक बन गया क्योंकि संसार अपने-आप में कुछ नहीं है। संसार तो भगवान् के एक नियम अधिनियम व उसूलों के अनुसार चल रहा है। किस तरह वह अव्यक्त भगवान् अन्दर बैठा हुआ अपनी चेष्टाओं, दर्शन, वाणी व भावों द्वारा व्यक्त (प्रकट) हो करके दूसरों के अन्दर न चाहते हुए भी ऐसे प्रभाव उत्पन्न कर जाता है कि जिससे उसको विवश हो करके वैसे ही करना पड़ता है।

10. जैसे कोई कहता है कि मैं अपने पिता जी के सामने बोलना तो नहीं चाहता था लेकिन क्या करूँ? कुछ ऐसा ही मन बन गया कि मेरे से अपशब्द बोलने के बगैर रहा ही नहीं गया। वह अपने को ऐसा बुरा बोलने वाला कह रहा है, लेकिन वास्तव में वह ऐसा नहीं है; कारण कि उस भगवान् का एक अधिनियम था कि पिता के अन्दर भी वह व्यक्त भगवान् अहंकार व मान को ज्यादा लिये हुए बैठा था। उस पिता को यह नहीं पता था कि उस बच्चे के अन्दर भी जैसी विद्युत् (बिजली) मेरे अन्दर अहंकार, मान रूप से प्रकट होकर काम कर रही है, उसी के अनुसार बच्चे के अन्दर भी प्रकट होकर वैसे ही ढंग की कोई विद्युत् बच्चे से चक्कर चलवायेगी। कारण कि बच्चे को भी अपना सुख प्यारा है यानी अपनी आत्मा (अपना-आपा) प्यारी है। यदि पिता के अन्दर मान-अहंकार की जगह कोमल, मीठे व दया के भाव होते, तो बच्चा कभी भी ऐसे अपशब्द नहीं बोल सकता था। इस पिता के प्रकट भावों ने ही उसको (बच्चे को) कुछ बुरा-भला कहने के लिए बाध्य (मजबूर) कर दिया। यह जानबूझ कर कोई नहीं करता। इसी प्रकार पिता भी कहता है कि बच्चा तो बेचारा बच्चा ही था, लेकिन उस समय मेरा मन भड़क गया व बच्चे को थप्पड़ मार ही बैठा। अब पछता रहा है कि बच्चा घर से भाग गया है। इस प्रकार बच्चे के कुछ ऐसे-वैसे व्यक्त (प्रकट) व्यवहार ने

पिता के अन्दर भी एक ऐसी बिजली पैदा कर दी कि वह थप्पड़ मारने पर बाध्य (लाचार) हो गया। यह सब इसलिए होता है कि जो एक समय का प्रभाव है, उसके अनुसार ऐसी चेष्टाएँ हो जाती हैं जिनका नाम कर्म है

11. इसका मतलब यही है कि समय-समय पर जैसा व्यक्त भगवान् सब के अन्दर बैठा हुआ एक-दूसरे के सामने पड़ने पर व्यक्त (प्रकट) होता है, वही कुछ कर्म करवा जाता है। वही कर्म बाहर एक प्रकार का रिकॉर्ड (लेखा) बन गया जिसको हम विधाता का लेख कहते हैं। यही सब उसकी लीला है। अब न जाने वह बाहर बना हुआ कर्म-चक्र दूसरों को कैसे प्रभावित करता है? अब उन व्यक्त भगवान् के प्रभावों के अनुसार ही आपके सुख-दुःख होंगे। ऐसी अवस्था (हालत) में यदि कोई मनुष्य दूसरों के अन्दर से व्यक्त (प्रकट) होते हुए व अपने अन्दर उस भगवान् के प्रकाश को, जो एक-दूसरे के सामने पड़ने पर पैदा होता है, पहचान गया और उसके अनुसार अपने से कोई बुरा कर्म होने जा रहा है, उसको मन के अन्दर रोक कर टाल गया, तो समझो! आपने उस व्यक्त भगवान् की भक्ति आरम्भ कर दी। कारण कि आपको उसके अन्दर से व्यक्त भगवान् ज्ञान रूप से व्यक्त (प्रकट) होता हुआ ही दिखाई दे रहा है और कोई दूसरा करने-कराने वाला नहीं दीखता। अब यदि यह भगवान् हर समय आपकी समझ के अन्दर बैठा रहे व आप बाहर कोई भी पाप कर्म नहीं करते तो समझो आपकी उस व्यक्त भगवान् की भक्ति अच्छी हो गई। इस भक्ति से आपका जीवन भी ठीक चलेगा और कोई उलझन वगैरह भी नहीं आयेगी।

इस व्यक्त भगवान् की भक्ति का अभ्यास अपने अन्दर ध्यान उपजा कर किया जा सकता है। लेकिन जब तक ध्यान का ज्ञान नहीं है, तो श्रद्धा से ही गुरु करके आप इस भक्ति के मार्ग

पर चलें। क्रोध (गुस्से) को दबाएँ। अपनी कामना (इच्छा) की भक्ति ज्यादा न करें। लोभ ज्यादा नहीं करें, अपने से निकलते हुए खोटे वचनों को रोकें। चोरी, दुराचार व हिंसा वगैरह सब बंद कर दें। ये सारे जितने हैं; श्रद्धा के कर्म हैं, जो पहले-पहले सुन करके चलने के होते हैं। परन्तु ज्यूँ-ज्यूँ आप धीरे-धीरे जानते जायेंगे, उस समय व्यक्त भगवान् की लीला दीखने लग जायेगी।

12. जैसे कोई एक कर्मचारी अपनी आप बीती सुना रहा था कि उसे एक दिन दफ्तर जाने से पहले घर में चाय नहीं मिली, तो भड़के हुए मन से अफ़सर के सामने कुछ ठीक भाषा में नहीं बोल पाया। वह अफ़सर नाराज़ हो गया। कारण कि वह कहने वाला घर से लड़ कर गया था व लड़ाई की वजह से चाय नहीं पी सका, तो जो चाय की खुशी में मन बोलने वाला था, वह शिष्टाचार व नियमबद्ध आवाज़ अफ़सर के सामने नहीं निकाल सका। उस समय उसका व्यक्त भगवान् भड़की हुई दशा में उसके चेहरे पर व्यक्त हो रहा था। उस अफ़सर ने सोचा कि इसका मस्तिष्क (दिमाग) ठीक नहीं है और उसको दो-चार बातें कह कर धमका दिया। वह वार्ता बताने वाला कहता है कि दफ्तर में उसे अपने अफ़सर की बातें सुननी पड़ीं और उस अफ़सर ने बिना किसी कारण व उसकी गलती के उसे ऐसा-वैसा बोल दिया। उस समय जैसा कुछ किसी के बर्ताव से प्रकट हो रहा था, वह दूसरे पर इस प्रकार प्रभाव कर रहा था कि वह दूसरा वैरी जैसा बने। इसी को ही बार-बार दर्शाया गया है कि किसी एक विशेष प्रकार से प्रकट हुआ-हुआ दूसरे व्यक्ति के अन्दर ज्ञान रूप से बैठकर उसको अपने विशेष प्रकार से चलाता है। यही व्यक्त भगवान् की लीला बार-बार कही गई है। वे दोनों ही वास्तविकता (असलियत) को नहीं समझ रहे हैं कि दोनों के अन्दर करने-कराने वाला एक-दूसरे के सामने पड़ने पर उनका व्यक्त भगवान् ही

था। जो जैसा व्यक्त (प्रकट) हुआ, वैसी ही क्रिया करवा गया। कहने वाले के अन्दर चाय न मिलने से भड़काव के रूप में भगवान् व्यक्त (प्रकट) हो रहा था और अफ़सर के अन्दर अपने नीचे वाले कर्मचारी की डाँट-डपट के लिए मान, अहंकार रूप में भगवान् व्यक्त हो रहा था। वहाँ पर भगवान् का अधिनियम ही काम कर रहा था। ऐसी अवस्था (हालत) में वह कहने वाला यदि स्मृतिवान् होता, तो सोचता कि आज चाय न मिलने से मन भड़का हुआ है तो मैं सम्भल कर रहूँ। कहीं मेरे से ऐसा भगवान् बाहर व्यक्त (प्रकट) न हो जाये, जो मेरा खोटा करने वाला बन जाये। यदि वह अपने-आप उस विकारयुक्त अवस्था को समझ लिया होता तो रास्ता चलते-चलते अपने मन को ठीक कर लेता। यदि वह भड़के हुए मन की हालत को पहचानने वाला होता, तो वह अफ़सर के सामने कुछ ऐसा-वैसा बोलने की हिम्मत भी न कर पाता और उसको ध्यान से आगे होने वाले अनिष्ट (बुराई) का ज्ञान भी देकर बचा जाता। यही स्मृति, वीर्य व ध्यान का फल होता जो इस कर्मचारी के साथ नहीं बन पाया। कारण कि भड़के हुए मन ने उसकी स्मृति (होश) को जागने ही नहीं दिया और वह बाहर बर्ताव ठीक नहीं कर सका। यह सब घटना घट गई। यह सब जितना है, अज्ञान व अविद्या है। जब अपनी आत्मा (अपना-आपा) की खबर नहीं, तो दूसरे के अन्दर बैठे भगवान् (परमात्मा)की भी कैसे जानकारी होगी?

13. जब चाय समय पर नहीं मिली, तो यह बन्धन ही है। वह चाय पीने की आदत पूरी नहीं हुई, तो उसको खुशी नहीं मिली और मन नाराज़ हो गया। नाराज़ मन क्रोध व चिढ़ में भड़का हुआ था। ऐसी अवस्था में उसकी वाणी ठीक कैसे निकलती? जब वाणी ठीक नहीं निकली, तो उसने बाहर वैसा ही प्रभाव करता था, जैसा कि ऊपर लिखित घटना में उस कर्मचारी के

साथ घटित हुआ। अतः (इसलिए) प्रकृति (आदतों की शक्ति) से भड़के हुए मन की दशा में कोई बुरा कार्य नहीं करना चाहिए व अपने को बाहर समझ के साथ ऐसा व्यक्त (प्रकट) करे कि दूसरे से कोई खोटा बर्ताव (व्यवहार) न मिले। जब इधर से व्यक्त भगवान् शान्त, निर्मल, दोषरहित व स्वार्थरहित प्रकट होगा, तो उधर से भी इस व्यक्त भगवान् के अनुसार वैसा ही शुद्ध व्यक्त भगवान् प्रकट होगा जो कभी किसी का खोटा करने वाला नहीं होगा। अब इस प्रकार आपने हर समय व्यक्त भगवान् की अपने अन्दर भक्ति करनी है।

14. बाहर व्यक्त हुआ-हुआ भगवान् ही चक्कर चला जाता है। बाहर सब भगवान् का ही चक्कर है, जो उसकी माया चला रही है। होश रखना व नम्र शब्द ही सब को बोलने की आदत डालना। यदि समय पर सोधी, होश या सावधानी रह गई तो इसी का नाम ही स्मृति है। फिर मन की हाजिरी में, जो काम जैसा ठीक होना चाहिए, वैसे ही कर गए तो उसका नाम वीर्य (हिम्मत) है। यदि यह स्मृति (होश) व वीर्य (हिम्मत) दोनों बने रहें, तो समझो बढ़िया किस्म की यह भक्ति है। जो भी कार्य करें, तो होश रखके करने की आदत डालें। जैसे कि दातुन, कुरला, नहाना, धोना, खाना व बोलना आदि सब नित्य निमित्त कार्य यदि स्मृति से करेंगे तो उस समय मन कहाँ भटकता है व क्या प्रभाव दूसरों में डालेगा, यह सब अपनी समझ में आने का आपको अवसर (मौका) मिलेगा। अपने-आप को परखने के लिए मन को उधर लगायें अर्थात् अपने मन की पढ़ाई करते रहना और उसकी खबर रखना।

आत्मा के अध्ययन (स्वाध्याय) बिना अन्दर के सत्यों की खबर कैसे पड़ेगी? जब खबर नहीं पड़ेगी तो न जाने वे छुपे-छुपे सत्य किस प्रकार आपको सतायेंगे। इसलिए वे छुपे-छुपे हुए

सत्य एकजुट हो करके बाहर अपना चक्कर चलाते हैं। यह सब आपको प्रत्यक्ष अपने ज्ञान द्वारा देखना है।

15. इस सबको चलाने वाली माया शक्ति सहित व्यक्त भगवान् की क्षण-क्षण चलती हुई लीला देखने का रास्ता यही है कि अपना जीवन ही ऐसा बन जाये कि होश सम्भाल करके सारे देह, परिवार व समाज के कर्म करें। जब इस तरह होश (स्मृति)रूपी दुर्गा भगवती टिकी रहेगी तो आपको हर समय मन की खबर लगती रहेगी।

16. जैसे चाय, बीड़ी आदि की इच्छा पूरी न होने से मन खुश (प्रसन्न) नहीं है, नाराज़-सा भी है व घर वालों के साथ तंगी-सी मान रहा है तो मन से कहना कि "परिवार में तो क्रोध, चिढ़ थोड़ी सीमा (हद) तक सहन हो भी जाती है लेकिन बाहर संसार में इस क्रोध को कोई सहन नहीं करेगा।" इसलिए इस चिढ़े हुए मन से बाहर कोई ऐसा कर्म, मन व वाणी से न हो जाये कि वह भगवान्, जिसे चक्रधारी भी कहते हैं, कहीं ऐसा चक्र चला जाये कि फिर कहीं और ज्यादा दुःख न हो जाये। चाय आदि न मिलने से तो केवल मन के अन्दर ही तंगी व क्लेश है लेकिन उस तंगी में अपने अन्दर से ऐसा भगवान् व्यक्त न हो कि बाहर और ज्यादा उलझन व दुःख खड़ा हो जाये। इसलिए होश टिका करके जैसी वाणी बोलना चाहिए, यदि वह समय पर बोल गया तो वह वीर्यवान् (हिम्मत वाला) मनुष्य अपना भला साध लेगा।

17. मन तो सुख के राग में बंधा रहता है, चाहे इच्छा पूरी हो या नहीं हो और वह सुख चाहे दो कौड़ी का है व सदा बना रहने वाला भी नहीं है। कोई बीमारी हो गई या बुढ़ापा आ गया, तब भी वह सुख छूटना है। परन्तु इतना विवेक ज्ञान अपने मन में अभी जमा नहीं है और उस ज्ञान के अनुसार हमने अपनी ऐसी

स्थिति भी नहीं बनाई है। इस प्रकार समझ करके इस जीवन को ऐसे ढाल लेना चाहिए कि दुनिया (संसार) में किसी भी प्राणी व पदार्थ के साथ अपने सुख के लिए हम बंधे नहीं रहें। जब सारी वस्तुओं के बन्धन से मुक्त होने के लिए अपनी आत्मा के (आध्यात्मिक) जीवन में चलने लग गए तब छूटता कुछ भी नहीं है। जितनी देह की ज़रूरतें हैं वे तो पूरी होती ही रहेंगी।

18. खाना तो मनुष्य खाएगा ही, परन्तु खाना खाने में भी दो प्रकार से भगवान् व्यक्त होता है। एक तो मनुष्य को बचपन से ही ऐसे विश्वास हो गया है कि खाना (भोजन) ऐसा-ऐसा हो अर्थात् रुचि के अनुसार हो। यह-यह वस्तुएँ भोजन में मिलनी चाहिए तब बढ़िया होता है और ऐसा-ऐसा भोजन नहीं है, तो समझो कुछ भी भोजन नहीं है। अब यदि उसको अपने विश्वास के अनुसार (मुताबिक) खाना मिल गया, तो मन बड़ा खुशी-खुशी से खायेगा और खुशी में बहुत उछलेगा। यहाँ भी खुशी से बंधा हुआ मन बन्धन में रहेगा। यदि बढ़िया भोजन नहीं मिला, तो खाते-खाते दुःखी व निराश होगा और अच्छे भोजन के मोह में उसकी मानसिक अवस्था अच्छी नहीं होगी व आधे मन से खाना खाएगा। यहाँ अच्छा भोजन न मिलने के दुःख के बन्धन में बंधा है। ये दोनो ही स्मृति (सुरत) को भटकाने वाले हैं। यह तो सादा प्रकृति का ढंग है, जो कि बच्चा पहले से अपने-आप में धारण करके बैठा हुआ है इसमें कोई निन्दा दोष की बात नहीं है। यह तो जन्म से हमको मिलता ही है। अब जीवन तो हमें आगे बिताना है। कोई दीक्षित (धर्म के मार्ग पर चलने के लिए तैयार) होकर सत्य की तरफ चलना चाहेगा, तो थोड़ा-सा श्रद्धा से इस धर्म के रास्ते को अपनायेगा। वह क्या करेगा कि खाते समय खाने में ही ध्यान रखेगा, भोजन के बढ़िया या घटिया होने को नहीं देखेगा। उस धर्म के रास्ते पर चलने वाले का मन तो

भोजन करने में ही पूर्णतया लगा रहेगा कि किस प्रकार खाना मुख के अन्दर चबाया जा रहा है?मेरे मन की क्या स्थिति है? यदि मन और कोई अन्य वस्तु की इच्छा कर रहा है, तो **उस** समय उसको समझा कर खाना खाने में ही लगायेगा। खाना खाते समय समझो, वह पूरे होश में खाना खा रहा है और जो कुछ विपरीत तृष्णा के काम-क्रोध आदि विकार उस समय मन में प्रकट होते हैं उनको टालता जाता है। ऐसा पुरुष स्मृति व वीर्य के बलवाला होता है। इसी प्रकार जीवन में सब अन्य कार्य मन को जोड़कर करना सीखे।

19. बाहर के सब कर्म (जैसे नहाना,धोना आदि) भी अपनी सुरत टिकाकर करे अर्थात् स्मृति को रखकर या होश को सम्भाल कर करे ताकि जो-जो विकार पहले आदतों वाले दुर्बल मन के उस समय प्रकट हों, उनको होश टिकाकर टालता हुआ ही उन कामों को करे। जो-जो मिथ्या भाव, शंका, भय कि ठंडी लग रही है, गर्मी ज्यादा है, इन सब को मन से हटाता हुआ कर्म में इतना मन को जोड़े कि मन की खबर लग रही है और मिथ्या भावों की भी पहचान हो रही है। पहचान के साथ हिम्मत करके उनको टालने का यत्न करे जैसे कि हाथ धोते समय जल्दी-जल्दी कर रहे हैं और मन में भागने की सोच रहे हैं, तो समझो, यह मन गलत चल रहा है। जिस तरह से आपका ज्ञान वहाँ कार्य कर रहा है तो क्रिया शक्ति भी वहाँ भटकेगी। प्राण भटकेगा तो वह आपकी देह के अन्दर सुन्दर कार्य नहीं कर सकता। तन्दुरुस्ती भी रहने नहीं देगा। घुट-घुट के साँस चलेगा, जिससे कि हृदय आदि अन्दर के अंगो के कार्य स्वस्थता के अनुकूल नहीं हो सकेंगे और वह किसी समय में रूग्णावस्था को प्राप्त हो जायेगा। शान्ति बनी नहीं रहने देगा, तो उस अवस्था (हालत) में मन को समझाये कि "ठंडी ही लग रही है, मैं आराम से कार्य क्यों नहीं करूँ? समझता

हुआ पूरा साँस क्यों नहीं लूँ? जितनी ठंडी लगनी है वह तो लगेगी ही। यह ठंडी कोई मारने वाली तो है नहीं? मारने वाली हो, तो बचाव भी करें व बचना भी चाहिए।" इस तरह से विचार करते हुए हिम्मत करके यदि उस कर्म को स्मृति के साथ ठीक कर गए तो पता लगेगा कि यह सब मिथ्या भय व शंका उस बच्चे वाले मन के ही हैं। यह बचपन का मन कीड़े से लेकर मनुष्य तक सब जीवों के साथ है। जो थोड़ा अच्छा लगता है, इसका नाम है—सुख संवेदन। सुख तो नहीं, सुख महसूस होना, अच्छा लगना। कुछ बुरा या मन के अनुकूल ठीक नहीं लगना, इसी का नाम दुःख संवेदन है। इन दो संवेदनों के साथ बंधा प्राणी, अन्त का नतीजा व प्रभाव सोचे बिना छोटी-मोटी वस्तुओं के पीछे तत्काल शीघ्रता(जल्दबाजी) में प्रत्येक कार्य (काम) करने का आदी हो गया है। ऐसा जीवन का प्रकार या जीने का ढंग बचपन से ही उन्नत होकर सबके साथ बना बैठा है।

इस प्रकार खाने-पीने से सारी वस्तुओं की दासता इतनी बढ़ जाती है कि यही दासता अन्त में मारने वाली हो जाती है। घी, दूध, मीठा छूटता नहीं। डॉक्टर कहता है, छोड़ दो कारण कि बीमारी हो गई है। परन्तु वह आदतों की शक्ति से जकड़ा हुआ मनुष्य यही खाते-पीते मर जायेगा। यह सब मन की दासता है।

20. जितना प्राणी व पदार्थों के साथ राग व द्वेष है, जो बच्चे को तो इनके साथ आदत पड़ गई है, परन्तु यह सारी आयु (उम्र) नहीं रहनी चाहिए। इसलिए थोड़ा-सा श्रद्धा से सुन कर इनसे टले। टलने के लिए अपनी होश (स्मृति) ठिकाने रखे। होश (स्मृति) टिका करके जो टालने पर दुःख होता है, वह सहन कर ले व बाहर अपना बर्ताव न बिगड़ने पाये।

21. ज्ञान जागता रहेगा तो उसकी क्रिया शक्ति भी बढ़िया जागेगी। तो यह है उस व्यक्त भगवान की भक्ति। जो कुछ उसने

बाहर व्यक्त (प्रकट) होना है, वह भगवान् अव्यक्त रूप में अन्दर ही छुपा बैठा होता है। उसको इस तरह अपने अन्दर प्रकाश में लाना जिससे दूसरों के मन में शंका, भय व विरोध आदि न उत्पन्न हों। अपने अन्दर भी वह भगवान् शान्त रीति से बैठा हुआ हम को भी सुख देवे। यह व्यक्त भगवान् की भक्ति तभी होती है, जब पहले श्रद्धा द्वारा सारे खोटे कर्मों को त्यागे। अपने को नियमों में बांध करके फिर एकान्त में जो कर्म करे उसको ऐसी समझ के साथ करे कि कर्म करते-करते हमको पता लगे कि बारीकी में हमारे अन्दर बैठा हुआ ज्ञानदेव किधर सरक रहा है? ज्ञानदेव भय, शंका, इच्छा या चिढ़ में तो नहीं है। यदि क्रोध (चिढ़) में है तो क्या वचन बोलेगा, जो बाहर कैसे महसूस होंगे? यदि चिढ़ में खोटे वचन निकलने हैं; तो इस चिढ़ को मौन रहकर टाल दे चाहे उस समय अपनी 'मैं' का भाव (मान) भी जाता है तो जाने दे। मान की भी परवाह नहीं करे। आदतों की शक्ति वाला मन तो कहता है कि "लो जी! वह तो अकड़ के, तेजी से बोल रहा है और मैं यदि शान्त रीति से बोलूँगा तो वह समझेगा कि मैं डर गया।" कोई बात नहीं अपने मन को समझाए कि यदि तू डर भी गया तो क्या हो गया, इसको ज्यादा धमका करके भी तुझे क्या मिल जायेगा? अतः अपने-आप को शान्त करना ही भले में है। धर्म का अर्थ है कि थोड़ा धारण करना और त्याग का अर्थ है, जो मन से होना चाहता है उसको त्यागना। थोड़ा-सा मन के राग, द्वेष, मान, संशय, भय, छोटा-मोटा सुख छोड़ने का जो दुःख व खेद है, उस दुःख को थोड़ा सहन करना, यही तपस्या होती है। यदि इस तरह से वह करता गया तो उसे अन्दर की सारी विद्या मिल जायेगी।

22. जब स्वादिष्ट भोजन मिल जाये तब भी स्मृति में रह कर खाना चाहिए व मन को समझा कर कि आगे ऐसा भोजन न

मिले, तो चिढ़ना मत, जो अब इतना खुशी-खुशी खा रहा है। हो सकता है, ऐसा भोजन आगे न भी मिले। जब मन के मुताबिक खाना न मिले, तब भी चिढ़ को टालते हुए स्मृति रख कर भोजन करना चाहिए। इस प्रकार यदि आप हर्ष (खुशी) से भी ऊपर उठकर व चिढ़ को भी टाल कर दोनों परिस्थितियों में सम (बराबर) रहकर खाना खा गए, तो समझना कि आपने ज्ञान द्वारा भगवान् को भोग लगा दिया। भगवान् को भोग कब लगता है? जब आप राग व द्वेष के दोनों किनारों में नहीं हैं। ज्ञान जाग रहा है, और यदि ज्ञान जाग रहा है तो ज्ञान रूप भगवान् है। उसी के साथ उसकी क्रियाशक्ति आनन्द में है। चाहे उस समय (वक्त) इसका सुख आपको मालूम नही हो रहा, परन्तु (लेकिन) लम्बे समय में जब आपका साधन स्वाभाविक या पूर्ण हो जायेगा तब यही ज्ञान रूप भगवान् जिस समय व्यक्त होगा, वह आपको इतनी प्रसन्नता (खुशी) देगा कि सारा संसार आपका मित्र बनेगा।

23. सुख और दुःख की संवेदनाएँ, व्यक्त भगवान् की हालत में बैठकर मनुष्य के अन्दर चक्कर चलाती हैं। यहाँ से उसकी चेष्टाएँ, वाणी व बर्ताव उस व्यक्त भगवान् से प्रकाशित होती हैं। यदि ठीक आपने समझ करके इसको प्रसन्न रखने का बाहर यत्न कर लिया, तो यहाँ से व्यक्त भगवान् की भक्ति शुरू हो गई। जहाँ कहीं किसी व्यक्ति में भी यह भगवान् व्यक्त होना है, मेरे लिए सुन्दर वरदान रूप व आनन्द देने वाला प्रभु प्रकट हो। सबसे पहले उसको धर्म यही धारण करना पड़ता है कि हे प्रभु! मैं तो तेरे ही सहारे हूँ, तेरा ही सहारा है, तेरी मैं शरण में हूँ, मैंने तो सब देहों के बीच में आपको ही देखना है व शान्त आनन्द रूप के ही दर्शन करने हैं। तेरी शरण यही है कि जो कर्म तुझ को अप्रसन्न (नाखुश) करता है, वह मैं कोई कार्य (काम) करने वाला नहीं। तो वे कौन से काम हैं? यही जो तृष्णा की मिथ्या भक्ति। यदि

तृष्णा की तथा अपने मिथ्या 'मैं' या अहंकार की भक्ति छोड़ दी, तो आपको संकट(कष्ट) अवश्य होगा और बाहर से यदि किसी की तरफ से दु:ख आ रहा है, तो यह समझ लिया कि जो तृष्णा मेरे मन को भड़का रही है, वही तृष्णा बेचारे उसको भी भड़का रही है, तो उसका क्या कसूर है? यह तो उसके अन्दर भगवान् ही ऐसे बना बैठा है। मैं उस भगवान् को नमस्कार करूँ। तो यह हो गई सर्व में अपने समय के अनुसार प्रकट होने वाले व्यक्त भगवान् की भक्ति।

24. यह ठीक है कि छोटा-मोटा दु:ख तो दूसरे प्राणी दे जाते हैं परन्तु अपनी मनमानी कोई भी नहीं कर सकता। जो मनमानी करना भी चाहे तो उसको अन्दर से ही भय होता है कि मैं एक-दो के साथ तो ऐसा कर सकता हूँ लेकिन सारे संसार के साथ कैसे कर सकूँगा? इसलिए ज्यादा डरने की ज़रूरत नहीं है। थोड़ा सहन शक्ति का अभ्यास अधिक कर ले कि कोई बात नहीं, यदि दूसरे से कोई मिथ्या (उल्टा) बर्ताव आता भी है तो वह इसलिए आ रहा है कि उसके अन्दर भी वही प्रकृति का बल बैठा है जो मेरे अन्दर मुझे तंग कर रहा था और मेरे से मिथ्या कर्म करवाता था। इसलिए मैं तो अपने-आप को ठीक कर लूँ और उसके खोटे बर्ताव के लिए अपने मन में क्षमा बसा लूँ और अपनी सहनशक्ति और अधिक बढ़ा लूँ। ऐसा करते-करते यह विश्व व्यापक प्राण व ज्ञान की शक्ति होगी। यही है व्यक्त भगवान् की भक्ति कि जैसा कहीं से कुछ भी प्रकट हो गया, अपने लिए वही ठीक है और वही भगवान् रूप ही है। ऐसा करते-करते यदि कुछ समय बीत गया तो आप देखेंगे कि आप ही से प्रकट होने वाला ज्ञान रूप भगवान् ऐसा प्रकट होगा कि बाहर खोटा कहीं भी दिखाई नहीं देगा। कारण कि यहाँ पहले शंका, भय या मिथ्या चिन्ता रूप में बैठा हुआ ज्ञान रूप भगवान् दूसरे के अन्दर सृष्टि उल्टी

खड़ी कर रहा था। यदि यही अपने अन्दर ठीक हो गया तो जहाँ भी आप जायेंगे, चाहे मरने के बाद स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक या जीते जी कहीं भी, तो आपके लिए सब जगह भली प्रकार से यही आनन्द रूप प्रभु ही सम्मुख आयेगा और इसी भगवान् को पहले आपने श्रद्धा से धारण किया था। इसलिए उस व्यक्त भगवान् की आराधना करने से ये लोक बनते हैं। यदि ठीक तरह से आपने अपने-आप का चालन कर लिया, ठीक दिशा में चला लिया, तो उससे जो कुछ बनेगा, उसे अच्छी कमाई कहते हैं। यदि सुन्दर रीति से आपने कमाई कर ली तो गो-लोक मिल गया यानी आपकी इन्द्रियाँ ठीक प्रकट होने लग गईं अर्थात् व्यक्त भगवान् आपके अन्दर ठीक प्रकट होने लग गया। बाहर से भी यदि उसका उत्तम रीति से उत्तर मिलने लग गया तो बाहर भी ठीक ही है।

25. जितना-जितना वह भगवान् क्षमा, वैराग्य, संतोष आदि गुण रूप से व्यक्त (प्रकट) होता जायेगा, उतना-उतना दूसरों के अन्दर अपने ढंग की सृष्टि करेगा। जैसे दुष्ट के अन्दर प्रकट हो करके उसके दण्ड रूप से वही भगवान् आता है, इसी प्रकार भले व्यक्ति के अन्दर से प्रकट हो करके भलाई रूप में उसका वह फल भी आयेगा।

26. इस ज्ञान देव की लीला बड़ी न्यारी है। अब यह छुपा हुआ किस-किस दशा (हालत) में प्रकट होता है। यदि शुद्ध रूप से जगा-जगाया ऐसा हमारे अन्दर प्रकट हो गया कि हमारे बैठे-बैठे हमारा मन तंगी, दुःख नहीं मानता, ऊबता ही नहीं, समय जाते का पता ही नहीं लगता 'तो इस तरह करोड़ों, अरबों वर्ष (साल) भी बीत जायें तो आपका मन वहाँ से उदास नहीं होगा।' परन्तु यह तृष्णा की दासता है, जो मन को नहीं लगने देती और कहती है कि उठकर यह करना, वह करना, चाय, सिगरेट पीनी, धन्धा सम्भालना आदि। यह अन्दर का जो भगवान् है, इसका

नाम जिन्होंने परमेश्वर रखा है, उन्होंने उस तत्व में उसको बारीकी में देखा है, जहाँ यह पूर्णकाम, सर्व-आत्मा, सर्वशक्तिमान् है। एक क्षण के अन्दर जैसी सृष्टि चाहे रच देता है, परन्तु कुछ उसूलों (नियमों) के अन्तर्गत रचता है। जैसा कुछ उसके अन्दर पहले ही भरा हुआ है, उसी के अनुसार सृष्टि रचेगा। इधर जैसा कुछ अन्दर से व्यक्त हो रहा है, वह दूसरों को वैसे ही चलायेगा, दूसरों के अन्दर से वैसे ही प्रकट करवायेगा। यह सर्वशक्तिमान भगवान् हुआ। मेरे अन्दर बैठा जैसा प्रकट हो रहा है, दूसरे के अन्दर भी ऐसे जोर से ठोकर (धक्के) मारेगा कि तू उसके लिए ऐसा प्रकट हो। देखो! यहाँ बैठ करके वहाँ दूसरे के अन्दर राग-द्वेष आदि जन्मा रहा है। यह ज्ञानदेव एक जगह प्रतीत (मालूम) हो करके दूसरी जगह उपस्थित (हाजिर) हो करके अपनी ही विद्युत् तरंग चलाता है। उसमें सुख-दुःख जो कुछ समझ में आता है, वह हमारे कर्मों के अनुसार है। उस भगवान् के नियमों, अधिनियमों को जानकर जो कि व्यापक रीति से अपने कायदे के अनुसार सृष्टि चलाते हैं; हमको साधना करनी पड़ेगी। फिर हमको ऐसी मुक्ति (छुट्टी) मिल जाये कि कम-से-कम दुःख से तो छूट जायें। यदि बाहर तृष्णा के दुःख से छूट गये तो समझो भगवान् का सुख अन्दर प्रकट हो गया।

27. जो अपनी आत्मा (अपना-आपा) में बैठा आनन्द पा रहा है, उसको पता है कि मेरे अन्दर सारा जगत् है। यदि इच्छा हो तो अभी कान फैला करके सारे संसार की आवाज़ें सुन लूँ, आँख खोल करके सारी दुनिया की सृष्टि देख लूँ। मन जगाकर जैसे स्वप्न में वैसे ही अपने मन में सारा संसार खड़ा करके देख लूँ तो इस आत्मा में ठिकाना पाने के बाद कोई किसी भी वस्तु की कमी तो है ही नहीं। बताओ, फिर मैं इस-उस वस्तु का व्यर्थ में इकट्ठा करने का प्रयास (यत्न) क्यों करूँ? मैं अपने आत्मा

रूपी घर में बैठा आराम ले रहा हूँ। इस तरीके से उस मोक्ष वाले मन को, भगवान् में बैठे हुए को, किसी प्रकार का संसार का मोह, राग व संसार की छोटी-मोटी वस्तुओं से प्रेम नहीं होता, जिससे उनके साथ बहुत निकट से मिलना पड़े। परन्तु वह संसार के दु:खों को ज़रूर निकट से जानता है कि थोड़ा भी चूके नहीं कि सिर पर बला आ जायेगी। क्योंकि जहाँ दो आमने-सामने हैं, वहाँ सारी अपनी नहीं चलती। यह ठीक है, मैं थोड़ा-सा वहाँ धर्म रख करके बाहर से खोटी वस्तु से तो बच जाऊँगा, परन्तु दूसरे के लिए सारी सदा अच्छी वस्तु या परिस्थिति मैं प्रकट नहीं कर सकता; कारण कि वहाँ भी एक दूसरे ढंग से भगवान् अपने नियमों के अनुसार बैठा है। इसलिए अपनी आत्मा में सुख खोजना सब से अच्छा है और अपनी आत्मा में सर्वरूप परमात्मा मिल जाये तो यह है—परिपूर्णता। अंत में ध्यान करते-करते वहीं पहुँचना है।

28. चौबीसों घंटे मनुष्य आदतों के अनुसार नहीं चल सकता कि जब चाहे नींद आई तो नींद में सो गया और जब जगा तो संसार में बचपन का ही जीवन चलाता रहा। उस अवस्था (हालत) में थोड़ी श्रद्धा रख करके, हिम्मत करके व होश ठिकाने रख करके, जो खोटे प्रभाव होने जा रहे हैं; उनसे बचने व अच्छा करने की भी थोड़ी तंगी सहन करे। खोटा करने से जो सुख मिलना था; वह भी त्याग दे और उस त्यागने की तंगी को सहन करे। ऐसा करते-करते यह जीवन बनता जायेगा। दु:ख ओटने की भी एक आदत होती है। दु:ख से डरा हुआ ही मन सब खोटे कर्म करता है। उसी से मिथ्या उपासना (भक्ति) होती है। जिसके बाहर प्रभाव दूसरों के अन्दर प्रकट हो करके मिथ्या वस्तु व स्थिति हमारे लिए जन्माते (उपजाते) हैं।

29. यह जो सादा ज्ञानदेव प्रभु, जो दोषों व बन्धनों से पार

हुआ है, यही सबसे प्यारा है। चाहे आप साध लो, चाहे किसी दूसरे के अन्दर यह ज्ञानदेव दीख जाये। बच्चे के अन्दर तो निर्दोष, निर्मल स्वभाव से ही है परन्तु वह संसार में बंधने जा रहा है। आप यदि बच्चे के अन्दर की निर्मलता व निर्दोषता पाने के लिए चलेंगे तो आपका सादा ज्ञानदेव प्रभु नित्य रहने वाला होगा। तो उसी प्रकार का ज्ञानदेव साधना है जिसमें किसी के भी साथ ठोकर-टक्कर भविष्य में नहीं हो। यही वह मुक्ति वाला मन है जिसको शास्त्रों में कहा जाता है कि सब बन्धनों से छूट गया यानी सारे बन्धन पहचान कर काट दिये। बन्धन यही है जो बच्चे ने संसार में इकट्ठे कर रखे हैं।

30. यदि आपसे अभी अव्यक्त भगवान् में नहीं टिका जाये तो कम-से-कम व्यक्त भगवान् में टिकने का यत्न (कोशिश) करें। इसमें टिकने के लिए स्मृति, वीर्य (हिम्मत) व ध्यान इन तीन की खूब भक्ति करें। इतनी भक्ति करें कि खाने, पीने, बोलने, चालने सबमें यह भक्ति लग जाये। होश-सोधी (स्मृति) ठिकाने रखें। अन्दर के प्रभावों को समझते रहना ही स्मृति है। अन्दर के प्रभावों को समझ करके उनके चक्कर से निकलना, इसका नाम वीर्य है। जैसे कोई खाना खा रहा है, मीठा भोजन बढ़िया लग रहा है। मन हर चबाने की चेष्टा के साथ खुश हो रहा है। ज्ञान जगा कर यह ख्याल कर लिया जाये कि इस भोजन का सुख भी सदा रहने का नहीं है। यह भगवान् की भक्ति हो गई। मन को सधा हुआ तब समझना चाहिए जब उसकी अच्छे खाने में आसक्ति (चिपकाव) व मन को थोड़ा प्रतिकूल होने वाले खाने में द्वेष (हटाव) समाप्त हो जाये और उसका ध्यान केवल शरीर टिकाने के लिए पेट भरने में रहे, चाहे भोजन समय के अनुसार कैसा भी हो। बाहर के मीठे व कड़वे दोनों प्रकार के प्रभावों में सम होकर यानी मीठे प्रभाव से लगाव न रखते हुए व कड़वे प्रभाव को दूर

करने की न सोचते हुए, यदि आपने सब से ठीक बर्ताव कर लिया, तो आपका व्यक्त भगवान् कहीं खोटा नहीं रहेगा और किसी में भी जो कि आपके सम्मुख पड़ते हैं, उनमें खोटे रूप से प्रकट नहीं होगा। आपके लिए तो कल्याणमय या मंगलमयरूप से ही सर्वत्र प्रकट होगा। अब ऐसे भगवान् की भक्ति खुली आँखों से करें, आँख बन्द करने की कोई ज़रूरत नहीं है। कोई कहता है कि घर में मुझे ध्यान का समय नहीं मिलता व घर वाले ध्यान में बैठने नहीं देते। यदि घर वाले नहीं बैठने देते तो कोई परवाह (चिन्ता) की बात नहीं है। आप अपने सारे कर्मों को ही भक्ति बना दें। जो भी कार्य करें, मन जोड़ कर करें। मन जोड़ कर करने का अर्थ (मतलब) है कि पहले कहे हुए के अनुसार अपनी स्मृति व वीर्य (हिम्मत) को अपने साथ बनाये रखें। यह समझते रहना कि कौन-कौन भाव आ रहे हैं? कैसे हमको प्रभावित कर रहे हैं? ये भाव डरा करके हमारे साँस को तो नहीं बिगाड़ रहे हैं? किधर-किधर चला रहे हैं? जिधर ये भाव चला रहे हैं, उनका सुख कितने समय तक रहेगा? इस प्रकार भय, इच्छा, क्रोध, शंका व चिढ़ आदि को सब कर्म (दातुन, कुरला, खाना-पीना आदि) करते हुए व दूसरों की संगत में होते हुए समाप्त करते जायें। जब दूसरों की संगत में रहते हुए भी इस प्रकार कर्मयोग होने लग गया तो जीवन बाहर सध गया और व्यक्त भगवान् की भक्ति पूरी हो गई। यदि ऐसी अवस्था (हालत) में आत्मा में नहीं भी टिकने पाये तो भी आपको स्वर्ग व ब्रह्मलोक मिलेगा।

31. आत्मा के ध्यान का मतलब अपने-आप में टिकाव पाना है। ध्यान का मतलब यह नहीं कि समाधि साध करके व आसन लगा कर के बैठे रहें। जब कर्म में मन जुड़ा हुआ है, तो वह भी ध्यान बन जाता है कारण कि कर्म के सिवाय वहाँ पर संसार का कोई विचार ही नहीं है। यह अन्तिम अवस्था है कि आसन सध

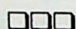
गया। आसन में बैठे-बैठे अकेले में भी सुख है, चाहे अपने मन के अन्दर किसी भी प्रकार हम लग रहे हैं अर्थात् चिन्तन कर रहे हैं।

32. आप ज्यादा सुख की भक्ति भी नहीं करें, ज्यादा दुःख से नहीं डरें और ज्यादा शंकाओं व भय के चक्कर में भी नहीं रहें। इनको समाप्त (खत्म) करें क्योंकि इनसे कुछ नहीं बनता, केवल इनकी आदत पड़ी हुई थी। धीरे-धीरे ऐसा करते-करते यह साधना शुद्ध होती जायेगी और होती-होती एक दिन सिरे तक पहुँच जायेगीं, यही सारा करने का है। अव्यक्त की भक्ति तो पीछे रहेगी, पहले यह व्यक्त की भक्ति होनी चाहिए। क्योंकि बाहर से छुट्टी मिले, तो ही ध्यान सध पायेगा। बाहर छुट्टी, व्यक्त की भक्ति के बिना नहीं मिलती और सबमें एक रूप में उसे पहचाने बिना राग और द्वेष से पूर्ण रूप से मुक्ति भी नहीं मिलती।

33. हमारी इच्छा के बिना ही आदतें ऐसे-वैसे खोटे कर्म करवा जाती हैं कारण कि स्मृति व वीर्य (हिम्मत) हमारे साथ नहीं होते और अच्छा कर्म करने के लिए पहले हमने सीखा भी नहीं। यदि सीखते-सीखते कुछ बनता जायेगा तो यही जीवन धार्मिक जीवन होता है, जो भौतिक जीवन से न्यारा है। इसी से ही संसार के ज्ञान से छुट्टी मिलेगी और प्राण भी हल्का हो जायेगा। फिर जहाँ भी आप बैठेंगे, वहीं आनन्द का अनुभव होगा। इसी प्रकार जीवन हर अवस्था (हालत) में सुखी होगा।

34. भगवान् की भक्ति अपने-आप करने की है। अब जैसे करनी है उसकी अपने-आप कुछ योजना भी बनानी पड़ेगी। आसन पर चुपचाप बैठने का नाम ध्यान नहीं है। यह तो इतना ही है कि आपने जब बाहर से मन मोड़ा, इसमें नींद आ गई तो खो गये। फिर चुपचाप ध्यान की मुद्रा में बैठने का कोई भी लाभ नहीं है।

इससे अच्छा तो अपने दिन के चरित्र का विश्लेषण (छानबीन) किया, छानबीन करके कुछ सीखने का ढंग कर लिया और भी कई ध्यान हैं कि जैसे मैंने उसको कड़वे वचन बोले, जिससे उसके साथ आज गलती हो गई, तो यह क्यों हुई? खोज़ करने लग गए। कौन-सी वस्तु के प्रभाव में आ गए थे? उन विकारों को खोजा, अपने अन्दर फिर उन विकारों को पहचाना। आगे जब हर कर्म करते हुए वह विकार आयेगा, उसी समय (वक्त) स्मृति को तेज़ करके उसको उखाड़ने का यत्न करूँगा। इस प्रकार अपने मन की धारणा बनाये। ऐसे अपने-आप में यह जीवन केन्द्रित हो जाता है। बाहर से कुछ छूटता नहीं व बाहर का कुछ बिगड़ता भी नहीं परन्तु अपना जीवन अवश्य शुद्ध बन जाता है। इस सारे का निचोड़ है कि व्यक्ति इस तरह से व्यक्त भगवान् की भक्ति करे कि, सब से पहले वह अपनी आत्मा का शोधन कर ले। आत्मा की शुद्धि से ही सबमें बसे हुए व सब में व्यक्त होते हुए भगवान् की भक्ति हो गई जो कि "ज्ञान-रूप प्रभु के सत्य आनन्द स्वरूप से मिला देगी।" यही अन्तिम फल है, और सारे कहे हुए का निचोड़ भी है।



प्रवचन-7

दिनांक : 18.1.1987

मनुष्य कों भय (डर) ज्यादा इसलिए लगता है कि वह सब के बीच में रहता हुआ तो निर्भयता को महसूस करता है; परन्तु जब वह अकेला होता है, तो उसको वह निडरता का अनुभव नहीं होता, कारण कि सब के बीच में बच्चे ने अपने-आप की कुछ 'मैं' समझी हुई है। अकेले में उसको वह संसारिक प्राणी व पदार्थों से मिली 'मैं' नहीं मिलती। यदि वह अकेला पड़ जाये तो उस बच्चे का मन नहीं लगता, क्योंकि उसको वही सब में मिली हुई खुशी की 'मैं' नहीं मिलती। कारण कि बच्चे को पुचकार कर खिलाया-पिलाया गया व कुछ समझ संसार के बारे में भी दी गई। बहुतों के बीच में तो प्रेम भी उसको मिला है और नाना प्रकार की बातें उसको सीखने की मिली हैं। इसलिए जब तक वह बहुतों में रहता है तब तक उसका मन लगा रहता है। उस हालत में उसके अन्दर से ही एक व्यक्त भगवान् कह लो, एक ऐसा चेतन या ज्ञान उत्पन्न होता है, गीता में जिसका नाम 'व्यक्त' है। बच्चा उसको जानता तो नहीं कि वह क्या है? परन्तु उसका प्राप्त होना मीठा (मधुर) लगता है। यह छुपी हुई उसकी 'मैं' है। इसको शास्त्र वाले सत्व कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उस बच्चे को एक हस्ती (सत्ता) मिल गई, जो कि उसको जन्म से पहले नहीं थी। परन्तु यह 'मैं' दूसरों के संग से बाहर मिली है, अकेले में नहीं।

2. अब यह जो पहचान संसार में दूसरों के साथ मिलती है, यह बढ़ती-बढ़ती पहले घर की चारदिवारी से लेकर मौहल्ला, नगर, प्रान्त (राज्य) व देश में व्यापक हो गई और फिर सारी दुनिया में वह पहचान बढ़ गई (फैल गई)। इस विश्व व्यापक

संसार में जो-जो उसकी कामनाएँ पूरी हुई हैं, उन सब के सहारे उसकी 'मैं' टिकी हुई है, जिससे वह बिछुड़ना नहीं चाहता। यदि उन्हीं प्राणी व पदार्थों से बिछुड़ गया, तो वह समझता है कि 'मैं' कहाँ मिलेगी? इसका मतलब वह 'मैं' से भी बिछुड़ गया। वही संसार में होने वाली उसकी 'मैं' नहीं मिलने से वही दुःखी होता है। इसी 'मैं' का बड़ा भारी मोह है। इसका खो जाना मृत्यु तुल्य कष्ट देता है। जैसे एक मनुष्य को नशा पीने से 'मै' मिलती है। यदि उसे वह नशा नहीं मिलता तो वह परेशान हो जाता है। एक साधारण बीड़ी पीने की आदत है। आम आदमी बीड़ी पीते हैं। यदि बीड़ी कभी एक-दो घंटा पीने के लिए नहीं मिलती तो उस मनुष्य का मन किसी से बात करने व काम करने में नहीं लगता। इतना वह इस बीड़ी पीने के पराधीन हो जाता है। जिसने बाहर प्राणी व पदार्थों के सहारे अपने-आप को थाम (चला) रखा है, वह कहता है कि "बस मैं यहीं सदा बना रहूँ।" इन्हीं पदार्थों (वस्तुओं) के प्राप्त होने पर उसको अपना-आपा प्राप्त होता है। उस 'मैं' को पुनः प्राप्त करने के लिए उन्हीं की तरफ भागता है। इन पदार्थों के बिना वह 'मैं' नहीं मिलती जो उसको एक बार मिल चुकी है। जब उनके साथ उसको अपनी परिचित 'मैं' नहीं मिलती तो वह बेचारा अपने अन्दर दुःखी हो करके परेशान होता है।

3. धार्मिक, आध्यात्मिक या परमात्मा के निमित्त जीवन बताता है कि ये बाहर के प्राणी व पदार्थ कहाँ तक बने रहेंगे? एक दिन इनसे वियोग (बिछोड़ा) ज़रूर होगा। जब तक इन्द्रियाँ व शरीर में शक्ति है तो प्राणी व पदार्थ भी अच्छे मधुर व प्यारे लगते हैं। यदि आँख गई तो क्या रूप रंग नाटक देखोगे? कान चले गये तो राग कहाँ सुन पाओगे? बुढ़ापा आने पर व देह में शक्ति न रहने से स्वाद कहाँ पूरे होंगे? जब इनके साथ ही 'मैं'

मिली है तो वह इनके छुटने में रोयेगी। यह सारा संसार का अनर्थ बचपन से दुनिया के सहारे मनुष्य को मिलता है और उसको यह विश्वास रहता है कि इसके बिना कुछ नहीं बनेगा व पैसा,धन, सम्पत्ति और दूसरों के साथ सम्बध ही मुझे स्वर्ग देने वाले हैं । परन्तु आपके जीवन में यह सब धन दौलत वगैरह सारी आयु (उम्र) कैसे साथ देंगे?

4. एक लखपति सेठ था। उसने पचास हजार रुपये जो कि पुराने जमाने में बहुत ज्यादा माने जाते थे, अपने नाम से किसी बैंक में रख लिए। उसका विचार था कि जब बूढ़ा हो जाऊँगा और बच्चे मेरा आदर-मान नहीं करेंगे तो इस धन के लालच से सुख पूर्वक जीवन बिता लूँगा। उसने बाहर की वस्तु का सहारा अपने पास रखा। चलो, वह दिन आ ही गया। पहले बच्चे उसके बड़े आज्ञाकारी थे। जिस बच्चे के पास वह रहता था, उसको व दूसरे परिवार के सदस्यों को उस बूढ़े सेठ का बर्ताव कुछ अच्छा नहीं लगने लगा, तो कहीं उसको उल्टा-सीधा भी उनसे बोला गया। कारण कि उस बूढ़े सेठ के अन्दर से व्यक्त भगवान् उन बच्चों के अन्दर भी वैसा ही प्रकट हो रहा था। जब बच्चों ने किसी दिन उस सेठ को बुरा भला कह दिया तो उसके मन में क्रोध आया कि मेरे बच्चे जो कल तक मेरी आज्ञा के अन्दर थे, आज मेरे को नौकर की तरह समझा रहे हैं। उसको ऐसा क्रोध आया कि उसने बच्चों को तो धमकी के रूप में कुछ नहीं कहा, लेकिन घर से निकलकर अपनी एक विवाहित लड़की के यहाँ चला गया। एक-दो दिन तो उसकी लड़की और दामाद ने अपना पिता जी समझ कर बड़ा स्वागत किया। चार-पाँच दिन वहाँ रहा और अपने आने का कारण बताया। उस लड़की ने सब घर वालों को बताया कि मेरे पिता जी इस प्रकार अनबन के कारण घर से आये हैं। अब कुछ दिन रहते-रहते वहाँ भी वही अनादर मिलने

लगा। उस सेठ को आदर-मान मिलना ही चाहिए, यह सोच ही उसके दुःख का मूल कारण थी। लड़की के यहाँ भी घर के मालिक ने कुछ उल्टी-सीधी बात कह दी। तब उसको अपना बच्चा याद आया कि यहाँ भी वही आग जल रही है। यहाँ रहना भी ठीक नहीं है। उसको अपने पचास हजार रुपये दिमाग में खटक रहे थे कि इन पचास हजार रुपयों का लालच जहाँ-कहीं भी दिखाऊँगा, वहीं पर मेरी आवभगत (सेवा) होगी। इसका तात्पर्य यह है कि वह पुरानी मान वाली 'मैं' को चाह रहा था परन्तु वह सब समय के अनुसार प्राप्त होनी असम्भव थी।

फिर वह सेठ बूढ़ी बहन के यहाँ गया। वह तो बेचारी बूढ़ी थी। उसके बच्चे थे। उसी का ही घर में आदर नहीं था, तो इस सेठ का क्या आदर-मान होना था? बस! थोड़े दिन वहाँ भी रहा और अन्त में वहाँ भी धक्के पड़े। देखो! यदि अपने अन्दर कुछ ऐसा ही भगवान् बैठा है, जिसने धक्के ही दिलाने हैं तो उस भगवान् को ही मनाना ठीक है। हमने उसको अपनी तृष्णा, सुख-दुःख, भय व प्राणी व पदार्थों की दासता आदि कारणों द्वारा अपने ढंग से ऐसा ही साध रखा है। यदि अपने-आप को नहीं सुधारा गया और अपने जीवन की साधना नहीं होगी तो चाहे स्वर्ग में भी आप चले जायें वह भी नरक बन जायेगा। ऐसा होते-होते वह सेठ एक महात्मा के पास पहुँच गया, जहाँ महात्मा जी कुदरती ऐसी ही बातें कह रहे थे। देखो! यदि अपना कर्म ठीक नहीं है, तो स्वर्ग में चले जाने पर भी वह नरक ही बन जाएगा। यदि अपना कर्म ठीक है, तो नरक में चले जाने पर वहाँ भी उसको स्वर्ग ही दिखाई देगा। अपना कर्म ही सीधा करना चाहिए। कर्म को सीधा करने में जो भी त्याग व तप करना पड़े उसे अवश्य कर ले। त्याग थोड़ा सुख छोड़ने का ही है, न कि घर छोड़ना व धन बाँट देना है व अपनी जायदाद लुटा देनी है। अपनी देह के साथ जो फालतू विकार व मन की खुशी के लिए

आदतें चिपकी हुई हैं, उनको थोड़ा धक्का देने का यत्न करें, अर्थात् इन्हीं के सहारे जो 'मैं' टिकी हुई है, उसी को धक्का मार कर निकालने (अपने से विदा कर देने) का ही तात्पर्य है। यही त्याग है। जैसे बार-बार खाना अच्छा नहीं लगता, लेकिन क्या करें मन नहीं मानता? इस बार-बार खाने का सुख त्याग दें तो आप त्यागी बन गए। इसमें थोड़ी तंगी होगी उसको सहन कर लें तो आप तपस्वी बन गए। थोड़े से त्याग और थोड़े से तप की आवश्यकता (ज़रूरत) होती है। जो बचपन में मान मिला है, वह बुढ़ापे में कैसे मिलेगा? पहले पचासों मनुष्यों का स्वार्थ आपसे पूरा होता था, तब आदर करते थे, जब स्वार्थ उनका अपने हाथ में आ गया तो वे आपका आदर कैसे करेंगे? वह आदर मिले तो आपको 'मैं' मिले। वह आदर मिलेगा नहीं और न ही मिलना है। इसलिए पुरानी 'मैं' भी नहीं मिलेगी, इसलिए उसका त्याग कर देना है। किसी जवानी (यौवन) इत्यादि काल के मिले हुए मान आदि का जो सुख है, उस सुख के न मिलने पर अपने मन में शब्द-विचार जगा कर अपने भटके मन को शान्त करना चाहिए। इसी का नाम बुद्धिमत्ता है और यदि पुराने समय के आदर-मान वाली 'मैं' नहीं मिलती तो उसमें दुःख नहीं मानना और विचार द्वारा अपने बर्ताव को सही रखना और मनोमन अन्दर ही अन्दर भगवान् से बातें करते रहें कि "प्रभो! यदि आप को हमारे समय के अनुसार और आपके विधान के अनुकूल यदि यही कुछ दुःख हम को मिलने का है तो मुझे ऐसी अवस्था में भी प्रसन्न रहने की शक्ति दीजिए और दूसरों के प्रति मेरा व्यवहार सही रहे।" इस प्रकार साधन करने पर कहीं भी घर से भागने की आवश्यकता नहीं। घर बैठे ही उसको शान्ति प्राप्त हो जायेगी। इस प्रकार उस महात्मा के प्रवचन को सुनकर उस सेठ की समझ में आया कि ये महात्मा जी तो मेरी ही बात कर रहे हैं, किसी दूसरे की बात तो है नहीं। जब सब भक्त, महात्मा जी के पास से

चल गए, तो वह कहने लगा कि महात्मा जी, "जो बात आप कह रहे थे, वह बात तो मेरी थी।" उस सेठ जी ने सब अपनी आने-जाने की बातें महात्मा जी को बताईं। महात्मा जी ने कहा, "फिर अब कहाँ जाना चाहते हो? वहाँ भी यदि आपको धक्के पड़े तो फिर आप कहाँ जाओगे?" तब सेठ जी ने कहा, महाराज जी! आप ही बताओ कि मैं अब 'कहाँ जाऊँ?' महाराज जी ने कहा, "बस! अब कहीं नहीं जाना, उसी अपने बच्चे के घर चले जाओ और जाकर कहना कि लड़की और बहन के वहाँ मिलने के लिए गया था। अब बच्चे के साथ ऐसे नियम से रहना कि कहीं धक्का भी लगे तो अपने-आप को समझा लेना कि कोई बात नहीं, अब मेरी आयु (वृद्ध अवस्था) ही ऐसी आ गई है, थोड़ा पराधीन हो गया हूँ, अब वह समय नहीं रहा, बच्चे स्वतन्त्र हो गए हैं। उनकी बुद्धि दूसरी बदल गई है तो मेरी क्यों नहीं बदलेगी? थोड़ा तप करें, महात्मा ने पुनः कहा—जैसे हम भी तो रास्ता चलते हैं। कोई हमको कुछ कह देता है अर्थात् हमको सारा संसार उल्टे वचन सुनाता है, कि भिख-मंगे घूम रहे हैं व इन्होंने सारी दुनिया लूट खाई, तो हम भी ऐसे-ऐसे शब्द सहन करते हैं—ऐसा महात्मा जी ने उसको दर्शाया। इसी तरह तुम भी समझ लेना तुम तो घर में ही हो, हमको तो सारी दुनिया जिसमें हम विचरते हैं, कुछ का कुछ हमें कहती रहती है और हमें सुनना पड़ता है। ऐसी-ऐसी बातें याद करके यदि आप घर में ही जीवन खोजने लगेंगे तो आपके अच्छे बर्ताव को दो-चार बार देखने के बाद वही भगवान् उन बच्चों के मन में जा करके बसेगा। अब वहाँ से आदर के शब्द ही निकलेंगे, आपके लिए अनादर नहीं आयेगा। जैसे आप कहते थे कि घर मेरे लिए नरक हो गया था, वही घर स्वर्ग बनना शुरू हो जायेगा। यही तो दृष्टि सृष्टि (प्रतीत समुत्पाद) है। यह संसार तो कुछ प्रतीत करके उत्पन्न होता है। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि अर्थात् जो कुछ आप से प्रतीत होता है, वह

अगले के मन में जा करके जो प्रभाव (असर) डालता है, वह आपके बस की बात नहीं। आप अपने-आप प्रभाव कैसे डालेंगे? वह जो कुछ आपसे प्रकट हुआ है, उसी के अनुसार जैसा प्रभाव उसने डालना है, वहाँ वही व्यक्त (प्रकट) होगा। यही प्रकट हो करके व्यक्त भगवान् के रूप में सब प्राणियों को उनके कर्मानुसार सुख-दु:ख दिखलाता है। दूसरा भी नहीं जानता कि इस प्रभाव को मैं कैसे खराब कर दूँ। इसलिए जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि होती है। यही इस दृष्टान्त का सार है कि सेठ की अपनी ही दृष्टि ने वही नारकीय घर फिर थोड़ा स्वर्गमय बना लिया जैसा कि महात्मा जी ने उसको समझाया।

इस सेठ जी के दृष्टान्त से दो जीवन किस प्रकार से अलग-अलग (न्यारे-न्यारे) दिखते हैं। एक आध्यात्मिक जीवन और एक बाहर का भौतिक जीवन। भौतिक जीवन वह है जो इन पंचभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु व आकाश) और प्राणियों के सहारे व्यतीत किया जायेगा। यही सब बाहर का भौतिक जीवन है और एक जो है, इसी जीवन के साथ-साथ अपनी अन्तरात्मा में समझ के साथ, मन को समझते हुए देह और इन्द्रियों के कर्मों को समझते हुए बुद्धि द्वारा अपने-आप को सम्भालते हुए (काबू में रखते हुए) और सांसारिक वस्तुओं में से थोड़ा हटते (दूर होते हुए) व ज्यादा लगाव न रखते हुए अपनी अन्तरात्मा में ही जीवन व्यतीत किया जायेगा। यही आध्यात्मिक जीवन है। फिर इस आध्यात्मिक जीवन में सफलता प्राप्त करके उसी के ढंग से सब में रहना, यही तीसरा ब्रह्ममय जीवन परमात्मा का है। ये तीन जीवन, शास्त्रों में आते हैं और धर्म के रास्ते चलने व अपना कल्याण साधने वाले को ख्याल से समझने के लिए हैं।

6. मनुष्य के अन्दर जो गुण और अवगुण हैं, उसके लिए वह कहीं भी जाये संसार वैसा ही बनेगा। आपके अन्दर यदि

कोई अच्छा धर्म है, जिसका आप पालन करते हैं व जो दूसरों को बुरा नहीं लगता तो आपको, जहाँ भी जाओगे मिठास ही मिलेगी। आपके लिए सब जगह स्वर्ग मिलेगा। संस्कृत में स्वर्ग शब्द का अर्थ—अच्छी कमाई अर्थात् भली प्रकार से कमाये हुए धर्म से प्राप्त होने वाला सुख रूपी फल है। जब आप किसी की दो बातें भी सहन कर लेते हैं और उसका बदला लेने व उसके दुःख देने की तो ज्यादा सोचते नहीं, थोड़ा आप ही दुःख सहन कर लेते हैं तो यही अच्छी कमाई है। ज्यादा दुःख दुनिया में कोई किसी को नहीं देता। आदतों से बंधे हुए सब प्राणी अपने सुख के पीछे लगे हुए हैं और दुःख से डरते हैं। इसलिए दुःख से डर करके सुख के लिए कुछ ऐसा-वैसा भी कर जाते हैं जो दूसरों को अच्छा नहीं लगता। इस अवस्था (हालत) में यदि आपमें थोड़ी सहन शक्ति हो, ज्ञान विवेक बना रहे, स्मृति, बुद्धि व मन की उपस्थिति (हाजरी) टिकी रहे और हिम्मत करके खोटे से बाज आ जायें तो समझो धर्म का रास्ता चल पड़ा; वही धर्म जिसका फल सुख कहा गया है और अन्त में इस धर्म का फल मुक्ति है। जैसा मन कड़वा बोलना चाहता था,यदि नहीं बोला गया तो ठीक है। मन भड़का हुआ है, उससे बुरा करना चाहता है। यदि इससे थोड़ा टलने की आदत डालें तो मरता तो मन है परन्तु यह धर्म के मार्ग का मन नहीं मरता। यही संसार में अनुचित रूप से स्वार्थ के वशीभूत होकर अपने पाँव फैलाने वाला वृत्रासुर राक्षस मन ही मरता है। अब यदि वह वृत्रासुर आपके मन के अन्दर मर जाये तो आप अपनी आत्मा (अपना-आपा) में जहाँ कहीं भी अकेले बैठे हैं, वहीं आननद आ जायेगा। दूसरों का सहारा लेने के लिए बाहर जाना भी नहीं पड़ेगा। नींद में मनुष्य अकेला ही तो होता है, फिर किस वस्तु का सुख इस नींद में है? इसी के अन्दर एक ऐसा तत्व है, जो अपने-आप में आनन्द रूप

से व्यक्त होता है, जबकि इसके अन्दर संसार का संग, सुख, आनन्द व संसार की लपक और खींच नहीं होती। उस आत्मा का सुख, आराम व आनन्द इतना होता है कि दूसरी किसी जगह जाने की इच्छा भी नहीं होती। यह उस आत्मा का आनन्द है जो कि मनुष्य को संसार को लात मारकर अपनी अन्तरात्मा में डुबकी लगाने पर मिलता है। परन्तु नींद में आत्मा का सुख तो उस प्रजापति के रास्ते व उसकी मर्जी से ही जब दुनिया को लात मार दी जाती है, तब मिलता है। परन्तु अपनी इच्छा (मर्जी) के मुताबिक तो आप संसार को लात नहीं मार सकते। जब अपनी मर्जी (इच्छा) से आप उस संसार को ज्ञान द्वारा पटक कर आ गए, तो आपकी हिम्मत (पुरुषार्थ) द्वारा आपको आत्मा का साक्षात्कार या ध्यान समाधि का सुख मिलेगा। ये बाहर से छुट्टी (मुक्ति) का रास्ता मिलने से समाधि का सुख मिलता है। यदि जीवन में यह समाधि का सुख नहीं मिला है तो इसका मतलब, अभी तक हम बच्चे की तरह बंधे हुए हैं, चाहे बूढ़े भी हो गए। मन बचपन का ही है जो दूसरों के सहारे ही आनन्द लेना जानता है। जब थोड़ा अकेला हुआ तो परेशान हो जाता है। इस अकेलापन की परेशानी को देख करके इसको समझने की थोड़ी भी आदत नहीं कि जरा समझूँ तो सही कि परेशानी किस वस्तु की, और कितनी ज्यादा है? यदि यह अन्दर-अन्दर समझ जाग गई तो समझो, कि आपके अन्दर विवेक और ज्ञान जागना शुरू हो गया। रास्ता मिल गया, चाहे अभी वह एक क्षण (थोड़ी देर)का ही है। यदि थोड़ा-सा भय, इच्छा व क्रोध आदि जैसा व जिधर चलाना चाहते हैं, उसी तरफ आप चल पड़े तो यह बच्चे का रास्ता है। यही भौतिक जीवन है। यही प्रकृति, विश्व की शक्ति जिस तरह बच्चे की आँख, कान, नासिका (नाक) आदि को जरा बाहर खोलकर व मन को बाहर समझने के लिए धक्का लगाती है और

उसी की समझ के अनुसार यदि वह बच्चा कर्म कर रहा है तो समझो वह अज्ञान व अन्धकार में बहता जा रहा है। उसको ज्ञान के प्रकाश का कोई पता नहीं कि जिधर वह जा रहा है, आगे जाकर उसको क्या मिलेगा व कहाँ जाकर वह पहुँचेगा? ऐसे मनुष्य घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और इस अविद्या रूपी कर्मों की उपासना करते हैं कि जो प्रकृति ने कहा, उधर ही चलो, अथवा क्रोध आ गया तो वैसा ही किसी को कड़वा बुलवा दिया; राग आ गया कि यह वस्तु चाहिए, चाहे वह किसी प्रकार की बीमारी लाती है। बच्चे को तो इससे हानि कुछ नहीं थी, शायद हमारी उम्र में नुकसान करती है। परन्तु आदत कहती है कि हमको मीठी व अच्छी लगती है, वह हमको वस्तु देनी ही पड़ेगी। यदि इस प्रकार आदत को पूरी करने चल पड़े तो यही भौतिक जीवन है। थोड़ा इसमें विचार करके यदि विद्या (ज्ञान) द्वारा मन को समझा करके थोड़ा भी लौटना आ गया कि मुझे समझ पड़ रही है कि देख, जिधर तू मना! जा रहा है, इसमें तेरा अन्त में भला नहीं है व दुःखी ही होगा। बस! थोड़ी समझ जाग गई। फिर इस बुद्धि के द्वारा थोड़ा अपने-आप को चलाना भी सीख लिया थोड़ी-सी अपने अन्दर से शिक्षा प्राप्त कर ली और वीर्य (हिम्मत) करके चलना सीख लिया। जो भविष्य में दुःख देने वाला प्रतीत हो रहा है उससे कष्टपूर्वक भी टल जाने पर कल्याण का मार्ग खुल जायेगा। तो समझो, भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश मिल गया। अब समझो! धर्म का बच्चा तो नया पैदा हो गया और संसार में चल पड़ा व गिरते-पड़ते चलना भी सीख जायेगा।

7. इस आध्यात्मिक जीवन में चलने के लिए भगवान् का विधान (कायदा), जिससे यह संसार चल रहा है, समझना पड़ेगा। जैसे बच्चे का दृष्टान्त आता है कि पिता के हाथ में मिठाई देखकर

बच्चे के अन्दर खुशी की लहर दौड़ जाती है। वह प्रसन्नता (खुशी) जान-बूझकर बच्चा उत्पन्न नहीं करता। वह वस्तु (मिठाई) ही है, जिसको प्रतीत (समझ) करके उसके अन्दर खुशी आती है। इसी प्रकार बच्चे के अन्दर की प्रसन्नता को देख करके पिता में भी आनन्द प्रकट होता है। वह पिता भी उस आनन्द को उत्पन्न (प्रकट) करना नहीं जानता, बच्चे की खुशी को देखकर (प्रतीत करके) वह आनन्द पिता के अन्दर भी उछल पड़ता है। वह तो भगवान् के कायदे के अनुसार होता है। यही माया है जो एक-दूसरे के सामने पड़ने पर जैसे-जैसे प्रकट होती है वैसा-वैसा प्रभाव डालती है। यह प्रभाव भगवान् का कायदा तो जानता है। वह प्रभु व्यापक सबके हृदय के अन्दर ज्ञान रूप से बैठा है और जैसा ज्ञान उत्पन्न होगा, उसी की शक्ति प्रसन्नता, लड़ाई, झगड़ा, उत्तेजना, जोश वगैरह बहा देगा। जैसा कुछ तुम्हारे से नज़र आ रहा है, उसी के अनुसार दूसरे के अन्दर प्रकट होना है। हम-तुम जान करके कैसे करेंगे? जैसे मैं कड़वा बोल कर दूसरे के अन्दर से मिठास नहीं निकाल सकता। यह ठीक है कि मेरे या आपके डर के कारण वह कड़वे शब्दों का जवाब न दे, परन्तु अन्दर से उत्तर मिठास रूप में नहीं आयेगा। अन्दर से तब मिठास आयेगी, जब अन्दर वाला प्रसन्न होगा, जो वह प्रभु अन्दर बैठा है। यदि अन्दर वाले के ढंग से आपके अन्दर से आवाज़ निकलेगी, तो वह प्रसन्न हो करके अन्दर से सीधी वस्तु निकालेगा। उसका विधान (कायदा) यही है। उस विधान के अन्दर रह करके व उसको जान करके उसके अनुसार यदि आपने अपना जीवन साध लिया तो इसका नाम धार्मिक जीवन (धर्म के अनुसार चलना) है। आध्यात्मिक जीवन (अपनी आत्मा में) समझ करके ठीक रीति से चलना है।

इस धार्मिक जीवन में चलने के लिए थोड़ा बलिदान करना

पड़ता है। छोटी-मोटी बचपन से जो आदतें पड़ी हुई हैं उनको ही बलिदान करना पड़ता है। उन्हीं आदतों के सहारे जो सुख मिलता था, उसको थोड़ा पटकना पड़ता है। ये आदतों के सुख वैसे भी नहीं रहने हैं और भी तृष्णा के सुख जो हम चाहते हैं वह भी कहाँ रहने हैं।

8. आध्यात्मिक जीवन का मतलब है—आत्मा (अपना-आपा) के अन्दर का जीवन। अपनी आत्मा के अन्दर थोड़ा अपने-आप को समझ करके, गुण-अवगुण परख करके, अपनी करनी देखते हुए क्या करना चाहिए, बस! इतनी बुद्धि जाग जाये तो समझो अब अन्धकार में नहीं हैं। थोड़ा-थोड़ा उजाला (प्रकाश) होना शुरू हो गया। जैसे सर्दी के मौसम में कोई स्नान करते समय ठंडी के भय के कारण जल्दी-जल्दी स्नान करे व गर्म कमरे व हीटर का ध्यान करे तो इस उतावलापन के कारण उसका पैर भी फिसल सकता है और डर के कारण श्वास भी ठीक नहीं चलेगा तो यह उसका कर्म अन्धकारमय हुआ। प्रकृति ने भय रूप की एक तरंग उसके अन्दर पैदा कर दी और वह उसके दुःख से डर गया। जो ठण्डी लग रही थी तो उससे अच्छी प्रकार स्नान न करके उसने अपना ही बुरा किया। ऐसी हालत में उस डर को यदि अन्दर ही अन्दर देख करके टालता हुआ स्नान कर जाये तो समझो कि वह ज्ञान पूर्वक कर्म कर गया। एक कर्म तो अज्ञानपूर्वक था अर्थात् जैसे प्रकृति का भय आदि आया व कर्म करवा गया। दूसरा कर्म भय को टालते हुए स्नान करना विवेक-पूर्वक था, यह हो गया प्रकाश (उजाला), जिसमें आपने ठण्डी के डर को टालते हुए समझ के साथ स्नान किया।

9. जीवन में पहले-पहले ही कष्ट होता है जबकि बच्चा चलना शुरू करता है व पाँव जमीन पर नहीं टिकते। परन्तु धीरे-धीरे जब उसने चलना सीख लिया तो वह भाग (दौड़) भी

लेता है। आध्यात्मिक मार्ग में भी पहले बच्चा ही उत्पन्न होता है। बचपन से हर एक अन्दर व बाहर की वस्तुओं की पड़ी हुई आदतें अपनी तरफ खींचती रहती हैं। मनुष्य सोचता है कि जैसे मेरी 'मैं' मिली है, वही मुझे मिलती रहे, यही प्रकृति का मार्ग है। आध्यात्मिक मार्ग में क्या है कि पुरानी खुशी की 'मैं' समय के अनुसार नहीं मिलती तो न मिले। यदि आदर-मान भी नहीं मिले व राग भी पूरा नहीं हो तो कोई बात नहीं। मेरे को थोड़ा कष्ट भी हो गया और कोई दुर्वचन भी सह लिया, तो कोई परवाह नहीं। इस तरीके से यदि बाहर और अन्दर से मनुष्य का ज्ञान जाग-जाग कर दुनिया में चलने लग जाये, तो उसको फिर जैसे नींद में भी अकेले का सुख होता है, वह आत्मा का सुख उसको अकेले में भी मिल सकता है। परन्तु यह बाहर की लपक इस सुख को नहीं आने देती। इस लपक को बच्चे की तरह प्रत्येक सांसारिक प्राणी पूरी किये बिना रह भी नहीं सकता व मनोमन रोता है। इसके लिए वह बाहर ही भागेगा।

10. बाहर का सहारा सदा रहना नहीं। इन्द्रियाँ चली गईं व बुढ़ापा आ गया। अब कुछ मान भी नहीं रहा। केवल अन्दर का सहारा ही सदा रहने वाला है। सोचों में पड़े प्राणी का श्वास भी ठीक नहीं चलता। यदि श्वास ठीक नहीं चलता तो हृदय, पेट इत्यादि अंग कार्य ठीक कैसे करेंगे? जब अंग ठीक काम नहीं करते, तो फिर रोग-बीमारियाँ भी आयेंगी। ज्यादा चिन्ता (फिकर) में यदि रह गया, तो दिमाग व दिल का रोग हो जायेगा। यह सारा जितना जाल है, यह बनाया हुआ तो अन्दर ही है। परन्तु उस जीवन का बनाया हुआ यह जाल है, जो कि बचपन से प्रकृति (आदतों की शक्ति) द्वारा साधारण (आम) प्राणी को मिला है। जितना-जितना समझने की कोशिश की जायेगी तो यही समझा जायेगा कि आत्म-योग हो गया यानी अपने साथ जुड़ना हो गया।

नहाना-धोना, खाना-पीना, बोलना-चालना आदि सब कर्मों को करते हुए पीछे आगे इनका क्या परिणाम (नतीजा) होगा, ऐसा समझ-समझ करके, करने की आदत डाले। यदि कोई अपने जीवन का ज्ञान रख करके जीना सीख ले और इसी को बढ़ाता जाये तो यही बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ जाता है कि जितनी बाहर की त्यागने की वस्तुएँ थीं, वे सब त्यागी जाती हैं और जो अच्छी अपनाने की वस्तुएँ थीं, अपना ली जाती हैं। जैसे यही, दूसरों के सुख को देखकर खुशी होना (मैत्री), दूसरों के दुःख को देख करके थोड़ी दया मन में बसा लेना, चाहे अपने से नहीं कुछ बन पाये (करुणा), दूसरों के गुणों को देखकर वाह-वाह करना व खुश होना (मुदिता) और दूसरों के अवगुणों को नहीं देखना (उपेक्षा), थोड़ी सहन शक्ति की आदत व थोड़ा सुख भी त्याग देना। सुख त्यागने का थोड़ा दुःख भी ओट लेना, फिर भी खोटा किसी को बोलना नहीं। अपना बर्ताव सही रख लेना। सारे कर्म भय को त्याग कर करने की आदत डालना जैसे नहाते समय मन से ठण्डी लगने का भय(डर)निकाल कर स्नान करना। ये सारे धार्मिक व आध्यात्मिक जीवन के अंग हैं।

11. यदि आपने अपने-आप को वश में कर लिया तो फिर बाहर भी जल्दबाजी में प्रकृति हमें प्रेरित करके दूसरों के साथ उल्टा-सीधा कार्य नहीं करवा पायेगी। यदि भय व क्रोध के कारण हमसे कुछ कहीं खोटा हो गया, तो समझो! बाहर हमारी भक्ति ठीक नहीं हुई। थोड़ा अपने जीवन को पहचान करके कुछ समझें और कुछ सीख लें। सीख करके कुछ सुधार करने की हिम्मत बांध लें। इस तरह हिम्मत बाँधते-बाँधते यदि चलेगा तो अपने भले (कल्याण) के लिए कहीं बाहर भागने की व किसी दूसरी वस्तुओं का ज्यादा सहारा लेने की भी ज़रूरत नहीं है। धन वगैरह का सहारा बच्चे का मन तो लेता है, परन्तु ज़रूरत जितना धन

का होना ही ठीक है। परन्तु यह सोचना कि सारी जीवन की आवश्यकताएँ धन से पूरी होंगी यानी सब कार्य धन से पूरे होंगे, यह मिथ्या धारणा है। इसलिए अपने अन्दर के ज्ञान को जगा करके थोड़ा दूसरों से पीछा छुड़ाने का यत्न करे। थोड़ा जितना आप अपने अन्दर जागेंगे, उतना थोड़ा पीछा दूसरे से छूट जायेगा, यही मुक्ति के आरम्भ की प्रथम अवस्था है। अकेले बैठ कर थोड़े दिन भर के कर्मों का ध्यान (ख्याल) करें। यदि दिन भर के अपने कार्यों का विश्लेषण (छानबीन) करते हुए इसको आप अपने एकान्त में चिन्तन में लायेंगे तो यही चिन्तन, ध्यान हो जाता है। यही चिन्तन समझो स्मरण हो गया और यदि कुछ उससे अच्छी शिक्षा की खबर मिल गई व सत्य समझ में आ गया और इससे कुछ सीख लिया तो यही ज्ञान हो गया।

12. हर कर्म को होश (सोधी) या स्मृति ठिकाने रखकर यदि उसकी तंगी व दु:ख देखते हुए, हिम्मत बांध कर पिछले कर्मों से कुछ सीखते हुए करते जायेंगे, तो यह आपका आध्यात्मिक जीवन बनता जायेगा। फिर पीछे किये हुए का एकान्त में ध्यान करे और कुछ सीख कर उसके अनुसार फिर बाहर चलना भी शुरू करे। इस प्रकार यह एक नियमबद्ध जीवन चलते-चलते अन्त में अकेले में बहुत देर तक आपको ध्यान करने की आदत पड़ जायेगी। अन्दर के तत्त्व समझ में आने लगेंगे। जैसे आपने भय इत्यादि को बाहर नहाने-धोने में ठुकराया, क्रोध आदि को दूसरों से बातचीत करने में और राग आदि को खाने-पीने में हटा करके अपने मन को मारा व इसकी तंगी (क्लेश) को सहन कर लिया, तो आसन पर बैठे-बैठे अकेले में भी तंगी (दु:ख) सहन कर लेंगे। जब अकेले बैठे-बैठे आपसे तंगी सहन होने लग गई और ऐसा होते-होते तंगी ज्यादा देर नहीं रहेगी व मन नींद लाकर भी इस तंगी को समाप्त कर देगा। यदि आप नींद भी नहीं लेंगे

तो समझो जागते–जागते आपको ध्यान (समाधि) का सुख मिल गया अर्थात् तंगी से मुक्ति मिल गई, यह सब धीरे–धीरे करने का है।

13. बिना किसी निमित्त (शर्त) के बाहर से छुटकारा यह संसार की खींच ही नहीं होने देती थी, जिसको समझ करके थोड़ा टालना शुरू किया। ध्यान में काफी देर बैठे–बैठे समझ के साथ इस खींच को पूर्ण रूप से टाल भी दिया, तो अब खाली मन में बैठने का यत्न करें। मन खाली बैठता हुआ डरता है कि खाली बैठने से तो 'मैं' नहीं मिलती, कारण कि बाहर की वस्तुएँ नहीं मिल रहीं यानी अकेले में प्राणी व पदार्थों का संग नहीं है तो 'मैं' कहाँ से मिलेगी? ऐसी अवस्था में अपने अन्दर ही अन्दर मन में विचार उपजायें कि कोई बात नहीं और उनके वियोग की तंगी को थोड़ा सहन करने की आदत डालें, जैसे बीमार मनुष्य को चारपाई पर पड़े रहने का व किसी को काटे–जले का दुःख सहन करना ही पड़ता है। विचार (ध्यान) के साथ यदि किसी ने दुःख देखना सीख लिया, कि अकेला बैठा हुआ मन न लगने व अकेला रहने का दुःख देख रहा हूँ कि यह कितना ज्यादा दुःख है। इस दुःख को देखते–देखते या तो मन निद्रा (सोने) की तरफ जायेगा कि 'सो जाओ।' यदि आपने नींद की मिठास भी ठुकरा दी व नींद की तरफ नहीं गए तो यही शंकर की शान्त समाधि मिलेगी अर्थात् दुःख के समाप्त होने पर शान्ति व आनन्द का अनुभव होगा। इसको कहते हैं—मुक्ति (शान्ति) का सुख। यह तब मिलता है, जब संसार टल गया व बाहर की तृष्णा का दुःख आपने किसी निमित्त (कारण) के साथ नहीं दूर किया यानी दुःख को बाहर के किसी निमित्त (कारण) जैसे गप्पें लगाना या राग सुनना आदि से नहीं टाला। घंटो आसन पर बैठे रहे और दुःख देखते–देखते वह टलना शुरू हो जायेगा। यदि नींद आई, उसको भी नहीं लिया

तो अन्त में ध्यान समाधि का आनन्द मिल गया। ऐसे मनुष्य को मालूम होगा कि अब अकेले बैठे हैं, किसी दूसरे का सहारा भी नहीं है, अब देखो! कैसे मन लग रहा है? अकेले में भी वह 'मैं' उजड़ती नहीं, यानी नष्ट नहीं हो जाती और अन्दर बारीकी में आनन्द की अवस्था (हालत) में रहती है। उसको परमात्मा या अपना-आपा समझना और चेतन रूप या शुद्ध ज्ञान रूप में समझ लेना। यह शुद्ध चेतन व ज्ञान रूप प्रकट करना पड़ता है। इसके लिये यही कमाई है कि मनुष्य पहले थोड़ा दुःख के सामने डटा रहे, फिर अकेले में भी संसार से अलग होकर इसका दुःख सहन कर ले। कारण कि मर करके अन्त में संसार से बिछोड़ा तो होना ही है, यदि अभी जीते जी यह संसार से वियोग का दुःख सहन नहीं किया, तो मर करके इसी संसार के वियोग (बिछोड़ा) का दुःख सहन करना अत्यन्त कठिन मालूम पड़ेगा और इसी कारण से पुनः संसार में जन्मना पड़ेगा या जन्मने का दुःख देखना पड़ेगा। यदि जीवन काल में बिछोड़ा सहन करने की आदत नहीं पड़ी यानी संसार से असंग होना आपने नहीं सीखा और यहाँ उससे मुक्ति नहीं देखी, तो फिर मर करके मुक्ति मिलने की नहीं है। मुक्ति, बन्धन और जन्म के बारे में मनुष्य को जीवन-काल में ही पता लग जायेगा कि मैं संसार से मुक्त हो जाऊँगा या मुझे फिर जन्म लेना पड़ेगा। यह कैसे पता चलेगा? यदि अकेला बैठा हुआ मन फिर महसूस करे कि मुझे संसार की ज़रूरत है, तो समझो कि वह फिर जन्मेगा और अपने-आप में रमण नहीं करना चाहता या अपने-आप में सुख नहीं पा सकता तो वह मर करके भी सुखी न होकर पुनः संसार में ही आयेगा। यहाँ जो अभी बाहर इस प्रकार जन्मना चाहता है कि आधा घंटा खाली बैठने के बाद भी मेरा मन नहीं डटता और सोच रहा है कि बाहर संसार में ही वहाँ पर चला जाये, जहाँ लोग बैठे गप्पें लगा रहे हैं, उनकी

बातें सुनकर ही मन बहला लेंगे। जैसे ही उसका ध्यान इस प्रकार सोचने में बाहर चला गया, तो वह इतने से ही बाहर जन्म गया। यदि बाहर संसार का चिन्तन नहीं करते हैं, तो मन कहता है कि सो जाओ या नशा पी करके इस संसार को भूल जाओ। इस प्रकार आपने बाहर की वस्तु या नींद रूपी मौत का सहारा ले लिया। इसलिए जागते-जागते दुःख समाप्त (खत्म) करके देखें तभी मुक्ति मिलेगी। इस अकेला बैठने का दुःख को ही देख लें कि यह कितना ज्यादा दुःख है, जो कि यह दुःख बाहर भगा रहा है और कितने समय तक रहता है? देखते-देखते ही यह दुःख ज्यादा देर नहीं रहेगा। कारण कि मन एक जगह नहीं डटता। मन तालाब के अन्दर चलने वाली तरंगों के समान बहता रहता है। यह मन विद्युत् की तरंगों जैसा है ।

विद्युत् की शक्ति एक पदार्थ नहीं है। यह टिकती नहीं। जल धारा की तरह बहती रहती है। जिस तरह आपने इसको इस क्षण व सैकण्ड में देखा है, दूसरा सैकण्ड उसका ऐसा नहीं आयेगा। इसी प्रकार मन भी किसी में कभी भी **एक** अवस्था (हालत) में नहीं रहता। कभी इसमें इच्छा भी रहेगी, तो यह भटकती-भटकती कभी नीचे, कभी ऊपर हो जायेगी, कभी दुःख देगी व कभी कुछ विचार करवायेगी। मन जो एक कार्य करने वाली शक्ति है, एक जगह नहीं डटता। यह मन, जीवन रूप से बहती हुई जो शक्ति है, उसी का ही एक स्वरूप है।

14. यदि आपने मन को दुःख की हालत में देखा है तो यह तरंगें बहाता-बहाता नींद की हालत में पहुँच जायेगा। ऐसे में यदि आपने नींद नहीं लेनी तो मन दुःख को भी समाप्त (खत्म) कर देगा और जागते-जागते उस आत्मा का आनन्द आपके सामने प्रकट कर देगा। इस आनन्द को पाकर मनुष्य समझता है कि जो पाने की वस्तु थी वह पा ली। अब मैं समझ गया कि यह आनन्द तब

मिलता है, जब बाहर संसार की लपक व खींच समाप्त हो जाये, जो इसको खराब कर रही थी व इस पर अविद्या रूपी पर्दा डाल रही थी। मैंने इस अविद्या के पर्दे को हटा करके देख लिया और पाया कि यह आत्मा का सुख तो सनातन है। यह अब कहाँ मरेगा? अब मुझे यदि मृत्यु रूपी नींद भी आ जाये तो भी मैं डरता नहीं और जागते-जागते भी मुझे कोई डर नहीं है। मैं उजड़ा और मरा भी नहीं और बड़ा शान्त भी हूँ। यह है उस आत्मा के आनन्द का साक्षात्कार, जो कि मनुष्य अपने-आप में करता है।

15. पहले थोड़ा यहाँ से चलना सीख जाये कि अन्धकारमय जीवन ठीक नहीं है। जो प्रकृति अपनी तरंगों द्वारा सुख दिखाकर व इच्छा प्रकट करके कहती है कि 'वहाँ आदतों के सुख की तरफ़ चल और ऐसा-वैसा कर।' वह इच्छा प्राप्ति का स्थान व पदार्थ तो दीख रहा है, परन्तु उसकी लाभ-हानि सोचने वाली बुद्धि नहीं है कि अन्त में भला-बुरा इसमें कहाँ तक है? भले-बुरे का विवेक जगाने के लिए ध्यान की ज़रूरत है। जब तक समझ पैदा नहीं होती तब तक समझो, प्रकृति का जीवन है। जब थोड़ी समझ पैदा हो गई व सोचने के बाद कुछ निश्चय करना आ गया तो ज्ञान का जीवन चल पड़ा। अब थोड़ा सुख का त्याग व तंगी सहन कर लें जो प्रकृति के जीवन से विपरीत (उल्टा) धार्मिक जीवन बनाने के लिए ज़रूरी है। जैसे बीमार मनुष्य भी भोजन त्यागकर (छोड़कर) कड़वी दवाई भी पी लेता है। यदि कड़वी दवाई का दुःख बड़ा सुख लाने वाला है, तो वह दुःख, दुःख नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार धर्म के रास्ते पर चलने से जो कुछ भी उसको थोड़ा दुःख मिलता है, वह कड़वी दवाई के समान है। रोगी(बीमार) द्वारा थोड़ा भोजन का छोड़ना ही सुख का त्याग है, जिसने बड़े अनर्थ को समाप्त करना है और बड़ा सुख लाना है।

16. संसार का रास्ता तो अन्त में दुःख में ही जाकर समाप्त होगा व अकेले में मन कहीं लगेगा ही नहीं। फिर यही भटकना रहेगी। जीवन-काल में तो मुक्ति दिखलाई नहीं दी तो मर करके कैसे दीखेगी? जैसे कि पहले कहा है कि जीते जी देख लो कि अकेले बैठे हुए का मन संसार के सुख लेने के लिए जाता है या नहीं? जब आपको मालूम हो जाये कि मन बाहर कहीं नहीं जाता और बाहर कहीं सुख भी नहीं देखता, अकेले में शान्त होता है, बल्कि बाहर जाने में दुःख मानता है, तो समझो! आप मुक्त हो गए। यदि यहाँ मुक्त हो गए तो मरके भी यही मुक्ति बनी रहेगी। ज्ञान रूप आत्मा सारे देहों में समान रूप से बैठा है व मरने वाला नहीं क्योंकि जब हम सो जाते हैं, यह सोता नहीं व देह के सारे कार्य हमारी नींद में भी करता रहता है। जब यह हमारे सोने पर सोता नहीं, तो हमारे मरने पर यह मरता भी नहीं। हम को पता नहीं लगता कि यह कहाँ है? यही इस पर अविद्या का पर्दा पड़ा हुआ है। हम प्रकृति के रास्तो में खो गये, यह आत्मा नहीं खोता। यह चेतन शक्ति हमारे अन्दर ही थोड़े है? कीड़ा, पतंगा, पशु, पक्षी व पेड़ों के अन्दर भी चेतन है और इसी की शक्ति माया या अविद्या रूप में बसी बैठी है। उनको भी ठण्डी-गर्मी महसूस होती है और वे बढ़ते हैं। परन्तु इन पेड़ों में वह अपने ढंग से समाधि रूप में बैठी है। कीड़े-पतंगे के अन्दर थोड़ी विकसित हो गई। पशु-पक्षी के अन्दर और ज्यादा विकसित अवस्था में है व साथ में मन भी विकसित हो गया। परन्तु मनुष्य के अन्दर बुद्धि रूप से उसका विकास पूर्ण रूप से है। इसलिए मनुष्य में वह परमेश्वर भाव है। इस संसार को समझकर ज्ञान पाने का व इसकी जड़ में बैठे हुए सर्व आत्मरूप परमात्मा तक पहुँचने का अधिकार मनुष्य को प्राप्त है। यदि बुद्धि को आपने जड़ रख लिया और सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि प्रकृति की तरंगों के अनुसार

(मुताबिक) चलने लग गए तो फिर पशु–पक्षी भी तो यही करते हैं। आलस्य, सुस्ती व नींद में भी बुद्धि का उपयोग नहीं हो पाता।

17. यदि ज्ञान (विवेक) अन्दर जागना शुरू हो गया तो समझो, इस जन्म की सफलता हो गई। यदि बुद्धि ले करके मरेंगे तो मनुष्य जन्म से नीचे नहीं जायेंगे। यदि प्रकृति की धार में बहते हुए मर गए तो पता नहीं जो भाव होगा वही स्वरूप प्रकृति बना देगी; जैसे कोई भी कीट, पतंग, पशु इत्यादि की। यदि कुटिल रीति से वैर करने वाला तृष्णा में ज्यादा द्वेष व वैर लेकर गया, तो साँप भी बन सकता है, चालाक ढोंगी है तो गीदड़, और किसी के सुख को सहन न करने वाला है तो कुत्ता भी बन सकता है। यदि ऐसे ही भाव मनुष्य में हैं तो अन्य जीव प्राणियों से अन्तर (फर्क) क्या रहा? बुद्धि से विवेक करके थोड़ा पीछे हटें। थोड़ा सुख का त्याग करना पड़े व थोड़ा दुःख भी सहना पड़े तो आप ऐसा अवश्य करने का यत्न करें। यदि आप ऐसा कर गए तो बुद्धि तो बनी रही व प्रकृति के रास्ते में बहने से बच गए। बुद्धि के अनुसार यदि इसकी आज्ञा का पालन बना रहा तो समझो! आप भगवान् के भक्त हैं और उसी के रास्ते पर हैं। यदि यह बुद्धि का रास्ता रहेगा, तो आपको कभी डरने की ज़रूरत नहीं कि आप मनुष्य जन्म से नीचे जायेंगे।

18. यदि पहले प्रकृति के रास्ते से खोटे कर्म हो गए हैं परन्तु यदि मरते समय यह बुद्धि बनी रही और इसको साथ लेकर गये, तो समझो अन्त में तो ठीक ही रहे। अब यदि इसी विवेक के मार्ग पर रहते–रहते आध्यात्मिक जीवन पूरा करके रख लिया, तो समझो आपका मनुष्य जीवन सफल हो गया। आपने सांसारिक वस्तुओं का त्याग कर दिया व संसार में रहते हुए इससे मुँह मोड़ लिया अर्थात् प्राणी व पदार्थों का सुख छोड़ दिया और अकेले में

दुःख को देखते–देखते अपने–आप में ही समाप्त (खत्म) कर

दिया। इस दुःख को बाहर का कोई निमित्त या सहारा लेकर सांसारिक ढंग से नहीं दबाया। सांसारिक ढंग या बाहर की किसी वस्तु का सहारा लेने से तो दुःख अपनी आत्मा में ही शान्त होगा। फिर अकेले बैठे उसको इतनी शान्ति मिल गई कि वह अनुभव करेगा कि बाहर तो केवल धक्के ही खाने थे। आनन्द रूप भगवान् तो यही अन्दर बैठा है व आपको मुक्ति का निश्चय हो गया। आपको प्रमाण पत्र मिल गया कि जाओ आपकी मुक्ति हो गई। यही अन्त में होना है। यह आत्म रूप चेतन शक्ति तो मरती नहीं। आप इसी के साथ मिल गए, जो सबकी आत्मा है, यह तो मरता नहीं है। जैसे ऊपर बताया है कि यह हमारे सोने पर सोता नहीं तो मरने पर मरेगा कैसे? तो आप वहाँ तक पहुँच गए। अब न तो आपको बुद्धि, मन व बाहर के प्राणी व पदार्थों की ज़रूरत है, तो यहाँ तक पहुँचना है।

19. सारे का निचोड़ यही है कि जीवन जो है वह (1) भौतिक (2) आध्यात्मिक तथा (3) सर्वव्यापक है। बच्चे को जन्म से भौतिक जीवन मिलता है और उस में वह जो 'मैं' पाता है अर्थात् उनके सम्बंध से जो अपना-आपा पाता है या समझता है, उसी के बारे में वह सोचता है कि इस बाहर से मिली हुई परिचित सांसारिक 'मैं' के सहारे मैं जीवित हूँ। यदि यह नहीं मिलती, तो समझो! मैं उजड़ ही गया। इसलिए जब वह अकेला होता है, तो उसका मन नहीं लगता तो दुःखी होकर इन्हीं प्राणी व पदार्थों में अपनी 'मैं' को थोड़ी देर के लिए पाता है और ऐसे ही मनुष्य जन्म भर आदत में पड़ा रहता है। यदि इसी प्रकार की मन और बुद्धि पिछली उम्र तक बनी रही तो बताओ उसने अपना जीवन का कल्याण कैसे साधा? वह कल्पित 'मैं' भी अन्त तक नहीं मिलती जो रो-रो कर मरती है। दूसरा जीवन धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन है। इसमें थोड़ा जीवन को समझ के साथ चलाये। जब तुम किसी

मार्ग पर चल रहे हो, जिसमें अन्तिम अच्छाई नहीं है, तो मनुष्य के लिए भगवान् द्वारा दी गई बुद्धि से सोच कर देखे कि अन्त में भला कहाँ है? इस संसार में ऐसे ढंग से रहना है कि सब में बैठे हुए भगवान् की भक्ति हो सके। अपना-आपा इतना बुरा नहीं बनाना कि जहाँ जायें, वहाँ धक्के ही खायें, जैसे ऊपर लिखित दृष्टान्त में पहले सेठ जी के साथ हुआ था। अपना-आपा ऐसा बनाना कि जहाँ जायें, अपने लिए अच्छा ही हो व दूसरों की तरफ से कुछ बुरा न आये। आध्यात्मिक जीवन का प्रथम पाद तो अपना आत्म संयम अर्थात् अपने-आप पर थोड़ा काबू पाना है। उसमें यदि थोड़ी तंगी हो, वह भी सहन करना, थोड़ा सुख छोड़ना पड़े, वह भी त्याग देना। फिर सारी अच्छाइयाँ, गुण व अच्छे कर्म अपनाना। इस तरह करते-करते यह आदत इतनी पक जायेगी कि अन्त में अकेले में भी आपको बहुत समय बिताने का अवसर (मौका) मिल जायेगा। कहाँ तो पहले आपसे अकेले में एक मिनट भी बैठना कठिन प्रतीत होता था फिर ऐसा हो गया कि ज़रूरत पड़ने पर भी दूसरों में जल्दी जाना ही नहीं चाहेगा और वह अकेले में ही बैठना चाहेगा। इस प्रकार अन्दर ज्ञान बढ़ता जायेगा "कि जो तू मना! आदत से करना चाहता है, वह तो सब दुःखों में समाप्त (खत्म) होता है।" जितनी शरीर को ज़रूरत है उतना तो करना ही पड़ता है, उससे ज्यादा ठीक नहीं जो कि व्यर्थ (फालतू) प्रकृति के रास्ते का है। जितना आदतों का रास्ता था, उसने सब पर काबू पा लिया। काबू पाते-पाते यदि एकान्त में मन लग गया, शान्त हो गया, बाहर कोई भी विरोध, संघर्ष वगैरह कुछ भी नहीं रहा और किसी प्रकार की बाहर अपने से किसी को कोई शिकायत तक भी नहीं रही तो समझो कि अब वह अपने-आप में पूर्णता को प्राप्त हो गया और पूर्ण शान्ति को भी पा गया और जन्म-मरण से भी मुक्त हो गया। दूसरे गुण देखते

(परखते) हैं कि वह तो क्षमावान्, वैराग्यवान् और बड़ा धैर्यवान् है, किसी को कड़वा नहीं बोलता, तो समझो! यह बाहर संसार से उसको 'मैं' मिलेगी जो बहुत लम्बे समय तक टिकी रहेगी और अन्त में मुक्ति में ही समाप्त होगी। पहले बचपन वाली 'मैं' है, जो जिस समय मिली उसी समय चल बसने वाली है। इस प्रकार से बाहर सर्व व्यापक में भी जीवन शुद्ध बन गया, क्योंकि अन्तर शुद्ध हो गया, सहन शक्ति वगैरह हो गई, गुण भगवान् के सारे आ गये फिर उन गुणों ने अपनी आत्मा में जा करके शान्त रीति से अकेले में दुःख देखते-देखते ही ठंडक (शान्ति) पहुँचा दी। वह जो ठंडक (शान्ति) है, वह परमात्मा की अनन्त है। वैसे निद्रा की ठंडक इतनी मीठी नहीं है, जितनी जागते-जागते ज्ञान की ठण्डक है और उसी अवस्था में वह मन में समझेगा कि जो मैंने अपने-आप में देखा है, कहीं ऐसा कोई प्राणी है, जिसमें यह आनन्द नहीं हैं। परन्तु जिसने इस धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन को साधन रूप से नहीं अपनाया, उन सबमें यह आनन्द अविद्या से ढका हुआ है। इसलिए वे अपने-आप में शान्त न होकर अविद्या से संसार में ही भटकते रहते हैं। यह सबमें होने वाला आनन्द रूप भगवान् वैसे तो सबमें सर्वव्यापक है, जब यह सर्वव्यापक है तो उसका परमात्मा भी सर्वव्यापक (सब जगह) ही है। इस प्रकार उसको न तो कहीं मौत है और न कहीं उसको दुःख है, बस! यही सारे कहे हुए का निचोड़ है।



प्रवचन-8

दिनांक : 20.1.1987

1. जैसे उस दिन 18.1.1987 को बतलाया गया था कि पिछली अवस्था (उम्र) में पहुँचकर मनुष्य यदि यह सोचे कि मैं केवल बाहर के साधनों, जैसे धन, परिवार के सदस्य, मित्र व प्यारों आदि द्वारा ही अपने जीवन का कल्याण (हित) करता हुआ सुख से रह सकूँगा तो यह उसका इतना उत्तम निश्चय व विश्वास नहीं है। बुढ़ापे का संगी-साथी व सहारा पहली आयु (उम्र) से शुरू किया हुआ धर्म (जो कुछ अच्छाइयाँ व सद्गुण धारण किये जाते हैं) ही बनेगा। बच्चा जन्म से ही अकेले रहना नहीं जानता है और उसको तो बाहर का ही सहारा है ; कारण कि वह दूसरों के संग से ही बड़ा हुआ है और उसमें सांसारिक ज्ञान जन्मता है। बाहर संसार की सारी बातें जानकर वह एक समुदाय या समाज में उसका अंग होकर आराम से रहता है। परन्तु जब तक उसकी देह व इन्द्रियों में शक्ति व सामर्थ्य है तब तक तो वह सब को अच्छा लगता है। जैसे-जैसे यह देह व इन्द्रियों की शक्ति कम होती जाती है, तो बाहर का स्वार्थ कम होने से किसी का भी आकर्षण (खिंचाव) बाहर ज्यादा नहीं रह जाता। इसलिए पुराने ऋषि लोग अपने शास्त्रों में पचास वर्ष (साल) या इससे ऊपर अवस्था होने पर वानप्रस्थ आश्रम बता गए हैं। जिसका तात्पर्य (मतलब) है कि वन अर्थात् जंगल (एकान्त स्थान) की तरफ प्रस्थान (रवानगी) करने की सोचना व बाहर के प्राणी, समुदाय, धन, द्रव्यों आदि साधनों से मिलने वाले सुख की इस ढलती आयु (पिछली उम्र) में बिल्कुल आशा नहीं करना, कारण कि शरीर में व्याधि व तृष्णा बढ़ जाने से इन तृष्णा की वस्तुओं का सेवन समस्या (उलझन) ही बढ़ायेगा। जैसे पिछले प्रवचन (18.1.87)

के दिन बताये गए दृष्टान्त में रुपयों के आधार पर अपने मान व सुख की तृष्णा के कारण उस वृद्ध सेठ को अपने लड़के, लड़की व बहन के घर से भी ठुकराया गया और उसको कहीं सुख नहीं मिला। दूसरे मनुष्यों ने तो उसकी अवस्था व व्यवहार (बर्ताव) के अनुसार ही उसको आदर-मान देना था, लेकिन वह जवानी में मिलने वाले अपने सुख व आदर प्राप्त करने की आशा में धक्के खा रहा था। बूढ़ा होने पर मनुष्य में कोई विशेष आकर्षण (खिंचाव) नहीं रह जाता, जिससे कि दूसरों में उसका संग करने की इच्छा बनी रहे।

2. ऐसी अवस्था (हालत) में यदि आपने अकेले में मन लगाने का धर्म अपना रखा है, चाहे वह भगवान् का चिन्तन या मन का ध्यान करके सत्य आत्मा को समझना हो, तो समझो! आपकी जीवन नौका सही ढंग से पार हो सकती है। वह एकान्त-सेवी समझता है कि देह की ज़रूरतों के अनुसार तो समुदाय में हूँ और जितनी परिवार, समाज को मेरी ज़रूरत नहीं है, उतना अपने अकेले, आनन्द में हूँ। जो सोचने की बातें हैं सोचता भी हूँ, जिसका नाम ध्यान (चिन्तन) है और फिर सोचकर समझने लायक व दुनिया के सत्यों को पहचानता भी हूँ, जो कि प्रज्ञाएँ है। उन प्रज्ञाओं की प्रेरणानुसार करने के लिए हिम्मत (ताकत) भी रखता हूँ, इसी का नाम़ वीर्य है। क्रोध आदि को दबाने का भी सामर्थ्य रखता हूँ तथा व्यर्थ (फालतू) काम (इच्छा) को भी पटक सकता हूँ। अपने अन्दर मान को ज्यादा आने नहीं देता। किसी से थोड़ा दुर्व्यवहार मिलने पर उसको हज़म भी कर सकता हूँ। ऐसी-ऐसी बातें सोचकर अपने मन को प्रेरित करे। यह सब धर्म बुढ़ापे में एक दम नहीं अपनाया जा सकता। यदि जवानी से ही इनकी आदत डाली जाए या जिस समय भी मनुष्य को समझ आने लगती है, उसी समय से ही धर्म उसका अंग हो जाता है। इस समझ को

बचपन से ही उत्पन्न करने के लिए उपनयन (जनेऊ यज्ञोपवीत) संस्कार करते थे, जो कि पाँच वर्ष से 16 वर्ष तक की आयु में होता था। गुरु के निकट बच्चा जाता था, जो उसको यही दीक्षा देते थे कि अब तुम यज्ञ से बंध गए हो। यज्ञ यही है कि देव संगति करनी पड़ेगी अर्थात् उत्तम गुणों को धारण करना पड़ेगा तथा उत्तम कर्मों के साथ-साथ उसको बड़ों की पूजा भी करनी पड़ेगी। फिर कुछ अपनी कल्पित आत्मा (अपना-आपा) की 'मैं' भी छोड़नी पड़ेगी, कारण कि बच्चा तो 'मैं-मैं' ही करता है कि मुझे यह चाहिए, वह चाहिए। मैं नहीं मानता। अपना हठ रखता है। चलो, उसकी 'मैं' तो कुछ समय के लिए प्यारी लगती है और पूरी भी कर दी जाती है; लेकिन सारी आयु कैसे यह 'मैं' किसी की चलेगी? वृद्धावस्था में सुख का त्यागी भी बनना पड़ेगा। यज्ञ का तात्पर्य (मतलब) है—(1) अच्छे गुणों की संगति (2) देव संगति करना और (3) दान अर्थात् अपने अहंकार को त्यागना अर्थात् अपना खोटा स्वभाव भी त्यागना पड़ेगा, यद्यपि योग्यता व सामर्थ्य के अनुसार और भी कई प्रकार के बाहर किये जाने वाले दान हैं, वह भी करने पड़ेंगे।

3. इसको यज्ञोपवीत संस्कार भी इसलिए कहते थे कि इस यज्ञ के साथ उपवीत हो जाना अर्थात् लिपट जाना। यह कोरा जनेऊ का सूत्र (धागा) नहीं था। वह इस बात का चिह्न होता था कि बच्चे अब तुम यज्ञ द्वारा लपेट दिये गए हो तथा बांध दिये गए हो और तुमको सब नियमों के अनुसार रहना पड़ेगा। सब अच्छे गुण अपनाना, देव संगति (बड़े आदमियों की संगति) करना और अपनी 'मैं' को थोड़ा छोड़ना। उसके लिए जितना कष्ट (दुःख) होना है, वह सब सहन करना। इस प्रकार बचपन से लेकर जवानी तक भी इन्हीं का (सद्गुणों का) पहले से ध्यान चालू हो गया, तो समझो। भगवान जीवन में प्रवेश पा गया।

4. जो भी कार्य समझ के साथ किया जाता है, वह ज्यादा पुष्ट व बलवाला होता है। वैसे तो अज्ञान व श्रद्धा से भी कार्य होते रहते हैं लेकिन वे इतने बल वाले न होने के कारण ज्यादा देर टिकते नहीं। यदि कोई यह समझ जाये कि कम खाने से तन्दुरुस्ती ठीक रहती है, तो उससे कम खाना आराम से हो जायेगा। इसी प्रकार किसी रोग (बीमारी) से बचने के लिए समझ के साथ कुपथ्य (न खाने योग्य) भोजन का त्याग किया जाता है। यह ठीक है, कि श्रद्धा से सुनकर अपनाया गया धर्म भी बल तो रखता है, परन्तु मनुष्य को करने की युक्ति भी जाननी चाहिए अर्थात् कोई भी कर्म क्यों करना चाहिए और उस कर्म को करने का कारण भी समझना चाहिए। इसी का नाम विद्या (समझ) है। इसे ही पहले देव-ज्ञान कहते थे कि कर्म किस लिए किया जा रहा है, इसको समझना। बच्चा पहले श्रद्धा से ही कर्म करना सीखता है। परन्तु जब कुछ समझकर, सोचने लग गया तो उसका सोचना ध्यानरूप बन जाता है। अब वह प्रकृति के चक्कर से निकलने के लिए चल पड़ता है।

5. प्रकृति, सांसारिक ज्ञान उत्पन्न (पैदा) करके व वैसा ही प्रतीत (प्रकट) करवा करके मनुष्य व सब जीवों को धक्का मार कर चला देती है। प्रकृति का काम है कि जरा थोड़ा-सा अपने विपरीत वस्तु या परिस्थिति आ पड़ने पर शंका व भय हो जाता है, जो कि उसके हथियार हैं। जैसे साँप को जरा-सा स्पर्श (छू) देने से उसके अन्दर प्रकृति (स्वभाव) से भय का ज्ञान आ जाता है और वह क्रोध में डंक मार देता है कारण कि उसमें विचार तो जन्मा नहीं और प्रकृति कार्य करती है, जो भय के कारण अपना नुकसान समझ कर विपरीत कार्य कर जाती है, चाहे बाद में कुछ भी हो। चींटी भी थोड़ा-सा दबाव पड़ने पर और क्रोध आने पर काट लेती है, कारण कि वह भी इतना विचार करने की शक्ति

नहीं रखती कि समझ के साथ निकल जाऊँ, वरना जिसको काटा गया है वह उसको बिल्कुल ही समाप्त (खत्म) कर देगा। प्रकृति के प्रत्येक जीव में यह स्वाभाविक धारा है कि दुःख के साथ द्वेष करना और द्वेष के साथ क्रोध आता है, जो अपना भला-बुरा कुछ नहीं जानता। आम मनुष्य को भी थोड़ा सुख बिगड़ने पर व दुःख आने पर एकदम ज़हर जैसा वह दुःख लगता है और इस ज़हर के साथ ही क्रोध है। अब क्रोध में मनुष्य अन्धा होता है, कारण कि बुद्धि तो रहती नहीं। ऐसी अवस्था में प्रकृति की तरंगें व जोश बाहर संसार में धक्का मारकर चलाती हैं। उस प्रकृति से प्रभावित पुरुष से ही वह प्रकृति अति अधिक दुःख देने वाले कर्म करवायेगी। जैसे तेज हवा सूखे पत्तों को उड़ाकर ले जाती है, वैसे ही प्रकृति के धक्कों से सब प्राणी क्रिया करते हैं। छोटे-मोटे सब प्राणियों के अन्दर यह प्रकृति, ज्ञान रूप चेतन परमात्मा के सहारे टिकी हुई समझती है और धक्का मारती है। यदि इस प्रकृति की समझ व जोश के अनुसार कोई चल पड़े तो ऐसा चलने वाला बस जीव ही जीव है अर्थात् साधारण जीव ही है और इसके अन्दर आत्मा जानने वाला या ज्ञान रूप पुरुष अभी पैदा नहीं हुआ है। जो वस्तुस्थिति सामने आ रही है, उसमें एक सैकण्ड का टिकना हो जाये अर्थात् आगे होने वाले कार्य के बारे में यदि एक सैकण्ड भी हम सोच जायें, तो समझो कि यह स्मृति (मन की उपस्थिति) आपने रख ली। मेधा (धारण करने वाली मति) रह गई। जैसे स्मृति (मन की उपस्थिति) रह गई तो वह थोड़ा सोच जायेगा कि यह प्रकृति का धक्का जो मुझे लगा है यह किधर ले जा रहा है? और उससे समझ जायेगा कि जिधर यह धक्का (जोश, उत्तेजना) ले जा रहा है, उस रास्ते में मेरा सुख व भला नहीं है। इसलिए वीर्य (हिम्मत) करके उस रास्ते को टाल जाये, चाहे ऐसा करने में कितना ही दुःख हो, जो कि तप रूप

होता है।

6. यदि मनुष्य के अन्दर पूर्व व्याख्यानों में विस्तार से कहे गए ये पाँच बल, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ध्यान और प्रज्ञा (सत्य वस्तु का ज्ञान)आ जाएँ, तो समझो भगवान् के ज्ञान का प्रवेश हो गया। लेकिन ये बल आत्मवित् पुरुष अर्थात् जो अपने-आप को जानने वाला है, उसके पास आयेंगे। प्रकृति तो एक क्षण सैकण्ड को तो जानती है। प्रकृति के अन्दर धक्का लगने पर चोट करने का ज्ञान तो है, परन्तु अन्त में इसका क्या परिणाम (नतीजा) होगा, इसका उसको कुछ पता नहीं है। जैसे कोई एक व्यक्ति था, ज्यों ही किसी मच्छर ने उसको काटा, तो उसका एकदम तेजी से माथे पर हाथ गया और मच्छर को उसने रगड़ दिया। एक महात्मा जी उसको ऐसा करते हुए देख रहे थे। लेकिन उसको कुछ नहीं कहा, कारण कि उस मनुष्य के पास तो यही उत्तर (जबाव) होगा कि ये जीव तो मारने के लिए बने हैं। सरकार भी मलेरिया विभाग से मच्छर मरवाती है। यदि मैंने मार दिया तो कौन-सा पाप कर दिया? परन्तु उसको यह पता नहीं था कि सरकार जो मच्छर मरवाती है, वह बहुत जनता की भलाई के लिए करती है, तो पाप भी बहुतों में बंट जायेगा। अपने लिए किया हुआ पाप तो अपने सिर पर ही पड़ता है। ऐसी अवस्था में उसने महात्मा जी से प्रश्न पूछ ही लिया कि "ऐसे जीवों को जो कि हमको दुःख देते हैं मारने से पाप होता है या पुण्य?" महात्मा जी ने कहा कि पाप-पुण्य ती पीछे देखेंगे लेकिन इसमें प्रकृति की अधीनता व समझ के बिना कार्य करना तो ज़रूर दिखाई देता है। जैसे मच्छर के बैठते ही व प्रकृति द्वारा क्रोध की तरंग फैंकने पर हाथ ने एकदम बिना समझ के उस मच्छर को रगड़ कर मार दिया। यदि आप थोड़ा-सा सोच लेते कि इस मच्छर ने मुझे स्वाभाववश काटा है और मैंने इसको तंगी सहन करते हुए भी बचाना है तो वह

आराम से उड़ाया भी जा सकता है। जीव की हत्या भी क्यों की जाये व इसको आराम से उड़ा दूँ? परन्तु यह तभी हो सकता है जब ज्ञान अन्दर जाग जाये। यद्यपि मच्छर की जिन्दगी बहुत मूल्य वाली थी या नहीं, परन्तु अपने-आप में वह एक जीव तो था ही। अपने अन्दर भी देखना चाहिए कि इस छोटे से जीव की हत्या करने का क्या प्रभाव होगा? थोड़ा-सा विचार करने पर आपको पता चलेगा कि अपने अन्दर तो द्वेष ने ही थोड़े से भी दुःख के कारण कुछ अधिक व्यायाम किया है व क्रोध को ही इस प्रकार बढ़ाया हुआ है और वैसा ही करने की आदत पड़ी है। इसका तात्पर्य (मतलब) है कि मनुष्य भी यदि कोई आपके प्रति अपराध कर दे और कोई आपको कहने वाला न हो तो उसको भी रगड़ देंगे अर्थात् मार देंगे, यही भाव बनेगा।

7. प्रकृति का रास्ता है कि एक, दो या दस बार कोई भी कार्य करवाती है और फिर वह आदत बन जाती है। आदत बनने से वह एक शक्तिरूप में बिना सोचे-समझे व ज्ञान के बिना कार्य करती है और दूसरों को अपने ढंग से चलाती रहती है। इसी को शास्त्रों में प्रकृति कहते हैं। प्रकृति का अर्थ है कि आदत से ही किसी कर्म को सरलता (आसानी) से करवा देने का भाव बना देना। वह आदतों की शक्ति (प्रकृति) खूब जबरदस्ती खींच करके कहती है कि चल उधर, जिधर पहले चलता रहा है। यह सारे जीवों को घसीटती हुई ऐसे ही चलाती है। फिर मनुष्य और सारे जीवों में क्या फर्क हुआ? इसलिए थोड़ा बुद्धि बल को जगाएँ, तो समझो वहाँ ज्ञान रूप भगवान् आ गया। एक सैकण्ड के लिए अपने अन्दर ठहरें व पहचानें कि किसी मच्छर ने काटा है। अपने मन में सोच लें कि इस मच्छर से बचना है तो इसको अँगुली से आरामपूर्वक उड़ा दें। इसका जीवन भी रख लें और अपने दुःख का निवारण भी कर लें और क्रोध को जरा रोक कर कार्य करने

का यत्न करें।

8. जहाँ द्वेष और क्रोध होता है, वहाँ बुद्धि विवेक (विचार करके सत्य वस्तु का निर्णय करना) नहीं रहता। विवेक न रहने से वहाँ मनुष्यता नहीं है। मनुष्यता का यही लक्षण है कि बुद्धि बनी रहे व बुद्धि से सोचकर काम करने की आदत हो और उसमें फिर थोड़ा-सा अपने को संयम (काबू) में रखे अर्थात् थोड़ा अपने को नियमों में रख ले। यहाँ से धर्म का रास्ता शुरू हो गया। यह सारा भगवान् का रास्ता है। इस रास्ते में आत्मा (अपना-आपा) पर ध्यान रखने वाला ही चल सकेगा। एक सैकण्ड के लिए अपने अन्दर देखे कि प्रकृति (आदतों की शक्ति) किस प्रकार चलाती है। जिधर सुख है, उधर बह गए व जिधर दुःख है, उधर से भाग चले या उसके वैरी बन गए। यही प्रकृति का सारे जीवों में खेल है। यहाँ पर आत्मा कहीं नहीं दिखाई देती। बच्चे के जन्म के दिन से लेकर मरते समय तक सब बदलता जा रहा है। जैसे पानी की धार बह रही है, इसी प्रकार देह के अन्दर भी एक ज्ञान की धार बह रही है, जो बदलती जाती है। सारी आयु (उम्र) वही शरीर, मन व बुद्धि एक समान नहीं रहते। यदि शरीर को देखें, तो इसमें टिकी हुई कोई वस्तु भी दिखाई नहीं देती। परन्तु शास्त्रों में कहे अनुसार जो इसमें बना रहता है, उसको आत्मा कहते हैं। उस आत्मा पर नज़र रखते हुए सब सोचते हैं कि आज मैं वह काम करूँ जो कल मेरे लिये बुरा नहीं हो। अब आने वाले कल को यहाँ लिए बैठा है तो कल वाली कौन वस्तु यहाँ टिकी बैठी है? जैसे आज धन कमा लें, वृद्धावस्था (बूढ़ी उम्र) में काम आयेगा। तो अब बुढ़ापे को कौन लिए बैठा है? आज भी मैं हूँ और वृद्ध अवस्था में भी मैं रहूँगा। यह जो अन्दर सदा एक रस रहने वाला बैठा है, इसका नाम आत्मा करके शास्त्र कहता है। यदि उस आत्मा पर नज़र रहेगी, तो इसके लिए

आप आगे के लिए सोच सकेंगे।

९. प्रकृति कहती है कि इस आत्मा पर नज़र रखने का मेरे में कोई विधान नहीं। मेरी नज़र तो वर्तमान के सुख अर्थात् अच्छा लगने पर टिकी रहती है, चाहे उसका अन्त कितना ही दुःखदायी हो। प्रकृति कहती है कि नशा पीना अच्छा लगंता है तो नशा पियें। आगे यह पता नहीं कि इससे रोग, व्याधि, दुःख संकट आयेंगे। इनके बारे में पहले विचार करना प्रकृति का काम नहीं है। यदि आप सोच गए कि नशा पीना ठाक नहीं है, तो समझो इतनी मात्रा में आप ज्ञान रूप भगवान् तथा आत्मा के रास्ते पर आ गए। भगवान् के अन्दर वह ज्ञान चेतन है, जो सब जीवों का हित और अहित जानता है। आत्मा तो ज्ञान रूप से एक बसा हुआ मनुष्य के अन्दर सारे जीवन को इकाई (एकत्व) देने वाला है, परन्तु इसमें ज्ञान तो उस परमेश्वर का है। यदि बुद्धि (समझ) जाग गई, कि ऐसा करने से पहले जरा ठहरें, एक मिनट सोच लें और सोच करके फिर समझ लें। बस! यह जो समझ लेना है यही ईश्वर का एक क्षण (सैकण्ड) था। अब इसको इतना मन में बसाये कि सर्वशक्तिमान की जितनी शक्ति आपके अन्दर उतर सके, उतारने का प्रयास करें, ताकि आपको धीरे-धीरे छोटा भी कर्म समझ के साथ करने की आदत पड़ जाए।

10. बच्चा या जवान मनुष्य अपने अन्दर गुणों को लाये और विकारों को दबाये। ध्यान द्वारा अपने इस जीवन को समझे तो किसी समय में जा करके अकेले में सुख पा सकता है। यदि बाहर के सहारे ही रहा तो बाहर वाले तो सब आँखे चुराकर चले जायेंगे। कोई संगी-साथी यदि नहीं रहेगा तो इसका जीवन कैसे निकलेगा? प्राणी व पदार्थों के सकल दूसरे सहारे नहीं रहेंगे, तो यह मनुष्य अपने में चिढ़ता रहेगा। जहाँ भी जायेगा, धक्के ही खायेगा। इस मनुष्य का सहारा बाहर के सिवाय कोई भी नहीं है,

क्योंकि पहले से अकेला होकर जीने की आदत डाली नहीं है। जिसने जीवन को पहचानना सीखा है, ऐसा केवल अन्तर्मुख होकर ही होता है। अपना अन्तर (अन्दर) को मुख मोड़ा अर्थात् विचारना व विचार करके निश्चय करना आरम्भ किया। इस प्रकार जब अपने अन्दर हमनें झाँकना शुरू किया तभी हमको कुछ अपनी समझ आयेगी। जब हम अन्तर्मुख होंगे, तभी अपनी उत्तेजनाओं (जोशों) वासनाओं, विकारों को जीतकर अच्छा कार्य (कर्म) कर पायेंगे।अच्छा कार्य करते हुए जो तंगी (क्लेश) हो उसे सहन करना होगा, वह आपकी तपस्या होगी। फिर समझ के साथ छोटे-मोटे सुखों को त्याग कर (छोड़कर) भी जीवन व्यतीत करेंगे तो आप थोड़ा त्यागी भी बन गए।

11. त्यागी, तपस्वी व विचार वाला जो कुछ जीवन चलेगा यह परमात्मा के रास्ते का उत्तम (बढ़िया) जीवन है और आत्मा (अपना-आपा) के हित(भलाई)के लिए है। नहीं तो जैसा भी जीवन बिना विचार के चलता है वह प्रकृति (आदतों की शक्ति) का जीवन है। प्रकृति के जीवन में मनुष्य अन्त में अकेला पड़ जाता है और बाहर इधर-उधर सहारे खोजता रहता है। जब कोई सहारा नहीं मिलता है, तो मृत्यु (मौत) की ही प्रतीक्षा (इन्तजार) करता है कि अब तो बहुत दुःख हो रहा है और मैं मर जाऊँ तो बहुत अच्छा है। परन्तु ऐसे मरने से कार्य थोड़े ही चलेगा? मरने के बाद फिर जैसा इस जीवन में रचा (कर्म किया) है, वैसा ही जीवन मिल जायेगा और यह आवागमन का चक्र चलता ही रहेगा।

12. मनुष्य को अपना जीवन इतना ढीला नहीं छोड़ना है कि वह प्रकृति की तरंगों के अनुसार चलता रहे। थोड़ा जीवन को कसना है अर्थात् जीवन को विचार से चलाना है। जितना भी यह संसार का जीवन है, वह बुढ़ापे में जाकर नहीं चला जा सकेगा। बुढ़ापे में सारी आदतें तो पहले बचपन वाली डाल रखी हैं कि

अपनी मनमानी करना; धर्म की कुछ सुननी नही; श्रद्धा से भी कुछ समझना नहीं व किसी विषय(वस्तु)पर कोई विचार करना नहीं और प्रकृति की तरंगों व धक्कों के अनुसार जो इच्छा आई पूरी कर ली,चाहे वह पूरी की हुई इच्छा भविष्य में दुःख में रुला-रुला कर मारे। क्रोध, मान और अहंकार आया उसके अनुसार चल दिये, चाहे आगे चलकर कैसी भी दुर्गति हो और सारा संसार वैरी (दुश्मन) बन जाये। चाहे कुछ भी हो जाये उसकी कोई परवाह नहीं। यह सब प्रकृति के साथ जीवन की गाड़ी को हाँकना है।

13. जो थोड़ा समझ-समझ कर चले, तो समझो यहाँ से ज्ञान रूप भगवान् का प्रवेश शुरू हो गया। थोड़ा उसने अपने अन्दर समझ लिया कि क्रोध आ रहा है, इच्छा पैदा हो रही है कि क्रोध के अनुसार कोई दुष्कर्म (खोटा कर्म) करना है परन्तु इस इच्छा को पूरी कर लेने से मैं कहाँ पहुँचूँगा? बस, यही सोच गया तो देखो, यह भी थोड़ा बहुत ध्यान है लेकिन बड़ा ध्यान तो अभी आया नहीं। ध्यान समाधि में सुख तो बाहर से छुट्टी (मुक्ति) पाने पर मिलता है। यदि हर समय मन बाहर ही तमन्ना (इच्छा) व तृष्णा में और दूसरों से वैर-विरोध पूरा करने के लिए उलझा रहे तो कभी भी उसको ऐसा जीवन नहीं मिलेगा कि वह अकेले में ध्यान समाधि (मुक्ति) का सुख जीवन-काल में प्राप्त कर सके।

14. ऐसी अवस्था में अपने क्रोध को भी थोड़ा शान्त कर लें, अपनी वाणी को भी थोड़ा सुधार लें, ताकि बाहर कुछ खोटा न हो पाये। यदि कड़वा वचन बोल गए तो दूसरा सहन नहीं करेगा, कारण कि उसके पीछे भी संसार के प्राणी हैं। क्या पता, आगे जाकर वह दूसरा मनुष्य जिसको कड़वा बोला गया है, क्या कुछ करना चाहेगा? इस तरह से यदि बाहर की शंका व भय

बने रहेंगे, तो कोई भी मनुष्य अकेले में सुख-शान्ति से नहीं जीवन बिता सकेगा। उसको रात को नींद भी शान्ति की नहीं आयेगी। यह सारा प्रकृति के रास्ते बिना समझ के साथ चलने से होता है। यह सारा प्रकृति का खेल अपने अन्दर बाहर बिखरा हुआ ध्यान एकत्रित (इकट्ठा) होने पर समझ में आयेगा। यह ध्यान आपको युक्ति व बुद्धि के साथ ज्ञान दे देगा।

15. पहले-पहल तो किसी के कहने से श्रद्धा से चलना है, कारण कि शास्त्रों में महात्माओं व गुरुजनों द्वारा लिखा हुआ है। अभी बल नहीं है। बल तब होगा, यदि बुद्धि स्वयं परखने लग जाये कि जो कुछ मैं करना चाहता हूँ वह किसलिए करना चाहता हूँ? जो समझ के साथ करता हूँ, इसी को हमारे शास्त्र, करने का दर्शन भी साथ रखना कहते हैं। इसका नाम फ़िलोसफ़ी (दर्शन-शास्त्र) है कि जो कुछ करता है, वह अपनी समझ के साथ करता है कि किस हित (भलाई) के लिए मैं ऐसा कर रहा हूँ? किस लिए ऐसा भोजन व नशे पीना छोड़ रहा हूँ? यही नशे यदि नहीं छोडूँ तो ये एक दिन भविष्य में इतना पराधीन कर लेंगे कि छोड़ना चाहने से भी छूट नहीं सकेंगे। यदि इनको पूरा करूँगा तो दुःख व बीमारियाँ पैदा करेंगे। उसको यदि यह सब निगाह में रहता है तो वह नशे छोड़ने की तंगी को भी सहन कर सकेगा। यदि ऐसी समझ अभी नहीं जगी है तो उसकी परेशानी में प्रकृति (स्वभाव) बन गई है। उसकी नशा वगैरह पीने की मिठास, अच्छाई व उसकी प्रेरणा से होने वाले सुख पर तो नज़र बनी हुई है, लेकिन इससे आगे होने वाले दुःख पर उसकी दृष्टि नहीं है। यदि कोई उस होने वाले दुःख पर दृष्टि रखे हुए है, तो केवल उसको ही प्रज्ञावान् समझा जायेगा। दुःख पर दृष्टि तब खुलेगी यदि सत्य को विचार और ध्यान में लायें।

16. जिस समय कोई हुक्म (प्रेरणा) कुछ करने या पाने

की इच्छा उठती है तो तुरन्त विचार जगाये व सोचने की शक्ति (स्मृति)रखे। स्मृति, ध्यान, और प्रज्ञा ये तीन सत्य भगवन्त लोगों के हैं, जो पहले कभी हुए हैं और जिनके ये उपदेश हमारे सामने चले आ रहे हैं। उन्होंने अपने जीवन को इसी रास्ते पर सारे संसार में चलाया है। इसलिए बुद्धि से पहले सोचे व समझे कि जो कर्म मैं करने जा रहा हूँ, अन्तिम हित के लिए होगा या अहित के लिए होगा? फिर यदि मन उधर अच्छाई की तरफ नहीं भी जाना चाहे व प्रकृति का विरोध भी हो, तब भी जबरदस्ती मन को उसी तरफ ले जाये। इस प्रकार यदि यह जोर जबरदस्ती (बलपूर्वक) से मन को अच्छाई की तरफ ले जाने की आदत पड़ गई तो वह मनुष्य पराधीन कभी नहीं जियेगा व अपनी आत्मा में मुक्त होकर ही जीवन-यापन करेगा। मुक्ति नाम बाहर के बन्धनों से छुट्टी पा जाना व दूसरों की दासता से रहित हो जाना है। वह बाहर के किसी प्राणी और पदार्थों से बंधा हुआ नहीं होना चाहिए। तभी मुक्त कहा जावेगा, नहीं तो बन्धनों से बंधे हुए का नाम बद्ध (बंधा हुआ) है।

17. बच्चा तो समाज, प्राणी, पदार्थों व नाना प्रकार के कर्मों के साथ बंधा हुआ ही पैदा होता है। ये बन्धन सारी आयु तक सुख नहीं दे सकते और निभ भी नहीं सकते अर्थात् सारी उम्र इनको पूरा भी नहीं किया जा सकता। इसलिए धर्म को अपनाना है। इसका मतलब यह नहीं कि वृद्ध (बूढ़े) हो जाने पर ही धर्म अपनाना है। धन का सहारा जितना बच्चों के लिए या परिवार चलाने के लिए चाहिए, वह तो ठीक है। लेकिन यह सोचना कि मैं सारी उम्र धन के सहारे जीवन व्यतीत कर पाऊँगा, यह गलत सहारा है। अपने शरीर को रखने के लिए इसकी कम-से-कम ज़रूरतें जैसे—भोजन,कपड़ा व रहने का स्थान आदि तो पूरी करनी ही हैं लेकिन प्रकृति के रास्ते पर चलना ठीक नहीं है कि जब

कोई इच्छा हुई तो उसको पूरी करने के लिए चल पड़े और यह भी चाहिए, वह भी चाहिए, तो इस सहारे से जीना गलत रास्ता है। आत्मा के हित के लिए यह रास्ता नहीं है। प्रकृति के लिए तो यह ज़रूर ठीक है, कारण कि प्रकृति की तरंगों का यही काम है कि थोड़ा सुख-दुःख महसूस करवा करके धक्का देना कि चल उधर ही। जैसे किसी वस्तु को पाने की इच्छा मन में आ गई कि यह पूरी करनी है। प्रकृति ने जोश मारा कि इस इच्छा को पूरा करना होगा व मन के अन्दर इतना उतावलापन पैदा कर देगी कि पूरा किये बिना सुख नहीं होगा। यह प्रकृति का रास्ता है, आत्मा का नहीं।

18. आत्मा का रास्ता यही है कि थोड़ा आगे भी रहना है अर्थात् भविष्य में आने वाले कल, परसों व बुढ़ापे में भी मुझे रहना है तो यह देखना है कि आज का किया हुआ कहीं बूढ़ी (वृद्धावस्था) उम्र में जा करके मेरा सत्यानाश या दुःख तो खड़ा नहीं करेगा, जिससे मेरा आज का सुखरूप आत्मा न रहे, जिसको एक रस व अमर कहा गया है। इस बचपन वाली उम्र की पड़ी हुई आदतों व चलाई (रहनी-करनी) से तो सारे वैरी बनेंगे और सब प्रकार से पराधीनता होगी। स्वजन (अपने भी) छोड़ कर भाग जायेंगे व उस समय (वक्त)जीवन का चलने का कोई रास्ता नहीं रहेगा। यदि इतना जीवन का ध्यान आप कर गए तो सारी दिशाएँ शास्त्रों में बताई गई हैं। परन्तु केवल ऊपर-ऊपर से सुन करके इसको कोई मनुष्य नहीं कर सकता। मन में आत्मा का धर्म तब उतरेगा, जब पहले थोड़ा दुर्गुणों से बचने के लिए जवानी में ही आदत डालें। बुढ़ापे में कोई आदत जल्दी नहीं पड़ती। बुढ़ापे में जब कोई आदत की वस्तु छोड़ना भी चाहेंगे तो उस समय पहले वाला मन रोगी हो जायेगा; उसके साथ तन भी रोगी होगा व श्वास बंद कर देगा। यह मन रोगी हो जायेगा कारण कि

उस वस्तु की सोचों में पड़ जायेगा कि ये मेरी आदत के सुख की वस्तुएँ छूट जाएँगी। जैसे ही यह सोचने लगे श्वास रुक जाएगा। श्वास रुकने पर तंगी होने लगेगी और बुद्धि विचलित हो जायेगी। जब बुद्धि विचलित हो गई तो रोगी मन कहेगा कि इसे (आदत वाले कार्य को) कर ही लो और फिर उसी लाइन में ढल जाएगा।

19. जवानी में यदि कोई आदत नहीं पड़ी और न ही कोई बन्धन अभी चिपका है। उस समय जो आपने भविष्य के सुख के लिए जो धर्म (जो धारण किया जाएगा)अपने अन्दर बैठा लिया वह आराम से अपने अन्दर बैठ जायेगा और धर्म के अनुसार चलने में अधिक तंगी, क्लेश नहीं होगा। यदि आपने इन गुणों की भक्ति शुरू कर दी तो थोड़ा वैराग्य भी रखें। जो काम (इच्छा) व तृष्णा से उल्टा है, जिसका नाम खिंचावट है जो कि सुख-रूप व बढ़िया पक्ष दिखाकर मनुष्य को खींचता है। प्रकृति (स्वभाव) को यह काम (इच्छा) धक्का मारता है कि चलो उधर। उसको थोड़ा पहचानें और उससे थोड़ा बचने के लिए हिम्मत करें व विचार कर जायें कि जितना यह काम (इच्छा) पूरा होना चाहता है; उतना नहीं करें। थोड़ा-सा कम रख करके पूरा करने का यत्न करें। यही वैराग्य का अभ्यास समझो, आपका शुरू हो गया। मन चाहता है कि यह वस्तु तो ज़रूरत से ज्यादा लेनी है, जिसका नाम लोभ है। इसके विपरीत आपने सन्तोष कर लेना है। क्रोध से विपरीत क्षमा है। जहाँ कहीं क्रोध (गुस्सा) आये तो थोड़ी देर ठहर जायें और उसको सहन कर लें। एक दम क्रोध करना ठीक नहीं है, कुछ जल्दी करने के लिए भी उतावला न हो। दुर्वचन निकल जायेगा या क्रोध में कुछ ऐसा कर बैठेंगे जो शायद हित (भलाई) के लिए नहीं हो। ये प्रकृति के धक्के अर्थात् विकार मन में जोश (उतेजना) लाकर बाहर की कुछ करने के लिए

प्रेरित करते रहते हैं। उस समय यदि बुद्धि रह गई, समझ जाग गई व स्मृति रख ली कि थोड़ा ठहरकर एक मिनट जरा सोच लें कि यह विकार कहाँ ले जाना चाहता है और क्या कर्म करवाना चाहता है? तो इसका नाम स्मृति है अर्थात् स्मृति रूपी भगवती देवी मौके पर प्रकट हो गई और अब रक्षा भी कर लेगी। यदि आपने कुछ सोच कर निश्चय कर लिया कि यह कर्म तो अंतिम दुःख की दिशा में ले जायेगा तो समझो, ध्यान आ गया। इस तरह यह जीवन ढालते (बनाते)गए , जैसे मनुष्य स्नान करते, हाथ-धोते व खाना-खाते भी अकेला है और सब में भी है। किसी से बिछुड़ा भी नहीं है और कर्त्तव्यहीन भी नहीं है। हर अवस्था में वह सबके बीच में रहता हुआ अपने साथ भी है अर्थात् आत्मा के साथ है। जो सारे जीवन में भी एक है और मरने के बाद भी एक रहेगा और पहले भी एक चला आ रहा है। उसकी भलाई भी सोच सकेगा।

20. प्रकृति के रास्ते पर मनुष्य की दृष्टि उसी पर टिकी रहती है, जिससे केवल आदत का ही सुख होता है। लोभ भी बीच में आकर कहता है कि "थोड़ा तो खाया है, थोड़ा और खाओ, थोड़ा और बढ़ा दो।" ये सारे विकार उस मनुष्य के सिर पर सवार होते हैं, जो स्मृति-हीन, मन की उपस्थिति(हाज़िरी) रहित है और जिसमें विचार व ज्ञान नहीं है। यह ठीक है कि बचपन में तो यह सब चल जाता है कारण कि बच्चे की देह तो बढ़ती है। यदि बच्चे ने तिल भर ज्यादा खा लिया तो तिल भर उतना उस की देह भी तो बढ़ना है। तेतीस साल तक तो यह सहन हो जाता है। इसलिए शास्त्रों में आता है कि देवता लोग तेतीस साल की उम्र तक रहते हैं। इसका मतलब है कि जब तक तेतीस साल का शरीर नहीं होता तब तक आप कुछ भी करते जाते हैं , वह देह में अनुकूल बैठता जाता है। यदि ज्यादा खाना खा गए तो चलो देह

पुष्ट (बलवान) हो जायेगा, कारण कि उस अवस्था में बुद्धि पूरी जाग नहीं पाती व प्रकृति बढ़ती-बढ़ती वहाँ तक अर्थात् तेतीस वर्ष की आयु तक तो ले गई अब उसने आगे बुढ़ापे की तरफ़ ले जाकर मारना शुरू करना है।

21. इस अवस्था में यदि प्रमाद हुआ अर्थात् ढिलाई की गई तो आत्मा की प्राप्ति कठिन व असम्भव है अर्थात् अंतिम सदा बने रहने वाला सुख प्राप्त नहीं हो सकेगा। अच्छे रास्ते चलने में थोड़ा-सा आदत का पहले वाला सुख न मिलने से ग्लानि होती है, इसको शास्त्रों में प्रमाद कहते हैं। प्रमाद होने में दो अंग, हर्ष और ग्लानि हैं। एक तरफ हर्ष होता है और दूसरी तरफ से ग्लानि। वही हर्ष किसी वस्तु से ग्लानि करवाता है कि इस दिशा में नहीं जाना है। जैसे किसी को थोड़ी-सी ठंड लग रही हो, तो वह स्नान करना नहीं चाहेगा। जो मन गर्म कपड़ों में बैठा हुआ गर्मी का सुख ले रहा है, वह ठंडी से डरता है कि नहाने से ठण्डा पानी शरीर पर पड़ेगा जो ठीक नहीं है। इसी डर के कारण वह स्नान करना नहीं चाहेगा, यही प्रमाद है कि थोड़ा-सा गर्मी का सुख लेने के लिए स्नान द्वारा शरीर शुद्धि के बड़े सुख को छोड़ रहा है। जैसे बच्चा भी नहलाते समय ठण्डी महसूस करता हुआ रोता है। अपने-आप को मन की थोड़ी खुशी व सुख मानने के कारण हित (भलाई) के कार्य को ढीला छोड़ना ही प्रमाद है। इस प्रकार प्रमाद वाला मनुष्य अपने-आप को दिनों दिन कल्याण के रास्ते पर चलने के लिए दुर्बल बनाता जायेगा; कमजोर करता जायेगा। इसके ऊपर सारी बीमारियाँ व दुःख पड़ेंगे, जो कि यह प्रमादी नहीं चाहता। दुःखों के साथ मन के शोक होते हैं और उसको बाहर कोई अच्छा नहीं लगता, तो उसकी मरने की इच्छा ही होती है।

22. यदि समझ करके मनुष्य अपने-आप को उत्तेजित, प्रेरित

व दीप्त करना भी चाहे तो यह दुःख उसको सही रास्ते पर चलने नहीं देता। वह कहता है कि यह तो मेरे को बुरा लग रहा है। परन्तु वह दुःख भले के लिए ही होता है, जिसे थोड़ा सहन भी करे। किसी के दुर्वचन व किसी जगह और भी खोटा व्यवहार सहन करने में ही धर्म का रास्ता है और प्रकृति का रास्ता इससे विपरीत (उल्टा) प्रतिक्रिया करने का है, चाहे अन्त में इससे कितना ही दुःख हो। यदि कोई सोचे कि बुढ़ापे में जा करके बूढ़े (वृद्ध) के लिए ही सारे धर्म हैं अर्थात् पचास वर्ष की आयु होने पर ही वन को प्रस्थान करना है व तभी सारे धर्म अपनाने पड़ेंगे तो उस समय ऐसा करना कठिन है। धर्म का पालन तो समझ के जागने पर ही आरम्भ हुआ समझना चाहिए।

23. अपने सुख के लिए जो वस्तुएँ हम सेवन करते थे यदि उनका बने रहने वाला संग, दुःख व संकट उत्पन्न करता है, तो छोड़ने की कोशिश करके उन वस्तुओं से भी छुट्टी पाये। फिर वानप्रस्थ के बाद उनका तप करते-करते अर्थात् उनके बिछोड़े के दुःख को सहन करते-करते मन अन्दर का सुख पा जाये, तो इसका नाम अब संन्यास हो गया। बाहर से बिल्कुल छुट्टी (मुक्ति) मिल गई। चाहे आप घर बैठे-बैठे कर लें या बाहर वन (जंगल) में जाकर कर लें। परन्तु यदि यह नहीं हुआ और बाहर भी निकल गए, तो कैसे होगा? बाहर भी वही आसक्ति व तृष्णा तंग करेगी और पुराने अपनाए हुए सुख के साधन अपनी तरफ खींचेंगे। वृद्धावस्था (बुढ़ापा) या किसी बीमारी के कारण बाहर कोई नहीं पूछता व किसका सहारा आप लेंगे? इसीलिए जिस जगह बैठे हो, उसी स्थान पर रहते हुए तृष्णा त्यागते गये और विचार के साथ काम करते गये और अपने मन को सम्भालते गए और आदतों के रास्ते न बहने दिया। ऐसा सहन करने की तंगी से परेशानी न मानकर इस मन को सत्य के ज्ञान द्वारा भविष्य का

विचार रखते हुए सम्भालते गये। यह जितना जीवन है, केवल बुढ़ापे में आकर कोई बनाएगा ऐसी बात नहीं है। जिस समय होश सम्भाली है, उसी समय से चालू होगा। चालू हो करके तिल-तिल उसी समय से संयम और विचार करे। विचार द्वारा ज्ञान और ज्ञान द्वारा अपने को सम्भालना होगा। सम्भालने में जो थोड़ा कष्ट होता है, उसको सहन करे, जो तप रूप है और उसमें यदि अपना सुख छोड़ना पड़े, वह भी त्याग दे, जो त्याग रूप कहलाता है। इन सबकी एक डोरी (माला) बनी हुई है या इसको यज्ञोपवीत समझ ले। यज्ञ नाम इन्हीं का है कि सारी अच्छाइयों को अपनाना व सारी बुराइयों को त्यागना (छोड़ना) और मन को पवित्र (शुद्ध) रखना अर्थात् उसमें प्रकृति का कोई काम, क्रोध रूपी विकार जाकर मैला नहीं करे। चलो कोई धागे का यज्ञोपवीत पहने या नहीं पहने; परन्तु मन में यज्ञोपवीत अवश्य पहन ले। उसकी गाड़ी इस संसार में आराम से चलेगी और मरने के बाद भी उसको कोई शंका भय नहीं होगा।

24. एक तो वह भौतिक जीवन है, जो प्रकृति देती है। बच्चा पैदा होते ही दूसरों के सहारे ही, चाहे वे प्राणी या पदार्थ हों, जीवन जीता है। दूसरों के संग में ही उसकी खुशी है और अकेले में उसको कोई जीवन दीखता ही नहीं है। दूसरी प्रकार का आध्यात्मिक जीवन है जो कि अपनी आत्मा (अपना-आपा) में चले जाने वाला जीवन होता है। इसमें प्रकृति के रास्ते को पहचानकर उस भगवान् (परमेश्वर) के रास्ते को समझना है और उसको अपने ढंग में ढाल लेना है। आत्मा के लिए चलना है, प्रकृति अर्थात् आदतों की शक्ति की तरंगों से चलायमान नहीं होना है, जो केवल एक सैकण्ड को जानती है कि किसमें उसका भला नज़र आता है। जैसे साँप को जरा सा छूते ही वह क्रोध में डंक मारता है, ऐसा वह प्रकृति की तरंग से करता है। इसी प्रकार

चींटी व मच्छर भी काटने व दूसरों का खून पीने का कार्य बिना समझे प्रकृति की तरंगों के अनुसार व तृष्णा में भूले हुए करते हैं। उनको ऐसा करने से होने वाले नुकसान की कोई समझ नहीं है कारण कि बुद्धि नहीं चेती हुई है, जो कि मनुष्य की ही योग्यता है। इसी तरह मछली भी थोड़ा खाने के लोभ से जाल में फँस जाती है और सब पक्षी-जानवर भी इसी हिसाब से बंध जाते हैं।

25. प्रकृति की खींच जो एक क्षण के लिए यह जानती है कि यह भूख हटाने वाली मीठी वस्तु है और कहती है कि इसे ले लो। परन्तु यह जो उसका ले लेने का धक्का है, उसके बारे में इतना विचार नहीं हो पाता कि जो प्रकृति की खींच से प्रभावित मन लेने जा रहा है, आखिर इससे भला है या बुरा होगा? जैसा मैं भविष्य में रहना चाहता हूँ वह मेरी आत्मा के लिए हितकर है या नहीं? पशु-पक्षी को तो भगवान् ने इतनी सोचने की शक्ति प्रदान नहीं की है। उनके अन्दर सोचने की बुद्धि रूपी शक्ति इतनी विकसित नहीं हुई, जो मनुष्य में है इसलिए कोई कार्य करने से पहले एक क्षण भर के लिए आप टिकें। जितना एक क्षणभर टिकेंगे, समझो उतनी भगवान् ने आपको शक्ति दे दी, कारण कि उस क्षण में आप प्रकृति की तरंग में नहीं बह सके और भगवान् के रास्ते पर आ गये अर्थात् अपने विचार को जगा गये। बिना बुद्धि के मछली नहीं टिक पाती। यदि वह एक सैकण्ड टिक करके विचार जगा लेती तो समझते कि इसमें बुद्धि है, परन्तु उसके अन्दर मनुष्य वाली बुद्धि रूपी योग्यता नहीं है। जरा-सा किसी ने आपको कड़वा शब्द बोल दिया तो एक क्षण टिक कर विचार करें कि कोई ताकतवर मनुष्य तो नहीं है। कहीं ऐसा न हो कि आप भी ईंट का जवाब पत्थर से दे दें अर्थात् कड़वे शब्दों का उत्तर और ज्यादा कड़वे शब्दों में दे डालें और वह अपनी शक्ति में आकर आपका अधिक बुरा ही कर दे। जैसे कि एक

बार रुड़की (हरिद्वार के पास) ऐसी घटना घटित हुई। एक मास्टर जी साइकिल पर स्कूल में पढ़ाने के बाद घर लौट रहा था। दो डाकू छुरा हाथ में लिए हुए आगे खड़े हुए थे। उन्होंने मास्टर जी से कहा, 'जरा ठहरो।' मास्टर जी ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया कि "लो जी ठहर जाता हूँ।" उन्होंने आगे कहा, "क्या है तुम्हारे पास ?" बटुआ निकाल दो; घड़ी उतार दो। उस मास्टर जी ने एक क्षण के लिए सोचा कि ये दो डाकू हैं और एक छुरा लिए हुए खड़ा है। यदि मैं बटुवा और घड़ी इनको नहीं देता हूँ तो ये मुझे मार डालेंगे अर्थात् यह घड़ी और बटुवे में रखे दस रुपये मेरे कोई ज्यादा कीमत के नहीं हैं और इनकी अपेक्षा (मुकाबले) में जीवन ज्यादा कीमत रखता है। इसलिए इस जीवन के लिए इन सांसारिक तुच्छ पदार्थों(घड़ी व दस रुपयों) से इन्हें (डाकुओं को) खरीद लूँ ताकि ये मेरे जीवन को समाप्त न करें। ऐसा सोचकर उस मास्टर जी ने अपनी दो सौ रूपये की घड़ी उतार कर व जेब से बटुवा निकाल कर उन डाकुओं को दे दिया और कहा कि "यदि आज्ञा हो तो कमीज भी उतार दूँ?" ऐसा सुनकर डाकू हँसने लगे और कहा कि "अपने घर जाओ,परन्तु किसी को कहना नहीं कि ऐसा-ऐसा हुआ है।" तो वह मास्टर जी उन डाकुओं से थोड़ी समझ के द्वारा अपनी जीवन रक्षा करके घर चला गया। उसके पीछे उसी के गाँव का एक पहलवान मास्टर जी भी आ रहा था। उसको भी एक डाकू ने कहा कि "भाई, तुम जरा ठहरो और जो कुछ तुम्हारे पास है, निकालकर हमको दे दो।" उस पहलवान मास्टर जी ने अपनी ताकत के अभिमान से उस डाकू के गले में बाँह लगा करके उसको धक्का मार दिया और कहा कि "तू क्या लगता है? मेरी वस्तु लेने वाला तू कौन है? मेरा साईकिल तुमने क्यों पकड़ा?" उस पहलवान मास्टर जी के ऐसा कहते ही दूसरे डाकू ने उसी समय उसके पेट में छुरा घोंप (मार) दिया और

वहीं पर उसको मार डाला अर्थात् उसका जीवन समाप्त कर दिया। इस प्रकार यह मास्टर जी बल के अहंकार में आ गया और देखो, उसकी पहलवानी किस काम आई, जो उसने अपना जीवन ही समाप्त कर लिया? पहला मास्टर जी बुद्धिमान् था, जो निकल गया और उसने गाँव में जाकर सबको बताया कि वह पहलवान मास्टर जी भी मेरे चलने के पाँच मिनट बाद ही चला था और अब एक घंटा हो गया है वह अभी तक नहीं आया है। कृपया आप सब जा करके देख लें कि वहाँ क्या है? उसने अपने साथ घटित डाकुओं वाली घटना भी उनको सुनाई। ऐसा सुनकर गाँव वाले घटनास्थल पर गए और उस पहलवान मास्टर जी का शरीर सड़क के किनारे मृतक दशा में मिला। डाकू तो भाग गए थे और मास्टर जी का साईकिल भी वहीं पड़ा हुआ था। बाकी उसकी घड़ी वगैरह वहाँ कुछ नहीं था। चलो, यह घटना तो घटने के लिए (होनहार) थी और घट गई; लेकिन यहाँ कुछ सीखने का है। जैसे शास्त्र कहता है कि "आत्मार्थे सर्वम् त्यजेत्" यदि आत्मा की रक्षा होती है तो आप उसके लिए सारी वस्तुओं का भले ही त्याग कर दें। आत्मा ही सबसे बड़ी है। उस पहलवान मास्टर जी ने यह नहीं सोचा कि यह छोटा-सा ताकत का मान उसे नष्ट कर देगा और उसके परिवार के जीवन को भी कष्ट में डाल देगा व मेरे पास थोड़ी-सी वस्तुएँ अर्थात् एक घड़ी व कुछ नगद रुपए केवल मेरी ज़रूरत पूरी करने के लिए हैं जो कि किसी समुदाय या बहुतों के काम में आने वाले भी नहीं हैं। इसलिए थोड़ा समझे कि अपने छोटे व थोड़े लोभ के लिए कहाँ उसको विचार पैदा हुआ? पहले वाले मास्टर जी को विचार जन्मा और वह जीवन(आत्मा)की सुरक्षा करके घर पहुँच गया व इस सत्यानाश के चक्कर से निकल गया। वह पहलवान मास्टर जी एक क्षण के लिए चिन्तन (विचार) नहीं कर सका और उस मौके की

प्रकृति की तरंग अर्थात् अपने बल के अभिमान में वह समझ रहा था कि मेरे में ताकत है और मैं उन दोनों डाकुओं को पटक सकता हूँ। बस! उस मिथ्या विश्वास में साईकिल हाथ में पकड़े हुए उसने ऐसे ही एक डाकू को धक्का दे दिया कि ये मेरा क्या करेंगे? वे दो थे और दूसरे ने बचकर छुरा घोंपकर उसकी जीवन लीला ही समाप्त कर दी।

26. कभी भी प्रकृति की उत्तेजनाओं के बस में नहीं आना चाहिए। उत्तेजित हुआ-हुआ मनुष्य अपना भला-बुरा नहीं सोच सकता। ऐसी अवस्था में एक सैकण्ड सोच जाये कि कैसे क्या वस्तुस्थिति है? फिर करने की नीति सोच जाये कि मुझे ऐसी दशा में क्या करना उचित है? फिर जैसा करना चाहिए, यदि सोच कर पूर्ण (पूरा) कर जायें तो समझो धर्म का रास्ता मिल गया। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अंहकार व मान वगैरह जितने भी ये हैं सारे हमारे अन्दर डाकू ही हैं मनुष्य के अन्दर जितनी मात्रा में ये कायदे के साथ हैं उतनी मात्रा में तो ये प्रकृति की शक्ति रूप में संसार को चलाने वाले हैं और अधिक मात्रा में विकार पैदा करके मनुष्य को बुरे रास्ते पर ले जाने वाले हैं। वहाँ पर ये किसी के भी हितकारक नहीं हैं और सब शत्रु ही हैं। वैसे तो ये जड़ से शत्रु (दुश्मन) ही हैं और इनका प्रत्येक धक्का समझना चाहिए कि कौन शत्रु आ गया?

27. यदि इनको समझना है तो पहले विस्तार से कहे गए पाँच बलों की भक्ति करना आवश्यक है। (1) श्रद्धा थोड़ी रख करके सोचने की शक्ति का नियम रखे कि कोई भी स्थिति या घटना सामने आये तो इससे क्या होने जा रहा है? थोड़ा सोच जाये कि जो होने ज़ा रहा है वह मेरे फायदे (हित) का है या नहीं तो उस का नाम (2) स्मृति हो गया और सोच कर यदि उसके अनुसार कार्य कर गया तथा अपने मन के मिथ्या उद्वेगों या जोशों

को रोक कर सही रूप से अपने भले के लिए चल गया। तो यह (3) वीर्य हो गया और उसके बारे में सोच (चिन्तन) करने का नाम (4) ध्यान हो गया और सोच करने के बाद जो कुछ समझ में आये, उसका नाम (5) प्रज्ञा अर्थात् छिपे हुए सत्य का ज्ञान हो गया। इस तरीके से यदि यह चिन्तन की आदत बढ़ाते जायेंगे, तो यह जीवन अपने-आप में इतना परिपूर्ण हो जायेगा कि बचपन से लेकर जवानी तक की गई सब गलतियों का परिचय रास्ते में मिल जायेगा। सबका अन्दर नाटक दिखने लग जायेगा। जब सबका अन्दर नाटक दिखाई देने लग जाये तो समझो आप प्रज्ञावान हो गए। ग्रन्थों में ऐसे इनके (काम, क्रोध आदि के) नाटक पढ़ते रहने से कोई विद्वान् नहीं होता, फिर भी वह अधूरा रहेगा।

28. पढ़ने के बाद करनी कमाई यह है कि अपने जीवन को देखे और देख करके सुधारता जाये व थोड़ा इस मार्ग पर चले और सीखे। ऐसे यदि चलता जायेगा तो अन्त में इनका प्रत्यक्ष नाटक अपने अन्दर देखकर सारे संसार का नाटक भी जानेगा कि जो खेल मेरे अन्दर हो रहा है, यही खेल सब के अन्दर हो रहा है। तो आत्मा और परमात्मा में फर्क (भेद) क्या है? बस! इतना ही फर्क है कि आत्मा एक रूप है और परमात्मा सर्वरूप और अनन्त है। जो मेरे अन्दर लीला चल रही है, ऐसे ही सब के अन्दर चल रही है। इसलिए मैं अपने-आप सम्भलूँ; दूसरों के अन्दर भी यही प्रकृति की शक्ति रूप तरंगें (विकार) खोटा कर रही हैं। उनके लिए थोड़ी क्षमा रख लूँ, परन्तु इतना ज़रूर है कि मेरे से कोई बुरा कर्म न होने पाये। इस रीति से सीख-सीख कर अपने जीवन को रोक-रोक कर चलाने की दिशा में ले चले, तो समझो! वह जीवन में बूढ़ा हो करके अपने-आप अकेला महसूस नहीं करेगा।

28. जैसे एक बूढ़ा था। एक महात्मा जी उनके घर भिक्षा

करने के लिए गए। घर में सब बड़े श्रद्धालु थे। वह बूढ़ा ऊपर से उतरकर झटपट कहता है कि महाराज जी! "मुझे बताओ मैं क्या करूँ व मुझे शान्ति कैसे मिलेगी?" महाराज जी ने कहा कि "आपको अशान्ति क्या है? आपका बड़ा सम्पन्न परिवार है व सब बच्चे कारों में चलते हैं। सब जगह आपकी इज़्ज़त (मान) है फिर कमी किस वस्तु की है? क्या आपकी सेवा-पूजा घर में ठीक नहीं है?" उस बूढ़े ने उत्तर दिया कि ऐसे तो खाने-पीने को सब देते हैं लेकिन सब मुझे वैरी की तरह देखते हैं। मेरा घर में कोई आदर, मान (इज़्ज़त) नहीं करता। मैं किसी को भी उनके सामने पड़ने पर अर्थात् दिखाई देने पर अच्छा नहीं लगता। महात्मा जी ने उसको बताया कि "आप अपना चेहरा जरा दर्पण (शीशे) में देखें और विचार करें कि क्या मुझे स्वयं अपना चेहरा अच्छा लगता है? चमड़ी सिकुड़ गई है, आँखें अन्दर घुस गई हैं, बाल सफेद हो गए हैं और मुख पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं। जब आपको अपना चेहरा अच्छा नहीं लग रहा है तो दूसरों को कैसे लगेगा?इसलिए आप उनमें मत जाया करें। आप बच्चों में जाते हो, जो अपनी मौज में मस्त हैं तो फिर उन्होंने आपको ठुकराना ही है कि यह हमारा सुख बिगाड़ने के लिए आ गया। आप अकेले बैठ कर ध्यान क्यों नहीं करते? वहीं से बैठे-बैठे उनका सुख ले लिया करें। यदि बच्चे खुशी में हँसते हैं तो आप भी उनके सुख में खुशी महसूस करें और यदि कोई दुःख में बेचारा रो रहा है, तो उसके प्रति अपने मन में दया भाव रखें व अपना मन किसी प्रकार गन्दा न करें। अपने में विचार करें कि मेरे बच्चे कितने अच्छे हैं, देखो! मेरी कितनी सेवा पूजा करते हैं। उनके गुणों को पहचानें और अवगुण नहीं देखें कि उन्होंने अभी तक मेरे लिए चाय नहीं भेजी, वह कार्य नहीं किया। ऐसा सोचना, कि कोई बात नहीं, बच्चे हैं, कहीं देर भी हो जाती है, उनके लिए क्षमा

रखें। यदि किसी का कोई दुर्गुण दिख जाये, तो ख्याल करें कि मैं उधर उनके पास चला गया था जिस कारण से थोड़ा ऊँचा बोल मेरे प्रति उनसे निकल गया। मेरे को भी तो बूढ़े अच्छे नहीं लगते थे, जब मैं जवानी में था यदि मैं भी उनको उस समय अच्छा नहीं लगा, तो यह आयु (उम्र) का हिसाब है, बच्चों का कोई अपराध (कसूर) नहीं है। मेरे बच्चे तो अच्छे और बढ़िया हैं। ऐसे कर-कर के यदि उनमें रहोगे तो आपका मन अकेले में शान्त रहेगा और बच्चों के मन में भी आप का आदर भाव बना रहेगा। देवताओं की भक्ति होगी, आराम में बसे रहोगे। यदि ये नियम नहीं रख सके और समझ कर अपना जीवन इस प्रकार नहीं ढाल पाये तो फिर कौन सहारा होगा? बच्चे, वृद्धावस्था में कोई सहारा नहीं बनते हैं।" परन्तु यह जो बूढ़े ने अब वृद्धावस्था में करना है, पहले यदि लड़कपन से ही ऐसी अच्छी आदत पड़ गई होती, तभी तो ऐसा सुखमय जीवन सम्भव होता।

29. यदि आप लड़कपन से ही झुक करके जीना सीख लें तो बाहर झुक भी लेंगे। बूढ़ों की आज्ञा का पालन करने व उनकी ज़रूरतों को पूरा करने से मनुष्य की चार वस्तुएँ अर्थात् आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं। जो नित्य बड़ों के सामने निस्वार्थ भाव से झुकता है अर्थात् यदि कभी किसी बड़े बूढ़े ने कोई बात कह दी और उत्तेजित होकर जोश में कुछ बोल भी दिया तो आपने झुक करके नम्र शब्दों में (झुकी हुई आवाज़ में) उसका जवाब देना है , तभी मनुष्य को ये चार फल मिलते हैं। इसके अतिरिक्त सबसे बढ़िया क्या वस्तु बढ़ती है कि इस प्रकार बड़ों की सेवा-पूजा करने वाले को एक ऐसी आदत पड़ जाती है कि जिससे वह आगे वृद्धावस्था में जाकर बच्चों के बीच में आराम से रह पायेगा। संयमी जीवन रहने से इस प्रकृति की दासता व पराधीनता से मुक्त हो जायेगा। यदि नम्र होने की आदत पड़ जायेगी तो बाहर

कहीं धक्का नहीं लगेगा। अपने को झुका करके भी चल लेगा। इस महान् विश्व में बल तो बड़े से बड़ा है। यदि मनुष्य अपनी मनमानी करने लगे तो बाहर कोई सहन करने वाला नहीं है। बाहर यदि सहन शक्ति रखनी है तो अपने अन्दर नम्रता आनी चाहिए। नम्रता का अभ्यास सबसे पहले बड़ों के सामने घर में ही होता है। यह अभ्यास आपने यहाँ यदि स्मृति से कर लिया, तो समझो आप बाहर विश्व भगवान् की भक्ति भी कर लेंगे, कारण कि बाहर बल बहुत हैं और वहाँ आप झटपट अपने को नम्र बना लेंगे। यदि कुछ मनमानी ही करते रहे, जैसे प्रकृति का धक्का कहता है, तो साँप के कुचलने व मच्छर के मरने के समान ही आपकी दुर्गति होगी।

30. अभ्यास द्वारा ही मन के अन्दर एक भाव और ऐसी शक्ति बनती व विकसित होती है जिससे बाहर किसी में उलझन (गुत्थी) नहीं पड़ती है और मनुष्य अन्त में अकेले में रहकर अपने जीवन की शान्ति भी देखता है; कारण कि अकेले में ही आत्मा की शान्ति मिलती है। जैसे नींद में अकेले को सुख मिलता है, ऐसे ही अपने अन्दर भी उसको सुख मिलता है, जो अपने अन्दर डुबकी मारता है। अपनी आत्मा में डुबकी तब लगती है, जब बाहर से छुट्टी (मुक्ति) मिल जाये। यदि बाहर राग, द्वेष, मान, मोह और नाना प्रकार के क्लेश बाँधने वाले हैं, तो जिस समय वह अकेला बैठता है, उसकी लटक (खींच) बाहर ही रहती है कि वहाँ क्या-क्या है? यही अविद्या तंग करती है। ऐसी अविद्या की अवस्था में सोचना चाहिए कि जो भी बाहर यह मन जानना चाहता है, उसका हमें पता है कि अपने मतलब का कुछ भी नहीं है। यदि इतनी खबर आपको लग गई तो आप चुपचाप मन के अन्दर लौट आओगे। जैसे ही मन के अन्दर लौटे तो आप की डुबकी आत्मा में लग गई और परमात्मा का सुख मिल गया।

श्रद्धा अभी नहीं जन्मी है, तो फिर भौतिकवादी जन, बाहर के रास्तों से ही अपने मन को लगाये रखने व सुख पाने के लिए कई रास्ते निकाल लेते हैं। जब घर (परिवार) में वृद्धावस्था के कारण कोई मनुष्य कार्य करने लायक नहीं रहता है, तो वह अपने मन को बहलाने के लिए व बाहरी सुख पाने के लिए क्लब खोलना व दो, चार, पाँच जनों की किसी ऐसी ही संगत में बैठना शुरू कर देता है। यदि किसी को धर्म का रास्ता अभी नहीं मिला है, तो उसके रास्ते से एकान्त में बैठकर जीवन व्यतीत करना (बिताना) उसको नहीं आयेगा और कोई जीवन की अच्छी खोज करने को भी नहीं मिलेगी।

3. मनुष्य खाली मन से नहीं रह सकता है। फिर भी उसको संसार में जीना तो पड़ेगा ही। यदि वह वृद्धावस्था में भी स्वार्थवश कुटुम्ब (परिवार) में ही धँसा हुआ उसी में चलता रहा, तो वहाँ सब परिवार वालों को उसकी पहले जैसी ज़रूरत तो नहीं रहती। इस अवस्था में उसको बहुत-सा खाली समय मिलने लग जाता है, कारण कि जो कुछ वृद्धावस्था (बुढ़ापे)में उससे बन पाता है, वह शायद दूसरों के लिए इतना काम का नहीं होता। ऐसी अवस्था (हालत) में यदि उसको यह धर्म का सहारा नहीं मिलता है, तो वह निकम्मी व व्यर्थ की बातों में ही अपना समय बितायेगा अर्थात् मिथ्या संगत, मिथ्या ही ढंग से अपनी बातचीत और उन्हीं के ढंग से अपना मन, जहाँ भी देखेगा, बहलाना चाहेगा। ऐसा मनुष्य अन्तकाल में अपने साथ कोई शान्ति ले करके नहीं मरता, कारण कि वह संसार में जिस जगह से लौटता है, उससे उसको अपने किये हुए के बारे में भय (डर) लगने लगता है। वह सोचता रहता है कि अब मैं मर जाऊँगा, तो पता नहीं क्या बनेगा? वह इस प्रकार संसार से छूटना भी नहीं चाहता है और इसी में ही फँसा रहना चाहता है।

4. धर्म की श्रद्धा रखने वालों ने जीते जी (जीवन—काल में) एक रास्ता देखा है। उन मार्ग देखने वालों में सबसे बड़ा तो भगवान् ही है, जिसका चलाया हुआ यह धर्म का रास्ता है। जिस समय मनुष्य सारे संसार से अलग हो करके अपने-आप में आता है और मन, बुद्धि व चित्त को जगा लेता है, तो ऐसा करने पर अपने अन्दर से सब बुराइयों को बाहर फेंकने का यत्न करता है। उस भगवान् के गुणों का चिन्तन करते-करते उसके गुणों को अपनाने का अभ्यास करता है। यदि उसका अकेले में मन लग जाता है, तो उसको मृत्यु (मौत)से भी ज्यादा डरने की जरूरत नहीं है। अब इतना यदि किसी मनुष्य में धैर्य (धीरज)और विश्वास विकसित (उन्नत) हो जाये और फिर थोड़ी करनी कमाई भी उससे बन पाये अर्थात् थोड़ा अपने-आप एकान्त में समय बिताने के लिए मन मार करके अकेले बैठने का धीरज (हिम्मत) उसमें आ जाये, तो समझो उसका बेड़ा पार हो सकता है।

5. यदि कोई मनुष्य(साधक)अपने आचार्य, गुरु और महात्माओं द्वारा बताये गए भगवान् के रास्ते के नियमों व उसूलों को जैसे-जैसे थोड़ा अपने जीवन में ढालता जायेगा; जो कि इनका अपनाना थोड़ा तंगी से ही होता है, परन्तु समय पाकर उसको धीरे-धीरे यह महसूस होने लग जायेगा कि समुदाय का सहारा लेना ही ज़रूरी नहीं है; जिसकी बच्चे को तो उस संसार के सहारे की बड़ा होने के लिए आवश्यकता(ज़रूरत)थी। पिछली अवस्था ऐसी होती है, जहाँ कोई कार्य विशेष तो करने के लिए रहता नहीं और शरीर में शक्ति नहीं रहने से सब साथ भी छूट जाते हैं। ऐसी अवस्था में आत्मा अर्थात् अपना-आपा ही सहारा बन सकता है; वृद्धावस्था में, दूसरा कोई सहारा नहीं रहता। अपनी आत्मा के सहारे को पाने के लिए ज्यादा शारीरिक शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक मनुष्य मरते समय तक सोचने व

समझने की शक्ति व योग्यता रखता है। यदि यह शक्ति अपने पास रह गई, तो धर्म का रास्ता चलना कोई कठिन कार्य नहीं है। यदि इस रास्ते पर चलने से अन्दर की खुशी अर्थात् आनन्द मिल गया तो समझो जीते जी (जीवन-काल) में ही यह रास्ता पूरा हो गया। यदि इसके लिए संघर्ष करते हुए आप मर भी गए, तो मरने के बाद किसी प्रकार का खोटा होने की शंका व भय नहीं होगा।

6. धर्म की श्रद्धा न रखने वाले मनुष्यों को सदा अविश्वास घेरे ही रहता है कि पता नहीं मरने के बाद हमारा क्या होगा व कुछ रहेगा भी या नहीं अर्थात् यही सोच बनी रहती है कि कुछ रहता है या नहीं रहता। जीवन-काल में समय तो किसी प्रकार व्यतीत करना ही है। इस प्रकार अविश्वास व अश्रद्धा में, जिस रास्ते से जीवन चलेगा, वह मरते समय तक शान्त नहीं होगा। इसलिए धर्म का जीवन चलने के लिए सबसे मुख्य श्रद्धा है और धर्म की श्रद्धा कोई ऐसे मिथ्या वस्तु की नहीं है। बस! अपने चलने लायक जीवन के लिए श्रद्धा रखनी है कि किस तरह जीवन में चलना चाहिए व कैसे जीवन की साधना करनी चाहिए?

7. जीवन की साधना करने में आदत वाला मन रास्ता रोकता है। वही मन कहता है कि मेरी आदत में तो ऐसा चलना नहीं है। यह रास्ता तो करड़ाई (तंगी) का है और कौन उधर अपने विषयों का सुख छोड़ कर जाए व जागता हुआ साधन में बैठे? अकेले बैठने में भी तंगी होती है। हमारा मन तो लेट जाने की इच्छा करता है और सुख से अपनी आलस्य-सुस्ती में पड़े रहना चाहता है। मन तो अपनी खाने-पीने की आदतें पूरी करना चाहता है और उसी प्रकार करने से वह खुश रहता है। मन कहता है कि मेरी बात मानने में ही लाभ है अर्थात् मेरी इच्छानुसार चलने में ही भला है। मेरे सामने दुःख खड़ा करके व मेरी आदत की सुख

बिगाड़ करके धर्म का रास्ता कैसे चला जायेगा? इस प्रकार की समझ, आदत वाले मन की चाल है। इस तरह के मन वाला मनुष्य समझो धर्म के रास्ते पर चलने में कच्चा अर्थात् कमज़ोर है। अभी उसके अन्दर प्रकृति की इतनी दासता व आदतों की पराधीनता है कि इनसे ऊपर उठने में तंगी सहन करने के लिए उसमें वह बल नहीं आया है। इसलिए अपने-आप आत्मा के अन्दर पहले यह बल ही प्राप्त करना पड़ेगा और फिर बाहर परमात्मा का बल भी एकत्रित (इकट्ठा) करना है।

8. सबसे पहले तो मनुष्य से अपनी व्यर्थ की मिथ्या आदतें ही नहीं छूटती हैं और उन आदतों के कारण से दुःख सहन करके कुछ धर्म का रास्ता भी नहीं चला जाता है। थोड़ा एकान्त में बैठने में भी तंगी (क्लेश) मालूम होती है। अपने छोटे-मोटे सुख लेने के लिए उसका मन सोया-सोया ही रहता है। अकेले में बैठकर भी आलस्य-सुस्ती में पड़ा-पड़ा ही समय व्यतीत कर देता है। सवेरे उठते ही मन अपनी आदत के अनुसार ही खाने-पीने इत्यादि की तरफ फिर भागता है। जैसे-जैसे प्रतिदिन जीवन आदतों के रास्ते पर चलता रहता है; यदि जीवन ऐसे ही चलता रहा, तो यह जीवन कोई ज्यादा अच्छा व कल्याणकारी नहीं है।

9. इस प्रकार के चलते जीवन में कई महात्मा गुरुओं ने कहा है कि "किसी जप का ही सहारा ले लो।" जैसे किसी से आपने मंत्र ले लिया और उस ही मंत्र का ही जप करते-करते थोड़ा संसार से किनारा करने की सोची, लेकिन इस प्रकार बताये गए जप का थोड़ा ही लाभ है, बहुत ज्यादा लाभ (फायदा) उसमें नहीं है। जब तक अन्दर ज्ञान नहीं जगेगा, तब तक उस मन के अन्दर आनन्द रूप आत्मा की समझ नहीं होगी। अन्दर की समझ न होने से मन को सच्चा व नित्य सुख नहीं मिलेगा। इसलिए जब तक मन को अन्दर सुख नहीं मिलेगा, तब तक बाहर संसार

में उसका चिपकाव बना ही रहेगा और उचट-उचट कर मन बाहर के प्राणी व पदार्थों की तरफ ही भागेगा। बाहर से बिछुड़ने का डर उसके लिए मृत्यु (मौत)के समान ही होगा कि "संसार बिछुड़ जायेगा तो क्या बनेगा?" उस संसार में ही फैले हुए मन को यह पता नहीं है कि मरते समय इस संसार ने तो अवश्य बिछुड़ना (छूटना) ही है। परन्तु जिसने इस संसार से पहले ही ध्यान के मार्ग (रास्ते) से बिछुड़ करके अपनी आत्मा (अपना-आपा) में सुख पा लिया, तो उसको कोई शंका नहीं रहेगी कि मरने के बाद क्या होगा? कारण कि उसने संसार से बिछुड़ कर ही चिन्तन व ध्यान (स्मरण) करते-करते अपनी आत्मा में सुख पाया है अर्थात् उसने जीते जी ही संसार से बिछुड़ कर देख लिया है कि बाहर की तरफ़ मन की लपक केवल तृष्णा व अविद्या के कारण से है। इसलिए जब तक अन्दर ज्ञान न जागे तथा अपने अन्दर का सुख न मिले तब तक यत्न (मेहनत) करता रहे।

10. मेहनत यही है कि थोड़ा-सा उस कहे हुए धर्म के रास्ते के अनुसार अपने अन्दर की आत्मा (अपना-आपा) पहचाने कि मेरे अन्दर भी वह ज्ञान उपस्थित (मौजूद) है, जो कि बाहरी संसार का ही ज्ञान नहीं है। जैसे कि बच्चे ने पैदा होते ही बाहर प्राणियों को माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र व शत्रु आदि पहचाना है और इस बाहरी संसार के ज्ञान में ही रमा हुआ व उन्हीं के बीच में उलझा हुआ ठोकरें खा रहा है या प्रीति के साथ इसी सांसारिक सुख में रम रहा है। इसी तरीके से वह जीवन बिताता रहता है। लेकिन धर्म का रास्ता यह है कि इन सब बाहर संसार की बनी हुई दृष्टियों(जैसे माता-पिता आदि की)से नज़र (निगाह) मोड़ कर वह अपने अन्दर की विद्या को पहचानता है कि अन्दर कहाँ दुःख होता है और दुःख क्यों होता है? और अन्दर कौन-कौन से विकार हैं, जो मन को बाहर भगाने, उलझाने व दुःख देने वाले

हैं? यह सब आत्मा (अपना आपा) का ज्ञान है। उसको यह भी पता चलेगा कि कौन-कौन अन्दर के विकार आराम से अकेले में बैठने नहीं देते? परन्तु प्रमादी (ढीला) मन कहता है कि 'सो जाओ।' यदि अकेले बैठते भी हैं, तो मन में यह उचाटना होती है कि "कहीं बाहर भी चलें और वहाँ मित्र आदि से बातचीत करें।" यह सब मन की बाहर की तरफ़ की खींच है, कारण कि उसको अन्दर के सुख का अभी कुछ पता ही नहीं है। यह सारा कुछ अन्दर का शास्त्र, आत्म-ज्ञान या आत्म-विद्या है। सुख बिना उसका कहीं मन नहीं टिकता। जब उसको अन्दर का सच्चा सुख नहीं मिला तो वह फिर आदतों के तुच्छ सुख की तरफ़ ही भागता है।

11. मान लो, आपने किसी को गुरु धारण कर लिया और उससे कोई शब्द (मंत्र)भी ले लिया। यदि आप उस शब्द के अर्थ का चिन्तन किये बिना ऐसे ही उसको जपते रहे अथवा उस शब्द जपने के साथ कोई विचार तो जागृत नहीं हुआ और खाली शब्द ही शब्द आपके अन्दर चलता रहा, तो यह सीमित ही फल वाला होगा। यह श्रद्धा से लिया हुआ मंत्र का सहारा, पूर्ण फल की प्राप्ति के लिए अधिक सहायक नहीं होगा। नाम जप करने से श्रद्धा का कर्म तो रोज पूरा हो ही जायेगा, परन्तु अन्तरात्मा का ज्ञान विज्ञान नहीं होगा।

12. अपनी आत्मा की पहचान के लिए इसी गुरु द्वारा दिये गए शब्द के सहारे आप कुछ अन्दर का स्मरण (चिन्तन) करना शुरू कर दें, जिसको शास्त्र वाले ध्यान कहते हैं। स्मरण या चिन्तन का नाम ही ध्यान है। शास्त्रों के अनुसार ध्यान के पाँच अंग हैं:- (1) वितर्क (2) विचार (3) प्रीति (4) आनन्द और (5) उपेक्षा (परिशुद्धि वाला ध्यान)। इस प्रकार पहला ध्यान का अंग वितर्क होता है, जिसमें नाम जप आता है अर्थात् शब्द का जप करते हैं।

खाली आपने कोई नाम (शब्द) बोलना है, चाहे उस शब्द को होंठ (वाणी) या मन से बोलें; चाहे कीर्तन करें। फिर उसके बाद उस नाम जपने के साथ-साथ यदि उसी शब्द का अर्थ परमेश्वर रूप का विचार जाग जाये, तो समझो वितर्क के बाद विचार रूप ध्यान बन गया। यह ध्यान का दूसरा अंग है। शब्द के अर्थ का चिन्तन करने का नाम ही विचार है। जिस वस्तु के बारे में सोचा जाता है वह उसके अर्थ को समझने के लिए सोचना कहलाता है। जिस समय नाम के सहारे से चिन्तन जाग जाये, तो इसका अर्थ (मतलब)है कि अन्दर समझ जाग गई। जब समझ जाग गई और आप कुछ अन्दर समझने लग गए तो मन उसमें लग जायेगा। जैसे कि बच्चे ने भी जब बाहर कुछ समझना शुरू किया था, तो बस! वह उसी में रम गया। उसको पानी, पेड़, मनुष्य (प्राणी) आदि समझने में एक प्रकार का आनन्द आने लग गया तथा उन सब से उसका राग हो गया। बच्चा प्रत्येक नई सामने आने वाली वस्तु को समझने की कोशिश करता है। उसको नई-नई वस्तुओं को समझने में जो लगन है उसी का नाम प्रीति है। अन्दर ज्ञान देव तो हमेशा यही चाहता है कि मैं प्रकट होता रहूँ। यदि कुछ भी समझ बनी रहेगी तो ज्ञानदेव प्रकट रहेगा। अब यदि आप जप के शब्द के सहारे कुछ भी समझते रहे अर्थात् जप करते-करते उसी भगवान् के अन्दर संसार के दोषों के विपरीत जो गुण हैं, उन्हीं के गुणों का चिन्तन करते-करते अपने मन में कुछ उन्हीं गुणों का ज्ञान उपजाते गए तो इससे ज्ञान युक्त मन एकान्त में समय व्यतीत करने के योग्य बनता जायेगा और अन्त में इन्हीं गुणों को थोड़ा-सा अपने अन्दर बसाते-बसाते संसार के बन्धनों से मुक्त भी होता जायेगा। उस मुक्त मन में सुख का अनुभव भी होने लगेगा। इस प्रकार के जप करने में आपका मन लग जायेगा और इसी जप करने में आपकी प्रीति उत्पन्न हो

जायेगी। ऐसी अवस्था में आपको संसार की किसी भी वस्तु को समझने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसी से यदि अविद्या टलती रहे तो अपने-आप में सुख का अनुभव होता रहेगा। यदि कुछ समझ नहीं पड़ता है, तो ऐसी पत्थर जैसी अविद्या के राज्य में एक क्षण भी कोई नहीं रहना चाहेगा। अविद्या का अर्थ है कि मन ज्ञान शून्य पड़ा है, इसलिए अपने-आप में आनन्द नहीं मान रहा। जिस तरह से इसको कोई भी ज्ञान प्रकट हो जाये, ज्ञान शून्यता न रहे, तो प्राणी अपने-आप में बसा हुआ आनन्द मानता है। इस अविद्या की दशा में वह सोना ही चाहता है। यदि उसके अन्दर समझ जाग रही है, तो उसी का चिन्तन करते हुए उसके बारे में कुछ उसे समझने का प्रयत्न करे कि, "यह वस्तु क्या है और इससे मन पर क्या प्रभाव पड़ता है, जीवन में यह किधर ले जाती है, मेरी भलाई इसके साथ है या नहीं।" इन सबका ज्ञान उपजाना। यह सब अन्दर का विचार है और इस विचार से अन्दर की विद्याएँ प्रकट होंगी और इन विद्याओं से सदा ज्ञान की तृप्ति मन करता रहेगा। यदि ये विद्याएँ नहीं मिलतीं, उधर संसार के ज्ञान जगाने का समय नहीं रहा तो पत्थर जैसा भी नहीं रहा जायेगा। इसलिए उस अवस्था में अन्दर से विचार के शब्द उन्हीं के द्वारा ज्ञान ज़गाते रहने से यह मनुष्य भलाई के रास्ते पर चलता रहेगा और अन्त में अपने परमानन्द रूप लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। यही सकल अविद्या को जीतने या उससे पार जाने का मार्ग है।

13. यदि यह अकेले में अपने-आप अन्दर की विद्या आ जाये और बढ़ती-बढ़ती यहाँ तक बढ़ जाये कि वह सच्चिदानन्द,जो सबके अन्दर एक रस व एक रूप से बैठा है, अपने अन्दर ही मिल जाये और उसका सुख भी अपने अन्दर प्राप्त हो जाये तभी इस जीवन की सफलता है। शास्त्रकार ऐसे सुख मिले हुए मनुष्य को कहते हैं कि "वह पूर्ण हो गया।" यहाँ तक मनुष्य को चलने

की हिम्मत करनी चाहिए। उस परमेश्वर के रास्ते की चलाई, केवल श्रद्धा से ही शुरू होती है। सबसे छुट्टी (मुक्ति) पा करके अन्दर अपनी आत्मा में ही एक ऐसी किसी वस्तु (सत्य) की समझ आ जाये कि उसको समझता हुआ मन सदा अपने-आप में तृप्त अर्थात् सन्तुष्ट रहे। ऐसा होने पर मरने का भय (डर) भी नहीं रहता। अपने अन्दर की समझ कभी समाप्त नहीं होती। जैसे मनुष्य संसार को लात मार कर निद्रा (नींद) में जाने पर खुश होता है, कारण कि उस समय उसको अन्दर आत्मा का आनन्द मिलता है। इसी प्रकार संसार से जागते-जागते बिछुड़ने पर उसको पता लगता है कि मैं अपनी मौज (मस्ती) में हूँ। इसी मौज (आनन्द) में यदि उसकी मृत्यु भी हो जाये, तो यह मौज कहाँ खो जायेगी, अर्थात् ज्यों की त्यों बनी रहेगी। वह अन्दर का परमेश्वर कभी नहीं मरता। जैसे कोई मनुष्य सोया-सोया नींद में यदि मर भी जाये तो उसको कोई दुःख नहीं होता। परन्तु जागते-जागते जब उसको पता है कि मैं इस संसार से जा रहा हूँ तो वह बेचारा छटपटाता है कि हाय! यह सब संसार व इसका रौनक मेला छूट रहा है। यदि वह ज्ञान के साथ होता हुआ फिर शरीर को भूले हुए जागता हुआ बैठा है, आनन्द पा रहा है, तेरी-मेरी कुछ भी नहीं समझ रहा है, तो इस अवस्था में यदि आनन्द में रहते हुए अचानक उसकी समझ खो भी जाती है, तो उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता है। वह तो कहेगा कि मैं मौज में हूँ और अब मेरी मृत्यु भी नहीं है। यह आत्मा का आनन्द, जो मुझे मिल रहा है, यह कोई मरने वाली वस्तु नहीं है। यह अनन्त शक्ति सारे संसार को जीवन देने वाली है। यह अनादि काल से चली आ रही शक्ति यदि अभी तक नहीं समाप्त हुई तो आगे भी कहाँ यह शक्ति उजड़ने (नष्ट होने) वाली है?

14. कोई भी मनुष्य जड़ मूल (तत्त्व) से देखा जाये तो न्यारा

(भिन्न) नहीं है कारण कि सबकी तह में बैठा हुआ यही ज्ञान व आनन्द रूप आत्मा है। यदि इसका परिचय (वाकफियत) आनन्द रूप से हो जाये तो मनुष्य बेपरवाह हो जाता है और समझता है कि बाहर का संसार यदि जाता भी है तो चला जाये। संसार तो खाली दुःख पाने के लिए ही है। परन्तु क्या करें? कर्त्तव्य दृष्टि से इसमें भी रहना पड़ता है। थोड़ी देह (शरीर) की भी ज़रूरतें हैं। परन्तु वास्तव (असलियत) में देखा जाये तो जैसे ही वह इस संसार से छुट्टी पाता है, तो वह अपनी आत्मा में ही पहुँच जाता है जो कि आत्मा सारे संसार की जड़ है। यही वास्तविकता सब जीवों के लिए है। जब मनुष्य संसार की सब प्रकार की थकावट से थक करके नींद में जाता है तो उसको वही आत्मा सुख रूप में मिलता है अर्थात् संसार को लात मार कर ही नींद में वह अपने-आप में होता है, जो कि आत्मा रूप से आनन्द धाम है। वहाँ से ही मनुष्य ताजा होकर फिर संसार में आता है, तो दूसरे दिन पुनः उसकी खाने-पीने व बोलने की इच्छा होती है। ताजगी का स्त्रोत (झरना) तो अन्दर ही है, यह उस मनुष्य को नहीं मिलता, जिसने दुनियावी बुद्धि से ही इसका निर्णय करना चाहा है। पहले-पहले बच्चे की बाहर से पाई हुई बुद्धि में इस ताजगी के स्त्रोत का कोई पता नहीं लगता। इसलिए थोड़ी श्रद्धा रख करके व थोड़ा साधन की तंगी का रास्ता अपना करके मनुष्य अपनी आत्मा में आना सीखे।

15. अपनी आत्मा में आने के लिए पहले शब्द का स्मरण ज़रूरी है। मान लो, आपने किसी से मंत्र ले लिया। चलो, यदि नहीं भी मंत्र लिया है, तो कोई भी भगवान् का गुण रूपी नाम का स्मरण करें। परन्तु नाम का स्मरण इतना आप नहीं करते हैं, जितना केवल नाम की रटन ही करते हैं। जब तक आपको नाम

की रटन है, वह कोरा जप ही है। यह तो केवल कर्त्तव्य पालन

करना ही है। केवल शब्द का जप ध्यान का आरम्भ तो है, लेकिन चिन्तन (स्मरण) बिना यह ध्यान नहीं है। इस जप के साथ यदि विचार नहीं जाग पाया तो इसका थोड़ा पुण्य तो है, परन्तु जितना पुण्य होना चाहिए, उतना आगे ध्यान द्वारा सत्य पाकर ही होगा। अब यदि इस नाम रटन के साथ-साथ आप विचार को जगाना शुरू कर दें, तो समझो! आपको यह बाहर संसार से बिछुड़ने का रास्ता भी मिल गया। चाहे कोई भी शब्द या नाम भगवान् के गुणों के अनुसार (मुताबिक) है; यदि उसी नाम के अर्थ को ले करके आपने उसके गुणों का चिन्तन शुरू कर दिया तो वह चिन्तन की शक्ति सोई-सोई हुई जप नहीं करेगी। सोये-सोये ही राम-राम, शिव-शिव का जप अन्दर चिन्तन के जगने के बिना कोई विशेष फलदायी नहीं है। चिन्तन यही है कि जप करते समय मन यह समझने लग जाये कि जिसका मैं नाम ले रहा हूँ वह कौन है? वह कौन-कौन से गुणों वाला है? जप करते समय कुछ भी उसके बारे में सोच आने लग जाये अर्थात् कुछ भी चिन्तन उस नाम के अर्थ का जाग जाये, तो समझो! वितर्क के साथ विचार रूप ध्यान होने लग गया। जब वितर्क के साथ मन सोचना शुरू कर देगा तो आलस्य, सुस्ती व नींद भी टल जायेगी। कारण कि वह सोचने वाला मन यदि शब्द के अर्थ चिन्तन की तरफ़ नहीं आया, तो संसार की तरफ़ बाहर भटका हुआ बाहर की सोच में पड़ा रहेगा। ऐसी अवस्था में चाहे आप जप करते रहें और कोई भी मंत्र या शब्द बोलते रहें; आलस्य सुस्ती में मन शब्द बोलता हुआ समय तो व्यतीत कर लेगा। जैसे कई मनुष्यों की माला फेरते समय हाथ से माला गिर जाती है, कारण कि मन आलस्य, सुस्ती में होता है और चिन्तन अन्दर अभी जगा नहीं है।

16. चिन्तन के बिना मन नहीं जागता है। जैसे किसी शत्रु, मित्र या बच्चे के बारे में सोचते हुए आपको नींद नहीं आती,

कारण कि मन समझ के साथ कुछ सोच (चिन्तन) कर रहा है। जिस समय आप बच्चे के भविष्य के बारे में चिन्तन कर रहे हैं, तो आपको बच्चे की ही खबर (पता) है और दूसरों के बारे में कुछ भी पता नहीं है व बाहर की आवाज़ें भी आपके लिए उस समय ज्यादा महत्त्व की नहीं हैं; कारण कि समझ तो एक ही है और वह बाहर से बिछुड़ कर बच्चे के बारे में सोच (चिन्तन) करने में लगी हुई है।

17. वह बच्चे के बारे में ध्यान तो संसार का था। यदि यही ध्यान आपने भगवान् के बारे में करना शुरू कर दिया तो इसका नाम स्मरण है। जितना भी कुछ आप बोल-बोल कर विचार जगाओगे और वह विचार बोल-बोल कर ही जगेगा। यही विचार रूप ध्यान है। यही शब्द बोलने का नाम—स्मरण और उस शब्द के अर्थ (मतलब) के विचार का नाम चिन्तन है। यदि आप भगवान् के रास्ते का कोई चिन्तन जगाते गए तो नींद भी नहीं आयेगी और मन दूसरी जगह भी नहीं जायेगा। यदि यह शब्द के अर्थ का चिन्तन नहीं हुआ तो फिर मन में संसार की ही बातें आयेंगी, कारण कि मन खाली तो बैठना नहीं चाहेगा। आप कहेंगे कि ध्यान में बैठकर जप तो करते हैं, परन्तु मन तो बाहर ही भागता रहता है। मन तो बाहर भागेगा, कारण कि मन चाहता है कि वितर्क और विचार रूप ध्यान दोनों को जोड़कर चलें अर्थात् जैसा शब्द बोला गया, उसी के अनुसार आप सोचें भी। लेकिन होता ऐसे है कि हमारे अन्दर वितर्क (शब्द) तो कहीं का है और सोच कहीं की आ रही है अर्थात् नाम तो भगवान् का ॐ-ॐ, राम-राम, शिव-शिव वाणी द्वारा चल रहा है, किन्तु अन्दर मन में विचार आ रहा है कि यहाँ क्या हो रहा है, वहाँ क्या हो रहा है, वह मनुष्य कैसा है और उसको मुझे ऐसा बोलने का क्या अधिकार है? वह ऐसा कर रहा है और मुझे इस प्रकार दुःख दे

रहा है। ऐसी अवस्था में जप (वितर्क) और विचार एक विषय के बारे में नहीं हैं अर्थात् जप तो भगवान् के नाम का करना और विचार संसार की बातों का करना, ये दो अलग दिशाएँ हैं। मन के एक ही दिशा में एकाग्र होने पर आत्मा का सुख अर्थात् समाधि का सुख मनुष्य को मिलता है। ढीला सुस्त मन आलस्य में बैठा हुआ पहले ही संसारी की सोच में सुख मान रहा है। आलस्य, सुस्ती में संसारी व ढीला मन ही जगता है। इस ढीले व संसार की सोच में ही सुख मान रहे मन को सदा बना रहने वाला आत्मा का सुख कैसे प्राप्त होगा?

18. ऐसी अवस्था में थोड़ा सीधा आसन लगा कर कमर कस करके बैठने का यत्न करें और आराम पाने के लिए पीठ के पीछे ढासना(सहारा)न लगायें। फिर सीधे बैठ करके कोई भी नाम का, यदि आपने सहारा ले लिया है या आपके मन के अन्दर जो भी दीखता है, उसी के बारे में सोचने लग जायें। यदि ऐसा भी नहीं हो पाता है तो मनोमन यह चिन्तन करना आरम्भ कर दें कि "भगवान् क्या है?" हम भगवान् के बारे में शास्त्रों में पढ़ते या सत्संगों में सुनते हैं कि भगवान् तो सारे गुणों वाला है। भगवान् के गुण यही—सन्तोष, वैराग्य, क्षमा, धैर्य (धीरज), मैत्री (दूसरों के सुख में सुखी होना), करुणा (दूसरों के दुःख में दयावान होना), मुदिता (दूसरों में गुण तो पहचानना और उनकी मनोमन प्रशंसा भी करना) और उपेक्षा (दूसरों के पाप (अवगुण) नहीं देखना) आदि-आदि। ये जो सब गुण हैं, इन्हीं का चित्र अपने मन में खींचना और इन्हीं गुणों को यथाशक्ति अपने मन में बसाने का यत्न करना, इससे ज्ञान में मन बड़े आराम से रमता रहेगा। इन गुणों से विपरीत अवगुण (विकार) होते हैं जो जीवों के अन्दर प्रकृति की देनरूप होते हैं। साधारणजन कामी-क्रोधी भी है। ऐसा कामी-क्रोधी जन किसी का बुरा करने को भी तत्पर हो जाता

है। लेकिन भगवान् इन विकारों से विपरीत (उल्टा) सब गुणों वाला है। यदि इस प्रकार शब्द बोल-बोल कर आप स्मरण करते हैं चाहे राम-राम, शिव-शिव, ॐ-ॐ नहीं भी बोलते हैं, तब भी आपका वह भगवत्-चिन्तन (भगवान् का चिन्तन) उत्तम समझा जायेगा। भगवान् ही एक ऐसा है, जो सारी दुनिया (संसार) के विकारों से परे, सब दोषों से परे, सब दुःखों से भी परे, और अपने-आप में केवल शान्त व आनन्द के धाम में विराजमान है। उसी का ही यह रास्ता है और उसी का स्मरण करते-करते भगवान् को पहचाने। ज्यों-ज्यों आप उसको समझने का यत्न करेंगे, त्यों-त्यों आप उस भगवान् के गुणों को अपने अन्दर बसाने का यत्न कर पायेंगे। जैसे—जैसे गुण अन्दर बसने लगेंगे, वैसे-वैसे ही विकार भी दूर होते जायेंगे और मन की शुद्धि होगी। शुद्ध मन अपने-आप में वही सुख पायेगा जो भगवान् का है। इस प्रकार से धीरे-धीरे चिन्तन द्वारा अपने मन को ऊपर उठाना पड़ता है यही ध्यान के दो अंग वितर्क व विचार अर्थात् शब्द बोलना और उस शब्द से विचार जगाना है।

19. जैसा कि ऊपर बताया गया है कि वितर्क का अर्थ (मतलब) शब्द बोलना, परन्तु शब्द बोलना, जड़ अर्थात् ज्ञान शून्य नहीं होना चाहिए। जड़ का मतलब है कि आलस्य,सुस्ती में मन दुनिया में भटका हुआ है और कभी इधर कभी उधर बाहर संसार में ही सैर कर रहा है। उस आलस्य, सुस्ती वाले मन में भगवान् का शब्द चलता हुआ कोरा जप ही जप है। उस जप के साथ भगवान् का नाम जपा हुआ अधिक पुण्य वाला नहीं हैं। चेतन मन से,भगवान् का स्मरण करें कि "भगवान् क्या है और कौन-कौन से गुण वाला है।" जैसे आप मन से कोई शब्द बोल रहे हैं, उसी के अनुसार उस शब्द के अर्थ का भी चिन्तन करें कि इस शब्द का भावार्थ (मतलब) क्या है? यदि आप उसके

अर्थ का चिन्तन करने लग गए, तो इस चिन्तन का नाम ही ध्यान या स्मरण है। इस तरह उस भगवान् का स्मरण करते-करते मन जागता रहेगा। यदि फिर भी मन बाहर की तरफ़ जाये और चिन्तन में मन नहीं लगे तो इसका मतलब ध्यान का तीसरा अंग अभी नहीं जग पाया है, जिसका नाम प्रीति या भक्ति है। यदि यह स्मरण करते-करते अर्थात् नाम द्वारा ही उसका चिन्तन करते-करते अन्दर मन लग गया और आपको अनुभव हो गया कि बढ़िया मन लग रहा है, तो समझो! ध्यान के संग प्रीति भी जाग गई। अब यह प्रीति वाला ध्यान हो जायेगा। यही वितर्क, विचार और प्रीति वाला ध्यान कहा गया है।

20. मन संसार की राग-द्वेष की सोचों में पड़ा हुआ वहाँ से हटना ही नहीं चाहता है। उनकी सोच में उस मन की लगन (प्रीति) है। जैसे उसकी अभी संसार में उधर के विचार व वस्तुओं को जानने की प्रीति है, ऐसे ही इधर भगवान् को जानने में तथा इसी का विचार करते-करते भगवान् के चिन्तन में इतनी प्रीति हो जाये कि वह संसार को भी भूल जाये। ऐसी अवस्था में चाहे अब चिन्तन समाप्त भी हो जाये, शब्द नहीं भी रहे, कोई परवाह की बात नहीं। उसी चिन्तन की प्रीति या भक्ति से मन लगा रहेगा। प्रीति नाम भक्ति का ही है। नारद के भक्ति-सूत्रों में भक्ति का लक्षण यही लिखा है। "सा तु अस्मिन् परम प्रेमरूपा" अर्थात् भगवान् के चिन्तन में इतना प्रेम हो जाये कि बाहर संसार की कोई खबर ही नहीं रहे, बस! यही भक्ति है। यदि यह भक्ति नहीं है, तो भक्ति के कई मोटे-मोटे स्वरूप भी हैं अर्थात् चाहे कीर्तन कर लें,चाहे नाम जप कर लें। इस प्रकार छोटी-मोटी भक्ति तो कई प्रकार की है; परन्तु असली भक्ति यही है कि अन्दर ही अन्दर बैठे हुए शब्द द्वारा उसके (भगवान् के)नामों का चिन्तन करते-करते और उसके गुणों का विचार या चिन्तन करते-करते

वं अपने विकारों को पहचानते हुए और उनसे उल्टा उस भगवान् के गुण समझते-समझते मन इतना लग जाये अर्थात् उस ध्यान में इतना मन जग जाये कि उससे हटने की भी इच्छा नहीं हो। जैसे कि दो व्यक्ति प्रीति पूर्वक किसी वार्तालाप में लग रहे हैं और उस वार्तालाप में उनको रस मिल रहा है। वे इस वार्तालाप से मुख मोड़ना भी नहीं चाहते। कई बार इस प्रीति की वार्तालाप में अपना कर्तव्य भी भूले बैठे रहते हैं। इसी प्रकार भगवान् के चिन्तन करने में प्रीति होनी चाहिए। इस चिन्तन में मन लगने का नाम ही प्रीति है। जब तक मन नहीं लगता, तब तक समझो! उसको उसमें सुख (प्रसन्नता) प्राप्त नहीं हुआ है व प्रीति वाला ध्यान अभी उत्पन्न नहीं हुआ है। यदि जोर जबरदस्ती से कुछ समय के लिए वह लगा भी रहेगा, तब भी वह वितर्क विचारात्मक ध्यान भी मनुष्य के भले के लिए ही है और उसकी यह भी एक कमाई है। लेकिन यह कमाई मीठी तब लगने लगेगी, जब इसमें प्रीति आ जायेगी। जैसे कोई बच्चा उपन्यास पढ़ता है। चाहे वह उपन्यास की कोई निकम्मी तथा झूठी कथा है; परन्तु उसके मन को वही बढ़िया लग रही है। उपन्यास पढ़ते-पढ़ते वह इतना उसमें रम जाता है कि उसको आसपास में होने वाली घटनाओं का भी पता नहीं चलता है, कारण कि उस कथा के पढ़ने में उस बच्चे की प्रीति पैदा हो गई है। यदि उसके घर वाले उसको भोजन के लिए भी बुलाते हैं, तो वह चिढ़ता है और समझता है कि मेरा सुख बिगाड़ दिया है, क्योंकि उसको उस कथा को पढ़ने में कोई रस आ रहा था और उस उपन्यास की बातें समझने में उसकी प्रीति व लगन लग रही थी और उसको आनन्द भी आ रहा था।

21. इसी प्रकार से भगवान् के गुणों को स्मरण, चिन्तन व उनका अन्दाज़ा लगाते-लगाते यदि मनुष्य की प्रीति (लगन) उधर लग जाये और मन उस भगवान् के गुणों के चिन्तन में इतना

डूब जाये कि उसको यह भी पता नहीं चले कि समय कहाँ निकल गया है? फिर उसको ध्यान में आनन्द आते-आते बाहर की बातें भी सुनाई नहीं पड़ें और यदि सुनाई भी पड़ें तो उधर ख्याल भी न जाये, तो समझो! यह प्रीतिवाला ध्यान है, जो कि बहुत बढ़िया किस्म का ध्यान है। इस जगह यदि ध्यान पहुँच गया तो वह मनुष्य परलोक के बारे में भी बेपरवाह हो जाता है और उसको मृत्यु का भी कोई भय नहीं रहता। इस प्रीति के बीच में समझते-समझते कुछ भगवान् का अन्दाज़ा मिलने लग गया कि अहो! ऐसे गुणों वाले भगवान् को यह आनन्द, आज़ादी व इतना अपने-आप में सुख मिलता है और बाहर के दुःख से उसका किनारा रहता है। जब ध्यान में इस प्रकार के आनन्द की समझ जाग जायेगी, तो साथ ही सुख भी होगा। अब इस सुख (प्रसन्नता) वाले ध्यान का नाम ही आनन्द वाला ध्यान है और इसी में व्यक्ति की 'मैं' उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्था में आपके घंटों बीत जायेंगे व बाहर के संसार का कुछ भी पता नहीं रहेगा। इस ध्यान में मनुष्य को धीरे-धीरे समझ के आने पर अपने-आप अन्दर से बुद्धि जाग जायेगी अर्थात् ज्ञानयोग जाग जायेगा। पाँचवाँ उपेक्षा परिशुद्धि वाला ध्यान का अंग है, जिसमें ध्यान में आते हुए आनन्द से भी बेपरवाह रहते हुए ध्यान के लक्ष्य (सत्य वस्तु का पूर्ण ज्ञान) को पाने के लिए लगे रहना है और उस आनन्द से बेखबर रहते हुए व अपनी 'मैं' का भी ख्याल न करते हुए सत्य को या असलियत को मन में बसाये रख कर अपने-आप में स्थिर रहना है। यही समाधि की अवस्था समझी जायेगी।

22. ध्यान करते-करते एक, दो, तीन घंटे बीत जायेंगे और समय का पता भी नहीं लगेगा कि मन इतनी देर तक कहाँ रमा रहा। टहलते-टहलते भी उसी का स्मरण रहेगा। इस ध्यान से उसके लिए संसार समाप्त नहीं होता है। जितना ज़रूरत का बोलना,

बताना, कुछ अपने परिवार, समाज के लिए कर्त्तव्य आदि के बारे में कार्य करना है, यह सारा भी होता ही रहेगा। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी आपको समय मिले, उसे एकान्त में अपने ध्यान में लगायें और इसी में मन को रमाने का यत्न करें। यदि ध्यान में मन रम गया तो वह अपने-आप में सोचेगा कि वह कौन-सा आनन्द, स्वाद या रस था, जो कि कभी भी बाहर के प्राणी व पदार्थों से मिलने वाला नहीं था। उस ध्यान की अवस्था में मुझे कैसा अनुपम सुख हो रहा था?यही सच्चा आत्मा का चिन्तन है। इस अवस्था में, भगवान् के बारे में चिन्तन तो साधन था और इससे होने वाला सुख उसकी साध्य वस्तु है, जो इस मनुष्य जीवन में पाने की थी। जब अन्दर ध्यान में आनन्द आने लगता है, तो यह सब ध्यान से मिलने वाले परम सुख का चिन्तन अपने मन में होने लगता है।

23. जितना-जितना उसको अन्दर का अन्दाज़ा मिलता जायेगा, यह उसकी ध्यान की पहुँच उसको मृत्यु से भी छुड़वायेगी और अपने-आप में मुक्ति देगी। उसका मृत्यु आदि का भय भी सारा समाप्त हो जायेगा। मृत्यु का डर वहीं समाप्त होगा जहाँ पर मनुष्य अकेला अपने-आप में सुख पा जायेगा और बाहर संसार में उसका मन भागना नहीं चाहेगा। वह अकेला एकान्त का सुख बाहर से छूटने पर ही पायेगा। यह बाहर का संसार आलस्य, सुस्ती व ढीले मन वाले का नहीं छूटता। जब तक मनुष्य को बाहर स्वार्थ नज़र आ रहा है, तब तक संसार से आसक्ति छूटनी बहुत कठिन है। इस बाहर के स्वार्थ के कारण मन अन्तर्मुख नहीं होता अर्थात् अन्दर के सत्यों को पहचानने के लिए प्रीति वाला नहीं होता। जहाँ उसकी प्रीति व सुख होगा, मन वहीं पर लगना चाहेगा। यह मन किन्हीं प्राणी व पदार्थों के साथ किसी समय लगा था। वह समय बाल्यावस्था और यौवन का था। यदि मन उन्हीं में लगा

रहे, तो यह भी ठीक नहीं है। अब भी यदि उनका समय बीतने पर भी मन उन्हीं में बंधा रहा, तो यह केवल उसके कल्याण मार्ग का विघ्न होगा। ऐसी अवस्था में, मनुष्य अकेला पड़ा हुआ क्या करेगा? इस प्रमाद व समय के दुरुपयोग को धर्म ही मिटा सकता है और दूसरा कोई साधन नहीं है। इसलिए धर्म भी वही सहायक हो सकता है, जिसको सच्ची रीति से अपना सहारा बनाया है। धर्म के साथ ही उस भगवान् की शरण भी लेनी होगी। भगवान् की शरण यही है कि बोल-बोल कर उसके गुणों का चिन्तन करना। भगवान् के गुणों का चिन्तन करते समय अपने दोषों की तरफ़ भी अपनी निगाह बन्द नहीं करनी। अपने अन्दर यदि कोई भी कमी (कमज़ोरी) है, उसको भी देख करके यह समझना कि जिसमें यह दोष (कमी, कमजोरी) नहीं है, उसी का नाम भगवान् है।

24. जन साधारण (आम मनुष्य) को दूसरों के दोष देखने की ही आदत पड़ी हुई है, चाहे अपने अन्दर बड़े से बड़ा दोष (विकार) क्यों न हो? अपने दोष को कोई भी नहीं देखना चाहता। भक्त अपने विकार (दोषों) को तिल जितना भी सहन नहीं करता और दूसरों के पहाड़ जितने बड़े दोष भी वह प्रकृति(आदतों की शक्ति)से ही करवाये जाते हुए समझकर दूसरों के लिए क्षमा रखता है और दयावान रहता है। भक्त के मन में इस प्रकार की समझ उत्पन्न होती है कि ये जो दूसरों के दोष हैं; उनकी तरफ़ क्या ध्यान देना? परन्तु जो अपने अन्दर के दोष हैं; उनको टालने के हेतु अपने ध्यान में अवश्य लाना और दूसरों के दोषों के बारे में बेखबरी ही रखनी उचित है। इस रीति से यदि मनुष्य अपना सुधार करे व थोड़ा अपने-आप को पहचानना शुरू कर दे, तो पहला सच्चा आत्म-ज्ञान तो यही है। सबसे पहले उसको दोष, विकार तथा मिथ्या कर्म करने वाला यही आत्मा (अपना-आपा)

दिखलाई देगा। इसके साथ-साथ जितना वह मिथ्या कर्म करने वाला आत्मा झलकेगा, उतना ही उसको अपने सुधारने की इच्छा होगी। शिक्षा यहीं से मिलेगी। अन्त में जब वह अपने दोष विकारों को काबू करके बैठ करके भजन करेगा और अपने इन दोषों को देखेगा, तो उसको समझ पड़ेगी कि यदि यही विकारों वाला जीवन चलता रहा, तो यह जीवन कभी भी अच्छाई में जाकर समाप्त नहीं होगा। जहाँ पर यह जीवन जा करके समाप्त होगा, वहाँ केवल हाय-हाय, दुःख और बुराई है, मृत्यु (मौत) से हर समय भय (डर) और मरने के बाद भी दुर्गति है।

25. भौतिकवादी मनुष्य तो समझता है कि मरने के बाद कौन जाने क्या रहता है?अर्थात् कुछ भी नहीं रहता है। उसकी दृष्टि में जैसा भी मन में भाव आये, वैसा ही कार्य कर लेना ठीक है। जब हम मर जायेंगे तो सब यहीं समाप्त हो जायेगा। उसका निश्चय यही रहता है। कठोपनिषद् की कथा है, कि एक बार नचिकेता यमराज के पास गया। नचिकेता द्वारा यमराज से परलोक सम्बन्धित प्रश्न पूछने पर उसको बड़ा आश्चर्य हुआ और यमराज ने कहा कि "बेटा, जो कुछ तू मेरे पास सीखना चाहता है, वह परलोक सम्बधित ज्ञान बालक को तो अच्छा नहीं लगता। इसका मतलब, तुम्हारी बुद्धि तो बहुत बढ़िया है।" बालक (बच्चा) तो संसार में ही अपना हित (भलाई) पहचानता है अर्थात् बच्चे ने तो संसार में ही अपना हित पहचाना है। अब यदि वह बच्चा आयु के अनुसार वृद्ध (बूढा) भी हो गया, तो फिर भी यही समझता है कि बाहर संसार के रास्ते ही मेरा हित (भला) हो सकता है, जो कुछ भी भलाई है वह बाहर ही है और जीते जी (जीवनकाल) की है। बाहर की वस्तुओं के सहारे ही मैं सुखी हो पाऊँगा और अन्त समय तक मेरा यही बाहर का संसार ही अर्थात् प्राणी व पदार्थ ही सहारा होंगे। ऐसे विचार वाले मनुष्य

को यमराज बालक ही कहता है। साधारण मनुष्य चाहे उसको गाली दे करके और कुछ भी कह दे कि ऐसा सुख चाहने वाला मनुष्य तो मूर्ख है; इस को तो कुछ पता ही नहीं,जो यह संसार के सहारे अन्त समय तक सुखी रहना चाहता है। परन्तु जो शास्त्रवाले भगवन्त व भगवान् के भक्त हैं वे किसी को गाली नहीं देते और इतना ही उस मनुष्य को कहते हैं कि "इसमें अभी बचपन का ही मन है।" इस प्रकार यहाँ से मरने के बाद अर्थात् यह देह छूटने के बाद क्या कुछ रहता है या नहीं रहता है; यह सब उस संसार में ही मोहित बालक को नहीं पता, जो जन्म से लेकर मरते समय तक बाहर ही बाहर संसार में ही घूमता रहता है।

26. धन के मोह से और उसी के रास्ते से सुख लेने वाला मनुष्य मरते समय तक धन के पीछे लगा रहता है, जो कि मृत्यु के समय यहीं पर छूट जायेगा। ऐसे मनुष्य को परलोक नज़र ही नहीं आता। यमराज ऐसे मनुष्यों के लिए कहता है कि "वे मर-मर कर मेरे ही सहारे अर्थात् मेरे ही वश में पड़ते हैं और उनको मुक्ति तो मिलती नहीं।" इस तरह यमराज ने नचिकेता को धर्म का उपदेश दिया है, जिसका तात्त्पर्य (मतलब) है कि बालक को, जिसका मन बाहर संसार के प्राणी व पदार्थों के सहारे ही अपना कल्याण और सुख समझता है, परलोक दिखाई नहीं देता। जैसे नास्तिक मनुष्य कह देते हैं कि "भगवान् किसने देखा है; मरने के बाद भी क्या कुछ रह जाता है, यह भी किसने देखा है?" उनको इन सब के बारे में कुछ ज्ञान ही नहीं होता और न श्रद्धा ही होती है। कारण कि वे बेचारे अपने-आप में इतने आन्तरिक बल से रहित होते हैं कि भगवान् के बारे में जानने के लिए अपने बाहर के सुखों को छोड़ नहीं सकते और उन्हीं सुखों को प्राप्त करने की आदतों को जीत नहीं सकते। यद्यपि इन आदतों के सहारे का सुख सदा बने रहने का भी नहीं और उन्हीं आदतों

के सुख को किसी तरह बनाये रखना चाहते हैं। उनका जीवन बिना किसी दूसरे सहारे के नहीं चलता और वे उन्हीं आदतों के सुखों का सहारा लेते-लेते अन्त में इसी में समाप्त हो जाते हैं और अपने कर्मानुसार, जैसा कुछ भी उनके कर्मों के अनुसार होगा, वैसी ही वे गति या दुर्गति पायेंगे। ऐसे मनुष्य ज्यादा-से-ज्यादा कुछ मनुष्यों के लिए भलाई तो सोच लेंगे, जो कुछ सीमा तक तो यह भी अच्छा ही है।आप बहुतों के भले के लिए भलाई कर भी लें, परन्तु साथ में अपने कल्याण का रास्ता भी होना चाहिए।

27. अपने कल्याण का रास्ता अन्त में यही है कि केवल (बिना किसी दूसरों के सहारे) अपने-आप में अकेले में मन रमने लग जाये। वरना पिछली उम्र (वृद्धावस्था) में जिस समय दूसरों का सहारा छूटेगा; किसी की भी प्रीति इसके लिए नहीं रहती; इन्द्रियाँ कमज़ोर होने से पदार्थ (वस्तुएँ) भी जवाब दे जाते हैं अर्थात् सांसारिक वस्तुएँ भी उसके काम की नहीं रहतीं तथा अन्तकाल में कोई सुख नहीं देतीं व किसी का संग ठीक नहीं बैठता अर्थात् दूसरे प्राणी भी उसका संग करना उचित नहीं समझते, तो मनुष्य अकेला पड़ा हुआ अपने-आप में दुःखी होता रहता है और कोई दूसरा उसका शरण या सहारा नहीं बन पाता। ऐसी अवस्था में यदि वह अपने ध्यान में आ जाता है, चिन्तन स्मरण करता है; अपनी आत्मा से जुड़ जाता है और वहाँ उसको सुख मिल जाता है, तो वह अपनी मौज में है। किसी ने उसको बुलाया तो ठीक है, नहीं बुलाया अर्थात् उससे बातचीत करनी नहीं चाही, तो भी वह अपने आनन्द में है। जितनी देह की आवश्यकताएँ (खाना-पीना आदि) हैं उतना वह बाहर भी है। जितनी देह की ज़रूरतें नहीं, उतना वह अपनी अन्तरात्मा के साथ मौज में है। ऐसी मौज में रहते हुए मनुष्य को फिर सारे अपने ही नज़र आने

लगेंगे। जैसे कई वर्षों से किसी गाँव में बसा हुआ मनुष्य उस गाँव में रहने वालों का स्वभाव अच्छी तरह जान गया है, जिसको कि उस गाँव में नया आया हुआ मनुष्य नहीं जान सकता। वैसे ही जिसने बहुत वर्ष अपनी अन्दर की वस्तुओं अर्थात् अन्दर के सत्यों के साथ जुड़ कर बिताये हैं, उसको एक गाँव जैसा ही अन्दर के सब सत्यों के साथ-साथ परलोक का परिचय हो जायेगा और उसको किसी प्रकार से भय नहीं रहेगा। भय केवल अज्ञान का होता है। जैसे कोई नया व्यक्ति गाँव में आया है, उसका गाँव वालों से पूर्णरूप से परिचय होने पर उसको कोई किसी प्रकार से भय नहीं होता कारण कि वह सब के स्वभाव को जान जाता है और उसी प्रकार उनके बीच में सुख से रहने का भी पूर्ण परिचय मिल जाता है। इसी प्रकार जो अपने अन्दर के सब सत्यों को अन्तर्मुख होकर पहचान गया है, वह इस लोक से परे पहुँच चुका है और वहाँ वह सुखी भी हो चुका है। ऐसे व्यक्ति के लिए, इस लोक से परे जो परलोक कहा जाता है, उसका क्या भय रहेगा? आदतों के चंगुल से निकल कर और सब अच्छे गुण अपने अन्दर लाने से मनुष्य अकेला ही अपने आराम से जी लेता है और उसे बाहर के किसी प्राणी व पदार्थ की, शरीर की ज़रूरत पूरी करने के अतिरिक्त (अलावा) आवश्यकता ही नहीं रहती।

28. अकेले में जो सुख है, इससे पता लगता है कि मृत्यु (मौत) जो होती है, वह केवल बाहर का संसार ही छुड़ाती है। इस मृत्यु से आगे क्या है, इससे डरने की कोई ज़रूरत नहीं। यह ज्ञान रूप चेतन आत्मा, जो मेरा स्वरूप ही है, वह कभी नहीं मरता। कारण कि सारे संसार से बिछुड़ करके जहाँ किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान तक नहीं, वहाँ भी मैं अपने-आप आनन्द रूप में हूँ। जिस सुख अर्थात् आत्मानन्द को मैंने देखा व पाया है, उस समय देह (शरीर) की भी खबर नहीं थी तो, मेरे जैसा ही तो

हुआ। इस देह के बिना भी मैंने अपने अन्दर आनन्द देख लिया है। अब बताओ! मेरे को किसकी परवाह है? ऐसी आनन्द की अवस्था में कौन मर जायेगा? यह आनन्द रूप आत्मा कभी मरता नहीं है। जैसे गीता में भी कहा है "न जायते म्रियते वा कदाचित्" इत्यादि अर्थात् यह आत्मा कभी भी जन्मता नहीं और न ही मरता है। फिर इसका कैसे नाश होगा? इस सारे संसार को धारण करने वाले आत्मा का नाश नहीं है। कई बार आपने भी सुना है कि सब जीवों की देहों (शरीरों) को वही आत्मा चला रहा है। श्वास लेना, खून का दौरा करना, अन्न हज़म करना, हड्डी, चमड़ा, मांस बढ़ाना आदि कार्य करती हुई यह शक्ति सबके अन्दर न्यारी–न्यारी नहीं है। यह एक ही विद्युत् (बिजली) शक्ति है, जो ज्ञान के सहारे टिकी हुई है और सारे देहों का तथा संसार का काम चला रही है। इस शक्ति को बहुत नज़दीक से जानना और अपनी आत्मा रूप से पहचानने की ज़रूरत है। यह शक्ति बाहर से मुक्ति (छुट्टी) पाने पर ही पहचानने में आती है। यह शक्ति निद्रा में मनुष्य के पहुँचने पर जागती हुई सब देह के कार्य उसको जीवित रखने के लिए करती रहती है। उसी प्रकार देह के मर जाने पर यह मरती भी नहीं। जैसे यह शक्ति जीव के सोने पर सोती नहीं और ऐसे ही प्राणी के मर जाने पर यह शक्ति मरती भी नहीं। जिस प्रकार निद्रा से जागकर प्राणी, इस में से पुनः विचरता है, उसी प्रकार मृत्यु से भी प्राणी पुनः जन्म लेकर अपने कर्मानुसार संसार देखता है। जैसे निद्रा में सोया हुआ पुनः अपने जागते काल के अपने कर्म तथा उन कर्मों के संस्कारों द्वारा पुनः स्वप्न में भी गया हुआ एक स्वप्न का दूसरा शरीर रच कर नाना प्रकार का संसार देखता है, इसी प्रकार मृत्यु से भी शरीर के नष्ट हो जाने पर इसी शक्ति में ही बसे हुए अपने कर्म व उन संस्कारों के अनुसार नई सृष्टि तथा नया जन्म भी देखता है।

29. ज्ञान तो एक ही है, चाहे वह बाहर संसार में ही उलझा रहे। यदि बाहर से छुट्‌टी पा जाये, तो अपने अन्दर आ जायेगा। इस ज्ञान को अपने अन्दर ला करके बाहर से इतनी छुट्‌टी पानी है कि इसकी बाहर कुछ भी समझने की इच्छा तक भी नहीं रहे कि "वहाँ क्या वस्तु क्या है?" यदि मन थोड़ा भी बाहर समझने के लिए लपकता है, तो इसका तात्पर्य (मतलब) है कि अभी उसके अन्दर अविद्या पड़ी हुई है। अविद्या का अर्थ है कि विद्या की भूख, जितनी वस्तु समझनी में आनी चाहिए, उतनी समझ नहीं आ रही है। उसी के लिए मन उचट–उचट करके बाहर जा रहा है। इसका तात्पर्य (मतलब) है कि कुछ उस मन को डर लग रहा है कि कहीं बाहर उसका कुछ नुकसान का कारण तो नहीं होगा। जरा इस बारे में कुछ समझें तो सही। यदि थोड़ी भी अभी बाहर समझने के लिए भूख व लपक है, तो शास्त्रकार उसी का नाम अविद्या देते हैं। जब आप देखते हैं कि अपने–आप में अकेले बैठे हैं; बाहर कुछ भी हो रहा है; हमको कोई परवाह नहीं है; बाहर कुछ भी होता रहे ध्यान में बैठे हुए हमको समझने की ज़रूरत भी नहीं हैं। अकेले में बैठे हुए यदि इतना किसी का मन सध गया, तो उसकी आत्मा में वह सुख मिलता है, जो आपको नींद या किसी प्राणी व पदार्थ के सहारे भी नहीं मिल पाता है। यहाँ उसकी जानने की भूख या अविद्या समाप्त हो गई। जानने की भूख केवल दो कारणों से है; या तो बाहर के किसी दुःख के आ पड़ने की शंका के कारण अथवा बाहर जिस सुख की कोई आशा है, उस सुख के खो जाने की शंका तथा भय। इन दोनों कारणों से मन बाहर भागता है। यदि केवल अपनी आत्मा में ही सुख मिल गया और यदि वह नित्य बना रहने वाला हो, तो बाहर के दुःख या सुख के बारे में जानने के लिए मन भागेगा ही नहीं। ऐसी अवस्था में नित्य आनन्द रूप आत्मा का सुख प्रकट रहने

से जो बाहर ले जाने वाली अविद्या थी, उसका कहीं निशान (चिह्न) भी नहीं मिलेगा। यदि यहाँ तक मन को पूरा साधना है, तो थोड़ा भगवान् का सहारा पहले रख करके ही ऐसा करना होगा।

30. कोई भगवान् हुआ है, उसने अपना यह रास्ता देखा था और वही यह धर्म का रास्ता बता गया है। वेद शास्त्र भी उसी के रास्ते को बताते हुए आ रहे हैं। उसी के अनुसार चलने पर मैं भी उसी स्थान पर पहुँच सकता हूँ, जिस पहुँचने के स्थान को वेद शास्त्र बताते हैं। यदि यह श्रद्धा है तो फिर अपने अन्दर एकान्त में बैठ करके उसी भगवान् के गुण स्मरण करें कि "जो भगवान् यह मार्ग बताने वाले हैं, उसके अन्दर क्या-क्या गुण थे; जो इस रास्ते को संसार में चला गए हैं। इसलिए हम कहते हैं कि वेद का रचयिता तो भगवान् है और ये उनके उपदेश व शिक्षाएँ हैं। उन्हीं की बातों को सारे वेद और शास्त्र अभी तक बोलते आ रहे हैं।" अब आप अपने अन्दर समझना आरम्भ करें कि उस भगवान् के क्या गुण हैं? आपको यही समझना है कि जो संसार से हट करके और अपनी आत्मा में टिकने के लिए जो-जो अन्दर के सत्य इस रास्ते होंगे, वे सारे ही उसके गुण हैं।काम, विकार संसार के बीच में फैला हुआ है और मन थोड़ा-सा अच्छा लगने पर उधर ही चल पड़ता है। यही काम (इच्छा) संसार में धँसाने वाला है। इस काम के विपरीत (उल्टा) वैराग्य, भगवान् का गुण है कि बाहर की वस्तुएँ तथा उन विषयों के सुख को समझने तक का मन भी नहीं है। भगवान् काम (इच्छा) के सुख के बारे में भी जानता है कि यह इच्छा का सुख कितना है? अर्थात् कुछ भी नहीं है और है यह दु:ख ही दु:ख, जो आप भी जानते हैं।

31. जब तक चिन्तन स्मरण नहीं जागेगा तब तक सत्य वस्तु का ज्ञान नहीं होगा। यदि आपको अपने बच्चे या पड़ोसी के बारे

में कुछ समझना है, तो उनका भी चिन्तन करना पड़ता है। चिन्तन शब्द बोल-बोल कर, अन्दर से होता है। चिन्तन यदि पूर्ण रूप से हो गया, तो वह एक ही दिशा में चलता है। वही चिन्तन भगवान् के गुणों की तरफ़ बढ़ा देवे। इतना चिन्तन करते गए कि भगवान् के गुणों का चिन्तन करते-करते व समझते-समझते उसमें ही प्रीति जाग जाये और आनन्द आने लग जाये। यदि ध्यान में प्रीति व आनन्द आने लग गया अर्थात् मन के ध्यान में लगने से आनन्द भी आने लग गया, तो समझो! बाहर का संसार कट गया। अब फिर भी यदि बाहर कहीं लपक है, तो उसको भी पहचाने कि अब यह लपक किस वस्तु की रह गई है। उसी लपक का नाम शास्त्रों में तृष्णा कहा गया है कि कोई बाहर की प्यास है। फिर मन से पूछना है अर्थात् मनोमन खोज करनी है कि "किस वस्तु की प्यास है? जिस वस्तु की तृष्णा है, उसमें कुछ भी नहीं रखा है। जो उसका सुख था, वह देख लिया है और वह सदा बना रहने वाला नहीं है और अन्त में दुःखों में ही समाप्त होने वाला है।" फिर जो कुछ भी है, होता रहने दे। जब मर जायेंगे तब भी सब कार्य चलते रहेंगे। जब मनुष्य नींद में सो रहा होगा तब भी सब कार्य होता रहता है। फिर किस वस्तु के लिए बाहर जानना है। जैसे कई बार बताया है कि खुजली का मन होता है अर्थात् मन खुजली करना चाहता है। आप खुजली करने के लिए हाथ उठाते-उठाते रोक लेते हैं और खुजली नहीं करते हैं। फिर भी वह खुजली देखते-देखते अपना थोड़ा न करने का दुःख दिखलाकर मिट जाती है और वहाँ सुख प्रकट हो जाता है। इसी तरह मन यदि अविद्या से प्रेरित होकर कहे कि "समझो तो सही, बाहर क्या है, आवाज़ किसकी आ रही है, क्या वस्तु वहाँ कैसी है?" तो उसी तरह उसको भी मन की खुजली समझ करके टाल दें। जब अपने आप ही यह मन हट जाये व समझने की कोई

इच्छा ही नहीं रहे और अन्दर आनन्द जाग जाये तो समझो! यह अपनी आत्मा का आनन्द ऐसा है, जो कभी मरने व बिगड़ने वाला नहीं है। इस आनन्द को प्राप्त करने तक मन को ऊपर उठाते जाना चाहिए।

32. इस आत्मा के आनन्द तक मन ले जाने के लिए आलस्य, सुस्ती वाला मन भी छोड़ना पड़ेगा, जो आसन पर ढीला बैठता है। ऐसा करने में जो तंगी का अनुभव हो, उसको तपरूप समझ कर सहन कर लें। तंगी नाम तपस्या का है। जब थोड़ी सी दो मिनट से लेकर आधा घंटा तक आपकी तपस्या बन जायेगी, तो समझना कि यह धर्म के रास्ते की आपके लिए कमाई है। इस अवस्था में चाहे अभी आपका चिन्तन स्मरण अन्दर जाग पाया है या नहीं। चिन्तन स्मरण तो समय पर ही जागेगा परन्तु यदि ढीले सुस्त रह करके मनुष्य कहे कि "लेटे-लेटे ही सुख के रास्ते जप कर लेंगे, तो आपका वह जप आलस्य, सुस्ती वाला या अल्प (थोड़ा) गुण वाला ही होगा।" इस प्रकार किया हुआ जप केवल जप ही रह जायेगा और उसमें भगवान् के गुणों का चिन्तन, स्मरण नहीं जाग पायेगा। उस ढीले मन में चिन्तन, स्मरण वही बाहर का ही रहेगा कारण कि मन ने बाहर का ही कुछ समझना है और समझे बिना वह नहीं रह सकेगा। यदि मन कुछ नहीं समझेगा तो नींद में चला जायेगा। इस लिए इसको जगाने के लिए अर्थात् थोड़ा अपने मन को चेतन करने के लिए आसन पर शरीर में यदि तंगी होती है, तो उसे होने दे। आसन पर अकेले बैठने की आदत बढाएँ; दूसरों से बातचीत करने या नाटक सिनेमा देखने में भी मनुष्य घंटो बिता देता है। यदि वहाँ नाटक सिनेमा आदि में बैठे-बैठे घंटो समय बीत जाता है, तो एकान्त में भी बैठकर समय बिताने की आदत डाले।

33. अब यहाँ पर एकान्त में बैठने की आदत डालने के लिए

श्रद्धा काम करेगी। यदि श्रद्धा नहीं हुई तो फिर आदत वाला मन कहेगा कि "जहाँ पर मैंने मौज ली है वहीं पर चलें।" श्रद्धा बिना धर्म का रास्ता नहीं चला जाता। थोड़ा अपनी काया (शरीर), इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि को भी साधना पड़ेगा। काया का साधना यही है कि आलस्य, सुस्ती का रास्ता छोड़ करके अपनी कमर को सीधा करके आसन पर बैठना पड़े, तो आनाकानी न करे और अपने मन को ढिलाई न दे। यदि मन ढीला रह गया, तो प्रमाद ही माना जायेगा। इस प्रमाद में किया गया जप अधूरा ही जप होगा। आगे पूर्णता तक वह जप नहीं जायेगा। पूर्णता तक वह तप जायेगा, जिस जप के साथ-साथ उसका अर्थ चिन्तन भी होने लग जाये अर्थात् उस जप के अर्थ का जहाँ तक समझ पड़े, स्मरण और चिन्तन भी हो। जब आप कुछ जप के शब्दों का अर्थ समझने लग गए, तो समझो! बाहर से बुद्धि व मन बिछुड़ने लग गए और जप का शब्द भी बिछुड़ गया। इस प्रकार यह ध्यान बन जायेगा। इसी का नाम भगवत्-चिन्तन है, क्योंकि नाम तो भगवान् का ही है, उसी का हम जप कर रहे हैं; उसके द्वारा चिन्तन भी भगवान् का ही होगा अर्थात् भगवान् के गुणों का ही होगा। जब तक शब्दमय चिन्तन नहीं होता, तो ध्यान नहीं बनेगा। वह जप का शब्द आलस्य, सुस्ती में व मन दुनिया की सैर करते हुए भी चल सकता है। ऐसे ढीले मन से अर्थ चिन्तन के बिना वह चाहे कीर्तन हो या जप हो, धर्म के रास्ते में वह थोड़ा ही लाभ करेगा। कहने वाले महात्मा कहते हैं कि नाम ले लो, बेड़ा पार हो जायेगा। बेड़ा पार तो हो जायेगा यदि नाम जप के साथ-साथ अर्थ चिन्तन भी जाग जाये। खाली शब्द जपते-जपते उसका अर्थ तो कुछ अन्दर समझ में नहीं आयेगा। उस समय अविद्या लात मारेगी "कि कुछ समझ में तो आता नहीं, खाली बैठे-बैठे क्या कर रहे हो, कितने समय तक जप करते रहोगे?"

कारण कि ज्ञान बिना मनुष्य खाली पत्थर जैसा जड़ है। अविद्या तो पुराने संस्कारों द्वारा संसार की तरफ धकेलती है और संसार के विषयों का ज्ञान ही जगाती है, ताकि मन यह समझे कि वह बना हुआ है अर्थात् उसका अस्तित्व व हस्ती (सत्ता) बनी हुई है। अब ज्ञान भी यदि बाहर संसार का ही जागता है तो फिर अन्तिम कल्याण (भलाई) तो असम्भव है। ज्ञान वह जगना चाहिए, जो अन्त में अपनी आत्मा में अकेले को तृप्त करे और आनन्द दे सके। यही मनुष्य जीवन का लक्ष्य है।

34. इस धर्म के रास्ते पर चलने के लिए सबसे पहले श्रद्धा कर लें कि एक परमेश्वर था, जो इस रास्ते में पूर्ण हो गया है और अपने धाम में शान्त व आनन्द में बैठा है। वह भगवान् ही सब गुण सम्पन्न है, सब दोषों से परे है। दोष तो सब जीवों में ही हैं और मनुष्य अपने दोषों को स्वयं ध्यान द्वारा अपने व्यावहारिक जीवन में पहचाने। यदि अपने दोषों को पहचानता हुआ व उनके बारे में शब्द बोल-बोल कर अकेले एकान्त में बैठे, तो यह भी एक प्रकार का जप आदि के समान भगवान् का ध्यान हो जायेगा। मनुष्य को इसके लिए तीन सहारे (शरण) लेने पड़ते है; एक तो भगवान् का, दूसरा भगवान् के द्वारा बताया गया रास्ता अर्थात् धर्म का और तीसरा सहारा भगवान् के भक्तों का है, जो उसके रास्ते पर चलने का उद्योग बनाये रखते हैं। उनके भी निदर्शन (मिसाल) से अपने मन को धर्म के मार्ग पर बनाये रखे। एक चेतन रूप से चाहे कोई भी है, किसी के अन्दर कोई भी गुण नज़र आ जाये, चाहे वह गुण कितना ही छोटा हो तो भी मनोमन समझे, कि मेरे से तो वह बढ़िया है, कारण कि मेरे अन्दर वह गुण नहीं है। ऐसा समझ कर उसकी प्रशंसा (वाह-वाह) करे। ऐसा करने पर उसके पैर पकड़ने की आवश्यकता नहीं है। जैसे वह अपने अन्दर गुण ला सकता है, तो मैं भी ऐसा कर सकता

हूँ। ऐसा विचार करके उस गुण को अपनाने की कोशिश करे। इस रीति का कोई भी जीवन परमात्मा (भगवान्)के रास्ते का जीवन है। अन्त में जीवन की यही सफलता है। इसके विपरीत यह सांसारिक(दुनियावी)जीवन अन्त में जाकर शून्य(खाली)व दुःखरूप ही अनुभव में आता है इसमें कुछ भी नहीं रखा है। यह भौतिक जीवन अपने समय के अनुसार बच्चे के लिए तो ठीक था। मिथ्या वस्तुओं के साथ समय बिताते-बिताते कहाँ तक यह जीवन चलेगा? मौत से डर लगेगा और संसार से बिछुड़ने में दुःख भी होगा। मरने के बाद जैसा [illegible] का बोझा लेकर जायेगा, ऐसा ही आगे फल व जन्म पायेगा।

35. जैसा कि सन्त-महात्मा बताते हैं कि कर्मों के बोझ के अनुसार आगे भी आत्मा कुछ देखती है और बनी रहती है, तो उसी आत्मा तक आप भी क्यों नहीं अपनी आँख खोल लेते और वहाँ तक आँख खोलने के लिए कुछ यत्न (कोशिश) तो करने लग जायें। यत्न (कोशिश) करने के रास्ते में ये चार प्रकार के ध्यान-(1) वितर्क (2) विचार (3) प्रीति और (4) आनन्द, पहले बताये जा चुके हैं। इन चार प्रकार के ध्यान के पश्चात् पाँचवाँ ध्यान उपेक्षा परिशुद्धि रूप ध्यान है कि ध्यान ऐसा स्वाभाविक हो जाये कि पहले नाम स्मरण करते-करते अर्थ का चिन्तन, अर्थ का चिन्तन करते-करते समझ आने लग जाये, इतना समझ में मन लग जाये तो समझो! कि ध्यान में प्रीति जाग गई अर्थात् प्रति का ध्यान सम्पन्न हो गया। प्रीति लगने के बाद कुछ समझ आने लग गई तो मन के अन्दर आनन्द भी होने लगेगा अर्थात् वही आनन्दमय ध्यान बन गया। अब वह ऐसी समझ आराम से सहज रूप में आ रही है कि उसमें 'मैं' या अहंकार भी नहीं जागता है अर्थात् मैं अच्छा समझ गया; इसलिए किसी दूसरे को इसके बारे में बताऊँ और उसका मान-आदर भी पाऊँ इत्यादि।

यदि यह 'मैं' भाव भी नहीं जाग रहा, तो वह ध्यान आपका ऐसा स्वाभाविक हो गया, जिसे "उपेक्षा परिशुद्धि रूप ध्यान" कहते हैं। वह ध्यान बड़े आराम के साथ टिक गया है अर्थात् बिना यत्न के यह ध्यान चल रहा है। यह बड़े आराम के साथ टिका हुआ ध्यान आपको संसार में भी सफलता का ही जीवन देगा। यदि इन अन्दर के सत्यों का विचार (ध्यान) नहीं करेंगे तो त्रुटियाँ (गलतियाँ) ही होंगी, कारण कि व्यवहार में उलझे तो रहते ही हैं व मरते समय तक यह व्यवहार छूटता भी नहीं।

36. यदि कुछ मन के विपरीत हुआ तो क्रोध भी आयेगा। क्रोध के साथ मन की अशान्ति भी होगी। जब वह अशान्ति होगी तो बाहर उलझन भी बढ़ेगी और पश्चाताप भी होगा, ये सब बातें सांसारिक (दुनियावी) जीवन में होती हैं। इसलिए थोड़ा एकान्त में बैठने की आदत डाले। एकान्त में बैठ करके अपने दिन भर में चले हुए जीवन को थोड़ा परखें। इस प्रकार परख-परख कर अपने दोषों को चुन-चुन करके उनको निकालने का अभ्यास करें। इसके लिए पहला काम भगवान् को सिरे पर रखना है कि "एक वह परमेश्वर है, जिसमें ये सारे दोष विकार नहीं हैं और वह आनन्द का धाम सदा अपने-आप में विराजमान रहता है।" फिर भी मैं थोड़ा अपने दोषों को निकालने का यत्न करूँ। यदि ऐसा बन पाया तो समझो! जीवन धार्मिक सफलता की ओर चल पड़ा है।

37. चाहे पहले-पहले अ आ इ ई उ ऊ से तिल जितना भी शुरू हो। एक छोटा सा दोष भी पहचान में आ गया और उसको निकालने का संकल्प(इरादा)भी बन गया, तो समझो! धर्म का रास्ता आरम्भ (शुरू) हो गया। किसी को कड़वा बोला गया है, गलत आँख कहीं उठाई है, कान से गलत कुछ सुना है, जिह्वा से

गलत कहीं शब्द निकला है, मन से गलत कहीं सोचा गया है, तो

यही सारे विकार(दोष)हैं। यदि आप चिन्तन, स्मरण द्वारा अन्दर मन नहीं जगायेंगे, तो इन सब विकारों को कौन समझेगा? और फिर हटा भी कौन पायेगा? अकेले होते ही मिथ्या अभिमान, राग, द्वेष आदि जागेंगे और मन उन्हीं के बारे में सोचेगा और उन्हीं से प्रेरित हो करके वैसे ही मिथ्या कर्मों की ओर जाना चाहेगा। आलस्य, सुस्ती में बैठा हुआ मन थोड़ी देर बाद सो जायेगा। दूसरे दिन सवेरे उठते ही फिर मन वही करेगा, जो पहले करता आया है। जैसे कि पहले दिन कोई कार्य करने से बच्चे को आदत नहीं पड़ती; वैसे ही तम्बाकू पीने वाले को एक ही दिन में तम्बाकू पीने की आदत नहीं पड़ती है। आज तम्बाकू पीया, दूसरे दिन न पीयें तो कोई परवाह नहीं है, कारण कि एक दिन मात्र तम्बाकू पीने से उसका पीने का स्वभाव नहीं बनेगा।

38. स्वभाव से ही क्रोध होता है; स्वभाव से ही काम (इच्छा) का जागरण होता है। स्वभाव से लोभ, ईर्ष्या, दूसरे के दोष देखना आदि सब बुराइयाँ आती हैं। भगवान् ही एक ऐसा है, जिसमें कोई भी बुराई व दोष नहीं है और वह बिल्कुल निर्मल है। कम-से-कम थोड़ी देर के लिए उसका चिन्तन करें। इस चिन्तन के रास्ते में जो जायेगा, कम-से-कम वह मनुष्य तो बनेगा ही। सुस्त ढीले मन के कहे अनुसार ही कार्य करना प्रमाद कहा जाता है अर्थात् ढिलाई का जीवन है। यह ढिलाई धर्म के रास्ते में तो अच्छी नहीं है। धर्म का जीवन अपनाने के लिए यह प्रमाद छोड़ना पड़ेगा और छोड़ने के लिए अपने को अकेले में जगाये। जितनी मात्रा तक वह सारी इन्द्रियों, मन, बुद्धि के दोषों को मन में जगा लेगा, तो समझो! उतनी मात्रा तक उसके अन्दर चेतन आत्मा जाग जायेगा और उसको एकान्त में जीवन मिल जायेगा। मन भी अन्दर लगने लगेगा। यदि इन्हीं को जानते-जानते प्रीति भी जाग गई, तो प्रीति का ध्यान आ गया। चाहे भजन करते समय आपने राम-राम,

शिव-शिव, ॐ-ॐ नहीं भी कहा, इतना ही सही कि देख मना! आज दिन भर कैसे चला? अपने अन्दर इसकी छानबीन करने लग गए तो यह भी एक प्रकार का ध्यान ही है।

39. आप जो मंत्र लेते हैं, इसका अभिप्राय यही है कि उस मंत्र के जप के द्वारा ही मन को जगा-जगा कर और छानबीन करके उसके सुधार के पक्ष में भी रहें, तो यह अपने उस मंत्र दाता को ही याद कर लिया कि उनके अन्दर ये दोष नहीं है। चलो! उसका चिन्तन बना रहा। परन्तु सबसे ऊपर चिन्तन उस परमात्मा का है, जिसमें कोई भी विकार नहीं है, सरल सादा सब प्रकार के गुणों से सम्पन्न, अपने धाम में सदा सुखी और कोई भी संसार का उसमें दुःख नहीं है। वह भगवान् जन्म-मरण आदि सब दुःखों से परे है।

40. जैसे सांसारिक व्यर्थ के कार्यों के लिए हम इतना समय बिता देते हैं, तो वैसे ही ध्यान के लिए अकेले में आधा या एक घंटा बैठने का अभ्यास करें। इसमें पहले-पहले तंगी तो होती है। तंगी का नाम है कि 'तप हो रहा है', तो थोड़ा तप करें और उसी में थोड़ा चिन्तन भी जगायें। चिन्तन जगाकर समझे कि अकेले में क्यों नहीं बैठा जाता है? तब आपको पता चलेगा कि यही आदतों की दासता ही है, जो बैठने नहीं देती। कुछ अभ्यास के बाद अकेले बैठने की आदत पड़ जायेगी। अपने मन को हमेशा सादा रखने की कोशिश करें। क्रोध भी आने नहीं देना। विकारों को टालते जाना और भगवान् की याद रखें। चाहे विचार करके भगवान् के यही शब्द पकड़ लिये या चाहे किसी से नाम ले रखा है, तो भी ठीक है। उस नाम के सहारे उसका अर्थ चिन्तन करना चाहिए। कारण कि 'योग-दर्शन' में लिखा है कि "तद् जपस्तदर्थभावनम्" अर्थात् यदि उसके नाम का जप कर रहे हैं, तो उसके अर्थ का भी चिन्तन करें। यदि चिन्तन नहीं किया तो वह जप अधूरा ही है और ध्यान

तक नहीं पहुँच पायेगा। जो ध्यान से ज्ञान प्राप्त होना है, वह भी सम्भव नहीं होगा। ज्ञान नहीं प्राप्त होगा, तो मुक्ति भी नहीं मिल पायेगी अर्थात् संसार से छुट्टी नहीं मिलेगी। संसार में ही उलझे रहने से आत्मा का आनन्द नहीं प्राप्त होगा। यदि यह आनन्द नहीं प्राप्त हुआ, तो कृत-कृत्यता नहीं होगी अर्थात् "जो करना था, सो कर लिया" ऐसा अन्दर मन का भाव नहीं बनेगा। यह सब तब बन पायेगा, जब अपने-आप में अन्दर आत्मा का सुख मिल जाये। इस अवस्था में मौत भी फिर समाप्त (खत्म) है; बस! इतना ही सारे कहे हुए का निचोड़ है।

❑❑❑

प्रवचन-10

दिनांक : 22.1.1987

1. मनुष्य के अन्दर एक झुकाव रहता है कि मैं इतनी स्वतन्त्रता से संसार में रहूँ कि मेरे कार्य में कोई विघ्न-बाधा न डाले। जैसा मैं चाहता हूँ, वैसा ही होता व बना रहे। आज़ादी पाना या आज़ाद रहना, हर एक प्राणी अपने मन के अन्दर यही चाहता है। पक्षी भी पिंजरे में रहना नहीं चाहता। मनुष्य भी किसी के अधीन नहीं रहना चाहता। पराधीनता सबको बुरी लगती है। अन्त में रुख (झुकाव) सबका यही रहता है कि मैं जैसे चाहूँ वैसे चलूँ। लेकिन इतने बड़े संसार में मनमानी किसी की भी नहीं चल सकेगी। मनुष्य को कुछ नियमों के अधीन अपने-आप को साधना ही पड़ेगा और सहन शक्ति को भी बढ़ाना पड़ेगा। ऐसा नहीं करने पर बुढ़ापे का जीवन इस संसार में उसका आराम से नहीं चल पायेगा व रो-रो कर ही दिन (अपना समय)बितायेगा। आगे आने वाले समय में अर्थात् वृद्धावस्था में सुख पाने के लिए उसको थोड़ा अपने-आप को नियमों के अनुसार संयत भी रखना पड़ेगा और दूसरों के आधीन भी रहना पड़ेगा। कारण कि इस आयु में उसकी मन की नहीं चल सकती।

2. एक अवस्था ज़रूर ऐसी भी है कि जहाँ जा करके मनुष्य देखता है कि किसी भी बाहर के प्राणी व पदार्थों की पराधीनता नहीं है और वह समझता है कि मैं बिल्कुल स्वतन्त्र हूँ। इस स्थान का नाम ही अपनी आत्मा (अपना-आपा) है। सब संसार से मुक्त हो करके और किसी प्रकार का वहाँ संस्कार नहीं जागने की अवस्था में उस अपनी आत्मा में पहुँचने (ठिकाना मिलने) पर वहाँ कोई विघ्न-बाधा नहीं है। इस स्थान पर कोई दूसरा प्राणी

वहाँ उपस्थित ही नहीं है, केवल ज्ञान रूप चेतन आत्मा ही क्षण–क्षण, नया–नया वहाँ अपने अन्दर प्रकट हो रहा है। इसको ही विद्वान् व शास्त्रकार अद्वैत कहते हैं। यही आत्मा सब में समान रूप होने से सर्वव्यापक रूप से अनुभव में आता है। अद्वैत का अर्थ (मतलब) है, जहाँ कोई दूसरा नहीं है, केवल एक का ही भाव रहता है। जहाँ कोई दूसरा है, अर्थात् दो का भाव है; वह द्वैत कहलाता है। अद्वैत भय रहित है और दूसरा होने पर भय तो उसका होना ही है। अतः द्वैत में शंका और भय भी बना रहता है।

3. सबसे उत्तम जगह तो वही है जहाँ पर मनुष्य को सदा बनी रहने वाली आज़ादी मिले। स्वतन्त्रता या मुक्ति का सुख केवल अपनी अन्तरात्मा में ही मिलेगा। इस स्वतन्त्रता को इतना बढ़ाना है कि जो अपने अन्दर मुक्त स्थान अर्थात् एकान्त अवस्था में अपनी आत्मा को देखने में आ जाये; वही आत्मा सबके अन्दर देखनी है। इसको ही ब्रह्म–भाव कहते हैं। ब्रह्म नाम बढ़ावे (विस्तार) का है। अपने–आप में तो छोटा जीवन है और इतना लम्बा चौड़ा जीवन सारे संसार में बढ़ा (फैला) हुआ है। इस व्यापक जीवन में भी अपनी आत्मा को परखना व देखना है। जब अपने–आप में आज़ादी मालूम हुई है तो फिर दूसरों के अन्दर भी यदि अपने अन्दर रहने वाला आत्मा दिखाई दे, तो वहाँ से आज़ादी कहाँ चली जायेगी अर्थात् वह मनुष्य सबके अन्दर एक ही ज्ञान रूप चेतन आत्मा देखते व समझते हुए पूर्ण स्वतन्त्र (आज़ाद) ही रहेगा कारण कि आत्मा के सिवाय वह उनके अन्दर कुछ और देखता ही नहीं। लेकिन जन साधारण को दूसरे प्राणी आत्मा करके दिखाई नहीं देते, वहाँ कोई दूसरा ही नाम रूप के आधार पर मित्र, वैरी आदि दिखाई देते हैं। जहाँ भी कोई दूसरा दिखाई देता है, वहाँ से फिर भय होना ही है।

4. मनुष्य अपने अन्दर ही इस आत्मा को पहले पहचाने और पहचान करके इतना इसी आत्मा को बढ़ाये कि सबके अन्दर वही आत्मा दिखाई दे। यदि वही आत्मा केवल सत्-चित्त्-आनन्द मात्र सबके अन्दर दिखाई दे गया, तो फिर कोई परवाह की बात नहीं है और वह इस संसार में सब के बीच में रहते हुए परम स्वतन्त्रता का अनुभव करेगा। एक चेतन आत्मा ही दिखाई देने पर कोई कारण ही नहीं रह जाता है, जिससे कि दूसरे के अन्दर उसका वैर-विरोध पैदा हो और उस विरोध के कारण से कोई शंका या डर पैदा हो। बाहर जब कोई किसी प्रकार की उलझन ही नहीं है, तो मनुष्य बड़े आराम से रह सकता है।

5. व्यापक तो भगवान् ही कहा जाता है और वह भगवान् व्यापक तब है यदि सब जगह वह व्यापक दीखने में आ जाये। ऐसे तो पुस्तकों से पढ़ा हुआ कि भगवान् व्यापक है यदि हमारे काम कुछ आया नहीं और इससे कुछ साधन नहीं बन पाया, तो व्यापक भगवान् हमारे जानने के लिए कोई लाभकारी नहीं है अर्थात् पुस्तकों में पढ़ी हुई भगवान् की व्यापकता की जानकारी कोई हमारे जीवन में विशेष लाभ करने वाली नहीं है। भगवान् की व्यापकता तभी हमारे जानने में सार्थक है, यदि उस ज्ञान रूप चेतन भगवान् को सब के अन्दर देख सकें कि वह एक चेतन ही अपनी माया शक्ति के साथ सब के अन्दर खेल रहा है। जीव छोटे भाव में दूसरों से बाहर अपना स्वार्थ रखता है और दूसरों के स्वार्थ से संघर्ष को भी प्राप्त होता है और दूसरों को अपने स्वार्थ के ही कारण से भिन्न-भिन्न देखता है। स्वार्थ दो प्रकार का होता है। जो वस्तु मन को बुरी लगती है, उसका नाम दुःख है; उससे बचना चाहता है; यह पहली प्रकार (किस्म) का स्वार्थ है। जो वस्तु बढ़िया करके मन को अच्छी लगती है, उसको पाना चाहता है यह दूसरी प्रकार का स्वार्थ है। इसी अच्छी वस्तु को पाने के

लिए व उसके सुख को लेने के लिए और जो कुछ भी बुरा लगता है, उसको टालने के लिए दूसरों से संघर्ष भी होता है। ऐसे यदि संघर्ष के बीच में वह कोई ऐसा नियम या अपने-आप को थामने (कायम)य। संयम में रखने का रास्ता पहचान कर धारण कर ले तो दूसरों के साथ ठोकर-टक्कर (संघर्ष) ही नहीं होगा। यदि दूसरों के साथ संघर्ष नहीं है व दूसरे कोई बाहर वैरी, विरोधी भी नहीं हैं, तो इस प्रकार की आत्मा पहले अपने अन्दर पहचाने। मेरे अन्दर ही बैठी आत्मा एक ऐसी अनुपम है जो कि केवल सच्चिदानन्द रूप ही है और झगड़े की जड़ भिन्न-भिन्न मित्र, वैरी आदि के जो भाव हैं, ये उसमें कहीं भी नहीं हैं। परन्तु मेरे अन्दर बैठी वह आत्मा वैर, विरोध करेगी जो बाहर की वस्तुओं के आधीन है।

6. बीमार मनुष्य यदि अपनी आदत की वस्तु खाना व पीना चाहता है तो इलाज करने वाला डॉक्टर कहता है कि यह खाना आपके भले के लिए नहीं है और बीमारी से उल्टा है। ऐसी अवस्था में अपना ही आत्मा अपने साथ विरोध कर रहा है कि इस प्रकार के भोजन सेवन के बिना मैं रह नहीं सकता। जब अपनी आत्मा में ही कलह व झगड़ा है, तो समझो! यह कलियुग अन्दर बसा हुआ है। इसमें कभी भी किसी को सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अपनी आत्मा को ऐसा साधे कि जैसा सुख मिलने की वस्तु है उसी के अनुसार (मुताबिक) ही अपनी आत्मा (अपना-आपा) में करने के लिए ढल जाये। यदि आपने इतना अपना आत्मा वश में कर लिया तो फिर हानि (नुकसान) करने वाली वस्तु टाल दी जायेगी। यदि ऐसी हानिकारक वस्तु को टालने में दुःख हो रहा है तो समझो! अभी भी आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ है और आपको वह आत्मा का आनन्दमय रूप नहीं दिखाई दिया है। जब वह दुःख टालना आपके लिए इतना स्वाभाविक हो जाये

कि दुःख को बड़े आराम के साथ आप टाल देते हैं और उस टालने में भी आनन्द आता है, तो समझो, आत्मा आपको बढ़िया (सुख आनन्दरूप) अन्दर मिल गया। इस अन्दर मिली हुई आत्मा को अब बाहर बढ़ावा देते जायें अर्थात् इसको सब के अन्दर व्यापक पहचानें।

7. अब मन में यह समझना है कि जिस तरह संघर्ष मेरी आत्मा में अज्ञानकाल में था, वही संघर्ष उन सबमें भी स्वार्थ के कारण होता रहता है। यह संघर्ष केवल तृष्णा व कामनाओं को पूरा करने का होता है। कामनायें, संसार के प्राणी व पदार्थों से सुख को पाने की या बाहर के मान-अपमान की या बाहर दूसरों के साथ उलझन की ही होती हैं। इन कामनाओं के रास्ते से जो कुछ भी होता है, वह कभी भी अपने भले के लिए नहीं होता। जैसे मैंने अपनी आत्मा में समाधान किया, अपनी आत्मा पर विजय पाई और बड़े आराम के साथ अपनी आत्मा में कोई भी दुःख देने वाली वस्तु को नहीं रहने दिया तो केवल बाहर मिथ्या तथा अनर्थकारी सुखों के त्यागने का दुःख सहन करते-करते व धर्म अपनाते-अपनाते सत्य समझ में आ जायेगा। यदि आपको यह दृढ़ निश्चय हो गया कि सत्य के समझे बिना काम चल ही नहीं सकता, तो अपने-आप ही मन में इन तृष्णा व कामनाओं को आप छोड़ना शुरू कर देंगे और छोड़कर एक दिन सुखी भी हो जायेंगे। इसी सुख को पाने के लिए बाहर भी संघर्ष का रास्ता त्यागना उचित (ठीक) है। मेरी तरह ही यत्न द्वारा तृष्णा व कामनाओं से निकलकर सब अपनी आत्मा में सुख पा सकते हैं। यही अपनी आत्मा को व्यापक बनाना है, कारण कि उसको सब जगह अपना आत्मा ही दिखाई देगा।

8. यदि कोई पहले से ही खाली शुद्ध रूप से जीविका कमाने की और व्यर्थ (फ़ालतू) मिथ्या अपनी कामनाओं को त्यागने की

आदत डालने की कोशिश करे, तो यह कहा जायेगा कि वह धर्म के मार्ग पर चल रहा है। अनुचित (नाज़ायज) लोभ के कारण से अनुचित कर्म करने पड़ते हैं। अनुचित कर्म कोई दूसरा बाहर संसार में सहन नहीं करता। जब दूसरा सहन नहीं करेगा, तो संघर्ष विरोध भी होगा और उसका दण्ड फल भी, भले चाहे परलोक में ही जाकर मिले, अवश्य मिलेगा। इसीलिए मनुष्य अपनी आत्मा (अपने-आप)को ऐसे साधे कि अन्दर और बाहर किसी प्रकार का भी संघर्ष, नहीं रहे। जब उसके अन्दर संघर्ष नहीं रहेगा तो उसको सब जगह वही आत्मा दिखेगा, जो अपने अन्दर आत्मा पहचाना है। उसकी 'तेरी-मेरी' कहीं नहीं रहेगी। 'तू-तू', 'मैं-मैं', 'तेरी-मेरी' केवल बाह्य (बाहरी) स्वार्थ के कारण ही होती है।

9. जैसे आपने किसी को कड़वा वचन बोल दिया तो ऐसा सुनने से उसको दुःख होता है और यहाँ अपने अन्दर उसको मान दिखाने से सुख होता है । अपनी 'मैं' ज्यादा करके आपने उसके सामने दिखला दी। जितनी ज्यादा करके आपने अपनी 'मैं' उसके सामने प्रकट की तो दूसरे को भी उस उछलती हुई 'मैं' से अपने में अपमान का दुःख हुआ। इस अवस्था में आपके अन्दर तो 'मैं' दिखाने का सुख है और उसके अन्दर 'मैं' टूटने का दुःख हो रहा है, तो उसकी और आपकी आत्मा एक नहीं हो सकती। अपने-आप को साधने के लिए विचार करें कि जिस प्रकार का दुर्व्यवहार (बुरा बर्ताव) मैंने उससे किया है, ऐसा ही बर्ताव यदि मेरे साथ दूसरे के द्वारा भी हो जाये, तो मेरे को भी अत्यन्त दुःख होगा। जैसे "मैं दूसरों से दुःख नहीं चाहता हूँ तो मैं दूसरों के लिए भी दुःख का कारण नहीं बनूँ।" अब यदि दूसरों के लिए बुरा नहीं करूँ और बुरा करता भी नहीं हूँ और दूसरे (अगले) ने भी यह पहचान लिया कि वह ऐसा कर सकता था, परन्तु उसने अपने-आप को इतना काबू कर लिया कि उससे कोई दुर्व्यवहार

(गलत व्यवहार) हुआ ही नहीं। इससे, दूसरे के अन्दर उसी समय खुशी हो जायेगी और आनन्द आ जायेगा और वह समझेगा कि यह तो बड़ा भला मनुष्य, भक्त, ज्ञानी, समझदार और संयमी है। आपके प्रति उसकी प्रीति (प्रेम) और श्रद्धा होगी। पहले उसके अन्दर सुख होगा। ऐसे अच्छे व्यवहार से आपके अन्दर चाहे अभी सुख नहीं भी हो, कारण कि आपका अभी ऐसा करना धर्म ही है। यही धर्म आचरण करने में थोड़ी बहुत तंगी सहन कर सकते हैं; परन्तु बाहर किसी प्रकार से चोट नहीं करते, जिससे कि अगले की आत्मा में कुछ अग्नि (आग) जल जाये या उसको दुःख हो।

10. इस प्रकार यदि अपने अन्दर किसी ने शिव शान्त होना सीख लिया, तो यह आत्मा बढ़ते-बढ़ते वह ऐसा देखेगा कि हिंसा मेरे जड़ मूल से बिल्कुल समाप्त हो गई व मन से भी कहीं हिंसा नहीं होती। मन से हिंसा ऐसे होती है, जैसे कोई मनुष्य किसी का मन से बुरा सोच लेता है, तो समझो! मन से उसने हिंसा कर दी। जब उसके मन में हिंसा है, तो उसका बाहर बर्ताव या तो कपटमय या दुःखदायी होगा। यदि मन से भी किसी के प्रति हिंसा नहीं रही तो फिर हर एक जीव के अन्दर आपका आत्मा ही व्यापक होगा। वहाँ परमात्मा ही बैठा है। जो सर्वरूप से अन्तर्यामी सबके अन्दर समान है। परन्तु जब तक वह आनन्दरूप से अभी प्रकट नहीं हुआ, तब तक समझो, आत्मा का साक्षात्कार तो नहीं हुआ। आत्मा आनन्द रूप से तब प्रकट होता है, जब आपका कोई भी बर्ताव बाहर ऐसा नहीं हो जो कि किसी को सेंधने, बेधने अर्थात् दुःख देने वाला हो। जब तक आपका व्यवहार दुःख देने वाला है, तब तक आपको बाहर एक आनन्द रूप आत्मा नहीं दिखाई दे सकता व परमात्मा भी नहीं दिखाई देगा। बाहर सेंधने, बेधने (दुःख देने) वाला व्यवहार अपने ज्यादा स्वार्थ के कारण व अपनी

'मैं' ज्यादा करके बताने से होता है। जब तक मनुष्य बाहर संसार में अपने सुख की इच्छा करता है और दूसरे के सुख चाहे भाड़ में जायें, तो उसको सुख होना दुर्लभ है और अपनी आज़ादी मिलनी भी कठिन है।

11. जब अपनी आत्मा के अन्दर बाहर के सुख की दासता है, तो ऐसी अवस्था में उसको अकेले में सुख नहीं मिल सकता व अपने घर के निकट प्राणियों से भी उसको शंका और भय होगा। इसलिए पहले अपने अन्दर से बाह्य संसार के सुखों की तृष्णा की दासता छूटे। फिर यही आत्मा अपने-आप में अकेले में थोड़ा-सा तंगी के बीच में भी बैठ करके बाहर यदि बुरा नहीं करे तो उसको अन्दर आत्मा का सुख भी प्रकट हो जाता है। यदि अन्दर आत्मा का सुख प्रकट हो जाये तो यह सबसे बड़ा इनाम है। इसी के कारण से वह मनुष्य अपने-आप में शान्त रहेगा। परन्तु इसके लिए अन्दर से बहुत कुछ ध्यान द्वारा सीखना पड़ता है। जब तक शिक्षा पूरी नहीं हो जाये, तब तक बाहर की तृष्णा का जीतना व सब प्रकार के अपने स्वार्थों को त्याग करके अपनी अन्तरात्मा में शान्त होना कठिन पड़ता है।

12. सीखना तो बहुत प्रकार का है। बच्चा पैदा हो करके पहले अपने माता-पिता से सीखता है और भी आगे बढ़ करके स्कूलों व कालेजों में भी शिक्षा लेता है। परन्तु यह अक्षरों की विद्या तक सीमित है। एक शिक्षा वह है जो गुरु देते हैं। आध्यात्मिक शिक्षा यही है कि थोड़ा-सा अपने को वश में करने के लिए हिंसा, चोरी, झूठ, नशे तथा दुराचरण से बचे व थोड़ा बहुत अपने खाने-पीने के नियमों का पालन करे। थोड़ा पवित्र रहना सीखे व लोभ-लालच को जीते। अनुचित (नाजायज) कुछ ऐसा न करे। काम-क्रोध को थोड़ा-सा मारे। अक्षरों की शिक्षाएँ जब तक अपने अन्दर से ही सीखने में नहीं आयेंगी तब तक

मनुष्य को पूरा फल नहीं मिलेगा। सबसे बढ़िया सीखना तो अपनी अन्तरात्मा में है। अपने मन में अपने जीवन का ध्यान करके और बाहर दूसरों के संग से जो कुछ तंगी से होने वाले दुःख का ध्यान अकेले में करके उससे जो कुछ वह अपनी अन्तरात्मा में सीखेगा तो यह शिक्षा सबसे बड़ी है।

13. हमारे शास्त्र में सीखना गुरु शिष्य भाव को कहते हैं। शिष्य नाम वही है जो सीखने के योग्य है। सीखने के योग्य वही होता है, जो अपने अन्दर सचमुच ठीक तरीके से सत्य को ला करके फिर अन्दर से कुछ-न-कुछ ज्ञान द्वारा सीखे। अन्त में शिक्षा पाने योग्य वही है। ऐसे अन्तरात्मा में सीखने में आँखें बन्द नहीं करनी पड़तीं। सारे संसार में रहते हुए भी सीखने की बहुत बातें हैं। जैसे ऋषि दत्तात्रेय जी थे। कोई ज़रूरी नहीं कि एक ही गुरु उसको सारी शिक्षाएँ बतायेगा। ऐसा बताते हैं कि दत्तात्रेय जी के 24 गुरु थे। अब यह चौबीस गुरु कैसे थे? वे ऐसे गुरु नहीं थे कि कभी उन्होंने किसी को गुरु बनाया तो कभी दूसरे को गुरु बनाया अर्थात् एक गुरु को छोड़ा और दूसरे को बनाया। उनका तात्पर्य (मतलब) था कि सीखने पर मन तुला हुआ है। वह अपने मन में हर समय जागता रहता है। अपने अन्दर दुःख की घटनाएँ आती हैं तो उन घटनाओं के कारण से दुःखी हो करके वह चाहता है कि मैं इनसे बचूँ। बचने के लिए वह दुःख के कारण अन्दर ही अन्दर खोज करता है और खोज करने पर जिसको वह दुःख का कारण समझता है, उस दिशा में अपने-आप को चलाने के लिए प्रेरित करता है और उस प्रेरणा के लिए उसको बहुत कुछ अन्दर से सीखना पड़ता है और सीखे के अनुसार चलने के लिए उत्साह भी करता है। जो कुछ भी वह अपने-आप में सीखता है वह सारा सीखना अन्दर की शिक्षा ही है। इतने में वह शिष्य स्वयं ही है।

14. यह देख लिया कि दो-चार मनुष्यों के बीच में बैठकर ठोकर खाते हैं। मान-अपमान की बातें होती हैं; सब अपनी 'मैं' ज्यादा करके बताना चाहते हैं जो दूसरों से सहन नहीं होती। सत्य बताने पर भी दूसरा अपनी 'मैं' सिर पर लादता है तो फिर व्यर्थ (फालतू) दुःखदायी संगत से यदि अकेले रहे, तो सबसे बड़ा सुख है। यही शिक्षा दत्तात्रेय जी ने कहीं से सीख ली। जैसे कोई बच्ची थी। अपने घर में धान कूट रही थी। किनारे पर दूसरे कमरे में उनके आदर के योग्य (आदरणीय) मेहमान आये हुए थे। उस बच्ची ने देखा कि जब धान कूट रही हूँ, तो हाथ में पहने हुए कंगन (चूड़ियाँ) बज रहे हैं। उसने सोचा कि ये मेहमान लोग मेरे कंगन बजने के बारे में सोचेंगे और कहेंगे भी? इसलिए उसने एक-एक करके कंगन उतारना शुरू कर दिया। जब आखिर एक कंगन रह गया तो वह बजना बन्द हो गया। उसने सोचा कि अब मैं आराम से धान कूटुँ। भगवान् दत्तात्रेय जी यह सब देख रहे थे। उन्होंने दूर से देखकर कहा कि यह बढ़िया बात है। जब तक दो भी मौजूद हैं, तब तक भी खटपट होती है। जब अकेला हो गया तो कोई खटपट नहीं रहेगी। मैं भी अपने-आप को ऐसा ही साध लूँ कि ज़रूरत से ज्यादा किसी दूसरे से मिलने की कोशिश भी न करूँ। इतने से उन्होंने उस बच्ची को भी एक गुरू के रूप में देखा। जितना ज़रूरत का है उतना ही मिलूँ, यह अपने मन के एकान्त में सीख लिया। इसको याद रखते हुए अपने-आप में थोड़ा समय बिताना सीखे।

15. दिन में रहने व रात काटने के लिए कहीं जाना पड़ता है, चाहे हम साधु ही हैं। फिर भी यहाँ-वहाँ का सहारा लेने से संगत तो हो ही जाती है। हो सके तो, इससे भी बचे। जैसे साँप जो है अकेला ही रहता है। जहाँ कहीं खाली बिल देखता है वहीं घुस जाता है। साँप से भी दत्तात्रेय जी ने शिक्षा ले ली कि जहाँ

खाली जगह दिखाई दे वहीं ठहर गए। दूसरे के घर, कोठे (कमरे) आदि की आशा रखना भी ठीक नहीं है और न ही अपना कोई आसरा बनाये। यह सब उन्होंने साँप से विचार द्वारा सीख लिया। इतने में साँप भी उनके चौबीस गुरुओं में से एक गिनने में आया है। इसी प्रकार से सूर्यनारायण की किरणें पापी के घर, दोषी मनुष्य, गन्दगी और पवित्र वस्तु पर भी पड़ती हैं। किन्तु सूर्य की किरणें तो सदा स्वच्छ (साफ़) रहती हैं, कभी मैली (गन्दगी युक्त) नहीं होतीं। इस प्रकार सृष्टि (संसार) में सब प्रकार के मनुष्य हमारी दृष्टि (नज़र) में पड़ते हैं; हम अपनी दृष्टि शुद्ध रखें तो हमारे लिए सारे शुद्ध हैं। परन्तु जब हमारा स्वार्थ कहीं आ गया, तो समझो! उसमें मैल आ गया कि हम उससे कुछ अपना स्वार्थ साधना चाहते हैं। यदि अपना स्वार्थ पूरा हो जाता है तो वह अपना पिता है; वरना स्वार्थ पूरा न होने से उसको कोई महत्त्व नहीं देते। ऐसी अवस्था में, दूसरे भी दुःखी होते हैं। इसलिए अपनी दृष्टि स्वार्थ रहित व किसी को दुःख देने वाली नहीं होनी चाहिए, जैसे सूर्यनारायण की दृष्टि में कोई दोष नहीं और दूसरों का उनसे कुछ बिगड़ता नहीं, जिसकी किरणें सब पर समान रूप से पड़ती हैं; इतने से सूर्यनारायण भी गुरु माने गए।

16. इस प्रकार दत्तात्रेय जी ने जल (पानी) से भी सीख लिया। मनुष्य बेचारे अपने दुःख के कारण से भड़क जाते हैं। उनका मन अभी बहुत ही दूसरों के अधीन होता है। बच्चे की तरह ठंडा पानी सिर पर पड़ते ही रोते हैं। बच्चा थोड़ा दुःख होने पर हाय-हाय करता है और उससे वह दुःख सहन नहीं होता। उसने अभी सीखा नहीं और उसके अन्दर अनुशासन भी अभी नहीं आया है। परन्तु हम तो अभी बच्चे नहीं हैं, थोड़ा दुःख भी सहन कर सकते हैं। जो बेचारे बाहर अभी बाहर की वस्तुओं की अधीनता रखते हैं और दूसरों से सुख की आशा करते हैं; उनका

थोड़ा-सा सुख भंग होने अर्थात् बिगड़ने पर उनके अन्दर से क्रोध (गुस्सा) भी निकलता है और मिथ्या व्यवहार भी आता है। वे खोटा करने को चलते हैं तो समझ लेना चाहिए कि इनके अन्दर से आग निकल रही है। यदि अपने अन्दर से आग निकालेंगे तो ज्यादा ही दुःख होगा, ऐसी अवस्था में जल बनना ही ठीक है। जल से यह सीख लें कि चाहे जल कितना ही तपा हुआ (गर्म) हो परन्तु अग्नि को तो ठण्डा कर ही देता है। इसलिए अपने को जल की तरह रहना चाहिए। जल भगवान् यही सिखाते हैं कि दूसरों को हमेशा ठण्डा रखें। जल को उपनिषदों में देव रूप इसलिए माना है कि यह अपने अन्दर की प्यास को बुझाता है और शान्त करता है। अपने अन्दर क्रोध रूपी आग जलती है। जिस समय यह क्रोध रूपी अग्नि अपने अन्दर जले, तो जल का नाम लेकर उसकी तरह ठण्डा रहना सीखे अर्थात् चौबीस प्रकार से यह सब सीखने की वस्तुएँ हैं। जल, अग्नि आदि से सीख लिया। एक, दो, चार नहीं बल्कि इसी प्रकार से दत्तात्रेय जी ने चौबीस गुरु बनाये।

17. दत्तात्रेय जी ने अग्नि से भी सीख लिया कि थोड़ी सी भूख लगने पर आप इस वस्तु के लिए भागते हो। फिर देखते हो कि यह खा लिया तो यह दुःख हो गया; यह परेशानी हो गई। प्रचण्ड अग्नि में कुछ भी डालने पर भस्म हो जाता है, इसलिए अपनी अग्नि प्रचण्ड रखें और छुटपुट में बार-बार खाने की आदत मत डालें। इतनी अग्नि प्रचण्ड रहे, कि जो समय पर रूखा-सूखा मिल जाये सब उसमें हवन हो जाये। बस! अपने को आनन्द हो गया। यह सारी जितनी सीखने की बातें हैं।

18. पुराने महात्माओं ने सीखने के लिए कुछ नियम बनाये थे। किसी दिन ऐसा नियम है कि व्रत करना, जिसमें नमक नहीं खाना है। नमक सारे स्वाद रूप है। अब उसकी तृष्णा बढ़ी हुई

है। यह तृष्णा पूरी नहीं होने पर मन भड़क जाता है और क्रोध आता है। इस नमक को न डालने के बारे में जो जिम्मेवार है; उसको भी बुरा भला कह बैठता है; चाहे वह घर का हो या बाहर से कोई अपना नौकर हो। उस समय का कहा हुआ तो आप समझते हैं कि कोई कीमत का नहीं। परन्तु आपके मन की इतनी आधीनता व पराधीनता में इसकी अशान्ति इतनी जबरदस्त है कि मरते समय तो क्या मरने के बाद भी इसी का चिन्तन करता हुआ मनुष्य अग्नि में ही मरेगा; कारण कि पहले वाले स्वाद व सारे संसार के पदार्थ तो छुटने हैं। जिस समय वे छूटेंगे जीवन तो जीते जी नरक हो जायेगा। इनको छोड़ करके, फिर आत्मा यदि शान्त हो गई तो उसने आत्मा को परखा है। अब इस आत्मा की बाहर किसी के साथ ठोकरबाजी नहीं। दूसरों में भी आपको यही शान्त आत्मा दिखाई दे। कहीं ऐसा नहीं हो कि किसी के संग आपकी आत्मा गई और वहाँ देखा कि आपके बर्ताव व व्यवहार द्वारा किसी तरह से उसकी आत्मा भड़क गई; आग लग गई तो उसकी आत्मा शान्त शिव तो नहीं है। वहाँ शिव आनन्द रूप नहीं है। जहाँ शिव रूप आत्मा शान्त रहे, तो शान्ति है। शिवजी के ऊपर यही जल चढ़ाना है कि सब जगह पर भगवान् चेतन, ज्ञान रूप से बसा हुआ है। खाली अपना छोटा-मोटा स्वार्थ ही ऐसे व्यवहार करता है, जिससे कि दूसरों को भी भड़काव आ जाता है। दूसरे बेचारे भड़कते हैं, तो उतनी देर मेरे अन्दर क्षमा होनी चाहिए। यह जल से सीख लिया। जैसे दत्तात्रेय जी ने सीख लिया कि अपने-आप को ठण्डा रखना और दूसरों का दुःख सहन भी करना। थोड़े दिनों में आप देखेंगे कि आपको पहचानने के बाद दूसरे आपसे दुर्व्यवहार नहीं करेंगे। आपके बोल (वाणी), मन के भावों व आपकी चेष्टाओं में वही चेतन झलकेगा जो कि आपके अन्दर पवित्र प्यारा है। उस चेतन की छाया दूसरों पर पड़ेगी तो कोई

मनुष्य भी आपका वैरी–विरोधी नहीं होगा। आपको आनन्द ही मिल जायेगा। यह सारा सीखना है।

19. जनसाधारण कहते हैं कि उसका तो भाग्य ही ऐसा हो गया; वह तो पुण्यवान् मनुष्य है। यह आपके अन्दर ऐसा पुण्य प्रकट हो जायेगा, लेकिन वह कमाई करने से होगा। उसी के लिए थोड़े बहुत नियम हैं। एक छोटी से लेकर मोटी, कोई भी बाहर तृष्णा है, यदि इसको त्यागते–ज्यागते (छोड़ते–छोड़ते) और इसको जीतते–जीतते इसके छोड़ने के दुःख को सहन करते हुए आपने यदि अपनी आत्मा शान्त कर ली, तब समझो! आपने अपना आनन्दरूप आत्मा प्रकट कर लिया और परख लिया। आत्मा वह है जो आनन्दरूप है। "सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म।" उसी का नाम आत्मा है जो कि स्वयं ज्योति अपने अन्दर अनन्त रूप आत्मा है। आत्मा तब आनन्द रूप है यदि इस प्रकार से ठोकर, टक्कर संघर्ष से रहित हो।

20. सबसे उत्तम (बढ़िया) शिक्षा (सीख) होगी, कि दुःख को सहन करना और दुःख को देखना। सहन करने के दुःख काल में जो कुछ संसार के सुखों से मुख मोड़ने पर दुःख होता है, उस दुःख को पुनः संसार की वस्तुओं से ही शान्त न करके केवल उसको देखते–देखते और सहन करते–करते टालने का अभ्यास करना। जब संसार के सुखों को पाने की तृष्णा, विचार द्वारा मन से उतर जायेगी, तो उनका दुःख भी बहुत देर बना नहीं रहेगा। केवल उसको धैर्य से सहन करते रहना। उनको खुजली के दुःख के समान सहन करते रहने पर अपने समय पर स्वयं ही टल जायेगा। दुःख के टलने पर अन्तरात्मा का सहज, स्वाभाविक सुख या आनन्द भी प्रकट हो जायेगा। फिर मन को विचार द्वारा शान्त रखना। जब दुःख देख करके उसको समझते हुए बुद्धि बनी रही और मन शान्त रहे तो असली सीखना यही है। इस

सीखने के लिए जो भी बलिदान (कुर्बानी) करना पड़ता है, उसी का नाम त्याग है। इसके लिए जो कुछ भी सहन करना पड़ता है, इसी का नाम तपस्या है। जब तक यह पूरी नहीं हो, तब तक वह मुक्ति (आज़ादी) तो मिलती नहीं, जिससे मेरा किसी से विरोध नहीं रहे व अपने-आप का सुख (आत्म सुख) सदा बना रहे। पराधीनता का सुख सदा बना नहीं रहता। जैसे तुलसीदास जी ने कहा है "परीधीन सपनेहुँ सुख नाहीं। कर विचार देखो मन माहीं।" मन में खूब विचार करके देख लें कि पराधीन को सुख नहीं, चाहे वह किसी प्राणी और पदार्थों की पराधीनता हो। संसार में दूसरों के सहारे जीने वाला कभी भी इस आत्मा के सुख को नहीं पा सकता।

21. मनुष्य अपने अन्दर सीखना शुरू कर दे कि बाहर की तृष्णा का सब सुख पराधीन है व पराधीनता में सुख नहीं है। इस पराधीनता से निकलना, बचना व छुट्टी पानी है अर्थात् इससे मुक्ति लेनी है। मुक्ति पाने के लिए सीखना पड़ता है। सारे शास्त्र कहते हैं कि यदि मुक्त होना है तो कुछ सीखें अर्थात् शिष्य बनें। किसी को गुरु बनाओ और जो गुरु सीधी-सीधी बतायेगा, इतने बताने व सुनने से कभी भी किसी की मुक्ति नहीं हुई। जब उसकी शिक्षाएँ मन से उतारेंगे, फिर आन्दर से आवाज़ आयेगी कि यह करना ज़रूरी ही है। जब अन्दर में सीखने की बात निकल आयेगी व अन्दर से प्रेरणा आ जायेगी तो फिर यदि आपने सीख-सीख करके उसी ढंग से अपने को साधना शुरू कर दिया तो यह आत्मा का साक्षात्कार हो जायेगा। बढ़िया मीठा आत्मा मिलेगा। यदि आत्मा आनन्द रूप में मिलेगा तो फिर दुःख को देखते-देखते ही सहन कर लेंगे व टाल देंगे। दुःख आ पड़ने पर उस को तो सारे देखते हैं, परन्तु वह दुःख का देखना नहीं, वह तो दुःख का भोगना है। जैसे सिर दर्द हुआ या किसी को काँटा लग गया, वह

हल्ला-गुल्ला (शोर) मचा देगा कि बड़ा दर्द हो रहा है। थोड़ा भी दुःख होने पर आप भी दुःखी और दूसरों को भी दुःखी करता है। अपने-आप की बुद्धि भी भ्रष्ट की अर्थात् उस वक्त (समय) बुद्धि व स्मृति में नहीं रहा और जो पास वाले हैं उनको भी दुःखी किया। यह तो दुःख का भोग है कि दुःख पड़ते ही वह हाय-तौबा करके दुःख सहन तो करेगा, दुःख को देखेगा तो सही; परन्तु यह दुःख का देखना नहीं है। दुःख का देखना तो खुजली के दृष्टान्त के समान है। चाहे कहीं भी शरीर में खुजली नाक,पीठ इत्यादि में होने लगी, वहाँ हाथ भी नहीं पहुँचता है, तो यह खुजली होने को देखे कि कितनी देर होती है; कितना इसका दुःख है? अब वहाँ यदि हाय-तौबा करके पीठ रगड़ने लग गए, तो यह बचपन जैसा ही दुःख देखना हुआ। खैर! आम मनुष्य तो ऐसा ही करता है। इस में बुराई तो इतनी नहीं है व भलाई भी ज्यादा नहीं है।

22. हमें परीक्षण के रूप में इस खुजली को देखने लग जाना चाहिए कि इसमें इसका दुःख कितनी मात्रा में है और कितने समय तक रहता है? जैसे ही आप अपने मन को तैयार करके उसका दुःख देखने लगेंगे तो इसका नाम दुःख को देखना है। उस समय देखते-देखते कोई तंगी आये; उसको मन से पहचानने का मतलब है कि अन्दर से आपको ज्ञान हो गया। दो-चार मिनट सहन करने से खुजली टल गई, तो आपको वह शिक्षा मिल जायेगी कि खुजली का दुःख कितना भी भड़काने वाला था, यह खुजली अपने-आप थोड़ा सहन करने से टल गई। इस प्रकार अपने मन से सीख करके आगे सहन करने के लिए एक आपको शिक्षा मिल गई और अपने अन्दर सहन करने का बल आ गया।

23. इसका नाम सीखना है कि शरीर की ज़रूरत के अतिरिक्त हर एक वस्तु को त्यागकर इसका दुःख देखने की आदत डाले जैसे कि खुजली को उसके स्थान को रगड़े बिना केवल धैर्य से

सहन करने मात्र से दूर कर दिया। ज्यादा वस्तुएँ शरीर चलाने के लिए ज़रूरत की नहीं हैं, वे तो खाली मन को बहलाने, संसार में दूसरों के सहारे जीवन व समय बिताने के लिए हैं। जो कुछ भी थोड़ा-बहुत जितना भी बन्धन है, वह अब इतना बढ़ गया है कि सारी आयु अर्थात् जन्म भर वही तंग करता है। वस्तुओं के संग का सुख वस्तुओं से लेने से नाना प्रकार के रोग आदि संकट को भी उत्पन्न करता है, इसलिए ज्यादा वस्तुओं का सहारा ताकना ठीक नहीं, किन्तु उन वस्तुओं के त्यागने से उनका सुख न मिलने पर जो दुःख होता है उस दुःख को मन को शान्त रखते हुए सहन करते-करते दुःख को टालने का अभ्यास करना है। प्रकृति के नियम अनुसार समय पाकर ये आवश्य टल ही जायेगा। प्रकृति सदा एक जैसी नहीं रहती, दुःख की स्थिति में धैर्य से सहन करने पर समय पाकर सुख में परिवर्तित (बदल) हो जायेगी। उसको एक-एक को अन्दर ही अन्दर त्यागना है। मन में विचार करें कि थोड़ा इस वस्तु के बिना भी रह सकते हैं। ऐसा करते-करते देख करके अन्तर्मन में जो व्यर्थ की वस्तुओं के संग को त्यागने की तंगी होगी; उस तंगी को देखते-देखते यदि सहन कर लिया और सहन करते-करते खुजली के समान मिटा दिया तो यही उसी से मुक्ति होगी। वह तंगी तो खुजली की तरह मिट जायेगी। जैसे उस खुजली में उस समय तक आग लग रही थी जब तक वहाँ चेतन भगवान् ज्ञान रूप नहीं पहुँचा था। जब उस स्थान की आग को अन्दर की दृष्टि से आपने झाँकना शुरू कर दिया तो ज्ञान अपने अन्दर वहाँ इकट्ठा होने लगा। इसी के पीछे भगवान् की माया शक्ति विद्युत् (बिजली) की तरह बहती है। वहाँ खुजली की जगह जा करके वह विद्युत् की शक्ति भी पहुँच गई, जो कि जड़ की जगह थी और जिसको खुजलाने से आनन्द आना था। उस चेतन शक्ति ने जा करके उस खुजली को ही मिटा दिया।

प्राणी के अन्दर कोई भी दुःख मन के बाहर भटकने से होता है।

24. कोई अंग ठण्डा पड़ने से खून का दौरा बन्द हो जाता है। अब वह अंग मुर्दा मालूम होता है। उसका देह में होना बुरा लगता है। परन्तु यदि उसी में खून बह जाये अर्थात् रक्त संचार हो जाये और उस में जीवन (जान) आ जाये, तो वही प्यारा लगने लगता है। हमारे अन्दर जितना भी दुःख है यह सब मन के अनुचित (नाज़ायज) बाहर बहने तथा भटकने के कारण से है, जैसा कि ऊपर बताया है। इसी से उसके नाना प्रकार के दुःख खड़े होते हैं। यदि वह मन सारा अन्दर एकत्रित (इकट्ठा) हो जाये तब दुःख मिटता है। परन्तु वह तब हो; जब बाहर की उलझन समाप्त हो व बाहर ज्ञान न बंधा हुआ हो। अगर बाहर ज्ञान बंधा हुआ है, तो अन्दर इकट्ठा होना मुश्किल है। यदि ज्ञान बाहर से मुक्त हो गया व किसी जगह भी बंधा नहीं रहा कि उसका यह करना था, वह कार्य इस प्रकार करना था, उससे यह वस्तु प्राप्त करनी थी इत्यादि–इत्यादि। जो मैंने पाई नहीं व उसी की चिन्ता कर रहा है तो समझो! अभी मन (समझ) बाहर ही है। जब तक मन बाहर है, तो तृष्णा की बाहर सैर है। इस अवस्था में संसार का जन्म समझ लें। फिर भी मरते समय तक यदि यही तृष्णा है, तो फिर संसार में ही जायेगा। कारण कि अभी वह अपनी दुःख की शान्ति के लिए बाहर भाग रहा है। मरने के बाद भी दुःख की शान्ति के लिए बाहर संसार की तरफ़ ही भागेगा। यह दुःख की शान्ति के लिए बाहर भागने का नाम ही पराधीनता है। यदि यह पराधीनता जीते जी (जीवन–काल में) आपने जीत ली, तो समझो, आप मुक्त हो गये, नहीं (वरना) तो मुक्ति का कोई रास्ता नहीं है।

25. इस पराधीनता से मुक्ति पाने के लिए किसी दिन अर्थात् जैसे मंगलवार के दिन नमक छोड़ कर इस तृष्णा की तंगी को देख लें। इसमें भी मीठे का स्वाद नहीं छोड़ कर नमक छोड़ने

के त्याग का दुःख देखना है कि नमक की तृष्णा कितना तंग करती है अर्थात् जितनी उसकी तंगी है उसको भी पहचान लूँ और न लेने पर उसकी तृष्णा की ताकत को भी माप लें, ये सब अन्दर के ज्ञान हैं और ये अन्दर शिक्षा भी देंगे और भी बहुत कुछ सिखायेंगे। मीठा भोजन भी मन की रुचि का कभी न लें। नमक छोड़ने से मन उदास (खिन्न) रहेगा व किसी से बातचीत भी नहीं करना चाहेगा। इसी प्रकार किसी दिन दूध का मीठा बन्द करके देख लें अर्थात् फीका दूध व फीकी चाय पीकर देख लें। ऐसा करने पर मन की हालत व तृष्णा का दुःख समझ के साथ देखते रहें। ये सारे व्रत हैं और इनसे अन्दर का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है। मन की अवस्थाओं का परिचय भी मिलता है। किसी दिन एकादशी को अन्न छोड़कर देख लिया व थोड़ा फलाहार ही करके देख लें कि अन्न की कितनी तृष्णा बढ़ी हुई है। एक दिन अन्न, नमक, मीठा सब छूटना है। सारे रस व बन्धु-बान्धव भी छूटने हैं। एक दिन मौन (चुप) रह करके देख लें कि वाणी की कितनी तृष्णा है व बोलने से कितना आनन्द आता था और इसके छोड़ने का कितना दुःख है। ये सारे व्रत अपनी आत्मा की परख करने के लिए रखे गए हैं। आत्मा (अपने-आपे) को पहचाने कि यह कितना बाहर बंधा हुआ है। उससे सीखें कि आत्मा बाहर बंधा हुआ कितना तंग करता है। यदि आप इसकी तंगी को देख लें व आप इसकी तंगी को सहन कर लें तो समझो आप उससे छूटते गए। यह छूटते-छूटते इतना देखना है कि मन उन की याद भी नहीं करे, जो कि राग या तृष्णा है कारण कि मन बाहर से तो किसी वस्तु को छोड़ देता है लेकिन उसकी अन्दर याद नहीं भूलता। जैसे नमक छोड़ा है तो नमक की याद भी नहीं आनी चाहिए। यदि मन याद भूल गया तो उसकी समाधि लग जायेगी। जब तक नमक याद में है, तब

तक समझो, मन बाहर है। मन बाहर है तो श्वास भी बाहर है। जब तक उसको नमक की याद आती रहती है, तब तक नमक की तृष्णा अन्दर बनी रहती है। इस प्रकार विचार करते हुए कुछ सीख लें कि नमक छोड़ने का दुःख, काँटा लगने, जलने, चोट लगने व बीमारी के दुःख से ज्यादा नहीं है; उन सब दुःखों को अपने समय पर सहन करना पड़ता है, तो इनको नमक त्यागने का दुःख कितना है, वह सहन क्यों नहीं हो सकता? यह तो केवल खाली मन का दुःख है, इससे और कुछ बिगड़ता भी नहीं। उस त्यागने के दुःख को सहन करने की हिम्मत करे। कई-कई तो इतने उद्योगी हैं कि पाँच-सात दिन तक नमक छोड़ कर देखते हैं।

26. यह सब सादे व्रत करने वाले को बहुत-सी सीख (शिक्षा) मिलती है कि किसी वस्तु का भी बन्धन झूठा है। थोड़ा-सा दुःख बाहर की हवस या तृष्णा की तरफ़ लपक का होता है जो कि थोड़ी-सी तंगी के साथ जीती जाती है व थोड़े दिन दुःख ज़रूर देती है। जिस समय इसका दुःख समाप्त हो जाये तो उनसे छुट्टी (मुक्ति)का सुख ही सुख है, जो कभी समाप्त होने वाला नहीं है। ये पशु-पक्षी कहाँ नमक व मीठा खाते हैं? फिर भी आराम से खुशी-खुशी घूमते हैं। जिस प्रकार भगवान् दत्तात्रेय जी ने कइयों से सीख लिया, मनुष्य भी, पशु-पक्षी से भी सीख सकता है। गुण सबसे लिया जाता है। यह सीखता हुआ मन यदि अकेला हो जाये और अकेला होकर निद्रा की ही शरण न ले, तो समझो! आत्मा में आ गया और उसने आत्मा का सुख पा लिया। आत्मा का सुख केवल बाहर की तृष्णा से ही ढका हुआ था, उसी से भड़कता हुआ मन दुःखी था। जब वह तृष्णा अपने दुःख के साथ सहन करते-करते समाप्त हो गई, तो आत्मा का सुख प्रकट हो गया। अब यही आत्मा का सुख आत्मा के

साथ सदा रहने वाला है, क्योंकि आत्मा अपने-आप में आनन्द रूप है। इसी आत्मा को बाहर बढ़ावा देना है। यह बढ़ावा किस प्रकार देना है? जिस तरह मैं बंधा हुआ कई खोटे कार्य (काम) करता था, कइयों से ठोकर, शिकायतें, उलझन, मिथ्या शब्द बोलना व सारे मिथ्या कर्म आदि होते थे; इस तरह बाहर से भी यदि कोई मेरे को कोई विपरीत वस्तु आती है, तो इन्हीं के कारण से आती है। फिर दूसरा कौन, कैसे अपराधी हुआ? अपराधी तो यह माया है। यह तो माया (तृष्णा) का चक्कर है। ऐसी अवस्था में ऐसा करें कि मैं तो अपने अन्दर भगवान् का गुण 'क्षमा' बसाऊँगा; 'सहन शक्ति' बढ़ाऊँगा और कुछ भी सहन करके किसी से खोटा बर्ताव नहीं करूँगा। फिर आपको सब जगह अपनी आत्मा ही आत्मा एक दिन दिखने लग जायेगी कि वही चेतन तो है, जो हमारे देह को चला रहा है। वही दूसरों की देहों को भी जीवन दे रहा है। अन्त में वही सारे पेड़, पौधे, पशु, पक्षी में भी हैं। चेतन बिना कोई वस्तु बढ़ती ही नहीं। चेतन है, तभी तो पेड़-पौधे बढ़ते हैं और समय के साथ फल-फूल निकलते हैं। मनुष्य के अन्दर भी चेतन है, तभी तो खून का दौरा, अन्न हज़म होना, हड्डी-मांस आदि का बढ़ना होता है। यह काया, चेतन रहते हुए फूल जैसा हल्का लगता है और मरने के बाद चार मनुष्य उठाते हैं। जीवित मनुष्य बड़े आराम से भागता है और सब कुछ करता है। यह सब चेतन देव की लीला है। जहाँ तक यह चेतन है, आनन्दरूप भी है; बस यही सब जगह है। यदि बाहर के स्वार्थ की आग बुझ जाये और राग-द्वेष नहीं रहे, तो यह चेतन पहचान में आये। राग-द्वेष, सुख-दुःख के साथ हैं। जहाँ थोड़ा दुःख हुआ, तो वहीं बंध गया।

27. अपने ।न की चलने के लिए मनुष्य चाहता है कि चक्रवर्ती सम्राट बनूँ। शक्ति ग्रहण करके कई प्रकार के साधन

इकट्ठे करने पर भी अन्त में ये सारे जितने अधूरे रह करके यहीं रह जाने हैं। आपका दुःख भी नहीं छूटना है और सुख भी आपको प्राप्त नहीं होना है। बस! एक ही रास्ता है कि सीखना शुरू कर दे, जब अपने से सीख चलेगी तो मनुष्य पहले दुःख देखना सीखेगा कि दुःख को थोड़ा झाँके कि कितना ज्यादा दुःख है? क्या यह सहन करने से टल सकता है या नहीं? दुःख को थोड़ा देखे और मन को शान्त रखे जैसे खुजली होते हुए खुजली न करके मन को शान्त रखते हुए उसको समाप्त करना है।

28. जिस प्रकार नमक, मीठा, ज्यादा भोजन (खाना) छोड़कर उनकी तृष्णा का दुःख देखा है, इसी प्रकार थोड़ा नींद को भी छोड़ कर देख ले कि इसकी कितनी तृष्णा बढ़ी हुई है। नींद को बिल्कुल छोड़ने की भी ज़रूरत नहीं है। परन्तु यह नहीं कि नींद का इतना चाव हो कि जब नींद आये तभी लेट जाये व आलस्य, सुस्ती का आराम लेते रहे। अपने मन को समझाये कि थोड़ा आसन पर बैठने की तंगी भी सहन करनी चाहिए व थोड़ी नींद भी लेनी है। लेकिन अभी नहीं, छः घण्टे ही तो सोना है। अगर छः घंटे नींद नहीं आती है तो उसके लिए दुःखी भी क्यों होना है? जितनी आ जाये उतनी ठीक है। एक नींद अच्छी ले ले। फिर उठ करके सीधा आसन पर बैठे। जो कुछ तंगी होती है, उसको देख ले। परन्तु मन के अन्दर नींद के न आने पर क्रोध या शंकाएँ जो कुछ भी विकार उत्पन्न होते हैं उनको ज्ञान द्वारा या विचार द्वारा मिटाते जाओ। थोड़ा संसार की तरफ़ आँख खोल कर विचार जगाओ कि कितने व्यक्ति इसके बिना भी मेरे से कम निद्रा लेते हुए भी जी तो रहे ही हैं, यह सब साधन का रास्ता है। साधना उसी का नाम है कि जो वस्तु जैसी नहीं है, उसको तंगी सहन करके भी वैसी बनाना। अभी मन ऐसा नहीं है कि इनके दुःख (संकटों) के बीच आराम से रह सके। ऐसे ढंग से

इस मन को साधना है कि यह सबमें आराम से रह सके। जो वस्तु नहीं मिलती, जाने दे। जवानी व इसके सुख चले गए, तो जाने दे। आँख, कान आदि इन्द्रियों की शक्ति चली गई, तो जाने दे। खाना अधिक हज़म नहीं होता, तो नहीं सही, किन्तु मन शान्त रहे। यह नहीं कि हाय बूढ़े हो गए; अब आँख से पूरा नहीं दीखता। क्या करें? यदि शिकायतों में पड़े रहे तो जीवन बच्चे की तरह रोते हुए फिर भी बीतेगा।

29. चिढ़ा हुआ मन यदि सुखी नहीं है तो कोई भी मनुष्य बुरा लगता है। दूसरे के दोष ही दिखाई देंगे। यदि दूसरे के दोष ही देखने का रास्ता है तो ऐसे मनुष्य के अन्दर द्वेष व अपनी 'मैं' ही ज्यादा होती है। यह 'मैं' कहीं भी सुखी नहीं है। ये सारी संसार की समस्याएँ हर एक मनुष्य के साथ हैं। यदि आप इनका समाधान नहीं करेंगे, तो बताओ! दूसरा कौन करेगा? यदि आपने इनसे मुक्ति नहीं पाई तो दूसरा मुक्ति भी कौन देगा? यह ठीक है, कि आप सहारा ले लें कि हमने तो अमुक (फलाने) की शरण ले ली है; वह मुक्त कर देगा; वही हमको पार कर देगा। परन्तु आपका वह सहारा (शरण) उतना तो ठीक है, जितना दो शब्द सुनकर आप कुछ सीख सकते हैं और सीख कर कुछ कर सकते हैं। परन्तु यदि आप चाहें कि सारा आपके लिए वही करे, तो ऐसी अवस्था में अपनी आत्मा ही शरण है। कारण कि अपनी आत्मा से ही करना पड़ेगा। आत्मा से ही बढ़ावा मिलेगा व अपनी आत्मा से ही मुक्त होकर पार होवोगे। इसलिए अपनी आत्मा का आसरा लेने के लिए सीखना पड़ता है।

30. किसी का भी संसार में सारी आयु के लिए कोई सहारा नहीं बन सकता। अन्त में जब अन्दर के दुःख आ पड़ेंगे तो डॉक्टरों के यहाँ घूमते रहें और बाहर का सहारा लेते रहें। कोई सच्चा सहारा मिलने का नहीं है। यह सहारा तो जरूर बन जायेगा कि

अपने जीवन की साधना में तंगी जो हो, उसको देखना और देख करके मन में धीरज रखना कि यह दुःख भी सदा रहने वाला नहीं है। जब सुख नहीं रहा तो दुःख भी नहीं रहेगा। जिसने दुःख देखना (झाँकना) सीख लिया, तो समझो सब से बढ़िया शिक्षा उसको मिल गई। कोई भी दुःख बच्चे की आदत की तरह मनुष्य बाहर की वस्तुओं का सहारा लेकर मिटाना चाहता है।

31. अपनी इच्छा के अनुसार खाना–पीना, मन्दा बोलना और भी कई प्रकार के कार्य करना सारी उम्र एक जैसा नहीं चलता। आपको आगे आने वाले समय का अन्दाज़ा नहीं है। जिनको आगे आने वाले समय का अन्दाज़ा है, उन्होंने अपना सारा जीवन ध्यान में परखा है। ध्यान में परख करके जिस प्रकार से उससे मुक्ति मिलती है अर्थात् आगे आने वाले दुःख टल जाते हैं, वह सारा कुछ उन्होंने ध्यान में देखा है। वेद शास्त्रों की लिखी हुई बातें अपने ढंग से पहचानोगे तो हमारे काम आयेंगी, नहीं तो(वरना) उनमें लिखे हुए अक्षर हमारे कोई काम (मतलब) के नहीं हैं। जब तक सीखा हुआ मन में नहीं उतरता है और अपनी करनी में नहीं आता है तब तक समझो, शिक्षा अधूरी है। पूरा शिष्य नहीं हुआ। वह शिक्षा के चक्कर में ही रहेगा। अन्त में भले ही वह कह सकता है कि मैंने तो यह बात सीखी है कि दुःख में कोई भी खोटे काम नहीं करने चाहिए। परन्तु यह एक बात सीखने की थोड़े ही है। आँख से कैसे देखना, वाणी से कैसे बोलना, मन से कैसे सोचना, देह से कैसे खोटे कर्म टालना, टालने का दुःख कैसे देखना व सहन करना आदि कई बातें सीखने की हैं। एक ही शिक्षा सीखी तो एक ही जन्म ठीक हुआ। ऐसा न जाने, फिर हजारों जन्म लेने पड़ेंगे ?

32. एक ही जन्म में हजारों शिक्षा ले लीं कि कैसे वाणी से बोलना, कैसे देह से कर्म करना, कैसे मन से तंगी सहन करनी

और तंगी सहन करते-करते अपने को शान्त कैसे रखना है और दूसरे के अन्दर आत्मा कैसे पहचाननी है? इस प्रकार जितना सीखना था एक ही जन्म में सीख लिया। बस! सीखने का सारा ताँता का ताँता आ गया। आपको जीते ही मालूम हो गया कि अब सीखने-सिखाने का कुछ भी नहीं रहा। जो मैंने सीखना था सीख लिया। उसके अनुसार जो करना था वह कर लिया। अपने अन्दर का दुःख अपनी आत्मा में टालना था, टल गया। अब मेरी आत्मा अपने-आप में शान्त शीतल हुई अपना आनन्द लेती है। मेरी बाहर किसी के साथ ठोकर-टक्कर ही नहीं है। जैसे भी दुनिया(संसार)आराम से रहे; किसी का दोष (कसूर)नहीं दीखता। मेरे अन्दर किसी प्रकार का विद्रोह नहीं। आपको ब्रह्म की परख भी हो गई। जो सीखना था वह सीख लिया और जो करना था वह कर लिया, तो अब आप शिक्षा के क्षेत्र से बाहर हो गये। अब आप शिष्य नहीं रहे। यह ठीक है कि गुरु किसी के नहीं भी बने। आपसे कोई देख करके सीख लेगा, यह बात दूसरी है। परन्तु आप शिक्षा (सीखने) के अधिकार से तो बाहर (परे) हो गए। जब तक आप कोई समस्या देखते हैं, तो तब तक सीखना ही पड़ेगा। समस्या तब तक है जब तक मन को बाहर का सहारा है अर्थात् दूसरे प्राणी व पदार्थों का सहारा है। प्राणी व पदार्थों का बन्धन देह धारण करने के लिए तो सीमित मात्रा में ठीक है। देह धारण करने के लिए तो मनुष्य को सादा खाना चाहिए, जो भगवान् सब को दे ही देता है चाहे कैसे भी दे। हमारे जैसे भिक्षुओं (साधुओं) को भी मिल ही जाता है। फिर भी मनुष्य यदि ज्यादा तृष्णा रखे तो राजगद्दी पर बैठे हुए की भी तृष्णा पूरी नहीं होगी।

33. तृष्णा कभी भी पूरी होने की नहीं है। इस तृष्णा के त्याग के दुःख को ही थोड़ा सहन करे और इसी को सहन करने का दुःख होता है। यदि दुःख को किसी ने झाँक करके देखते-देखते

खत्म करना सीख लिया, तो समझो! बढ़िया शिक्षा अन्त में यही है। जब बहुत दुःख होता है, तो उस समय दुःख के बीच में मनुष्य इतना व्याकुल हो जाता है कि भगवान् नींद ला देता है। यदि आप नींद नहीं लेते हो, तो भगवान् समाधि का सुख दे देता है। यह सब उस चेतन देव की लीला है, जो अन्दर छुपा हुआ है। यदि बाहर ही मन है व बाहर के सुखों को झाँक रहा है तो फिर इस चेतन देव की लीला का अन्दाज़ा भी नहीं मिलता। इसकी लीला तो ऐसी न्यारी है कि आपको मालूम होगा कि यह दुःख कैसे शान्त हो गया, जो भड़का रहा था? अन्दर मान की आग जल रही थी; कोई वस्तु नहीं मिली, उसका दुःख था। कोई और संकट था। जैसे–तैसे उसको देखना शुरू किया तो नींद आने लगी। देखो! नींद ही उस दुःख वाले मन को उजाड़ रही थी, मनुष्य का ज्ञान वैसा नहीं रहने दे रही थी। खाली देखने से पता लग गया, वरना सारी रात ऐसे ही बैठे रहते।

34. उस चेतन देव की यह सारी लीला अन्दर है। किस प्रकार से वह जानता है और हरकत करता है अर्थात् समझता है और हरकत करता है। जैसा समझता है, वैसी उसकी हरकत है। सामने प्राणी बैठा है, चाहे कोई जीव है अर्थात् खरगोश, कुत्ता वगैरह है, उसके अन्दर जैसा ज्ञान होता है, उस ज्ञान के अनुसार उसकी देह के अन्दर क्रिया होती है। हम समझते हैं कि कुत्ते ने ऐसा किया। लेकिन कुत्ता कुछ करने वाला नहीं है। उसके अन्दर ज्ञानदेव ही ऐसा बैठा था कि जैसा उसको समझ आया, वह उसको भगाकर ले गया। उस ज्ञानदेव की विद्युत् शक्ति के अनुसार ही उसने भौंकना शुरू कर दिया। उस कुत्ते ने जानबूझकर कुछ नहीं किया। भय का ज्ञान अन्दर उत्पन्न हुआ, तो भाग चला और भौंकना आरम्भ कर दिया। इसका अर्थ है कि जैसा अन्दर ज्ञान होगा बाहर शरीर के द्वारा भी वैसी ही क्रिया होगी। जैसे बच्चे

को अपनी प्यार की चीज का पता लगते ही उसके अन्दर खुशी आ जाती है और उसकी खुशी से बाप के अन्दर भी खुशी फूट पड़ती है, तो यह सब जान करके कोई नहीं करता है, यह उसी के नियम व उसूलों से होता है। व्यापक शक्ति सब में एक है और उसकी माया शक्ति क्रिया है। जैसा ज्ञान उसके पीछे वैसी क्रिया। प्रसन्नता, रोना वह ला देती है। आँसू वह बहा देती है। कोई मनुष्य अपनी इच्छा से आँख से आँसू का पानी लाकर नहीं दिखा सकता। पानी कहाँ से पैदा हो गया? जिस समय अन्दर दुःख हुआ तो आग अन्दर लगी और उसमें पानी निकला। यह कौन निकालता है? जैसा दुःख का ज्ञान था, उसी के अनुसार (मुताबिक) उसकी माया रूप विद्युत् (बिजली) की हरकत हो गई।

35. जब पेड़ों को ज्यादा गर्मी, सर्दी सहन करनी है तो चमड़े व पत्थर जैसा उनका छिलका बना दिया। जब मनुष्य सुख में रहना चाहता है तो उसकी कोमल चमड़ी कर दी। जिस-जिस प्रकार की उसको ज़रूरत है, वैसा ही उसको बना दिया। पशु कोई कपड़ा नहीं पहनता, कारण कि भैंसे का चमड़ा वैसा ही बना दिया। जिस तरह की वस्तु चाहिए, वह ज्ञानदेव की शक्ति वैसी ही प्रकट कर देती है। यह उसके अन्दर सर्वशक्तिमत्ता है। सब कुछ सब जगह समझता है, यह सर्वज्ञता है। सारी शक्ति से सारे कार्यों (कामों) को उत्पन्न करता है।

36. हमने किसी के लिए कुछ नहीं करना है, अपने लिए करना है। दुःखों की समाप्ति (खात्मा) अन्तर आत्मा में ही कर लेनी है। अब इसके लिए थोड़ा सीखना है। पहले दुःख को समझना व देखना ही सीखना है कि कैसे दुःख झाँका जाता है? इसके लिए खुजली का दृष्टान्त दिया है। जब आपको दुःख झाँकना आ गया तो इसका पता अपने-आप लगने लगेगा कि

"दुःख की जड़ क्या है और इसका कारण क्या है?" दुःख का कारण यही है कि मन बाहर भागता है और दूसरे प्राणी व पदार्थों का सहारा लेता है। ये प्राणी व पदार्थ सदा रहने वाले नहीं हैं और इनके सहारे का सुख भी सदा रहने का नहीं। फिर अपने-आप अन्दर देखे कि इनके बिना कैसे शान्त हो सकता हूँ। थोड़ा-सा त्याग किया और उसका दुःख देखना शुरू कर दिया और सीख लिया। अब दुःख देखते-देखते जब एक दिन यह टलने लग गया तो समझो आप को विद्या मिल गई। जिस दिन विद्या मिल गई, तो अविद्या अपने-आप अन्दर शान्त होते-होते खत्म हो गई। जितना ज़रूरत है; उतना बाहर जाए, जितना ज़रूरत नहीं है अपनी मौज में अकेले रहे।

37. अब क्या है? मन कहता है कि दिल नहीं लग रहा है। चलो, उसके पास बैठें। वहाँ सब प्रकार की बातें होंगी व उनकी बातें सुनें। इस हालत में थकावट का एक दुःख, बातें करने का दूसरा दुःख, फिर आपस में एक-दूसरे के साथ झगड़े बाजी व ठोकर-टक्कर यह तीसरा दुःख और फिर इन्द्रियों का बाहर ही (बहिर्मुख) भागना और उससे शरीर की शक्ति का ह्रास (नाश) और अन्त में आँखों की दृष्टि वगैरह चली गई, उसका बिछोड़ा आदि का दुःख है। यह सारे दुःख एक, दो, चार नहीं हैं। ध्यान में बैठ करके अपने-आप गिनती कर लें।

38. इन सबसे मुक्ति का रास्ता यही है कि मनुष्य सीखना शुरू कर दे कि कैसे इनसे किनारा करके अपनी अन्तरात्मा में शान्ति मिलती है? सुख तो अपनी आत्मा में ही है। जहाँ कोई दूसरा नहीं है अर्थात् अद्वैत में सुख है। जहाँ दूसरा है, वहाँ तो भय शंका ही है। यदि कोई भी दूसरे का सहारा लेता है, तो वहाँ पर आत्मा नहीं मिलेगी। यदि कोई दूसरा दिखाई देता है, तो उसको अपनी [illegible] ही सर्वत्र देखे। अपनी आत्मा को ही बढ़ावा

दे। इसके लिए पहले अपनी इस तृष्णा की दासता से छूटे। तृष्णा की दासता से छूटा, तो समझो! उसको अपनी आत्मा जीतनी आ गई। जब उसकी आत्मा जीती गई, तो उसको अपने अन्दर सुख मिल गया; यही सुख दूसरों के अन्दर देखे। जैसे मेरे अन्दर कमियाँ कमज़ोरी थीं; ऐसे ही दूसरों के अन्दर हैं। सारे जगत में विवाद, मिथ्या कर्म आदि यही करवाते हैं। आपके पास क्षमा, सहन शक्ति आदि हैं और थोड़ा दुःख में भी टिक सकते हैं, तो किसी से ठोकर-टक्कर नहीं है। जब किसी से ठोकर-टक्कर नहीं और आपके अन्दर से कोई ऐसा दूसरों को भड़काने वाला बर्ताव नहीं आता, तो आपको सब जगह अपनी ही आत्मा दिखेगी। इस रीति से यदि परमात्मा सब जगह देख लिया, तो क्या जीते जी और क्या मरने के बाद; एक ही आराम व सुख मिलेगा यही बढ़ावे का (ब्रह्म का) सुख है। इसी का नाम मुक्ति और उसका आनन्द है। बस! यही सारे कहे हुए का निचोड़ है।



प्रवचन–11

दिनांक : 23.1.1987

1. जैसे कोई कीचड़ का कीड़ा होता है, वह कीचड़ में भी सुख मानता है। इसका तात्पर्य (मतलब) है कि किसी भी प्राणी को जिस प्रकार का भी जीवन प्राप्त हुआ है, वह प्राणी वहाँ पर ही अपने–आप को सुखी मानता है व उसको वहाँ पर ही जीना अच्छा लग रहा है। जैसे कीट, पतंग, कीड़ा इत्यादि जो भी जिस जगह पर है परन्तु मरना तो कोई नहीं चाहता है। इसी प्रकार मनुष्य भी चाहे बीमार, रोगी व दुःखी की हालत में हो, वह भी अपनी जान (जीवन) को नष्ट करना नहीं चाहता। यह सब ज्ञान की परिधि है कि ज्ञान सदा बना रहे; कहीं ज्ञान अपने से खो नहीं जाये। इस ज्ञान रूप आत्मा की अपने अन्दर इतनी भूख है कि कहीं ऐसा नहीं हो कि मैं कभी नहीं रहूँ। इसकी यह इच्छा है कि मैं सदा बना रहूँ, चाहे कैसे भी बना रहूँ ?

2. हमारे शास्त्रों के अनुसार मनुष्य जैसे–जैसे कर्म करता है, वैसे–वैसे जन्म पाता है। जिन ऋषियों ने इस सत्य को पहचाना है, वे मनुष्य के अन्दर की भावना को पहचानते हैं। जैसे, निकम्मे काम करने वाले को मनुष्य मात्र से डर लगेगा कारण कि उसके सारे खोटे कर्म हैं और उन खोटे कर्मों के सारे वैरी हैं। खोटे कर्मों का तात्पर्य (मतलब) है कि उसने अपने सुख के लिए दूसरों को दुःख दिया है। ऐसी अवस्था में वह खोटे कर्म करने वाला जहाँ कहीं भी छुप कर बैठेगा, तो किसी समय भी इधर–उधर से मनुष्य की आवाज़ आते ही उसे डर लगेगा, कारण कि उसके अन्दर के कर्म ही उसे डरायेंगे। वह मनुष्य की आवाज़ सुनते ही समझेगा कि कहीं मेरा बुरा करने वाला तो नहीं आ रहा

है? जब उसको अपने किये हुए कर्म इस प्रकार डराते हैं तो वह मनुष्य के जन्म को भी अच्छा नहीं समझता। वह पेड़ों पर बैठे कौवे आदि पक्षियों को मौज मस्ती मैं बैठे समझता है और मैं यहाँ ऐसे दु:खी हो रहा हूँ। मुझे सबसे डर लग रहा है। इस प्रकार यह मनुष्य के अन्दर एक भाव बन जाता है जो कि पाप कर्म का परिणाम (नतीजा) है।

3. अपने मन में पापी मनुष्य इतने लम्बे-चौड़े संसार में आराम की हालत में नहीं रह सकता। उस समय उस को यह मालूम होता है कि शायद ये जानवर आदि मेरे से सुखी हैं जो आराम से बैठे हैं। उनको कोई डर नहीं और मैं डर के मारे छुपा-छुपा रहता हूँ। जब उसके अन्दर पाप था तो उसको जानवर वगैरह सुखी लग रहे थे। वरना विचार करके देखें तो कौवे आदि और जानवर जैसा कोई दु:खी नहीं है, कारण कि इनको कोई भी मार दे, कोई पूछने वाला व इनका न्याय करने वाला नहीं है। ऐसी जानवरों की सृष्टि में उसको बसना अच्छा लगा है, क्योंकि पाप कर्मों ने उसकी बुद्धि पर परदा डाल करके अर्थात् विचार द्वारा सही रूप से निर्णय करके समझने के लिए बुद्धि रूप ज्ञान पर पर्दा डाल दिया है। इस परमात्मा के सर्व देश और सर्व कालों में व्यापक (लम्बे-चौड़े) ज्ञान को उसने ढक दिया है। इसी का नाम अविद्या है जो ज्ञान को ढकने वाली है।

4. इन पाप कर्मों का स्वभाव है कि थोड़े सुख के लिए इनको करने की इच्छा तो हो जाती है परन्तु ये पाप कर्म इतने लम्बे-चौड़े जीवन व परमात्मा के ऊपर ढक्कन डाल देते हैं। इसी ढक्कन का नाम अविद्या है, इसलिए इसके सही आनन्द रूप को समझने नहीं देते। पाप कर्म करने वाला प्राणी उस वक्त (समय) यह नहीं देखता कि ऐसा करने से मेरे ऊपर बाहर से क्या पड़ेगा? यदि यह बाहर का सारा परिणाम उसकी बुद्धि

(दिमाग)में रहे तो वह समझेगा कि इस पाप कर्म के पता लगने पर दुर्गति होगी। परन्तु सुख के कारण पाप कर्म करते समय यह बुरा परिणाम बुद्धि में नहीं रहता और मनुष्य चोरी, कपट वगैरह कर ही जाता है। सारे निकम्मे काम छुप कर होते हैं। कोई बुरा काम भी ऐसा नहीं है, जो मनुष्य प्रकट कर सके। यदि उस कार्य को प्रकट कर सके तो उसका नाम पाप ही नहीं है। पाप वह होता है जो मनुष्य अपने-आप में दूसरों से डर करके गुप्त व छुप करके करता है।

5. मनुष्य अपने जीवन को आप पहचान सकता है। दूसरा कोई भी किसी के जीवन को नहीं पहचानता कि कहाँ-कहाँ मेरा मन पापी है और कहाँ-कहाँ पाप के स्थान में सुख खोजता है? उस पाप से मुझे किस प्रकार टलना है? सुख खोजते समय वह ऐसा अन्धा हो जायेगा कि मेरे पाप कर्म के बारे में किसी को खबर ही नहीं है। वह अपने अन्दर ही खाली छुपा हुआ है। वह वेदों में कहे हुए सहसाक्ष:(हजारों आँखों वाले)पुरुष को नहीं पहचानता कि संसार में ये सारे मनुष्य कितनी आँखों वाले हैं। एक-एक मनुष्य की दो-दो आँखें हैं। अब जितने मनुष्य हैं, इनकी कोई गिनती नहीं है। हजारों क्या, लाखों-करोड़ों मनुष्य हैं। इस लिए सहस्र संख्या का नाम अनन्त है, जिसका कोई अन्त नहीं है। यह अनन्त आँखों वाला जन समुदाय रूपी पुरुष चारों तरफ से देख रहा है। परन्तु पाप कर्म करने वाला सोचता है कि मुझे कोई पहचान ही नहीं रहा है।

6. इस प्रकार छुप कर पाप कर्म करने वाले के दो नतीजे हैं: (1) यदि बाहर से प्रकट कोई हो गया और उसने पाप कर्म करते पकड़ लिया तो जीते जी (जीवन काल में) दण्ड मिलेगा। (2) यदि बाहर से प्रकट नहीं हुआ तो डर हृदय के अन्दर ऐसा जम करके बैठेगा जैसे एकदम पत्थर पर लकीर पड़ गई। वह

उसका पाप कर्म कहा जाता है। जो कर्म किया उसके पीछे-पीछे एक ऐसी लकीर पड़ गई, जो हटती नहीं है। उसके सोने पर वह लकीर नींद में उसके पीछे पड़कर खोटी सृष्टि पैदा करेगी। इसी तरह नींद और मौत में कोई फर्क (अन्तर) नहीं है, कारण कि मौत में भी शरीर सूना पड़ा रहता है, जैसे नींद वाले की भी आँख, कान वगैरह सब बन्द हो जाते हैं। उसका मन भी बाहर कुछ नहीं जानता है। इस प्रकार ज्ञान के रास्ते पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ व छठा मन सारे सो रहे हैं अर्थात् वह ज्ञान शून्य-सा हो रहा है। ऐसे ही मुर्दे की हालत में वह देह पड़ा रहता है। परन्तु वह जो उसके अन्दर है, वह अपने कर्मों, भावों, डर(भय), शंकाएँ, राग व द्वेष आदि को लिए हुए न जाने कहीं स्वप्न देख करके आगे सृष्टि में कहीं धक्के खा रहा है। कहीं चक्करों में पड़ा हुआ कुछ खोज़ रहा है।

7. यह कौन सी वस्तु हमारे अन्दर है, जो सो कर उठने के बाद कहती है कि मेरे साथ ऐसा हो रहा था। यह बड़ी गहराई में गम्भीरता से जानने योग्य है। इसका स्वाध्याय (अध्ययन) हो। स्कूलों की पढ़ाई तो बच्चों की है। यह पढ़ाई तो अन्तरात्मा की होगी अर्थात् आत्मा की है। थोड़ा आप सुनेंगे, सुन करके उसके बाद मनन करेंगे; फिर उसके बाद निदिध्यासन करेंगे तो ये तीन रास्ते आत्मा (अपना-आपा) को जानने के हैं।

8. थोड़ा-सा सुनें क्योंकि जब तक आप सुनोगे नहीं, तो शब्दों के बिना आपके अन्दर विचार नहीं जाग सकता। जैसे, हम एक-दूसरे के साथ बातें करते हैं तो बोल-बोल कर अगले के अन्दर विचार जगाते हैं। डॉक्टर बीमारी का कारण, शब्द बोल कर ही रोगी को बताता है। रोगी (बीमार) डॉक्टर, के बोले हुए शब्दों पर विचार (मनन) करेगा कि मैंने वह गलत वस्तु ज्यादा मात्रा में सेवन की है और कई दिन तक खाता रहा। उससे मेरे को तकलीफ हो गई है, तो अब मुझे यह वस्तु छोड़ देनी चाहिए।

ऐसा करने से मेरी तन्दुरूस्ती भी ठीक हो जायेगी, यह डॉक्टर के शब्द सुनने के बाद उसके अन्दर विचार आता है।

9. जैसा दूसरा कोई शब्द बोल करके विचार पैदा करता है; इसी प्रकार अपने अन्दर शब्द बोल-बोल करके विचार पैदा करना पड़ेगा। इस प्रकार अपने अन्दर शब्द बोलने हैं कि मना! तू सुख के कारण छुप करके कोई पाप करता है और समझता है कि बाहर कोई जानने वाला नहीं है। लेकिन जानने वाला हजार आँखों वाला है । फिर यदि तेरी समझ में बाहर किसी को तेरे किये हुए पाप कर्म का नहीं पता लगा तो भी अन्दर में पड़ा हुआ पाप पत्थर की लकीर जैसा है। नींद में सोने पर भी क्षमा नहीं करता, तो मरने के बाद कैसे करेगा? यह सब बोलकर एक-दूसरे को समझाया जाता है, इसका नाम सत्संग या पुस्तकों से पढ़ाई हो गया। परन्तु यह पुस्तकों की पढ़ाई ज्यादा काम नहीं करती। दूसरों से सुना हुआ भी थोड़ा ही काम करता है। दूसरा तो खाली शब्द सुना देता है। आपने अपनी आत्मा के अन्दर उसका मनन करना है। वह तो श्रवण अर्थात् सुनना था। खाली सुनने से संकट नहीं कटता। यह श्रवण (सुनना) भी ऐसा है जिसके माँ-बाप तृष्णा और अज्ञान हैं। इनके अन्दर कुछ वस्तु का पता नहीं लगता। इसलिए मनन (विचार) करें। इनको (सुने हुए को) उठाये-उठाये घूमते रहने से मिथ्या अभिमान पैदा होगा कि मैं शास्त्र पढ़ा हुआ हूँ, मैं यह जानता हूँ, मैं वह जानता हूँ। यह सब खाली दूसरों को कहने के लिए है। जब तक सुना हुआ आत्मा के अन्दर नहीं उतरा, तो कोई लाभ नहीं है। आत्मा के अन्दर यह सुना हुआ मनन (विचार) से उतरेगा। मनन का अर्थ (मतलब) है कि सुने हुए को मन के अन्दर घुमाना है। जिस वस्तु के बारे में सुना है, उसको अकेले में बैठ करके मनके अन्दर घुमा-घुमा करके अपने जीवन में उतार करके अपने जीवन के साथ उसका सम्बन्ध टटोले।

जो मैंने सुना है, उसका मेरे अन्दर भी पता लग रहा है।

10. ऐसा सुना है कि काम, क्रोध व लोभ जीवन में सारे अनर्थों की जड़ हैं। जैसे गीता में लिखा है कि आत्मा के नाश के काम, क्रोध व लोभ तीन दरवाजें हैं। इसलिए पहले इन तीनों को त्यागे। काम, क्रोध, लोभ आदि के शब्द इतने दुनिया में घूमते हैं कि जैसे मनुष्य जानता है कि मैं बड़े आराम से इनको समझता हूँ। परन्तु इसका नाम समझना नहीं है। इन काम, क्रोध आदि शब्दों को जानना केवल श्रवण (सुनना) है। समझना यह है कि एकान्त में बैठ कर यह विचार करना कि कौन-सा ऐसा काम हमारा वैरी है; कौन-सा ऐसा क्रोध है, जिसे नरक का दरवाजा कहा है; कौन सा ऐसा लोभ है? इन सबको अपने जीवन में उसने क्या-क्या नाटक किया ?जब इस प्रकार से आप इनको देखेंगे तो आपको सारी इनकी लीला भयंकर दिखाई देगी। जिस सत्य को देखते हुए उस ऋषि या अवतारी ने इन काम, क्रोध व लोभ को तीन नरक के दरवाजे बताया, उसी सत्य को देखते हुए अर्थात् अपने ध्यान में रखते हुए व परखते हुए आपको भी समझना है। जब आपको भी मनन करने से आपके मन में भी यह सत्य उतर गया कि काम, क्रोध व लोभ नरक के दरवाजे ही हैं, तो समझो! आपका विचार अन्दर जाग गया। यह अन्दर जागा हुआ विचार आत्मा को बड़ी नजदीकी से छू लेगा अर्थात् आत्मा को पा लेगा। इस आत्मा में ही वह सुख छुपा हुआ है, जिसको पाने के बाद मनुष्य को होता है कि जो पाने की वस्तु थी, वह प्राप्त कर ली, अब इसके बाद पाने का कुछ भी नहीं रहा है।

11. गीता के एक सादे श्लोक का भावार्थ भी है कि जिस आत्मा के सुख को पा करके मुनष्य समझता है कि जिसको मैंने पा लिया, इसके परे कोई दूसरा लाभ ही नहीं है। जिसमें टिका हुआ अर्थात् जिसके आनन्द में बैठा हुआ मनुष्य यह समझता है

कि अब उसको बड़े से बड़ा दुःख भी चलायमान नहीं कर सकता। यह आत्मा का सुख ही ऐसा है; परन्तु यह अन्दर ही है। यदि यह सुख नहीं मिला तो समझना चाहिए कि हर समय आत्मा को अन्दर यह पता लगता रहेगा कि किसी वस्तु की कमी है चाहे बाहर संसार के सारे सुख भी मिले हुए हों। वह सोचता है कि अभी भी कोई वस्तु का टोटा है, घाटा है। चाहे आप संसार की कोई वस्तु भी प्राप्त कर लो, उसका सुख थोड़ी देर ही रहेगा, फिर टोटे का टोटा है।

12. बाहर के सहारे जो कुछ भी आपको मिलेगा, उसमें अन्त में टोटा ही टोटा नज़र आयेगा। ऐसा नहीं होता कि एक बार सुख मिलने पर सदा टिका रहे। उस सुख के अनुसार मन यह कहे, कि पाने की वस्तु मैंने पा ली है व अब दूसरी पाने की कुछ नहीं रही है। बाहर के सम्बन्ध व इनके सब सुख, क्षणिक व थोड़ी देर रहने वाले हैं, परन्तु ये आत्मा के सुख रूप पर पर्दा डालकर स्वयं ये सुख रूप बनते हैं। इन सुखों का केवल थोड़ी देर रहना रूप दोष ही नहीं है, परन्तु इनमें और भी एक बड़ा दोष है कि आत्मा अपने-आप में निद्रा में टिकी हुई अवस्था में मनुष्य को सुख रूप से अनुभव में आता है और निद्रा से जागते ही प्रत्येक प्राणी अपने-आप में सुख की निद्रा का अनुभव, स्मरण करता है। मनुष्य कितना ही बाहर से थका व परेशान होकर सोये, सोने के बाद जब जागता है तो थोड़ा ताजा ही उठता है। उस ताजगी का स्रोत अपने-आप में उसकी अन्तरात्मा में है। वह अपने-आप में तब पहुँचता है, जब बाहर के संसार को ठोकर मारे या बाहर उसको भूल जाये अर्थात् बाहर का संसार मन से उतर जाये। नींद तभी आती है जब बाहर मन नहीं रहे। सोने से मनुष्य को अपनी आत्मा जो कि ताज़गी व सच्चे सुख का स्रोत है; के निकट का सुख मिलता है।

13. जिस मनुष्य को यह अन्दर का सुख बाहर जागते-जागते मिल जाये तो ये परमानन्द स्वरूप है। अब ये सुख केवल निद्रा द्वारा सबको ठुकराने पर नहीं मिलेगा। निद्रा का सुख तो अज्ञान से ढका रहता है। जागते हुए यदि यह सुख अनुभव में आ गया, तो ये विद्या का स्वरूप है। उसको फिर किसी प्रकार का टोटा (घाटा) ही नहीं रहता। ऐसा समझना चाहिए कि इस मनुष्य को ऐसी वस्तु मिल गई है, जिसको मृत्यु का भी भय नहीं है। अपने-आप में आ जाने से कोई बाहर का दुःख भी नहीं रहा, परन्तु यह अन्दर आँख खुलने से सम्भव होगा। बुद्धि जाग जाये, जिसे शिवजी का तीसरा नेत्र कहते हैं। शिव नाम कल्याण का है। कल्याण वही है कि जहाँ अपने-आप का एक बार मिला हुआ सुख बिछुड़ता नहीं है। परन्तु वह सुख तब मिले, जब तीसरी आँख खुले। तीसरी आँख यही है कि जो बच्चे ने बाहर प्राणी व पदार्थों के संग, सुख समझ रखा है और देवों ने इसको बाहर फेंका है; उसको समझ करके व उसके दुःख को पहचान करके यदि अन्दर की तरफ आँख खोलने के लिए और उधर सरकने के लिए कोई यत्न (कोशिश) करे।

14. तीसरी आँख खोलने के लिए यत्न अपने-आप तो किसी से होता नहीं। इसके लिए थोड़ा सुन लिया, जैसे मैंने बोला है। अब सुनने के बाद जब मनन (विचार)करेगा तब यह आँख खुलेगी। अन्दर के सत्यों का अनुभव होगा। अन्दर के सब विकारों का तथा राग-द्वेष आदि बन्धनों का पता पड़ेगा और किस प्रकार ये दुःख की अग्नि जलाते हैं, इसकी भी खबर पड़ेगी। फिर इनसे मुक्त होने के लिए सच्ची इच्छा भी उत्पन्न होगी और इच्छा से फिर भली प्रकार से यत्न भी होगा। आवश्यकता के अनुसार कोई तंगी रूप तप या कठिनाई भी सहन करने में आयेगी और सत्य के मार्ग के विरोधी बाहर के मिथ्या सुख भी त्यागने को मन

उत्सुक हो जायेगा। इससे यदि आँख खुलेगी तो सीखेगा। जब तक सीखोगे नहीं तो काम नहीं बनेगा। एक सीख सीखी तो एक ही जन्म कटा। कई और शिक्षाएँ पड़ी हैं। जब तक यह शिक्षाओं की परम्परा (ताँता) सारे की सारी अन्दर नहीं आ जायेगी और जीते जी उसको यह ज्ञान नहीं हो जाये कि जो पाना था सो पा लिया; जो सीखना था सो सीख लिया; अब सीखने का कुछ नहीं रहा; तब समझो कि उसका यह बन्धन (पाश) कट गया।

15. तब तक अन्दर आँख नहीं खुलेगी जब तक सत्य का अनुभव नहीं होगा तथा जिधर यह मन लपक–लपक कर बाहर भागता है, उधर से नहीं मुड़ेगा। बाहर से नहीं मुड़ने से अन्दर मालूम होता हुआ टोटा (घाटा) पूरा नहीं होगा। अपने से बिछुड़ने का नाम ही टोटा है। नींद में अपने–आप में था; वहाँ से बिछुड़ गया। उसको अब यही है कि मैंने फिर वही नींद की हालत में पहुँचना है, कारण कि असली आराम व ताजगी वहाँ मिलती है। बिना किसी दूसरी वस्तु के सहारे का आनन्द वहाँ पर ही है। नींद में कोई दूसरा नहीं था। वहाँ पर कोई मित्र, प्यारा, पदार्थ खाने, देखने व सुनने का कुछ भी नहीं था। खाली एक ही वस्तु थी अर्थात् उसका ज्ञानदेव जाग रहा था। ज्ञानदेव नींद में श्वास भी ले रहा था और सारे देह के काम कर रहा था। इसके साथ बसने में जो आनन्द है वह नींद में तो अज्ञान, अविद्या व नासमझी के साथ मिलता है। परन्तु जागते–जागते यदि समझ के साथ यह आनन्द मिल जाये तो शास्त्रकार कहते हैं कि आप आत्मा पा गए अर्थात् इस आत्मा का आपको आनन्द मिल गया। परन्तु ये सब आनन्द तो पीछे बोले गए सब साधन के बिना प्राप्त नहीं होगा। साधन यदि पूर्ण रूप से बन गया तो इसके बाद आपको पाने की कोई वस्तु नज़र नहीं आयेगी। यही आत्मा, यदि सबके अन्दर पहचान लिया तो आप परमात्मा या ब्रह्म को भी पा गए।

16. साधारण (आम) मनुष्य तो सबके अन्दर यही देखता है कि कोई मित्र या कोई वैरी आदि-आदि है। क्योंकि जैसे-जैसे बर्ताव द्वारा किसी ने सुख दे दिया तो वह मित्र नज़र आ गया और किसी ने दुःख दे दिया तो वैरी रूप नज़र आएगा कि यह मेरा दुश्मन है। जिसने सुख दे दिया, उसके लिए रागी हो गया और जिसने थोड़ा दुःख दे दिया उस के लिए द्वेषी बन गया। ये तो संसार में कर्त्तव्य करने के लिए कुछ न कुछ स्वार्थवश करने के लिए समझे जाते हैं। यदि वह वस्तु नहीं रहे व थोड़ा दुःख में भी बना रहे और सुख को भी त्याग दे, तो कौन मित्र व कौन वैरी है? उसको एक ही नज़र आयेगा कि जो मेरे अन्दर है वही सबके अन्दर है। यदि यही ज्ञान देव सबके अन्दर पहचान लिया तो कहाँ राग व कहाँ द्वेष? उसकी आँख खुलेगी, उसको वही दिखेगा कि वह सबमें रहता हुआ भी सबसे न्यारा है। जब वह अकेले ध्यान में आयेगा तो उसको जागते-जागते वही सुख मिलेगा, जो किसी को भी नींद में मिलता है। जब वह सुख उसको जागते-जागते मिलेगा, तो उसको कोई टोटा (घाटा) नहीं रहेगा। जब तक वह वहाँ है, तब तक तो उसको सुख ही है।

17. जिसको जागते-जागते सुख मिला है वह देखता है कि यह तो मेरे नज़दीक की वस्तु थी। जैसे, किसी को घर में लगा हुआ शहद मिल जाये तो वह जंगल में क्यों जाएगा? यदि उसे आत्मा के अन्दर ही पहचान में आने वाला व बना रहने वाला सुख मिल गया तो उसको बाहर भागने की ज़रूरत ही नहीं रही। उसने बाहर के सुखों को विवेक से पहचान भी लिया कि कोई बना रहने वाला सुख नहीं है और जो भी सुख है, वह अन्त में दुःख में समाप्त होने वाला है। इतना समझ लिया तो यह ज्ञान सारा अन्दर समझने का है, जब अन्दर की आँख खुले। अन्दर आँख खुलने के लिए सुनने मात्र से तो काम चलेगा नहीं। सुनना

तो एक वस्तु हुई इसके बाद मनन (विचार)आता है। जैसे, कोई दूसरा मनुष्य शब्द बोलता है तो उसको आप अपने ज्ञान में उतारते हैं।

18. जैसे डॉक्टर व रोगी का दृष्टान्त ऊपर दिया है। डॉक्टर के शब्दों से रोगी (बीमार) को पता लगता है कि बीमारी की जड़ यह है अर्थात् किससे बीमारी हुई है? यह मैंने किया भी है। आपने अपने जीवन को समझा और समझ करके उससे सीख लिया कि इस प्रकार के खान-पान से परहेज करना चाहिए, इसका बन्धेज रखना चाहिए। बन्धेज रखने में जो थोड़ी तंगी होती है, उसको भी झेलना चाहिए। यह जितना है, सब सीखना है। यहाँ तक मनुष्य को सीखना है कि जहाँ तक सीखते-सीखते वह अपनी आत्मा के अन्दर आ जाये और अपनी आत्मा का सारा सत्य उसको झलक जाये।

19. आत्मा (अपना-आपा) के सारे सत्य यही हैं कि कौन तत्त्व बाँधने वाला व मनुष्य को बाहर चक्कर में डालने वाला है? चक्कर में डाल कर बाद में दुःख देने वाला है। फिर उससे बचना कैसे है? जिस प्रकार बचना है, उसकी तंगी (क्लेश) को कैसे सहा जाता है? यदि ये सारे अन्दर के सत्य उसको समझ में आ गए तो वह बच्चा नहीं रहा। जब तक बाहर थोड़ा-सा दुःख से डर करके व रो करके वह बाहर के प्राणी व पदार्थों का सहारा चाह रहा है, तब तक शास्त्र उसको बालक कहता है। जिस समय उसने अपने-आप में सम्भलना सीख लिया और थोड़ी कड़वी शिक्षा लेनी सीख ली व मनन (विचार) करते-करते उसने देख लिया कि इसके बिना दूसरा कोई चारा भी नहीं है अर्थात् दूसरा कोई चलने का रास्ता भी नहीं है। जब कोई दूसरा रास्ता नहीं है तो फिर बन्धन क्लेश नहीं कटेंगे और मनुष्य जन्म तो सार्थक नहीं होगा।

20. इस तरह से विचार करते हुए पहले थोड़ा सुने। जो कुछ थोड़ा सुना है, उसको अपने मन में विचार करे। फिर अन्दर से विचार करके अपने जीवन में ढाले। ढालते-ढालते उसको थोड़ी सी परख होने लगेगी व पता लगने लगेगा कि यह व्यापक जीवन जो चारों तरफ फैला हुआ है; यह क्या है? मैं किधर जा रहा हूँ? उसको पता लगेगा कि ये छोटे-मोटे पाप थोड़े सुख के लिए मेरे द्वारा किए जाते हैं। पाप करते समय यह ज्ञान नहीं होता। मैं इसको निगाह में रखूँ और उस परमात्मा की याद और उससे डर करके मरने के बाद भी जो भुगतना पड़ता है, उस सत्य का ख्याल करके मैं इन पापों से दूर रहूँ। यदि यह दूर रहने के लिए उसने अपने-आप मन को प्रेरित किया और थोड़ा रहने लग गया तो वह अन्दर चेत जायेगा अर्थात् चेतन हो जायेगा। चेतन होने के बाद उसके बन्धन भी टलने लगेंगे और यह रास्ता भी उसको मिल जायेगा।

21. जब तक वह अन्दर से चेतन नहीं होता और उसके अन्दर समझ नहीं पैदा होती तो उसको आँख बन्द करते ही अन्धकार नज़र आयेगा और मन नहीं लगेगा। मन के नहीं लगने से वह नींद में पड़ जाएगा। यदि इसी प्रकार यही कार्यक्रम रोज़ चलता रहा तो यह धर्म का सुनना बस यहीं तक रह जायेगा। इसी प्रकार से मनुष्य का जो ज्ञान है, जब तक वह अन्दर पूरा नहीं उतरेगा; मनन (विचार) में नहीं आयेगा, तो यह समझना चाहिए कि वह अन्धे ज्ञान को ही ढो रहा है, यह बेड़ा पार करने वाला नहीं है। बेड़ा पर तब होगा जब शास्त्र का हर एक सुने हुए शब्द का अन्दर ही अन्दर चिन्तन करे कि काम, क्रोध व लोभ क्या हैं? मेरे अन्दर आ करके इन्होंने क्या कीर्तन किया और किस प्रकार मेरे से खेल करवाया? किधर मुझे चलाया और कौन-कौन से खोटे कर्म करवाये? सबके अन्दर इनकी कहानियाँ दर्ज हैं; परन्तु इन पर पर्दा डालने वाले के लिए एक भी कहानी नहीं है।

22. जैसे कहा है कि ब्रह्म छुपा हुआ है। यह सारा अन्दर ब्रह्म-ज्ञान है। जो आत्म ज्ञान है, वह ब्रह्म-ज्ञान है। जो आपकी आत्मा है, वही सब की आत्मा है। एक मनुष्य का जो अपना-आपा है, दूसरे का भी अपना-आपा अलग नहीं है। अपने-आपे को टटोलने का यत्न करे। सब के अपने-आपे का पता लग जायेगा। जब आपने सबके अपने-आपे को देख लिया तो समझो! आपको ब्रह्म, पूरे फैले हुए का ज्ञान हो गया। जब उसका ज्ञान हो गया, तो अब अपने-आप से स्वतंत्र होने की कोशिश करें अर्थात् अपने विकारों, दोषों व पापों को जीत लें। थोड़ी तपस्या कर लें। अपने मन में शान्ति पा लें, तो आपके लिए विश्व व्यापक शान्ति हो गई। आप जहाँ भी जाओगे, आपको शान्ति मिल जायेगी। कोई आपका वैरी नहीं है। आपके लिए कोई किसी की शिकायत नहीं है, यदि आपने आत्मा को पूरा जान लिया है।

23. यदि आत्मा को पूरा जाना नहीं, क्योकि अन्दर की आँख तो बन्द है। सुना तो बहुत है किन्तु उसके बाद मन में उतारा नहीं व उतारने का रास्ता नहीं चला अर्थात् मनन (विचार) नहीं किया। मनन के बाद तीसरा एक और है 'निदिध्यासन।' निदिध्यासन शब्द का अर्थ है—बड़ी लगन से ध्यान करना। जितनी भी अच्छाइयाँ व शिक्षाएँ हैं वे दुःख सहन किये बिना नहीं आतीं। जब तक दुःख सहन करने की ताकत नहीं आती तब तक ये अन्दर काम नहीं करती हैं। जब दुःख को सहन करने का धर्म बन गया व व्रत ले लिया, तो समझो! चलने का रास्ता मिल गया। चाहे दुःख, भय, इच्छा, त्याग, मान-अपमान या अपने अन्दर नींद से थोड़ा अपने को जगाने का है ये सारे दुःख हैं। जब अकेले में रह करके थोड़ा दुःख ओट करके अपने-आप को जगा करके सीखने की लत (आदत) पड़ गई और इतना धैर्य अपने मन में आ गया, तो समझो कि बेड़ा पार है। फिर यह अविद्या टल जायेगी

और अपने-आप में सुख मिल जायेगा। सब से बड़ा भारी दुःख यह है कि मनुष्य थोड़ा-सा दुःख पड़ने पर बाहर दूसरों की तरफ़ भागता है। उसके संस्कार जाग कर उन्हीं-उन्हीं सहारों को दिखाते हैं, जो-जो बाहर के सहारे उसने पहले दुःख को भुलाने के लिए अपनाये थे। परन्तु दुःख उससे थोड़ी देर के लिए भुलाया तो जायेगा पर नष्ट नहीं होगा। भले ही दुःख गप्पें मारने, किसी वस्तु को अपनाने, पुस्तक अखबार पढ़ने, गाना-बजाना सुनने में भूल जाये परन्तु दुःख टलता नहीं। आत्मा के बिछोड़े का दुःख थोड़ी देर के लिए दब जायेगा।

24. सबसे बड़ा दुःख यह है कि जन्म से ही इस संसार में जब आँख खुली है आत्मा से बिछुड़ गया। जैसे ही वह आत्मा से बिछुड़ा है, उसके अन्दर पोल होता जा रहा है। खाली जगह भरना चाहती है। पोल (खाली जगह) तब भरेगा, जब वह संसार में बिखरा हुआ मन उसमें इकट्ठा हो जाये। यदि भर जाये तो सुख है, यदि नहीं भरे तो दुःख ही रुलाता है कि कहाँ और कैसे सुख मिलेगा? यही इसको टोटा है। मन बचपन से बाहर ही फैलता जाता है, क्योंकि बच्चे को तो जीवन बाहर ही मिला है व सुख भी बाहर ही दिखाई दिए हैं। तब बाहर यह बिखरा हुआ मन कभी भी इकट्ठा नहीं हो पाता, कारण कि बाहर को भूले तो इकट्ठा होवे व अन्दर खाली हुआ आत्मा भरे। भरी हुई आत्मा में सुख व शान्ति है। उसको अपना आत्मा का राज्य मिल गया, जिसको स्वराज्य सिद्धि कहते हैं। उसको अपने स्वराज्य की सिद्धि हो गई। बाहर राज्य मिल गया तो मनुष्य समझता है कि सब कुछ हो गया। किन्तु उसका (बाहर के राज्य का) फायदा किसी को है या नहीं, यह उसको पता नहीं है। जब तक अपने अन्दर का राज्य नहीं मिलता, तो पूर्ण फायदा (लाभ) किसी को नहीं है। अन्दर का राज्य तब मिलता है, जब उस प्रकृति की दासता

अर्थात् बाहर के जीवन की दासता से छुटकारा मिले।

25. इस बाहर के जीवन की दासता से छुटकारा पाने के लिए अपने–आप तो मनुष्य से आरम्भ में चला नहीं जाता। इसके लिए थोड़ा शास्त्र को पढ़ना व सुनना पड़ेगा और सुनकर उसके नामों को याद करना पड़ेगा कि किन नामों द्वारा अन्दर ध्यान करना है। जैसे मैंने बोला कि चाहे काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग और द्वेष आदि का पहले ध्यान करे। ये सब जीवन में अपने नाटक खेल रहे हैं। इनका नाटक देख लें और देख करके इनसे थोड़ा सा सीख लें कि ये क्या–क्या अत्याचार कर रहे हैं? किधर–किधर चला रहे हैं अर्थात् कहाँ–कहाँ चला रहे हैं? प्रतीत तो यह होता है कि इनको पूरा करने से या इनके अनुसार चलने से सुख होगा, परन्तु होता है अन्त में भयंकर दुःख। प्रतीत होता है कि ये मित्र रूप से हैं, परन्तु अन्त में सिद्ध होते हैं ये शत्रु। ये कैसे हटते हैं? इनके विपरीत गुण कौन से हैं? जैसे काम से विपरीत वैराग्य, क्रोध से विपरीत (उल्टा) क्षमा, लोभ से विपरीत सन्तोष, अधीरता से विपरीत धैर्य (धीरज), राग–द्वेष से विपरीत मैत्री इत्यादि हैं; ये सारे अपने अन्दर देखें। यदि ये मेरे अन्दर आयें तो उस समय कैसा होना चाहिए? मेरे अन्दर अभी क्या हो रहा है? इन गुणों को कैसे लाऊँ? इन गुणों को अपनाने में जो तंगी होती है, उसे सहन कर लूँ। जो पाप कर्म करने में सुख महसूस होता है, उस सुख को भी मैं त्याग दूँ। यह सारा अन्दर का जाल मनन (विचार) कहा जाता है।

26. यदि यह मनन अन्दर जाग जाये तो समझो! वह अकेला है। अब मनन करते–करते बाहर बिखरा हुआ मन अपनी आत्मा में अकेले में आ जाता है और एकत्रित (इकट्ठा) हो जाता है। एकत्रित मन की शक्ति उत्तम ज्ञान को या सही ज्ञान को उत्पन्न करती है। जैसे कि एकत्रित प्रकाश में पदार्थ सही नज़र आता है

ऐसे ही उसको अपने-आप का पता चलता है। जब तक यह मनन नहीं जागता तो आत्मा का सही पता नहीं लगता। मनन अन्दर विचार के शब्दों को बोलने से ही होता है। शब्द तो ज़रूर चाहिए। इसलिए इन शब्दों को अन्दर घुमाओ और विचार के शब्दों के उच्चारण कर-कर के अपने को जगाओ, नहीं तो नींद आ जायेगी, जो थोड़ी-सी फुर्सत मिलते ही नहीं छोड़ेगी। यदि थोड़ी-सी नींद नहीं आयेगी तो जागते-जागते संसार के विचार आते रहेंगे, क्योंकि ज्ञान से थोथा मन, ज्ञान के बिना अपने अन्दर कुछ-न-कुछ टोटा अनुभव करेगा। इस अवस्था में ध्यान, विचार व अपने मन को जगा लें। यदि ये नहीं जगते तो संस्कार जगेंगे और संसारिक ज्ञान से मन को भर देंगे, जो अपनी तरह अर्थात् पुरानी आदतों के अनुसार चलाना चाहेंगे। इसी का नाम अविद्या है। इसका नाम बीसों बार सुना है और पुस्तकों (किताबों) में पढ़ा भी है कि अविद्या क्या है? अविद्या का तात्पर्य (मतलब) अन्धकार है। परन्तु इस अन्धकार को अपने मन में देखना पड़ेगा। जिस समय मन देखता है कि जो वस्तु मुझे चाहिए, उस पर पर्दा पड़ा हुआ है, किसी वस्तु का टोटा है। इस टोटे (घाटे) की हालत में यदि आप महसूस करेंगे कि मेरे अन्दर यह टोटा मुझे किस तरफ ले जा रहा है? किसी वस्तु की लपक (झोंक) है व उसको जानने के लिए प्रेरित कर रहा है, किसी वस्तु को समझने के लिए मुझे धकेल रहा है। इसकी पढ़ाई करें तो पता चलेगा कि सुख को समझने के लिए या आदतों के सुख का अनुभव करने के लिए ही धक्का है। जो सुख मैं चाहता हूँ वह छुपा हुआ है, जिसको पाने के लिए सारे संस्कार खड़े होंगे। जिधर ये संस्कार सुख दिखलाकर मुझे ले जा रहे हैं, वहाँ सुख तो थोड़ा ही है और फिर टोटा ही टोटा है।

27. फिर सुख कहाँ है? थोड़ा शास्त्र सुने हुए के अनुसार

समझ लें कि यदि यह बिखरा हुआ मन अन्तरात्मा में इकट्ठा हो जाये और वहाँ आ करके टिक जाये तो सुख मिलेगा। अन्दर मन बाहर से छूटने में टिकता है। बाहर का संसार छूटने में दुःख होता है। यदि उधर (बाहर संसार के प्राणी व पदार्थों की तरफ) नहीं जाते तो तंगी होती है, इसलिए थोड़ा-सा तंगी को सहन करने का व्रत ले लें और खोज करें कि यह तंगी का कारण क्या है ? खोज करने पर पता लगेगा कि तंगी का कारण उन्हीं आदतों के सुखों की तृष्णा ही है जो कि कभी इन तृष्णा के पदार्थों से पूरी हो भी नहीं सकती। ऐसा विचार करके तृष्णा को इसके सुख का पदार्थ न देकर यदि धैर्यपूर्वक इसी बनी हुई तृष्णा को इसके दुःख के साथ-साथ धैर्यपूर्वक क्षण-क्षण देखता व झाँकता हुआ सहन करता जाये तो समय पाकर ये तृष्णा अपने दुःख के साथ-साथ स्वयं खुजली के दुःख के समान अपने-आप टल जायेगी और इसके टलते ही मन सुखी हो जायेगा। अब ये सुख केवल तृष्णा से मुक्त केवल अपनी आत्मा का है और ये सुख सदा बना रहेगा। यह तंगी सहन करने का व्रत अन्तिम (आखिरी रास्ता) है, इस तंगी की हालत में आपका मनन चालू हो जायेगा। इसके बाद निदिध्यासन (ध्यान का रास्ता) चल पड़ेगा। जितना-जितना अकेले बैठ करके दुःख देखने का अभ्यास किया जायेगा अर्थात् बार-बार मन को तंगी (क्लेश) सहन करने में लगाया जायेगा, उतनी आदत पड़ते-पड़ते अन्त में यह आपकी शक्ति बनती जायेगी। जैसे, बच्चा जन्म लेकर धीरे-धीरे चलना फिरना सीखता है, इसी प्रकार मनुष्य धर्म के रास्ते उत्पन्न (पैदा) हो करके इस रास्ते पर चलना सीख लेगा। अपने-आप में दुःख को पहचानना, झेलना व धैर्य (धीरज) रखना भगवान् के गुण हैं, जो पहले कभी इस रास्ते पर चल गया और वह पूर्ण रास्ता देख करके सारे संसार को दे गया। सारे उसके भक्त उसी के रास्ते पर चल कर उसी के धाम में पहुँचते

हैं व इस भव सागर से पार हो जाते हैं।

28. इस भगवान् के रास्ते के अनुसार जितने भी शब्द हैं, उन सबका ध्यान करके अपनी आत्मा में मनन जगाये। मनन करता हुआ यदि एकान्त में समय बिताना सीख गया तो समझना चाहिए कि उसकी अन्दर वाली आँख भी खुल गई। यदि धीरे-धीरे उसको दु:ख सहन करना आ गया, तो दु:ख सहन करते-करते वह भी टल जाएगा। दु:ख टलने के बाद जो उसको सुख मिलेगा वह उसका सच्चा आत्मा का सुख होगा। इस सुख के मिलने के बाद उसको मालूम होगा कि जो पाना था वह मैंने पा लिया।

29. इसलिए मनुष्य को सबसे पहला कार्य (काम) यही करना है कि थोड़ा अपने अन्दर आत्मा में मनन जगाना है, जहाँ अंधकार छुपा हुआ है और अविद्या पड़ी हुई है। वह अविद्या अन्दर झाँकने ही नहीं देती, बाहर ही धक्का देती है। बाहर के संस्कार जगा करके बाहर ही उलझाती है। उससे थोड़ा मुँह मोड़ना सीखे, चाहे तंगी भी हो। तंगी से नींद भी थोड़ी हटानी पड़े, जागना भी पड़े और भी वस्तुएँ त्यागनी (छोड़नी)पड़ें तो कोई बात नहीं। इन सबको धर्म के मार्ग पर बलिदान कहते हैं। धर्म के रास्ते पर चलने के लिए कुछ बलिदान करना पड़ता है। आसानी (आराम) का रास्ता तो ठगने वाला व अपने-आप को धोखा देने वाला है। थोड़ा अपने-आप में अपने-आप यत्न करके यदि कुछ सीख लिया तो इसमें कुछ भी ठगी (धोखा) नहीं है। पहले-पहले संशय बहुत होंगे कि खाली बैठे हैं और कुछ भी नहीं दीखता है। इससे तो अच्छा है कि किसी और से इस बारे में पता कर लें। किसी से कोई मन्त्र ही ले लें या कुछ राम के नाम को ही जप लें।

30. इस संशय की अवस्था में वह टोटा ही चला रहा है कि यहाँ नहीं वस्तु दीखनी चाहिए, जो मज़े की है। यदि मज़े (आनन्द)

की वस्तु नहीं दीखती, तो टोटा ही हुआ। वह टोटा उसको बैठने नहीं दे रहा है। कई कहते हैं कि हम भजन तो बहुत करते हैं परन्तु आनन्द नहीं आता। इसका तात्पर्य (मतलब) है कि वह आनन्द की प्रतीक्षा (इन्तजार) कर रहा है, जो संकट का कारण है। यही बन्धन है। संसार में बच्चे ने इसी सुख के अनुभव में बँध करके न जाने कितने अनर्थ सहन कर लिये व कितने कर्म कर लिये हैं। जब वह अकेला बैठता है तो वही खोटे किये हुए कर्म, ध्यान नहीं होने देते। पाप कर्मों का परिणाम (नतीजा) यह होता है कि मनुष्य को नींद भी नहीं आती। यदि नींद नहीं आती तो मन कहता है कि नशा ही पीओ। ये पाप कर्म मनुष्य को कहीं भी आराम नहीं लेने देते।

31. उस मनुष्य को ही जीवन में आराम मिलेगा जो थोड़ा सुख के लोभ को त्यागेगा। त्यागने का थोड़ा दुःख देख लेगा व उस दुःख के बीच में थोड़ा धीरज (सबर) रख पायेगा। आप उस धीरज का पाठ पढ़ लें। फिर उस धैर्य के साथ थोड़ा-थोड़ा अपनी आत्मा को इसी में कसरत करवाता जाये। जैसे, मनुष्य कसरत करके पहलवान बन जाता है, तो वह आत्मा की कसरत से धर्म के रास्ते वीर बन जायेगा। वह इतना वीर बन जाएगा और अपने-आप में पायेगा कि इनके बिछोड़े का दुःख अपने-आप सहन कर सकेगा क्योंकि दुःख सदा दुःख नहीं रहता। आत्मा इतना सर्वव्यापक व शक्तिशाली है कि इसी के अन्दर परमात्मा बैठा है। यदि ज्यादा देर दुःख होता है, तो यह मनुष्य की आँख बन्द कर देता है और नींद या मौत ला देता है। यदि अपनी नींद को भी जीत लिया तो समाधि दे देता है। वह शक्ति पैदा कर देता है कि वह दुःख बिना किसी निमित्त या कारण के समाप्त हो जाये। मन नींद ला देगा, नींद नहीं ली तो समाधि दे देगा। समाधि के अन्दर सुख जगा देगा। आत्मा स्वयं प्रकट हो जायेगी।

बस। वहाँ तक मनुष्य को जोर मारना है, ताकत लगानी है, ज्ञान जगाना है व अपनी आँख खोलनी है।

32. मन की कमज़ोर अवस्था में, भावों को जगाकर अपनी अनिच्छा की वस्तु की सृष्टि को बनाता है अर्थात् जो हम नहीं चाहते हैं, वैसा हमारे सामने आता है। जब ऐसे ही सृष्टि बनती है तो 'तेरी-मेरी' कोई सुनने वाला नहीं है। हम तो छोटे-मोटे सुखों के लोभ (लालच) में पड़े रहेंगे, परन्तु काम तो भगवान् का कायदा, विधि-विधान ही करेगा। जो अन्दर बैठा हुआ चित्रगुप्त है, वही अपना खेल रचता है। चित्रगुप्त शब्द का यह तात्पर्य है कि जो-जो कर्म हम कर चुके हैं या कोई भी कर चुका है, उसकी छापें, तस्वीर या चित्र रूप में अन्दर बनी रहती हैं अर्थात् वे अपने अन्त:करण या मन में छिपी रहती हैं। ये सब अपने में एक शक्ति रूप हैं। जिस प्रकार ये छुपे हुए संस्कार हमें स्वप्न दिखाते हैं ऐसे ही आगे आने वाली सृष्टि रचते हैं। अब यदि ये चित्र या छापे उत्तम कर्मों के नहीं अपितु यदि ये छापे निकृष्ट या निकम्मे कर्मों के हैं तो ये हमारी इच्छा के विपरीत न चाह-कर भी सृष्टि हमारे सामने खड़ी करेंगे। इसी चित्रगुप्त देव का विचार मन में रखकर जीवन में सम्भल कर चलना है कि ऐसा न हो कि किया हुआ कोई विपरीत कर्म या चित्र हमारे मन में गुप्त या छिपकर बैठा रहे और अपने समय पर हमारी अनुकूलता के विपरीत सृष्टि उत्पन्न करे। जिस समय हमने आँखें बन्द कीं अर्थात् पाँचों ज्ञान इन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा) व छटा मन बन्द किये, उस समय वह अन्दर बैठा हुआ चित्रगुप्त स्वतन्त्र (आज़ाद) होता है। जब ये इन्द्रियाँ खुलती हैं तो उसके ऊपर पर्दा पड़ जाता है। वह छुप करके कुछ पाप कर्म करता है या अपने सुखों को पूरा करना चाहता है। इससे बहुत लम्बा-चौड़ा और सूक्ष्म व बारीक भी अपने अन्दर चित्रगुप्त रूप देव है और उसका अपना एक

अधिनियम या विधान है। उसको दृष्टि (निगाह) में रखने का नाम देव को दृष्टि (निगाह) में रखना है। कहते हैं कि दो वस्तुएँ स्मृति में रखे—मौत और परमात्मा। यदि मनुष्य द्वारा किये हुए पाप-कर्म का बाहर पता नहीं चलता तो मन की गहराई में बैठा हुआ उस पाप-कर्म का संस्कार हर समय उसको नष्ट करने के लिए जागता रहेगा। इन सारी वस्तुओं को समझकर और इस संसार को दुःखरूप व भयंकर मान करके इससे मरते समय तक छुटकारा पा लेना ठीक है। जब तेतीस साल की आयु (उम्र) के ऊपर मन प्रमाद अर्थात् ढिलाई करने लगता है तो ऐसा कहते हैं कि देवता उसको क्षमा नहीं करते। फिर वे पक्की लकीरें बनानी शुरू कर देते हैं।

33. जीवन में तेतीस वर्ष की आयु तक देवताओं का शरीर में भोग होता है। तेतीस साल के बाद मनुष्य यदि प्रमाद करता है, तो अब देवता तो भोग करके निकल गए अब उनके पीछे मुर्दा रूप से पड़ी हुई पुरानी वासनाएँ हैं। यदि वे वासनाएँ ही इसमें भोग लगायेंगी तो वे संस्कार ही हैं। इन वासनाओं से नये पाप व बन्धन भी इकट्ठे होते हैं। यदि ये बढ़ते गए तो मरते समय तक फिर अपने अनुसार ही फल दिखायेंगे। इसलिए मनुष्य छोटे-मोटे कर्म छोड़े व छोड़ने का दुःख सहन करने की आदत डाले। यदि बाहर खोटे कर्मों को त्यागने का थोड़ा दुःख सहन कर ले और अच्छे नियम अपना ले, थोड़े सोने-जागने के भी और अपने मन में थोड़ी तंगी झेलने के भी दुःख सहन कर ले तो बहुत देर तक आसन पर बैठने का दुःख भी सहन कर लेगा। यदि यह दुःख सहन कर लिया तो बैठे-बैठे संसार भूल गया और उस दुःख से सारा संसार मन से हट गया तो समझो! उसको बैठे-बैठे आत्मा जागते हुए सुख भी दे देगा।

34. आत्मा के बारे में थोड़ा सुने। सुन करके उनके शब्दों

को याद करे। जब अकेले में मन अन्धकार में हो तो उन्हीं के शब्दों द्वारा व उन्हीं का चिन्तन करते उन्हीं के अर्थों को सोचे। शास्त्रकार कहते हैं कि यदि मनुष्य एक शब्द ठीक तरह जान ले तो उसको स्वर्ग प्राप्त हो जायेगा अर्थात् संसार से थोड़ा हट करके अपनी आत्मा के अन्दर विचार करना सीख लेगा। आत्मा में आ गए, तो वहाँ स्वर्ग है। आत्मा में दूसरा नहीं होने से कोई भय (डर) नहीं है, किसी की शंका नहीं और किसी से नाना प्रकार के उत्पात व झगड़े होने का कोई कारण नहीं बनता। ये सारे बाहर बनते हैं और आत्मा में जागते रहने पर नहीं बनते।

35. ज्ञान की भूख सबको है। कोई भी जीव चाहे कीचड़ में पला है या बाहर है, मरना कोई नहीं चाहता। जिस जगह है, वहाँ वह चाहता है कि ज्ञान तो हो रहा है। साँप को भी अपनी योनि खराब नहीं लगती है। ज्ञान तो वैसे सब अच्छा है। चलो, मनुष्य का भला है, परन्तु जब स्वार्थ उलझ जाता है तो वह पाप कर बैठता है फिर यह मनुष्य का जीवन इतना अच्छा नहीं है। मनुष्य अन्दर ठिकाना नहीं मिलने से पाप-कर्म करता है। यदि अन्दर उसे ठिकाना मिल जाए तो वहाँ कोई दूसरा नहीं है। कोई पाप भी नहीं होता तो यह स्वर्गलोक है। यदि वहाँ बिना सोचे-समझे सुख मिल जाये तो समझो! उसको मुक्ति मिल गई। इस प्रकार यदि एक शब्द भी ठीक जान लिया; अच्छी तरह पढ़ लिया; मनन कर लिया व उसका अर्थ समझ लिया तो पातंजलि ऋषि जी कहते हैं कि उस मनुष्य को वह स्वर्ग मिलता है, जिसमें उसकी सारी कामनाएँ पूरी होती हैं।

36. काम, क्रोध, मोह, लोभ व अहंकार सारे शब्द हैं। मान, अविद्या आदि भी सारे सुने हुए शब्द हैं व इसी में ईश्वर, आत्मा, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म ये सारे शब्द सुने हुए हैं, परन्तु सुनते-सुनते जैसे कुछ आपने थोड़ा बहुत अपनी बुद्धि से बारीकी व गहराई में

इन शब्दों के बारे में विचार करना शुरू किया और अपनी आत्मा में उतारने लगेंगे तो आपको फिर इनके जो अर्थ (मतलब) झलकेंगे, वहाँ आपको स्वर्ग मिलेगा। ध्यान लगने लगेगा। मन संसार से टल जायेगा अर्थात् हट जायेगा और अन्दर मन जागता हुआ ज्ञान का भूखा नहीं रहेगा। यदि अन्दर ज्ञान जाग गया तो समझो स्वर्ग मिल गया। इस ज्ञान द्वारा ही यदि आपने बाहर की तृष्णा के सब बन्धन पहचान लिये और बन्धनों को अन्दर की दृष्टि से झाँकते रहकर और उनके दुःख को सहन करते-करते टाल दिया तो अपने मुक्त आत्मा का सुख मिल जायेगा। ज्ञान जाग करके अन्दर सुख मिल गया तो समझो मुक्ति मिल गई।

37. अपने ज्ञान को अन्तर्मुख करने के लिए थोड़ा-सा शब्दों द्वारा अन्दर विचार जगाने का रास्ता बनाना चाहिए। उसके लिए थोड़ी दुःख तंगी भी सहन कर लें चाहे वह तंगी आसन पर बैठने की या नींद को जीतने की हो। शास्त्रों के सुने हुए सादे शब्दों का अर्थ चिन्तन करें। अर्थ चिन्तन करते-करते अपनी आत्मा में उतारें। जैसे कि यह काम (इच्छा) आदि शब्द सुना है। मेरे अन्दर यह शब्द कहाँ घटता है? जैसे मेरे को उस वस्तु की इच्छा होती है और उस समय बड़ी अच्छी लगती है, अच्छी लग करके मुझे ऐसे-ऐसे उधर खींचती है। इसकी खूब पढ़ाई करें कि यह वस्तु कहाँ तक अच्छी है? यह कहाँ तक ले जाती है? यदि उस इच्छा की वस्तु को पूरा कर देते हैं, तो उसमें बड़ा रस बना है व मन से उतरती नहीं है। इसी का नाम राग है। अब यह बन्धन हो गया। यह पूरा नहीं होता तो दुःख देता है और मन कहीं लगता ही नहीं। यह सारा ध्यान अन्दर करने का है।

38. जितना कुछ सुनने में आपको दूसरे से आ रहा है, इतना यदि आप भी अपने अन्दर बोल-बोल कर के अपने-आप को सुनाते रहे तो समझो! गुरु-चेला अन्दर ही बैठ गए। एक बोलेगा

और एक सुनेगा और समझेगा। समझ-समझ करके विवेक करता रहेगा, वह अपने जीवन में ढालता रहेगा। यही अन्दर ज्ञान जगाना है। जब वह ज्ञान जाग गया और इसके नतीजे नज़र आने लग गए तो समझो, अन्दर की दृष्टि (आँख) खुल गई। आँख खुलते ही वह समझता है कि धर्म मार्ग पर चलने का यही रास्ता है।

39. अपने अन्दर ज्ञान उत्पन्न करके इस तृष्णा के सारे दुःख व विकारों को अन्दर परख ले। तृष्णा कहीं भी सदा किसी को सुख देने वाली नहीं है। अन्त में मनुष्य को कहाँ तक ले जायेगी, इसका कुछ पता नहीं? यह तृष्णा वहाँ तक सुख के पीछे पड़ती है, जहाँ तक दुःख पैदा नहीं होता। यह कभी पीछे नहीं हटती और हमेशा आगे बढ़ना जानती है। तभी इसने हटना है, जब दुःख पैदा हो जाता है। दुःख के पैदा होते ही तृष्णा पूरी नहीं होती और अधूरी भी तंग करती है। यदि यह तृष्णा अधूरी रह जाये तब मारती है; पूरी हो जाये तब दुःख में समाप्त होने से मारती है। इस अवस्था में मनुष्य का दूसरा कोई शरण (सहारा) नहीं है। तब शास्त्र वाले कहते हैं कि हे प्रभो! तेरी शरण, तेरा ही सहारा है। हे प्रभो! तेरे पाने का रास्ता, जो धर्म है, उसका भी सहारा है। फिर जो धर्म का आचरण करने वाले धार्मिक भक्त लोग उनका भी सहारा है।

तृष्णा को यदि दुःख पड़ने से पहले ही पहचान लिया जाये तो शास्त्र उस पहचानने वाले को बुद्धिमान् कहता है। जब दुःख सिर पर पड़ ही गया, फिर तृष्णा का क्या पहचानना है? वह तो मनुष्य को अपने ढंग से ही चलायेगा। फिर तो इलाज़ भी नहीं बनता। पहले पहचान कर यदि उस समय मनुष्य इसका इलाज़ (उपाय) करने लग जाये, तो धर्म का रास्ता बड़े आराम से पार हो जाता है।

40. ज्ञान तो सबको चाहिए। सब जीव जिस जगह बैठे हैं,

ज्ञान के कारण से सुखी हैं, परन्तु ज्ञान वह चाहिए जो आनन्दमय व सुखरूप हो। इस आनन्दमय सुखरूप ज्ञान की प्राप्ति अपनी आत्मा में होती है। इस आत्मा में मन के बाहर भटकने से अर्थात् बाहर जाने से सुराख हो गया, पोल (थोथा) हो गया। इस अवस्था में ज्ञान नहीं मिलता, यही अविद्या है। वह अविद्या की हालत उस पोल की है। इस पोल को भरने की ज़रूरत है। इसके लिए बाहर बिखरे व फैले हुए ज्ञान को, बाहर की लपक (तृष्णा) को छोड़कर अन्दर इकट्ठा करे। बाहर की तृष्णा से छुटकारा पाने के लिए ज्ञान को जगाए।

41. ज्ञान को जगाने के लिए कुछ सुन रखा है, फिर मनन करे। अपने अन्दर उस सुने हुए को उतार ले। अन्दर ज्ञान उतर गया तो निदिध्यासन हो गया। इसके बाद अपने-आप कहोगे कि बाहर जाने की आवश्यकता ही नहीं। वहाँ संसार में क्या रखा है? वहाँ पर वही दुःख और हाय-हाय है और जो कुछ भी होता है, अन्त में उससे पाप होता है। वह पाप अन्त में नींद में सुला देता है और मरने के बाद भी दुःख देता है, सुख नहीं होने देता।

42. इसलिए व्यापक ब्रह्म परमात्मा को सब जगह उपस्थित व सबको देखने वाला (हाजिर-नाजिर) समझ करके पापों से हटे। तृष्णा के विकारों को पहचान करके इससे थोड़ा किनारा करे। जो इन विकारों के अनुसार न चलने से या इनको न पूरा करने से जो मन में इनका तनाव या दुःख होता है, उस दुःख को अपने अन्दर (आत्मा में) सत्य की दृष्टि रखकर, टालते जाने का अभ्यास करता जाये। इस तरह अभ्यास करते-करते मन अन्तरात्मा में एकत्रित हो जायेगा और बाहर विषयों के सुख के लिए नहीं भटकेगा और न भटकने से अन्दर की आत्मा की शक्ति का ह्रास भी नहीं होगा और पहले से मिथ्या आदतों को पूरा करने से जो शक्ति भटकी है वह भी मन के पूर्ण रीति से अन्तर्मुख होने

पर और अन्दर के ही सत्यों को पहचानते रहने पर सुखरूप का अनुभव देगी। यही आत्मा का आनन्दरूप का अनुभव है। इसी से रिक्त या पोला हुआ-हुआ वह आत्मा अपने-आप में पूर्ण भर जायेगा और इसी से ही अपने-आप में पूर्णता का अनुभव करेगा अर्थात् पूर्ण तृप्ति का अनुभव करेगा। जब अन्तरात्मा भर जाये तो उसका ज्ञान पा करके कोई भी मनुष्य सदा के लिए सुखी हो जायेगा। ज्ञान के बिना तो टोटा (घाटा) है। ज्ञान के बिना तो वह मुर्दा है और ज्ञान से शून्य (रहित) कोई रहना भी नहीं चाहता।

43. जो पापी मनुष्य है उसको कौवे-कुत्ते ही अच्छे लगते हैं कि वे आराम से टुकड़ा खाते हैं। इनको कोई डर नहीं है। मैं पाप के कारण डर के साथ जीवन बिता रहा हूँ। ऐसा मनुष्य मरने के बाद कुत्ता ही बनेगा, कारण कि कुत्ते का भाव लेकर गया है। कौवे का भाव लेकर गया तो वही बनेगा, परन्तु ऐसा बाहर की तृष्णा व सुख के कारण पाप करने से होता है। यदि उत्तम आत्मा का सुख नहीं मिला तो खोटा ही सही। इसलिए यह सारा ज्ञान यदि अकले में जाग जाये तो समझो! स्वर्ग मिल गया। जागते-जागते अन्दर अपनी आत्मा में सुख मिल जायेगा। यदि सब बन्धनों से मुक्ति मिल गई तो समझो! परमात्मा मिल गया। यही धीरे-धीरे अपने-आप करने का है; सुनना-सुनाना ज्यादा कहाँ तक होगा व पढ़ना-पढ़ाना भी कब तक होगा ? इतना ही है कि थोड़ा सुने और फिर अपने-आप अन्दर उस सुने हुए को उतार कर जीवन में सुख पाये, यही सारे का निचोड़ है।



प्रवचन-12

दिनांक : 24.1.1987

1. बच्चा जीवन में बाहर ही सुख प्राप्त करने के लिए दौड़ता है, कारण कि उस समय समझने लायक बुद्धि उसमें उत्पन्न (पैदा) नहीं हुई थी। जो कुछ भी उसको आदतें पड़ गई हैं, वे उसको संसार में जीवन चलाने व अपने पाँव पर खड़ा होने के लिए ही पड़ी हैं। जैसे उसको अपने हित का ज्ञान होता है, तो फिर वह अपनी आदतों में सुधार करके अपने भले के लिए भी चलता है।

2. बचपन से पड़ी हुई आदतें इतनी पक्की हो जाती हैं (बल पकड़ जाती हैं) कि उनका विरोध करना कठिन (मुश्किल) पड़ता है। उन आदतों के उल्टा चलना बड़ा दुःखमय मालूम पड़ता है। दुःख के कारण जल्दी उधर कोई भी जीव चलना नहीं चाहता, जहाँ उसका भला है। ऐसी अवस्था में दुःख सहन करके चलता रहे व मार्ग से गिरे नहीं तो इसका नाम धर्म है। जितना थोड़ा-सा करने का है, उतना थोड़ा पहले मनुष्य समझ ले। सिरे तक की भलाई के लिए, शास्त्र तो बहुत हैं। जहाँ उसकी अन्तिम पहुँच होनी चाहिए, वहाँ तक उसको न जाने कितना करना पड़ेगा? परन्तु पहले करने के लिए थोड़ा ही चुनना पड़ता है। इसलिए थोड़ा-सा धर्म के बारे में समझ करके, जिस प्रकार से भी, अपने-आप उसमें चल सके और अपने को सम्भाल सके, उतना ही जानने की ज़रूरत होती है।

3. सबसे पहले मनुष्य धर्म के रास्ते पर चलने के लिए थोड़ी श्रद्धा रखे, क्योंकि इस रास्ते के बारे में बच्चे को कुछ पता ही नहीं है कि अपने-आप की मेरी भलाई के लिए आगे (भविष्य में) क्या करना उचित (ठीक) है? उसको जो कुछ भी दिखाई दिया है, वे तो संसार के सुख-दुःख रूप हैं। इन्हीं के संग से

उसको बाहर संसार में अपने-आप का अनुभव होता है अर्थात् वह कुछ अपनी 'मैं' को पाता है जिस 'मैं' का मोह जल्दी या सहज में छूटता भी नहीं; इसी 'मैं' को बनाये रखना चाहता है। इसलिए बार-बार उसे संसार में भागना पड़ता है। अन्दर में जो सत्य स्वरूप सही जो अपना-आपा है, वह अभी अविद्या या अज्ञान के कारण से ढका हुआ है। उसका ज्ञान न होने से जीव अपनी 'मैं' को पाने के लिए बाहर संसार में ही भागता है, जहाँ कि उसको दूसरों के संग से कुछ अपना-आपा या 'मैं' का अनुभव होता है। यह 'मैं' नहीं मिलने पर कोई भी जीव अपने-आप को नष्ट हुआ सा देखता है। इसलिए इस 'मैं' या अपने-आपे को बना रहता हुआ अनुभव करने के लिए पुनः-पुनः उसे संसार में भागना पड़ता है। बच्चा दुःख की तरफ़ से भागना व सुख की तरफ़ लपकना जानता है। उस जानने के अनुसार ही उसने सारे कर्म बना रखे हैं और वैसी ही आदतें पड़ चुकी हैं। अब आगे जा करके (भविष्य में) बुढ़ापा भी आयेगा और रोग व्याधियाँ (बीमारियाँ) भी आयेंगी। इतना उसको ज्ञान कहाँ है? धीरे-धीरे समझ करके फिर उसके अनुसार अपने को ढाले। ढालने की मेहनत करे और अपने-आप को सम्भाले रखे, उसी का नाम धर्म है।

4. धर्म, आत्मा और परमात्मा, ये सहारे तो सबके अन्दर बराबर हैं। परन्तु दूसरा संसार का सहारा सदा बना रहने वाला नहीं है, कारण कि संसार के सब सहारे मतलब (बाहर के स्वार्थ) के साथ होते हैं। बच्चा दूसरों का सहारा लेता है। उसके अन्दर तो कुछ प्रकृति का आकर्षण है। उस बच्चे के लिए दुनिया का मोह दूसरों को बच्चे के प्रति कर्त्तव्यपरायण करता है और बच्चा उसके अधीन हो जाता है। विरला ही कोई मनुष्य कर्त्तव्य रूप से दूसरों की सहायता व सेवा करना चाहता है। यदि वृद्धावस्था

(बुढ़ापा) में कोई अपने-आप अपनी सेवा ठीक कर सका, तो समझना चाहिए कि उसके अन्दर धर्म की प्राप्ति है। यदि वह अपने-आप को पराधीन ही रखेगा तो पिछली अवस्थाओं में जा करके उसकी कोई बहुत भलाई नहीं है। मरने के बाद तो भगवान् ही जाने कि कर्मों के अनुसार उसकी क्या अवस्था (हालत) होगी? अपने-आप में कुछ ऐसी युक्ति बाहर संसार में चलने के लिए मिले, जिससे अपनी आत्मा में आत्मा का ही सुख मिल सके, तो यह उत्तम धर्म का रास्ता होता है।

5. इतना ही थोड़ा जानना होता है कि सबसे पहले तो मनुष्य अपने-आप को सम्भालकर चलने की आदत डाले। जैसे श्रद्धा पहला कदम है। श्रद्धा के बाद दूसरा धर्म का रास्ता स्मृति है। ध्यान, स्मृति इसी को कहते हैं कि थोड़ा होश को सम्भाल कर चलने की आदत डाले। फिर उसके बाद थोड़ी सी हिम्मत कर जाये कि खोटे रास्ते पर जाते-जाते अपने को बचा सके अर्थात् गिरते-गिरते भी बचा ले। काम, क्रोध व लोभ सब फुसलावट की वस्तुएँ हैं और सारे संसार के सुख के निमित्त (खातिर) से ही होती हैं। जिस समय काम, क्रोध आदि आते हैं तो उस समय बुद्धि तो रहती नहीं; केवल इनकी उत्तेजनाएँ (जोश) होती हैं, जिनकी भी एक अपने ढंग की शक्ति (ताकत) है। यह उत्तेजनाओं की शक्ति मनुष्य को ऐसा चला जाती है कि कई प्रकार से उसकी बुद्धि को भ्रष्ट करके व अपने ही ढंग के मन में भाव पैदा करके काम, क्रोध के द्वारा, जो खोटे कर्म होते हैं, उनकी तरफ़ उसको फिसला देती है।

6. इसलिए मनुष्य पहले समझे और फिर समझ करके इस तरह से चलने की हिम्मत कर सके, तो वह सम्भल सकेगा। हिम्मत करने के लिए थोड़ा अन्दर जाने और ध्यान से ज्ञान पैदा करे, तो ये पाँच धर्म के उपाय मनुष्य को धारण करने होते हैं। श्रद्धा,

स्मृति अर्थात् अपने-आप में होश ठिकाने रखना; फिर वीर्य अर्थात् हिम्मत कर लेना। जैसे काम, क्रोध आदि का जोश आ जाता है। इनको ठण्डा करने के लिए जरा तंगी सहन कर जाना और फिर थोड़ा-सा विचार करके समझना। सोचने की शक्ति को, यहाँ जो तंगी है, वह रहने नहीं देती। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान आदि विकार विद्युत् (बिजली) की तरंगों के समान मनुष्य के अन्दर ऐसा जोर से धक्का देते हैं कि सत्य-असत्य का निश्चय करने की शक्ति रूप बुद्धि को भी नहीं रहने देते अर्थात् बुद्धि को भी उड़ा देते हैं। जो कुछ उनकी कथनी के अनुसार कर देते हैं; वह मनुष्य की करनी नहीं होती।

7. इस बात को थोड़ा समझने के लिए मनुष्य श्रद्धा रख करके थोड़ी अपने-आपकी सोधी (होश) ठिकाने रखे और कम-से-कम एक सैकण्ड भी सोचने की फुर्सत बना ले। जिस समय उस प्रकृति का आपके अन्दर धक्का लगता है या उसकी करण्ट आती है, तो उस समय यदि आप थोड़ा भी सोच गये अर्थात् एक सैकण्ड के लिए सोचने लग गए, तो इतने में आपको सम्भलने का अवसर (मौका) है। यदि वह एक सैकण्ड का अवसर (मौका) चूक गया और सोच विचार नहीं कर सके, तो जो कोई भी उसने (प्रकृति ने) धक्का देना है, उससे तुरन्त ऐसा कार्य (काम) करवा कर पीछे पश्चात्ताप (पछतावा) की आग में डाल देना है। फिर पता नहीं उसने (प्रकृति के धक्के में किये गये कार्यरूप कर्म ने) कहाँ तक ले जाकर पटकना है।

8. ये राग, द्वेष, संशय, मान, मोह, अविद्या इत्यादि सारे बन्धन हैं और ये सारे तत्त्व मनुष्य के अन्दर काम करते हैं। एक क्षण चूका नहीं और इन राग, द्वेष आदि तत्त्वों ने अपना काम करना शुरू किया। जैसे आजकल आम सड़कों पर लिखा होता है कि "सावधानी हटी और दुर्घटना घटी।" ऐसे ही अपने-आप

की सावधानी है। सावधानी का नाम 'स्मृति' है। यदि यह सावधानी चूक गई तथा स्मृति नहीं रही तो उस प्रकृति की इतनी जोर की करण्ट या विद्युत् का धक्का लगता है कि वह उस समय कुछ-न-कुछ मनुष्य के भले से कुछ विपरीत (उल्टा) करवा जाती है। ऐसा करवाने वाले प्रकृति के तत्त्व यही मान, मोह, राग, द्वेष, संशय, भय और दृष्टि आदि बन्धन हैं और इन सबकी माँ अविद्या है, जो किसी भी व्यक्ति के केवल मन में उतरने पर ही स्पष्ट समझ में आती है। अविद्या समझने में तब आती है जब वह मन में उतर आये। मन में कोई तब उतरा हुआ समझा जाता है, यदि समझने के लिए थोड़ी स्मृति या होश टिकी रहे और विचार को जगाया जा सके। अपने मन से कहे कि कोई भी कार्य करने से पहले थोड़ा ठहरो, जरा सोच तो लें। यदि सोचने लग गए तो पहला तिल जितना ध्यान आपका अन्दर आ गया। यदि मनुष्य की बुद्धि के अनुसार कुछ सोच गये तो कुछ समझ जाओगे। जो कुछ समझा, वह ज्ञान है। यदि वह ज्ञान आने लग गया तो बढ़ते-बढ़ते वहाँ तक पहुँचेगा जहाँ भगवान् बैठा है। यह तिल जितना पैदा किया हुअ ज्ञान वहाँ तक बढ़ाना है, जहाँ भगवान् सिरे पर बैठा है।

9. एक छोटे से दृष्टान्त (मिसाल) से, ये सारे बन्धन किस प्रकार मनुष्य के जीवन में कार्य(काम)करते हैं और होश रखने से कटने शुरू होते हैं, बताया जाता है। यह एक छोटा सा पुराना दृष्टान्त है, जो कि किसी पंडित कवि की सच्ची कथा है।

एक भारवि नाम वाला कवि था। उसके पिता जी भी राजदरबार में बड़े मान प्रतिष्ठा वाले कवि थे। उत्तर प्रदेश में सहारनपुर से परे पूर्व की तरफ का क्षेत्र कन्नौज कहा जाता है। वहाँ का राजा बड़ा धर्मात्मा अर्थात् धर्म की कदर (मान) करने वाला था। उसकी सभा में बहुत कवि रहते थे। जो विद्वान् कवि

होता था, उसको राजा पुरस्कार भी देता था और उनको जीवन-यापन के लिए खर्च भी देता और उनकी शिक्षाएँ सुनता था। जब वे कवि राज दरबार में आते, तो राजा आदर के रूप में उनको एक पान का बीड़ा भी देता था। पहले आदर में यही पान का बीड़ा देते थे। उन कवियों में एक पंडित था; जो आप तो विद्वान् था ही, परन्तु उसका लड़का उससे भी अच्छा कवि निकला। उस लड़के की आयु अभी 17-18 वर्ष की थी, परन्तु 17-18 साल की उम्र में ही वह कवि हो गया। उसकी कविता बड़ी मधुर, मार्मिक व शिक्षा देने वाली होती थी। जब वह राज-दरबार में अपनी कविता सुनाता, तो उसकी उम्र को देखते हुए राजा खुश हो करके उसका स्वागत दो पान के बीड़े देकर करता था और दूसरों को एक-एक पान का बीड़ा देता था। सबसे अधिक आदरमान राजा उसको ही देता, तो बहुत से पण्डित यह देखकर जलते; परन्तु उसके पिता जी के मन में बड़ी खुशी होती और साथ में चिन्ता भी होती थी। चिन्ता यही होती कि यह अभी 17-18 साल का बच्चा है; इसके गुरुकुल के 25 वर्ष भी पूरे नहीं हुए हैं। यह विद्वान होने से इतना मान पाने लग गया कि कहीं यह मान (आदर) इसकी बुद्धि को भ्रष्ट नहीं कर दे और आगे विद्या की उन्नति का मार्ग न रोक दे। इसलिए अपने लड़के की बुद्धि ठीक रखने के लिए वह सोचता कि इस तरह से वह (मेरा लड़का) उच्छृंखल (अभिमानी) हो जायेगा। पंडित भी इसका मान करने लग गये और राजा भी इसका मान करने लगा, तो हो सकता है कि इतने बड़े मान से इसकी बुद्धि ठिकाने न रहकर आगे विद्या की उन्नति में अड़चन डाले। यह लड़का समझ ले कि, मैं बड़ा आदर युक्त तथा आदर के योग्य हूँ। इस अवस्था में यह फिर अपने अन्दर अभिमान कर लेगा तो आगे इसकी उन्नति रुक जायेगी। सारे दर्शन शास्त्र अभी इसने जानने हैं। अन्दर की

आध्यात्मिक विद्या भी सारी जाननी है। इस बच्चे ने खाली थोड़ा-सा संस्कृत का अध्ययन कर लिया और थोड़ा साहित्य जान लिया। उसके अनुसार बुद्धि अच्छी थी, कवि बन गया। यदि यह इस मान-आदर के चक्कर में रह गया तो इसकी उन्नति कैसे होगी? मेरे लड़के ने वहाँ पहुँचना है, जहाँ आध्यात्मिक विद्या की भी प्राप्ति होती है। इसलिए उसने सोचा कि थोड़ा-सा इसको (लड़के को) सूचित कर देना चाहिए कि अभी वह पूरा नहीं हुआ है।

10. उसने विचार किया कि यदि सादे शब्दों में इसको समझाया जाता है तो खुशी-मान में सारी शिक्षाएँ बह जाती हैं। इसलिए अपनी बात की अन्दर छाप डालने के लिए अपने लड़के से पहले जाकर वह घर में बैठ जाता था। जिस समय उसका लड़का कहीं से ज्यादा मान-आदर पा करके आता तो वह उसके घर पर आते ही पांच-सात गालियों की बौछार कर देता अर्थात् उसको बुरा-भला कह देता। जब वह मान पा करके फूला-फूला घर आकर अपनी माँ से अपनी बात सुनाने लगता तो पास में बैठा हुआ उसका पिता कहता कि "यह लड़का बड़ा बेवकूफ (मूर्ख) है। इसको यह समझ ही नहीं है कि सभा में मान तो मेरा (तेरे पिता जी का) है। मेरा लड़का होने से दूसरे तेरा मान करते हैं, तू अपना ही समझे बैठा है। तू विद्या की उन्नति कर और इस मान के चक्र में न रह।" तू समझता है कि तेरा मान है। यह सब तेरे पिता जी का मान है। तेरे को मान, मेरा पुत्र होने के कारण देते हैं कि यह लड़का थोड़ा पढ़ गया है। थोड़ी विद्या तेरी अवश्य है, परन्तु उत्तम मान के योग्य अभी नहीं है। तेरा अभी मान क्या है? कल का छोकरा है और अभी कुछ नहीं जानता है। तुमको राजा के दरबार में मान तो (इज्ज़त) बालपन में विद्या बुद्धि का मिलता है। यह मान कोई सही रूप में मान नहीं है। इस तरह

करके उसका पिता (बाप) ऐसी उसको गाली देता कि उसके अन्दर तेज़ पैदा हो, जिससे वह जोश में आकर अपनी विद्या को अधिक बढ़ाने का यत्न करे। उसके पिता जी कहते कि, "और कुछ अभी ज्यादा पढ़, समझ और सीख। यह नहीं कि इन्हीं मान आदि के चक्कर में पड़ा रहना चाहिए।" उसको (लड़के को) इस प्रकार पिता जी धमका देते। अब पिता जी की धमकी सुनते-सुनते वह लगा रहता और अपना अध्ययन मनन करता रहता। इस प्रकार एक दो साल और बीत गए।

11. एक दिन बड़ा भारी कवि दरबार हुआ। बड़े राजा आदि भी उस दरबार में उपस्थित थे। उस दरबार में सबसे बड़ा कवि वही लड़का माना गया और उसको बड़ा आदर-मान मिला। इस कवि दरबार में राजा ने पुरस्कार (ईनाम) भी रखा था कि जो आज के दरबार में बड़ा कवि निकलेगा; उसको वह धन भी देगा। राजा ने, जितना गृहस्थ का सामान होता है, वह सब दिया अर्थात् जितना घर के ठाठ-बाठ (सजाने) का सामान होता है; बर्तन वगैरह; उसको महल जैसा एक नया घर दिया, जिसमें एक खच्चर तो धन, मोहर वगैरह की लाद (भर) कर के दी। उस दिन उस लड़के (कवि) ने सोचा कि आज मैं घर जाकर पिता जी को बताऊँगा कि यह तेरा (पिता जी का) मान है कि मेरा मान है? इस प्रकार उसके मन में अहंकार भी आ गया।

12. वह घर में गया और खुशी-खुशी उसने सारी खच्चरें बाँधी। फिर खच्चरों को बाँध करके अपनी माँ के सामने जाकर अपना मान दिखाने लगा। मेरा बाप (पिता जी) मुझे रोज गालियाँ देता है। यह मेरे मान को सहन नहीं कर सकता; ऐसा मालूम पड़ता है कि मेरे पिता जी को भी मेरा मान सहन नहीं होता। देखो! मैं आज कितना मान लेकर आया हूँ? उसकी माँ कहने लगी कि "कोई बात नहीं बेटा, वह तेरे पिता जी हैं और तेरे भले

के लिए ही कहते हैं?" परन्तु उसकी समझ में वह बात नहीं बैठी। देखो, यह मान का बन्धन, मनुष्य को कितना अन्धा बना देता है तथा बुद्धिमान को भी बुद्धिहीन कर देता है। अन्त में जिस समय उसका पिता (बाप) घर पर आया, तो उसको वह सुनाने लगा कि देखो पिता जी, आज यह मैं कितना आदर-मान पाया हूँ? यह क्या बच्चा समझकर मुफ्त का ही राजा ने मान दिया है? आज राजा ने इतना बड़ा पुरस्कार रखा था। इस प्रकार लड़के के वचन सुनकर उसके पिता ने पहले से और भी अधिक गालियाँ सुना दीं और कहा कि "तू मूर्ख का मूर्ख ही रहा और तेरी बुद्धि **भ्रष्ट** करने के लिए ही सारा किया गया है। तू समझता नहीं है; **मान** किसका है? तेरा मान कुछ नहीं है, तेरे कुल (परिवार) व **बाप**-दादों का मान राज-दरबार में है, जो तुझे मिल रहा है। तू क्या अभिमानी हो गया? तेरे को कुछ भी आता-जाता नहीं है।" जैसे-जैसे जितना वह मान से फूला हुआ था, पिता ने उतने ही मन से उसको गालियों के डंडे मारे तो उसके मन में चिढ़ हो गई और समझा कि मेरा बाप (पिता जी) मेरा मान सहन नहीं कर सका। यह सब बचपना ही था और उसके मन में ऐसा विचार आया कि यह पिता (बाप) मेरा वैरी है; मेरा हितकर नहीं है। जैसे दूसरों को मेरा मान भद्दा (बुरा) लगता है; उसी प्रकार मेरे पिता को भी मेरा मान अच्छा नहीं लगता और सहन करने में नहीं आ रहा है। जैसे कि एक कवि की उक्ति है कि *"मानो हि महतां धनम्"* मान ही महान् पुरुषों का धन होता है और ऐसा भी कहा गया है कि *"परमानमत्सरी मनो मानिनाम्"* अर्थात् दूसरों के मान को मानियों का मन सहन नहीं करने वाला होता है। एक दूसरे का मान सहन न करने वाला मानी होता है; इसलिए मेरा पिता जी आप भी मानी है। इसको इतना मान तो राज-दरबार में मिला नहीं और मेरा मान सहन नहीं कर सकता। इस प्रकार की बुद्धि

उसकी बन गई। इसलिए कोई बात नहीं जब यह पिता (बाप) मेरा मान सहन नहीं करता और हर समय मुझे दुःख देता है, तो उसके मन में आया कि मैं भी इस पिता(बाप) की जान (जिन्दगी) को लेकर ही छोड़ूँगा। यह उसका भाव बन गया, देखो! उस विद्वान् कवि के अन्दर अब क्या भाव बन गया? यह मान इतना पापी है कि इस मान की सुनने पर अर्थात् इस मान का अनुचित रूप से आवेश होने पर कोई किसी की माता नहीं है; कोई किसी का पिता नहीं है; कोई किसी का बेटा नहीं है। जब मन में अधिकार जमाये बैठा होता है तब, अपना काम (इच्छा), राग व अपना सुख ही अपने बनते हैं और माता-पिता कुछ दिखाई नहीं देते। यही काम (इच्छा), राग व अपना सुख (चाहे मान पाने को हो) संसार के चक्कर में डालते हैं।

13. जब लड़के का मान भड़क गया और पिता से उचित मात्रा में मान नहीं मिला, तो उसके मन में आया कि पिता जी नीचे बैठ करके भोजन करते हैं। पहले किस्म के पुराने घरों की छत में खिड़की जैसा स्थान प्रकाश आदि के लिए रखते थे। सीढ़ी लगाकर ऊपर छत पर सामान वगैरह चढ़ा देते थे और इसी के द्वारा चीजें (सामान) नीचे भी उतारते थे। उसी छत के रोशनदान के नीचे बैठकर मेरा पिता जी भोजन पाता है, तो उस लड़के ने सोचा कि मैं छत पर बैठ जाऊँगा। जब पिता जी खाना खाने के लिए इसी छत के रोशनदान के नीचे बेठे हुए होंगे, उस समय ऊपर से बड़ा भारी पत्थर इस छत के रोशनदान में से गिरा कर पिता जी को मार दूँगा। देखो, यहाँ तक उसका संकल्प बन गया।

14. इस विचार को लेकर वह छुप कर ऊपर जाकर बैठ गया। गाली वगैरह खाकर उसने ऐसा प्रतीत करवाया कि वह घर से बाहर रुष्ट होकर कहीं निकल गया अर्थात् भाग गया है। उसका पिता जी, जो राज कवि था, राज-दरबार से घर पर आया तो उस

लड़के की माता ने आते ही कहा, कि आपने बेटे से इतनी गालियाँ सुनाई हैं कि वह आज सुबह ही घर से चला गया है और उसने आज भोजन तक नहीं किया। वह लड़का ऊपर बैठा सुन ही रहा था व इन्तजार कर रहा था कि पिता जी ने आकर नीचे बैठकर भोजन करना है और मैंने ऊपर से उसके सिर पर पत्थर गिराना है। उस पत्थर के गिरने से वह चोट खाकर मर जायेगा और पीछे आ करके सम्भालूँगा कि अरे! यह क्या हो गया? मर गया, मर गया। ऐसा कोलाहल (शोरगुल) कर दूँगा।

15. जब उसकी माता ने लड़के के घर से भागने के बारे में कहा, तो उसका पिता जी जवाब देता है कि "तू मूर्ख है; तेरे को भी पता नहीं। वह मेरा बेटा है। मुझे नहीं पता कि उसका भला क्या है?यदि अभी से वह मान के चक्कर में पड़ गया; जैसे उसको सब जगह से मान मिलता है; तो उसकी उन्नति रुक जायेगी। तुम जानती हो कि उसके मान में, मैं कितना उछलता हूँ और मुझे कितनी खुशी होती है? तुझे मेरी खुशी की कोई खबर नहीं है। तुम भी मूर्ख हो और वह भी मूर्ख है। मैं जानता हूँ कि बेटे को कैसे सम्भाला जाता है और कैसे उच्च स्थान तक पहुँचाया जाता है। थोड़े ही साल हैं, इतने में वह पूर्ण हो जायेगा। फिर इसकी खुशी तुम को व मेरे को ही होगी।" जब पिता ने ऐसा कहा, तो वही लड़का ऊपर बैठा सुन रहा था। उसको ऐसा हो गया कि जैसे किसी ने उसी के ऊपर पत्थर गिरा दिया। उसने सोचा कि मैंने तो पिता को जान से मार डाला था और मेरा पिता मेरा इतना भला सोच रहा है। मैं उसको मारने के लिए चल पड़ा था तो सचमुच मेरे पिता (बाप) के कहे अनुसार मैं मूर्ख ही हूँ, क्योंकि उनके अन्दर के सही भावों को नहीं समझ सका। इस प्रकार का भाव उसके मन में बना कि अब मैं पिता जी के सामने कैसे प्रकट होऊँ? वह जा करके अपने पिता जी के चरणों में पड़

गया और कहा कि "पिता जी! वास्तव में (असलियत में)मैं मूर्ख से भी महा-मूर्ख हूँ और मुझे दण्ड सुनाओ।" पिता जी ने कहा कि "अरे बेटा ! किस बात का दण्ड सुनाऊँ?" उसने (लड़के ने) कहा कि "मैंने अपने पिता जी को जान से मार डाला है।" तब पिता जी ने कहा कि "अरे तूने कहाँ मार डाला है, मैं तो तेरे सामने जीवित बैठा हूँ।" उसने कहा "नहीं जी, मैंने आपको मार डाला है" फिर पिता जी ने पूछा कि "कैसे मार डाला है?" तब लड़के ने कहा कि "आज आपको मारने के लिए मैं ऊपर पत्थर लिए बैठा था।" पिता जी ने कहा कि "पत्थर लिए बैठा था तो क्या बात है? तुम सीधे-सीधे बात क्यों नहीं कहते।" लड़के ने कहा कि "अब मैं आप मरूँगा।" पिता जी ने कहा, कि तू क्यों मरेगा? तब उसने कहा, "मैं इस लिए मरूँगा कि मैंने पिता जी को मारा है।" पिता जी ने कहा, "तूने कहाँ मारा है, मैं तो जीता बैठा हूँ, तूने किसको मारा है?" इस पर उस लड़के का उत्तर था कि "नहीं जी, मैंने अपने मन से आपकी हत्या कर दी है।" और सारी बात उसने खोलकर अपने पिता जी को बतायी। पिता जी ने फिर कहा "सुन बेटे, जैसा मूर्ख तू पहले था, वैसे अब भी तू मूर्ख रूप से सिद्ध हो ही गया।" तुझे अभी नहीं पता कि मौत कितने प्रकार की होती है। जैसे जीवन से ज्यादा मान को तुम मानते हो; पिता से बड़ा, मान को तुम मानते हो; ऐसे मौत भी एक से एक बड़ी होती है। उसने कहा, 'कैसे?' पिता जी ने समझाया कि "मान जाना सब से बड़ी मौत होती है। तेरे साथ वही हो रहा था। तेरे मरने से वह तेरा पाप नहीं धुलेगा। इस लिये तू अपना अपमान करा ले।" लड़के ने कहा कि मेरा अपमान तो कोई नहीं करता; राजा तक मेरा मान करते हैं; मैं अपमान कैसे कराऊँ? पिता ने कहा, "मैं बताता हूँ।" उसका विवाह अभी थोड़ा समय पहले ही हुआ था। "तुम अपने ससुराल वालों के यहाँ चले

जाओ। मैं उनको चिट्ठी (पत्र) लिख देता हूँ। तुम वहाँ जा करके कुछ दिन नौकरी करना। जब उनकी दासता (नौकरी)करेगा, तो जहाँ तुमको मान मिलता है, वहाँ दासता (नौकरी) का अपमान मिलेगा। जाओ, पत्र मैं लिख देता हूँ और तुमने यह ख्याल रखना है कि मैं उनकी (ससुराल वालों की) दासता (नौकरी) कर रहा हूँ। वहाँ तेरा रोज जो अपमान होगा, मान भंग होगा, तो वह मौत बढ़िया है। उससे प्रायश्चित होगा।" इस मौत से नहीं, जिसमें तू एक बार मरेगा। क्या पता एक बार इस प्रकार शरीर छोड़ने से कितनी बार मरना पड़ेगा? उसकी समझ में बात बैठ गई। उसने कहा, "देखो! सचमुच यह मेरा पिता जी ही बड़ा बुद्धिमान-विद्वान् है, जो कि मुझे मरने से भी बचा रहा है और मेरा पाप भी धो रहा है तथा मेरे को शिक्षा भी दे रहा है।"

16. उसने अपने पिता जी से कहा "ठीक है जी, आप पत्र लिख दो। मैं आज ही वहाँ जाता हूँ और अपने ससुराल में जाकर के रहूँगा।" वह अपने ससुराल चला गया जो कि काठियावाड़ (गुजरात) में था। उसके पिता जी ने पत्र लिख दिया था कि "मेरा लड़का आ रहा है। एक साल इससे दासता (नौकरी) लेना। इसका केवल दो-तीन दिन ही स्वागत करना, जैसे दामाद की तरह करना चाहिए। दो-तीन दिन के बाद इससे दासता (नौकरी) का काम लेना। अगर तुम इससे नौकरी नहीं लोगे, तो मैं और मेरा लड़का नाराज़ हो जायेंगे व हमारे सम्बन्ध भी ठीक नहीं रहेंगे।" ससुराल में जाने के बाद कुछ दिन उसका दामाद की तरह स्वागत किया गया। बाद में उन्होंने कहा कि "देखो, हमारे यहाँ बाजरा पकता है। उसकी रखवाली के लिए चिड़ियाँ उड़ानी पड़ती हैं। खेत में मचान हम बाँध देते हैं। अब आप खेत में जाओ और हमारे खेतों की चिड़ियाँ उड़ाओ।" पहली दासता (नौकरी) तो उसको यही दी गई। वह नौकरी करता गया। वह कवि तो था ही, इसलिए अपनी पुस्तक भी

लिखता रहा। पास में और दूसरों के भी खेत थे। उन खेत वाले लड़कों को भी कविता सुनाता, जिससे उसने इतना उनको लुभा दिया कि वे लड़के कहने लगे कि आप हमें यहीं कविता सुनाते रहा करो तथा आप के खेतों की रखवाली तो हम ही कर देंगे। वह मचान पर बैठा-बैठा अपनी कविता निर्माण करने व पुस्तक लिखने में लगा रहता था। इस प्रकार होते-होते काफी दिन बीत गए। दूसरी फसल भी आ गई।

17. जब दूसरी फसल आई, तो उसकी घरवाली के बच्चा होने वाला था। उसके ससुराल वालों ने कहा कि "आप इस खर्च के जिम्मेवार हो और इसके लिए पाँच-सौ रुपयों की ज़रूरत है।" उन दिनों के हिसाब से पाँच-सौ रुपये बहुत होते थे, एक रुपया में मनों अनाज या जिन्स आ जाती थी। उन्होंने कहा कि "कहीं से भी पाँच-सौ रुपये लाओ", तो लड़के ने कहा कि "कहाँ से लाऊँ?" तो उन्होने कहा कि "यहाँ के राजकुमार के पास जाओ; सबसे ज्यादा उसी के पास धन है। उसके पास आप कोई अपनी वस्तु गिरवी (गहने) रख करके आवश्यक धन ले आओ।" उसने कहा कि "मेरे पास और तो कोई वस्तु नहीं है, परन्तु मैं कवि हूँ; मैंने एक ग्रन्थ रचा हुआ है, जिसको मैं गिरवी रख देता हूँ। तब तक इस ग्रन्थ का प्रचार नहीं करूँगा जब तक रुपये वापिस नहीं दे दूँगा।" ऐसा विचार करके, राजा के पास गया और कहा कि "लो महाराज, यह मेरे ग्रन्थ का एक श्लोक आप रख लें और इसके सहारे मैंने अपना ग्रन्थ आपको गिरवी (गहने)रख दिया है और आप कृपया मुझे पाँच-सौ रुपये दे दीजिए। जब तक आपके पाँच-सौ रुपये वापिस नहीं लौटाऊँगा, तब तक मैं इस ग्रन्थ का प्रचार नहीं करूँगा।" श्लोक का भावार्थ इस प्रकार है कि कोई भी कार्य सहसा (झटपट) नहीं करना चाहिए, कारण कि जो अविवेक है अर्थात् बिना सोच विचार के झटपट प्रकृति के जोश से जो काम किया जाता है, वह

परम आपत्तियों (आफतों) का घर होता है। जो मनुष्य विवेक से सोच–विचार करके कार्य करता है; उसको सारी सम्पत्तियाँ मिलती हैं। श्लोक तो अपने ढंग का संस्कृत में है। अविवेक का अर्थ (मतलब) बिना विचार, जहाँ पर ज्ञान नहीं है कि क्या वस्तु कैसी है? विवेक उसे कहते हैं कि जो वस्तु जैसी है, उसको वैसा समझ लेना; जब कि अविवेक में जो वस्तु जैसी है वैसी तो समझ में आती नहीं तथा कुछ और की और ही समझ में आती है। राजा ने कहा, "ठीक है; श्लोक तो बहुत बढ़िया है।" पढ़ करके उसने सोचा कि हम राजा हैं तथा तलवार के धनी हैं। झटपट कहीं किसी पर क्रोध (गुस्सा) आने पर तलवार चला देते हैं। इसलिए इस श्लोक को तलवार की म्यान के शुरू में रख देते हैं। जब तलवार निकालें तो पहले यह श्लोक का पर्चा गिरे और गिरते ही झटपट हमें सोचने के लिए चौकस कर दे कि ठहरो! जरा सोचकर काम करना कहीं ऐसे ही नहीं दूसरे को मार डालना।

राजा ने वह श्लोक तलवार की म्यान में रख लिया और उसको पाँच–सौ रुपये दे दिये। वह पाँच सौ रुपये लेकर घर आ गया और वे रुपये घर वालों को दे दिये। उसकी घरवाली ने पुत्र को जन्म दिया और उसने अपने ससुराल वालों से कहा कि "आप अपना सब सामान वगैरह लाकर, जो कुछ बेटे का संस्कार करना है, वह करो।"

18. उस समय मुसलमानों का राज्य था। जितने भी राजपूत राजा थे; ये सब उनके अधीन थे। कहीं काबुल में लड़ाई हो रही थी, तो दिल्ली दरबार से आज्ञा (हुक्म) मिली कि गुजरात (काठियावाड़) का राजा भी फौज लेकर काबुल पहुँच जाये। राजा सेना के साथ उस आज्ञा को पाकर आदेशानुसार युद्ध क्षेत्र में पहुँच गया। यह राजा चार–पाँच साल तक उधर ही रहा तथा आ नहीं सका। उन दिनों रेल वगैरह की सुविधा भी नहीं थी और

वहाँ लड़ाई होती रही। जब यह लड़ाई में गया तो इस राजा का लड़का तीन साल का था। वह चार-पाँच साल में जवान जैसा हो गया, कारण कि राजकुमार तो था ही और उसको खाने-पीने की सब प्रकार की मौज थी। परन्तु उसकी माता का मोह होने से वह अपनी माता के साथ ही सोता था। पाँच वर्ष के बाद वह राजा वापिस लड़ाई से आया। उसने सोचा कि मेरे को पाँच साल महल छोड़े हुए हो गए हैं इसलिए, मैं छुपकर महल में जाऊँ और देखूँ कि महल की क्या अवस्था है और मेरी रानी किस प्रकार रहती है? वह रात को डाकू की तरह रस्सा बाँध कर महल पर चढ़ गया। खिड़की खुली थी और वह देखने लगा कि मेरे बच्चे का क्या हाल है? वह कैसा है?वह राजा क्या देखता है, कि रानी का पलंग है, जिस पर दो इकट्ठे सो रहे हैं। ऐसा देखकर उसके मन में शंका आई तथा एक दृष्टि बनी कि मेरी रानी के पास कोई दूसरा व्यक्ति सो रहा है। यही दृष्टि बन्धन है। दृष्टि से शंका (संशय) हो गई कि यह तो अनुचित (गलत) बात है। राजा के अन्दर शंका के साथ ही राग आया और द्वेष भी उछला। द्वेष के आते ही तलवार निकालना चाहा कि तलवार निकालकर इन दोनों का सिर ही उड़ा दूँ। जैसे ही ऐसा मन में आते ही वह तलवार निकालने लगा, तो श्लोक वाला पर्चा बाहर निकल कर जमीन पर गिर गया। इस पत्र के श्लोक के भावार्थ को मन में लाकर उस राजा ने सोचा कि मैं जरा ठहरूँ अर्थात् एक क्षण भर के लिए जरा विचार तो कर लूँ कि सत्य क्या हो सकता है? ये बेचारे तो सो रहे हैं। इनको कुछ पता नहीं है, मैं जरा विवेक तो कर लूँ अर्थात् निश्चय तो कर लूँ कि ये कौन-कौन है? इस सोते हुए अनजान व्यक्ति को देखूँ तो सही यह कौन है? जो मेरे महल में आया हुआ है। उसने तलवार तो निकाल ली, परन्तु उनको काटा नहीं और जरा चादर खींची, जिसको ओढ़कर वे सो रहे

थे। जैसे ही राजा ने चादर खींची, तो बच्चा जो चादर दबाये सो रहा था एक दम रोने लग गया और माँ-माँ करने लग गया। राजा ने सोचा ओह! यह तो मेरा बेटा है, माँ-माँ कर रहा है। उसको शर्म भी आ गई और झटपट उस राजा ने तलवार म्यान में रख ली और हँसने लग गया। हँस करके कहने लगा कि "मैं तो खाली ऐसे ही डराने के लिए आया था", तो रानी कहने लगी कि "हम तो डर गए और सोचा कि कोई डाकू आ गया।" राजा ने कहा "डरने की कोई ज़रूरत नहीं है; नीचे फौजें खड़ी हैं; चलो मौज करो।"

19. अब वह राजा एकान्त में सोचने लगा, जैसे वह पंडित का लड़का छत पर बैठा सोच रहा था, कि यदि मैं एक क्षण भर के लिए नहीं सोचता और यह श्लोक का पर्चा नहीं होता, तो प्रकृति की तरंग, जो मेरे मन में आई थी, उसके अनुसार मैं दोनों का सिर काट डालता। फिर उस अवस्था में मेरे जैसा मूर्ख कौन होता ?मेरा सारा परिवार ही बर्बाद हो जाता। उसने अनुभव (महसूस) किया कि पंडित जी के श्लोक की याद ने मुझे एक बड़े भारी अनर्थ तथा भयंकर मुसीबत से बचा लिया है, तो कोई हर्जा नहीं, उस पंडित जी से पाँच सौ रुपये तो क्या वापिस लेने हैं, उसको पाँच सौ रुपये और दे देंगे।

20. उधर उस पंडित कवि के मन में आया कि राजा आ गया है, मैं उसका ऋण चुका आऊँ, कारण कि अब मैं भी अपने घर वापिस जाने वाला हूँ। काफी समय निकल गया है; उस राजा को पाँच-सौ रुपए दे आऊँ। वह राजा के पास पाँच-सौ रुपये लेकर गया और कहा कि अब मैं यहाँ से जाने वाला हूँ और मेरा श्लोक कृपया मुझे वापिस दे दीजिए, अब मैं इसका प्रचार करूँगा और अपने यह पाँच सौ रूपये वापिस ले लीजिए। जब राजा को पाँच-सौ रुपये देने लगा तो राजा ने खुश होकर पाँच-सौ रुपये

वापिस क्या लेने थे, परन्तु महाराज ने पाँच-सौ रुपये उसको और दे दिये, तो उसने महाराज से कहा कि "ऐसी क्या बात है? मेरे से आपने तो पाँच सौ रुपयों का ब्याज लेना था; आप ऐसे ही पाँच-सौ रुपये और कैसे दे रहे हो?" राजा ने अपनी सारी कथा उस पंडित कवि को सुनाई कि कैसे इस श्लोक ने मेरा परिवार ही नष्ट होते-होते बचा लिया है। कथा तो इतनी ही है। इसमें कवि तो संस्कृत का बहुत प्रसिद्ध कवि भारवि था, जिसका लिखा हुआ "किरातार्जुनीयं" बड़ा काव्य ग्रन्थ है। बड़ी सुन्दर कविता है; विद्वान् उसको पढ़ते हैं और यह विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में भी आता है।

21. अब इसमें सीखने की क्या बात है? यही समझना है। इस ग्रन्थ में सब्र से पीछे डाला गया एक श्लोक है, जिसका सारा भाव धर्म का है। इस एक श्लोक में भारवि कवि ने श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, ध्यान (समाधि) व प्रज्ञा इन पाँच अंगों पर बल दिया है। सहसा कोई कार्य (काम) नहीं करना चाहिए। मनुष्य का, सुख को पाने के लिए या थोड़ा दुःख पड़ने पर अपने अन्दर मान भड़कता है। उस समय उसकी समझ में नहीं आता कि मेरे अन्दर एक राक्षस घुसा हुआ है, जो दिखाई तो देता नहीं। ऐसी अवस्था में यदि एक क्षण भर के लिए वह सोच जाये, तो पता लगेगा कि यह मान रूपी राक्षस क्या करवाना चाहता था? इसलिए जीवन में सहसा कोई कार्य (काम) नहीं कर बैठना बल्कि सोचकर कार्य करने की आदत डाल लें। यदि थोड़ा सोचकर कार्य करने की आदत डालेंगे, तो आपको पता लग जायेगा कि यह मान रूपी बन्धन ही बाँधने वाला ही था। राजा के अन्दर भी राग, द्वेष, संशय व दृष्टि (अर्थात् खोटा करने की नज़र) काम कर रहे थे। वह सारा अविद्या का जाल था जो राजा अपने लड़के व स्त्री को मारने जा रहा था। वह एक क्षण भर के लिए उस श्लोक वाले

पत्र के सम्मुख आ पड़ने पर इतना सोच गया कि जरा तो ठहर जाऊँ, थोड़ा विवेक तो कर लूँ अर्थात् पता तो कर लूँ कि सत्य-असत्य (असलियत) क्या है? इसी का नाम विवेक है।

22. प्रत्येक मनुष्य में बन्धन आ करके क्या का क्या करवा देते हैं। ये बन्धन ही अविद्या छा देते हैं और विवेक का सूर्य ढ़क जाता है। अविवेक का बादल आ जाने से उस समय की तरंग पता नहीं क्या करवा देती है। यदि करने के बाद पछताया भी, परन्तु सारी आयु (उम्र) के लिए बंध तो गया। भविष्य में कभी भी उससे अच्छा नहीं हो पायेगा, कारण कि किया हुआ पाप अच्छा होने ही नहीं देगा। इस अवस्था में बुरा कर्म करके किसी को नहीं बंधना चाहिए।

23. थोड़ी श्रद्धा रख करके थोड़ा सम्भल जाये, स्मृति रखे होश (सोधी) रख ले और देखकर बात का निश्चय तो कर ले कि कैसी और क्या है? निश्चय करने के लिए सोचने का नाम ध्यान है; जो सोचना पशु-पक्षियों में नहीं है। यह योग्यता मनुष्य में ही है। यदि मनुष्य थोड़ा-सा एक क्षण भर के लिए अपने अन्दर टिक जाए तो थोड़ा-सा सोचने के लिए अवसर (मौका) पा जाता है। यदि वह सोच गया और सोचकर कुछ न कुछ समझ आ गई, तो जो कुछ समझ आई है; वही ज्ञान होता है। जो ज्ञान होता है, वह मनुष्य को सम्भालने वाला होता है।

24. इस सम्भालने का नाम धर्म है। भागवत में आता है कि चौबीसवाँ अवतार निष्कलंक होगा और सम्भल गाँव में होगा। संसार में निष्कलंक अवतार जो कि सम्भल गाँव में होने के लिए लिखा गया है, वह अपने समय पर जैसा कुछ होगा वह तो समय ही बतायेगा। परन्तु इस निष्कलंक अवतार को किसी भी भगवान् के भक्त द्वारा अपनी आत्मा में तो अवश्य ही उतारना चाहिए। उसके अनुसार वह सम्भल गाँव तो मन में ही मिलेगा। सम्भलने

का नाम सम्भल गाँव है। 'भल्' धातु है। "भल् आलोकने" अर्थात् वस्तुस्थिति का अच्छी तरह से खूब भली प्रकार से विचार कर लेना और विचार करके सत्य का निश्चय करना। इस विचार करने की परम्परा (सोचने का ताँता)मन में बनी रहे। हर समय सम्भलते रहना। इससे मनुष्य निष्कलंक हो करके इस देह में उतरेगा। अच्छाई मन में तो सबके उतरती है कि अच्छा कार्य करूँगा; आगे खोटा नहीं करूँगा; आगे कोई गलती नहीं होने पायेगी। आज मन में सोच तो लिया; परन्तु वे, जो पुरानी आदतें राक्षस रूप से बैठी हुई हैं वे इस सोच को टिकने नहीं देतीं और अपने पुराने रास्ते पर चलने के लिए विवश करती हैं। देह तक अच्छाई उतर नहीं पाती। अच्छाई देह तक उस मनुष्य के उतरती है, जो देह, इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि को सम्भाल कर चलता है। खूब सम्भलता रहे; बस! यही सम्भल ग्राम (सम्भलने का समुदाय) हो जायेगा। निष्कलंक होने पर ही सम्भल ग्राम में जागना सम्भव है। जीते जी कलंक रहित होना बड़ा कठिन (मुश्किल) है। सब कलंकों से रहित जीवन को बना लेना, यह साधारण भाषा में निष्कलंक अवतार समझा जायेगा। अविद्या, मान, मोह, राग व द्वेष आदि का कलंक नहीं जाता। संशय, भय आदि ही सब खोटे काम करवाते हैं।

25. इन सब कलंकों से बचने का नाम धर्म है। मनुष्य को बस! सीखने का यही है कि एकदम कोई काम करने की आदत नहीं होनी चाहिए। जो भी कुछ करना है तो थोड़ा सोच-विचार करके करना है। थोड़ा सोचने के बाद काम करने वाले का नाम विमृष्यकारी है। थोड़ा-सा सोचकर कार्य करना, इसका नाम स्मृति है। जब आप करने के बारे में थोड़ा सोच गए तो समझ भी आ ही जायेगी। जो कुछ सोच विचार कर लिया, उतना समझ में आ गया। कुछ तो समझ सत्य की आ जायेगी तथा विवेक हो जायेगा।

विवेक जो करवायेगा, वही सम्भलना है।

26. थोड़ा सोचने के बाद ही सही रास्ता मिलता है। यदि सोचने की आदत नहीं है, जिसका नाम ध्यान है; तो ज्ञान कैसे प्राप्त होगा? कोई भी पशु-पक्षी नहीं सोच सकता। सोचने और सोच-विचार करके निर्णय करने की शक्ति केवल मनुष्य के अन्दर ही है। यदि एक क्षण भर के लिए भी सोच गए तो लम्बा भी सोच जाओगे। यदि कुछ सोचने लग गये, तो समझ भी जाओगे तथा अपने कर्त्तव्य का भी पता लग जायेगा। अब करने का पता लग गया और पता लगने के अनुसार हिम्मत करने का नाम वीर्य (वीर भाव) है। जैसे सोचने से पता लग गया कि उस आदत की वस्तु का प्रयोग करने से नुकसान होता है; तो उसको छोड़ने के लिए हिम्मत करना ही वीर्य है, जो कि धर्म मार्ग में स्मृति के बाद तीसरा बल है। यदि हिम्मत करने के पश्चात् उस आदत की वस्तु के सुख को छोड़कर व सुख छोड़ने के दुःख को मन, बुद्धि को ठीक रखते हुए विचार के साथ सहन करते-करते टाल दिया तो समझो, आपका त्याग और तप उत्तम प्रकार का हो गया। यद्यपि आदत के रास्ते का भी एक तनाव होता है, जो अपने कल्पित व कभी लिए हुए थोड़े सुख की तरफ चलाना चाहता है। तनाव से मन में भय होता है कि यदि आदत के रास्ते के अनुसार नहीं चला जायेगा; तो दुःख होगा। यही प्रकृति का सीधा धक्का है, जो कि मनुष्य को हर समय चलायमान रखता है।

27. प्रकृति के धक्के से अर्थात् अपमान आदि का बदला लेने के लिए किये गए कार्य की अवस्था में बाहर तो बुरा होता है, लेकिन उससे ज्यादा अन्तरात्मा में बुरा होगा। आध्यात्मिक मृत्यु तो सब से ज्यादा इसी से होती है कि बाहर मनुष्य ऐसा कर्म कर बैठता है, जो उसको इतना उलझन में डाल देता है कि उसी की सोचों में पड़ा रहने से उसका एकान्त जीवन भी सुखी नहीं

हो पाता और अन्त में दुर्गति भी होती है। उसको वही सोच लगी रहती है कि मैंने ऐसा किया है; दूसरे मेरे बारे में क्या सोचते होंगे? वे भी बड़े बल वाले हैं; कोई मनुष्य अकेला तो नहीं है। यदि कहीं किसी अवसर (मौके) पर मेरा उन्होंने कुछ बुरा कर दिया, तो फिर कैसे सम्भालूँगा? वह इन्हीं सोचों में पड़ा रहता है। यदि बाहर कोई भी गलती का कार्य हुआ है तो ध्यान नहीं बन पाता। यदि बाहर गलती से रहित होकर मनुष्य चले तो विचार में अकेला होकर ध्यान भी कर लेगा। ध्यान करने से सम्भलने लायक सम्भल भी जायेगा। सम्भलता हुआ मनुष्य अन्त में आत्मा में टिका हुआ उसका सुख, जो नींद में मिलता है, जागते-जागते भी पा जायेगा।

28. थोड़ी श्रद्धा रख करके सोच कर चलने की आदत डालें और फिर अपने-आप उस मार्ग पर चलें। विवेक द्वारा समझने पर सारे विकार समझ में आयेंगे तथा अविद्या, राग, द्वेष आदि बन्धन भी समझ में आयेंगे। जैसे उस बच्चे (कवि) के अन्दर मान तंग कर रहा था और उसी से पिता (बाप) से द्वेष मन में आया। ये सारे बन्धन हैं, जो सबको बाँधते हैं। यही बन्धन वैर करवाते हैं; पार्टीबाजी होती है, हम दूसरे का बुरा करने को तैयार होते हैं। प्रकृति के रास्ते चलने वाला कोई भी अन्त में होने वाले परिणाम (नतीजे) के बारे में नहीं सोचता। इस अवस्था में ऐसा मनुष्य बाहर उलझा हुआ ही मरेगा। जब वह भय शंकाएँ लेकर एक दिन मरेगा, तो उसकी गति भी अच्छी नहीं होगी। यदि वह प्रकृति के रास्ते पर ही चला है तो मरने के बाद भी उसकी दुर्गति ही होगी और ऐसे ही आगे संसार मिलेगा।

29. इसलिए सब से पहला कर्त्तव्य मनुष्य का यही होता है कि सोच कर काम करने की आदत डाले। सोचने का नाम स्मृति है, करने का नाम हिम्मत (वीर्य) है और सोचकर समझने का नाम

विवेक है। यदि सोचने के अनुसार हिम्मत करके समझ (ज्ञान) नहीं जगा पाये, तो सोचना केवल सोचना ही रह जायेगा, कारण कि स्मृति, वीर्य व विवेक (ध्यान) इन तीनों को साथ लेकर चलने से धर्म का रास्ता चला जाता है। इनके अर्थ को अपने मन में देखे कि जो मैं करता हूँ, सोच कर करता हूँ या प्रकृति के जोशों के अनुसार मेरे से सब कार्य होते हैं। जैसे कि सर्दी में चलते हुए का मन ठण्डी मान रहा है और स्मृति से नहीं चल रहा है। उस समय धर्म मार्ग पर चलने वाले का यह कर्त्तव्य होता है कि जरा सोच कर देख लूँ कि कितनी ज्यादा ठण्डी है, जिससे मुझे डर लग रहा है। यदि उस ठण्डी के थोड़े से दुःख को आप देखने लग गए, तो जो डराने वाली ताकत है, वह आपकी नज़र में आ जायेगी और तंग नहीं करेगी। यदि आप डर लगते ही भाग लिये तो डर वाला हेतु कैसे पता लगेगा? बीमारी को यदि समझना है, तो बीमारी से भागना ठीक नहीं है। थोड़ा बीमारी पर विचार करके पहचानने के लिए हिम्मत (वीर्य-भाव) होनी चाहिए कि जिससे मैं डर रहा हूँ, वह क्या वस्तु (बला)है? यदि डर लगते ही भाग लिये तो समझो! आपको डर ही भगा कर ले गया और जिससे भय (डर) लग रहा है, उसका अन्दाज़ा आपको नहीं मिलेगा।

30. यह जितना संसार-जाल है, इसमें अपने सुख-दुःख के कारण बच्चा बंधा हुआ है। थोड़ा दुःख हो गया तो उसका डर लगा रहता है। वह दुःख कितना अधिक है; यह मैं विचार करूँ और निश्चय करके देख लूँ कि क्या यह दुःख मारने वाला है, जिससे मैं मिथ्या डर रहा हूँ। क्या यह सहन के अयोग्य है, जो कि मेरी बुद्धि को भी विचलित कर रहा है; इत्यादि-इत्यादि विचार कर जाये। विचार करने पर उसकी हिम्मत भी बंध जायेगी। यही वीर-भाव (वीर्य भाव) है। दुःख कितना है, यह देख लेना चाहिए

और दुःख के डर में कितना सत्य है? यदि थोड़ा अपने अन्दर देखने व झाँकने की आदत होगी, तो आपको मालूम हो जायेगा कि डराने वाला दुःख कोई अधिक नहीं है। डर के कारण ही सब खोटे कार्य (काम) होते हैं। यदि आप थोड़ा-सा धैर्य रखें व सोचने की आदत बना लें तो आपसे एक भी कर्म (काम) खोटा नहीं होगा। इसके लिए थोड़ा दुःख में टिक जायें, तो ऐसी अवस्था में ये मान, मोह, राग, द्वेष पहचानने में आने लगेंगे। जब मन में ये बीमारियाँ दिखने लग जायें, तो समझो संसार से आपका ध्यान उचट गया अर्थात् हट गया। ऐसी अवस्था में संसार से हटा हुआ ध्यान अपने-आप में एकाग्र होगा और आपकी शान्ति में आपको सहायता करेगा।

31. जब ये विकार दिखने लग गये और इनका धक्का आप सहन करने लग गए कि देख लेते हैं कि कितनी ज्यादा ठण्डी लगती है तथा दूसरे के वचनों का कितना ज्यादा दुःख है, तो समझो! आपको धर्म का रास्ता मिल गया। ठण्डी व दूसरे द्वारा किया गया अपमान आदि का मिथ्या भय केवल अपनी समझ में बैठा हुआ होता है और कोई यह ज्यादा मारने वाला नहीं होता। मनुष्य इनके दुःख से ही डरता रहता है और अपने जीवन के सुख को भी बिगाड़ लेता है। जैसे, कोई एक प्रोफेसर था। वह किसी एक बड़ी संस्था (विश्वविद्यालय) में पढ़ाता था। एक बार लड़कों ने ऐसा प्रदर्शन कर दिया कि हम इस प्रोफेसर से नहीं पढ़ेंगे, कारण कि वह ठीक प्राध्यापक नहीं है। वह प्रोफेसर अच्छा मान प्रतिष्ठित व धार्मिक था। वह किसी धार्मिक महात्मा को जाकर कहता है कि इन बच्चों ने मेरा बिना अपराध के अनादर कर दिया। ऐसा होने से मेरे घर में बने हुए अच्छे व स्वादिष्ट भोजन मेरे लिए नीरस हो गये। मेरे मन में ऐसा हो रहा था कि अपने घर के बच्चों को मुँह पर थप्पड़ मार दूँ, जो बेचारे मेरे

साथ प्यार से बात कर रहे थे, लेकिन मेरा मन उनको प्रीति देने के स्थान पर उनके मुँह पर थप्पड़ मारना चाहता था। इसका अर्थ (मतलब) वही मान बन्धन था, जो उसके अन्दर रड़क रहा था। उस अवस्था में उसकी बुद्धि और मन विचलित थे और सही कर्त्तव्य को समझने तथा करने के लिए अशक्त थे। उसकी रड़क के कारण घर के सारे सुख, दुःख रूप बन गए।

32. जिसको वह अपनी कथा सुना रहा था, उस धार्मिक सन्तजन ने कहा कि "प्रोफेसर, आप तो खाली मान बन्धन से तंग हो रहे हो; थोड़ा अपने अन्दर विचार करके तो देखो, कि अपमान किसका नहीं होता? प्रधानमंत्री तक का जनता अपमान कर देती है। यदि आपकी तरह सब मनुष्य करने लग जायें तो इस संसार में जीना भी मुश्किल हो जायेगा। मान-अपमान तो सारे करने वाले करते ही रहते हैं। यही मान-अपमान केवल मनुष्य को किसी के गुण-दोष से नहीं मिलते हैं, वरन् ये तो कई प्रकार के दुनिया के स्वार्थ होते हैं उन्हीं के कारण से मान-अपमान प्राप्त होते हैं। द्वेष रखने वाला किसी की अच्छाई भी स्वीकार नहीं कर सकता। ये तो संसार के अन्दर बसे हुए तत्त्व हैं, इनको आप कैसे उजाड़ोगे? आपकी नौकरी कायम रहनी चाहिए। आप वैसे ही घबरा रहे हो।" प्रोफेसर ने कहा "जी, अपमान हो गया" तब उस महात्मा जी ने कहा कि "आप मान को कहाँ तक लिए बैठे रहेंगे? खाली आप उस अपमान की रड़क को सहन करें तथा अपना व्यवहार बच्चों व दूसरों के साथ ठीक रखें।" दूसरों का कड़वा व्यवहार सहन करना ही वीर्य है। जब आप इनका धक्का सहन करने लग गए, तो आप से कोई अनुचित कार्य भी नहीं होगा। ऐसी अवस्था में यह कर्त्तव्य होता है कि अच्छा देखता हूँ कि अपमान की कितनी रड़क व मरोड़ है? जैसे खुजली को देखते-देखते हम मिटा देते हैं, उसी प्रकार अपमान की मरोड़ को

भी देखते-देखते सहन करते हुए मिटाने का यत्न करें। इसकी मरोड़ का दुःख ज्यादा देर नहीं टिकेगा। मन इतना जबरदस्त शक्तिशाली है कि ज्यूँ-ज्यूँ आप अपमान का दुःख झाँकने (देखने) लगेंगे, तो वह इतनी तेज करण्ट अर्थात् विद्युत् शक्ति पैदा करेगा कि दुःख को बीच में ही नष्ट कर देगा जैसे, खुजली उसने उड़ा दी है। इसी तरह यह मन चाहे तो नींद ला करके इस अपमान की मरोड़ को हटा दे, यदि उस समय आप नहीं सोयेंगे तो शंकर की समाधि लगा देगा।

33. इसी तरह राग, द्वेष, संशय, भय आदि क्लेश, दुःख देकर ही मनुष्य को चलाते हैं। दुःख का इतना जोर से धक्का (बिजली के करन्ट जैसा) लगता है कि मनुष्य दुःख देने वाले को उड़ा देना (नष्ट कर देना) चाहता है। जैसे, मच्छर के काटने पर मनुष्य थप्पड़ मार कर उसको रगड़ देता है, कारण कि मच्छर से काटने के दुःख की अवस्था में वह जरा भी नहीं सोच सकता कि इस मच्छर का कितना अपराध है, जो कि मैं इसको मृत्यु के घाट पर उतार रहा हूँ? इतना सोचने का उसको अवसर ही नहीं मिलता और न ही उसके अनुसार उत्तम रीति से चलने की हिम्मत ही बन पाती है। यदि थोड़ा-सा उस समय वह सोच जाये और सोचकर फिर चाहे उसे मार ही दे, कोई बात नहीं, परन्तु सोचकर वह उसको मार नहीं सकता। यदि वह यह सोच जाता कि थोड़ी मच्छर के काटने से तंगी हुई है और इसको मैं उँगली से उड़ा भी सकता हूँ। इस बेचारे की जान (जीवन) भी अपने स्वार्थ के लिए क्या लेनी है ? इस अज्ञानी जीव ने थोड़ा-सा खून की तृष्णा के कारण से मुझे काट खाया है। यह तुच्छ जीव अपना भला तो नहीं समझ सकता। थोड़ी मैं ही इसके ऊपर दया करूँ। इस प्रकार करने से समझो! उसने देवताओं का गुण ही अपना लिया होता और उससे मच्छर काटने का अपना दुःख भी हटा लिया होता। परन्तु प्रवृत्ति की उत्तेजना (जोश) कहाँ

इतना सोचने देती है। उस महान् कवि की उक्ति के अनुसार विमृष्यकारी नहीं हुआ जाता। जैसे भारवि कवि ने लिखा है कि "विमृष्यकारी (सोचकर काम करने वाले) के चारों तरफ सम्पत्तियाँ लिपटती हैं और अविवेकी (बिना सोच विचार के सहसा काम करने वाले) के चारों ओर विपत्तियाँ (मुसीबतें) चक्कर काटती रहती हैं।"

34. राग-द्वेष की तरंगें सब के अन्दर समान रीति से धक्का मारती हैं। इनका धक्का लगते ही मनुष्य व्याकुल हो जाता है और उसकी बुद्धि स्थिर नहीं रहने पाती। मनुष्य ही केवल ऐसा प्राणी है, जो ऐसी दशा में बुद्धि रख सकता है, कारण कि इसके अन्दर विवेक (सोचने) की शक्ति है। सोचकर काम करने की आदत डालें, जो कि धर्म का पहला अंग है। यही आदत डाल लें कि जो भी काम करना है, उसे स्मृति के साथ और अपने-आप को सम्भाल करके करने का यत्न करना है। काम करते-करते भी पहचाने कि "मन किधर जा रहा है, तो समझो कि आप विमृष्यकारी हैं।"

35. जितना भी अनर्थ इस संसार में होता है, वह सारा प्रकृति शक्ति के धक्कों के कारण से होता है; जो कि बिना विचार के ही मनुष्य को भी चला जाते हैं। प्रकृति के धक्के सबके अन्दर बचपन से लेकर मरते समय तक लगते रहते हैं और सब को बिना विचारे चलाते रहते हैं। ऐसी दशा में धर्म के पाँच अंग श्रद्धा, स्मृति, वीर्य, ध्यान व प्रज्ञा यदि किसी ने अपना लिये तो ये मनुष्य को प्रकृति के राज्य को जीतने व प्रकृति के संकट और बन्धनों से बचने का बल देते हैं। स्मृति, उस समय जब प्रकृति का धक्का लगता है, थोड़ा-सा चौकस कर देगी। वीर्य अपने को सम्भाल लेगा। ध्यान, अक्ल (बुद्धि) दे देगा। ज्ञान आ जाने से मनुष्य अपने-आप सम्भल जायेगा। इसलिए इन पाँच बलों की

आदत डालें। दातुन, कुरला, नहाना-धोना, खाना-पीना आदि होश से समझते हुए करें। यदि दातुन करते समय किसी का द्वेष मन में आ रहा है, तो दातुन करते-करते द्वेष मन से टालने का यत्न करें। यदि मन में कोई कामना (इच्छा) आ रही है, उसको भी टालने का अभ्यास करें। मान दुःख दे रहा है, उसको भी टालने का अभ्यास करें। खोटे संकल्प बन रहे हैं, उनको भी दातुन करते-करते टालते जायें। यह सब जीव को सचेत (चेतन) करना है, जैसे दबी हुई आग को फूस डाल कर फूँक मार-मार कर चेता लेते हैं।

36. इसी तरह ज्ञान सोया हुआ है। इसके अन्दर बुद्धि, विवेक जाग्रत नहीं है। प्रकृति का पर्दा है, जिसका नाम अविद्या है। उसी की यह सारी सन्तान—मान, मोह, राग, द्वेष, संशय और भय आदि हैं। ये अपना थोड़ा-सा सुख दिखला करके बाँधते हैं और थोड़ा दुःख देकर भी बाँधते हैं। इसलिए इनसे बचने के लिए तथा आत्मा का सनातन सुख प्राप्त करने के लिए थोड़ा दुःख भी सहन कर लें और थोड़ा सुख भी त्याग देवें। हम वही कार्य करें, जो हमारे चिरकाल के हित के लिए हो, इसी का नाम विवेक है।

37. ज्ञान के बाहर बिखर जाने से अन्दर आत्मा पोला या थोथा (खाली) हो गया है। खाली होने से वह भड़क रहा है कि शान्ति मिले। लेकिन ज्ञान को बाहरी सुख पाने के लिए बाहर भटकाना शान्ति का रास्ता नहीं है। बाहर जो सुख मिलते थे, वे भी नहीं रहे। अन्दर भटकी व बिखरी हुई आत्मा सुख नहीं पाती; नींद में भले ही दो-चार घंटे सुख मिल जाये। यदि भटका हुआ ज्ञान बाहर से मुक्त हो जाये व अपनी अन्तरात्मा में आ जाये अर्थात् इकट्ठा हो जाये, तो सारी प्राण शक्ति भी अन्दर एकत्रित (इकट्ठी) हो जायेगी। ऐसी अवस्था में वह जहाँ बैठा है, वहीं पर उसको सुख मिलेगा। बोलते, चलते-फिरते, खाते-पीते हर

समय उसकी आत्मा में तृप्ति रहेगी। जब ज्ञान खोया हुआ है, तो ऐसा प्रतीत (महसूस) होता है कि मन नहीं लग रहा है; कोई चिन्ता फिकर हो रही है तथा मन की उधर ही लगन है। जिधर थोड़ा-सा सुख मिला है, मन उसको पाने की चिन्ता में उधर ही लपकता रहता है। यह सारा तृष्णा का बन्धन है व अभाव रूप है। अन्दर ही अन्दर घाटा-टोटा होता रहता है व अन्दर आत्मा बिल्कुल खाली हो जाता है, जिसको भरना चाहिए। इसके भरने के लिए यदि अन्दर ही मन रहा तो प्राण शक्ति भी अन्दर ही रहेगी। जहाँ शरीर में प्राण शक्ति है, वहाँ सुख भी है। भटका हुआ ज्ञान है तो भटका हुआ ही श्वास होगा। भटके हुए श्वास में मन नहीं लगता, तो वह चाहता है कि सो जायें या नशा पी लें। किसी तरह मन की अरति (न लगना) को भूलें तो सही, यह अवस्था बनी रहती है, जो सुख रूप नहीं होती।

38. बाहर बिखरे हुए ज्ञान व प्राण शक्ति (श्वास) को समेटने के लिए बाहर से लगन हटायें। यह बाहर की लगन मिथ्या ही है और जिसके लिए यह लगन बाहर उलझ, फँस व भटक रही है, वे सब तुच्छ सुख हैं। इसलिए किसी तरीके से ज्ञान अन्दर जगायें। जितना आप बाहर जानते हैं उतना अन्दर जानने का यत्न करें। अन्दर जानने के लिए यही जीवन के सत्य हैं। जीवन के सत्य जानने के लिए अपने अन्दर मान, मोह, राग, द्वेष, काम और क्रोध आदि बन्धनों को जानें, जो बाहर संसार में बाँध रहे हैं। जब इनकी तरंगें अन्दर पहचानने में आने लग जायें, तो समझो! ज्ञान अन्दर मुड़ आया। पहचानते-पहचानते श्वास अन्दर एकत्रित (इकट्ठा) हो गया, तो समझो, प्राण-शक्ति भी अन्दर आ गई। इस अवस्था में जागते हुए मनुष्य को नींद से भी ज्यादा सुख बैठै-बैठे मिलता है। इसको ध्यान, मुक्ति या समाधि का सुख कहते हैं। इसी को ही अन्त में पाना है, चाहे कितने ही वर्षों में पाया जाये।

39. चलने के लिए पहले थोड़ा ही है। श्रद्धा रखे; सोच कर करने की हिम्मत व सोचते-सोचते ही अपने-आप संसार से बिछुड़ने की आदत डाले कि मैं काम कर रहा हूँ तो अपनी लगन में कर रहा हूँ। संसार की उलझन से निकलने से ही उत्तम धर्म शुरू होता है। जितना-जितना मन उलझन से निकलेगा, उतना-उतना ज्ञान बाहर से मुक्ति पाकर छूट जायेगा। जितना ज्ञान, मुक्ति पायेगा, देह में शक्ति एकत्रित (इकट्ठी) होगी। मन में शक्ति एकत्रित हुई, वह देह में भी होगी, देह में शक्ति एकत्रित होने से देह में भी सुख होगा। इस धर्म के रास्ते में चलते हुए यदि मनुष्य मर भी गया, तो उसकी आगे दुर्गति भी नहीं होगी, अथवा उत्तम गति ही होगी। यदि इस प्रकृति के रास्ते गया तो जैसे और जीव हैं, इसी तरह वह भी है। मनुष्य की बुद्धि तो वहाँ समाप्त(खत्म)हो जाती है, जहाँ सोचना नही बनता; तो प्रकृति के धक्कों के अनुसार कर्म होते हैं। बस! मनुष्य की बुद्धि का तो उपयोग नहीं हुआ। इस अवस्था में आगे की गति भगवान् ही जाने, क्या होती है?

40. मनुष्य की बुद्धि का उपयोग यही है कि सोचकर काम करने की आदत डाले। यदि सोचकर काम करने की आदत डाल ली, तो सारी सम्पत्तियाँ उसके पास आ जायेंगी। सबसे बड़ी सम्पत्ति धर्म की है व धर्म के रास्ते चलने से मोक्ष की है। बाहर से छुट्टी मिलने से अपनी आत्मा के परम सुख की प्राप्ति है। ये सारी सम्पत्तियाँ मिलेंगी। विपत्ति झटपट कार्य करने की आदत से आती है।जहाँ प्रकृति का धक्का लगा, वही सहसा झटपट काम कर दिया। जैसा उस प्रकृति का धक्का लगता है वैसा ही कर्म मनुष्य करता है। एक क्षण भर के लिए भी नहीं सोचता। जैसे जितना खाना है, खाओ, जैसा बोलना है, बोल लो, जैसा सोचना है, सोचो, यदि यही रहेगा तो यह सहसा (झटपट) कर्म करने की आदत ठीक नहीं है। इसलिए, जब बुद्धि सम्भल गई तो सोच

कर काम करने की आदत डाले।

41. धर्म के रास्ते पर चलने के लिए स्मृति कायम रखे। मार्ग चलते हैं तो चलने में ही ख्याल रखे कि "पता है, चल रहे हैं; कैसे चल रहे हैं? चलते समय जो वस्तुएँ मन में आ रही हैं; उनका पता लग रहा है।" खाते समय भोजन की कोई वस्तु मन की पसन्द के अनुसार ठीक नहीं है तो क्रोध आ रहा है, चिढ़ आ रही है; तो मन को पहचानता रहे और उसी समय मन को शान्त करता-करता खाना खाये। यही इस धर्म के रास्ते की सफलता है। किसी से बातचीत करते समय उसकी कोई बात बुरी लगने पर मन के अन्दर उत्तेजना (जोश) का भाव आ गया और वाणी से कुछ खोटा निकलने जा रहा है तो ऐसी अवस्था में हो सके, तो मैं सम्भल जाऊँ और उस दोष को भी दबा लूँ। उस समय यदि वह सम्भल गया, तो उस विमृष्यकारी के अन्दर ऐसी शक्ति एकत्रित होती जायेगी कि वह हर समय अपनी आत्मा में रहेगा।

42. आत्मा में रहने वाले को सब प्रकार की विभूतियाँ आत्मा में प्राप्त होंगी। इस तरीके से खाते-पीते, चलते-बोलते, समाज में रहते तथा सब प्रकार के व्यवहार करते समय अपने-आप में रहने का यत्न करे। सोचकर काम करने की आदत डाले। जो होने जा रहा है, उसका मेरे को पता लगता रहे; इसी का नाम स्मृति है। पता लगने पर जो विपरीत (उल्टा) होने जा रहा है, उसे मैं रोक सकूँ, तो समझो! वीर्य भी आ गया। इस प्रकार स्मृति व वीर्य दो शक्तियाँ आ गईं। फिर सोचते-सोचते उसका विवेक कर लूँ, जो मैं करने जा रहा था। तब पता चलेगा कि मान, मोह, राग, द्वेष आदि मुझे ऐसे रास्ते में डाल रहे थे, जहाँ मेरा भला नहीं था। तो समझो! आपके अन्दर ज्ञान जाग गया और ध्यान भी जाग गया।

43. इस प्रकार श्रद्धा, ज्ञान, ध्यान, स्मृति व वीर्य धर्म के

अंग हैं और इनमें श्रद्धा पहली है। श्रद्धा से ही मनुष्य धर्म के रास्ते पर चलेगा। इन पाँच अंगों वाले बल से ही मनुष्य को मुक्ति मिलती है। यह पहला धर्म का रास्ता है। इसलिए मनुष्य को अपने-आप बल इकट्ठा करना पड़ेगा। बल ये पाँच ही हैं। सोचकर काम करने की आदत डाले, उसके बाद धीरे-धीरे जैसा सोचा है उस कार्य को वैसा ही बाहर करने की आदत डाले। फिर अकेले बैठ करके ध्यान करके अन्दर इसके बार में समझे। धीरे-धीरे ऐसा करते-करते सब बन्धन विकारों का, दुःख और दुःख की जड़ का और मुक्ति का भी पता लगेगा। मनुष्य की समस्याएँ और उनका हल भी जानने में आयेंगे, यही सारे का कहे हुए का निचोड़ है।



प्रवचन-13

दिनांक: 25.1.1987

1. जैसा कुछ मनुष्य को आचरण करने का धर्म है, वह तीन प्रकार का बताया गया है। एक तो बाह्य आचरण अर्थात् बाहर सब प्रकार के अच्छे कर्म करने हैं। दूसरा अपने मन के अन्दर ध्यान करना है और उस ध्यान द्वारा अपने मन के अन्दर काम, क्रोध और संशय इत्यादि कई प्रकार के विकारों को नाश करने के अनुकूल यत्न उत्पन्न करना, और भी जो इस उत्तम धर्म के मार्ग पर चलने में शंकाएँ इत्यादि हैं उनको दूर करना। तीसरा मन की शंकाओं का समाधान करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है; वह सत्य ज्ञान विवेक है। उस विवेक को ध्यान द्वारा उत्पन्न करना है। मनुष्यता के करने लायक धर्म यही है कि बाहर अच्छे कर्म, अन्दर ध्यान और ध्यान द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति।

2. सारे शास्त्र कहते हैं कि ज्ञान बिना बन्धन नहीं टलते। "ऋते ज्ञानान् न मुक्तिः।" वेद ऐसा कहता है, ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। ज्ञान तो चाहिए ही, ज्ञान से ही मनुष्य अपने-आप को सम्भाल सकता है, और अपने को सही मार्ग पर चलाने के लिये प्रेरित तथा उत्साहित कर सकता है। नहीं तो प्रकृति का बन्धन और प्रकृति के जोश और उसकी तरंगें इतनी भयंकर होती हैं और वे इतना बल रखती हैं कि किसी भी मनुष्य को वे सही मार्ग से विचलित कर सकती हैं।

हमारे छः शास्त्र हैं, छः के अतिरिक्त बाहर के भी छः हैं। परन्तु छः शास्त्र अपने वैदिक हैं। न्याय और वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त), सांख्य और योग। इनमें न्याय और मीमांसा दो ऐसे हैं, जो कि केवल अन्दर धर्म निश्चय करने के लिये ही हैं। न्याय का तात्पर्य क्या है कि वह निर्णय जो कि

बुद्धि, युक्ति से युक्त विचार द्वारा, सोच करके करेगी, जो इसके हित के लिये होगा। अब यह ठीक है उसमें कई प्रकार का न्याय और भी है। बाह्य न्याय भी है, जैसे, कानून-कायदे भी न्याय पर ही चलते हैं, परन्तु ये सारा अन्दर, अपनी अन्तरात्मा का है।

3. न्याय शास्त्र के समान, एक दूसरा मीमांसा शास्त्र भी है। एक दिन दृष्टान्त दिया था, दो पक्ष खड़े होते हैं, एक तो जो प्राप्त होता है अर्थात् जो कि सामने उपस्थित होता है, और दूसरा है, जो कि न्याय करने पर सिद्ध होगा। जैसे दो वादी और प्रतिवादी होते हैं। वादी अपनी कहता है, प्रतिवादी अपनी कहता है; परन्तु बीच में बैठा हुआ न्यायकारी जो है, जिधर युक्ति ठीक होती है वह उसी के अनुसार निर्णय देता है।

4. इसी प्रकार बुद्धि के अन्दर भी दो पक्ष उपस्थित होते हैं। एक तो प्रकृति का है, वह कहती है कि जैसे मैं बचपन से चली हूँ मुझे उसी तरह चलने में सुख मालूम होता है। अब दूसरा न्याय (इन्साफ)और अपने ज्ञान द्वारा विचार करके निर्णय किया जायेगा, कि यह तो आदतों वाली बुद्धि कहती है, है तो थोड़ा इसमें भी सुख, परन्तु ठीक क्या है? ठीक वह है, जो अन्तिम भला है, जो अन्त में जा करके हमारे हित के लिये हो और वह अन्तिम हित वही कहा जायेगा जो सदा बना रहे। ऐसा निश्चय करने वाला जो कुछ भी आपका विचार है, या विचार का ताँता है, इस सारे का नाम मीमांसा है। वेदों में अपने ढंग की मीमांसा है। परन्तु मनुष्य को अपने कर्त्तव्यों का सही रूप से निश्चय करने के लिए अपने-आप में इसी विचार रूपी मीमांसा को धारण करना है अर्थात् अपने कर्त्तव्यों के निश्चय करने में इसको वर्तना है। युक्ति और तर्क द्वारा ये निर्णय करना है कि सही रूप में मेरी भलाई किस में है और क्या करने में है, क्योंकि स्वभाव से तो सब जीवों की प्रकृति तत्काल या थोड़े समय के सुख-दुःख दिखाकर अपने ही ढंग से धकेलती है, परन्तु मनुष्य को युक्ति

तर्क सहित विचार (मीमांसा) द्वारा अपने सही हित या अन्तिम भलाई के लिये निर्णय करना है। अपने बारे में इसी मीमांसा को अपने अन्दर बसाना है और इसी से ही अपने कर्त्तव्य का निश्चय करना है कि किस गलत कर्म को करने के लिये पक्षपातपूर्ण बुद्धि बता रही है। जैसे कोई नशा पीने वाला कहता है कि क्या करें जी! जब तक हम नशा नहीं पीते तब तक हमारे से कोई भी कर्म नहीं बनता, यह भी उसका न्याय (युक्ति) है अर्थात् बिना सोचे समझे मनुष्य को अपने आदतों के रास्ते चलने के लिए प्रेरित करता है। यह इस प्रकार का निर्णय तो पक्षपात वाली बुद्धि का है, जो कि सामने से उपस्थित हो रहा है। परन्तु कल्याण चाहने वाले मनुष्य को इस प्रकार से विचार करना है कि मेरी अन्तिम भलाई किस में है? अब ये विचार करना जो है न्यायकारी (जज) का कार्य है कि भई! ठीक है जैसे बुद्धि आदतों के अनुसार निर्णय या निश्चय कर रही है, वह पक्षपात वाली बुद्धि है, परन्तु यदि इसी के रास्ते चलेंगे, तो कई प्रकार की बीमारियाँ और कई प्रकार की उलझनें और इतना अनन्त दुःख होगा कि भोगा नहीं जायेगा। उस दुःख को मैं दृष्टि में रखते हुए फिर जो पक्षपातपूर्ण बुद्धि है उसके निर्णय को ठुकरा दूँ, तो ये आपका मीमांसा (युक्ति-युक्त विचार) जो है आपके लिये निर्णय देगा। यदि उसके निर्णय के अनुसार अपने-आप को उसी मार्ग पर चलने के लिये थोड़ा तंगी के साथ उसी के अनुसार प्रस्तुत (तैयार) हो गया, और उसी के ढंग से अपने मन में कर्त्तव्य निश्चय किया, तो समझो! आप मीमांसा (युक्ति-युक्त विचार) को मानने वाले हैं। यदि अपने अन्दर की मीमांसा नहीं जगाई, निश्चय स्वयं नहीं किया, तो ये जो प्रकृति है, पक्षपात करने वाली बुद्धि से युक्त है और पक्षपाती अन्दर मन है और इन्द्रियाँ और शरीर बचपन से इसके रास्ते से चल चुके हैं, तो इनसे बचना बड़ा कठिन है। मन के अन्दर राग,

द्वेष, मान, मोह इत्यादि यही सारे बन्धन पैदा करते हैं, और भी नाना प्रकार के भाव जैसे कि "मैं दूसरे के दु:खदायी बर्ताव को कैसे सहन करूँ?" वह नहीं सहन करता तो मेरे से कैसे होगा? इन्हीं के सदृश्य नाना प्रकार के जो कुछ भी भाव विकार हैं, ये सब मन के हैं और इन्द्रियाँ जो हैं, उसी के रास्ते खोज़ करने के लिये हर समय तनी ही रहती हैं। शरीर को उधर बहने की आदत पड़ी हुई है। इस प्रकार से यदि इन्हीं की आधीनता रहेगी, तो कोई भी मनुष्य अपना अन्तिम भला नहीं साध सकता। तो इसलिये यहाँ मीमांसा (युक्ति-युक्त विचार) की ज़रूरत है कि बुद्धि को इतना चेतन करना है कि वह सही हित भी जाने। विचार करके विवेक करने का नाम मीमांसा है। जो भी मीमांसा होगी वह न्याय द्वारा ही होगी, अर्थात् तर्क और युक्ति वाली बुद्धि से युक्त विचार करने से होगी।

5. ये तीन शास्त्र जो हैं, यही जोड़ा-जोड़ा होने से छः बनते हैं। न्याय और वैशेषिक एक जोड़ा, सांख्य और योग दूसरा जोड़ा, तीसरा ये पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त)। तो ये जो अपने कर्त्तव्य का बोध कराते हैं, इनमें तीन ही आते हैं—कर्मकाण्ड, भक्ति-काण्ड और तीसरा है ज्ञान-काण्ड। कर्म-काण्ड के अन्दर वह सारा ही पहला आ जायेगा, कि जो कर्म उचित ढंग से अपनी भलाई के लिये किया जाता है। योग मीमांसा में आपका वही आ जायेगा, जो अपने-अपने मन को एकत्रित करके, ध्यान समाधि में लगाना है और उसके द्वारा सत्य को निश्चय करने के लिये चलना है। अब सब से आखिरी आ गया वेदान्त, तो वेदान्त में तीन सत्य बताए हैं कि—(1) जीव (2) परमात्मा और (3) जीव परमात्मा में भेद करने वाली माया। अब इन तीनों को किस प्रकार से मनुष्य ने अपने व्यवहारिक जीवन अर्थात् जो अपने काम आने वाला जीवन है, उसमें लाना है। एक तो जीवन अपनी

कल्पना में है, कि हमको यूँ करना चाहिए, परन्तु कर कुछ नहीं पाता। वह कल्पना वाले जीवन से नहीं, बर्तावे में आने लायक उस जीवन से इसको सिद्ध करना है, कि वेदान्त क्या बताता है? और जो बताता है उसका फल मुझे मिल गया। यदि इस व्यवहारिक रीति से आप उस वेदान्त को लोगे, तो वेदान्त का कुछ सही महत्त्व है। यदि आप सोचोगे कि खाली जो सिद्धान्त कहता है कि जीव ही ब्रह्म है और दूसरा कोई है नहीं, और इसी को मन में लिये बैठे रहे और बर्तावे में लाने का कोई यत्न किया नहीं, तो समझो! ये दर्शनशास्त्र खाली दर्शन-दर्शन किन्हीं दूसरे ऋषियों का है, आपका दर्शन नहीं है। दर्शन का तात्पर्य है, प्रत्यक्ष या साक्षात्कार करके, सत्य आपने देख लिया, अपनी बुद्धि द्वारा आपने अनुभव से उसको प्रमाणित कर दिया। जब तक आप उसको प्रमाणित नहीं करेंगे तब तक दर्शन नहीं है। हमारे यह छः दर्शन हैं, ये प्रत्यक्ष रीति से मन में दिखने में आते हैं। यदि आपको प्रत्यक्ष वेदान्तों का दर्शन हो गया कि जीव और ब्रह्म क्या होते हैं? और उसका फल, अनन्त सुख क्या होता है? तब तो समझो! आपने अपने जीवन में उसको प्रमाणित कर दिया। अब इसको प्रमाणित करने के लिये बाकी सारे शास्त्र आपकी सहायता करेंगे। वह मीमांसा मैंने अपने ढंग से बतायी, वह मन में उतरेगी और न्याय भी मन में उतरेगा। सारे प्रमाणों सहित अनुमान प्रमाण इत्यादि, सारे प्रमाण इस में हैं। अब वह मनुष्य ने सादे जीवन में उतारने के लिये यत्न करना है। यही तीन मैं अभी तक आपको बताता आ रहा हूँ, कि बाहर अच्छा बर्ताव और मन के साथ जुड़ने का नाम ध्यान समाधि और इसके द्वारा विवेक से सत्य का निर्णय करना और उसका निर्णय करके, कुछ न कुछ सीख करके, अपने जीवन को उत्तम प्रकार से ढालते जाना। यदि ये दिनों-दिन चलता गया, तो जब तक मनुष्य मरने तक पहुँचेगा, तब तक वह जितना

इनका फल है, वह प्रत्यक्ष अपने अनुभव में लाकर ही संसार से विदा होगा। यदि किसी धर्म का फल, प्रत्यक्ष उसकी दृष्टि में नहीं पड़ा, प्रत्यक्ष देखने में नहीं आया तो संशय में ही रहेगा।

6. जो व्यक्ति अपनी बुद्धि को कर्म, भक्ति और ज्ञान, इन तीन के रास्ते लेकर नहीं चला और अपने शरीर, इन्द्रियों और मन को उसने नहीं साधा, तो उसका मन या अन्तःकरण शुद्ध तो होगा नहीं। उसके लिये ठीक है वैसा ही सत्य रहेगा, कि हाँ भई! ब्रह्म है और जीव है। जीव अन्त में मर करके ब्रह्म हो जाएगा। यदि उसने समझ लिया मैं ही वह हूँ, परन्तु मैं ही वह हूँ समझना, खाली श्रद्धा से जो है वह ज्यादा बल-युक्त या सामर्थ्य वाला नहीं है। जिसने अपने जीवन में प्रत्यक्ष परख लिया कि वह कौन-सा अपना बल, शक्ति या सामर्थ्य रखता है, जिससे वह जीवन का भाग (हिस्सा) हो जाये। उसे परखने के लिए ही शास्त्र को एक ढंग से लेना पड़ेगा। जीवन का तात्पर्य है जैसे हम आज जीते हैं, कल जीयेंगे, परसों जीयेंगे और सारा जीवन निकालेंगे। जैसे साधारण मनुष्य का एक भौतिक जीवन बना हुआ है, इन्द्रियाँ बाहर खुली हैं, जो उनको अच्छा लगता है उसके पीछे पड़ना। चाहे कितनी भी तंगी हो, उनको प्राप्त कर ही लेना, उसके लिये सब प्रकार का बलिदान भी करना, मरने तक का कष्ट भी सहन करना, इसी प्रकार अपने मन को सुख देना, जो कि बाहर मिलता है। यह भौतिक जीवन है, इसमें धन भी चाहिए, परिवार भी चाहिए और समुदाय भी चाहिए, ये सारी बाहर की चाहिएँ हैं।

7. दूसरा जीवन क्या है कि सबसे न्यारा होते हुए भी अपने मन के अन्दर इसी तरह से जीना, कि किसी प्रकार का भी खोटा कार्य न हो और जो कुछ सद्विचार युक्त बुद्धि हमारे अन्तिम हित के लिये कहती है, उसी ढंग से जीवन को ढालना, चाहे उसमें तंगी भी हो और भले उसमें बाहर का सुख भी त्याग करना पड़े

और थोड़े दुःख या क्लेश को भी तप के स्वरूप में धारण करना पड़े। इस रीति से यदि वह उस जीवन को चलाता जायेगा, तो उसको प्रत्यक्ष ब्रह्म की प्राप्ति या अनुभव भी होगा और अनन्त सुख भी मिलेगा। जब अकेले अपने-आप में आयेगा तो आनन्द में होगा। अब वह आनन्द में क्यों नहीं है? उसका मन बाहर ही बिखरा हुआ है। उसको जीते जी अन्दर के सुख का अनुभव कभी नहीं होगा। अब यदि जीवन ढीला ही रहे, बस इतना विश्वास कर लिया कि ठीक है, जो ब्रह्म है, सच्चिदानन्द रूप है, मेरे में तो कोई संकट है नहीं, यह इस ब्रह्म में तो कोई संकट है नहीं, ये तो मन का है, यह तो बुद्धि का है। वे कहते हैं चलो ठीक है जी! और तो हमारे से कुछ बन नहीं पाता, क्योंकि यह भाग्य भी बड़ा प्रबल है, वह हम को छोड़ता नहीं है। इसलिये जीते-जी तो मुक्ति हो नहीं सकती, मर करके मुक्ति हो जायेगी। अब ऐसा यह सिद्धान्त चाहे अपने-आप में कैसा भी है, और पढ़ने या सुनने पर जैसा कुछ भी समझ में पड़े, परन्तु धर्म के मार्ग पर चलने में ये बहुत ज्यादा सुन्दर नहीं है। हिम्मती, उद्योगी को ये भाव मन में रखना चाहिए कि वह अमुक मनुष्य तो स्वार्थ के कारण खोटा कर रहा है, मैंने स्वार्थ छोड़ दिया है, मैं स्वार्थ छोड़ने की तंगी सहन कर सकता हूँ, मेरे से खोटा नहीं होगा, इसके लिये देखता हूँ मन कितना तनता है। वह गलत बर्ताव करता है, आप सही बर्ताव रखते हैं। वह मन के अन्दर दूसरों के सुख को सहन नहीं करता और दुःख में हँसता है। आप उस के सुख में सुखी होते हैं और दुःख में दयाभाव रखते हैं। ऐसी अवस्था में किसी का भी गुण तो देखते हैं, अवगुण नहीं देखते हैं। वे कई स्थानों पर कहे गये दसों ही बल यदि आप अपने मन में उत्पन्न कर देते हैं, तो भावना में आप बड़े आराम से जी रहे हैं। वह जो पहले का जीव था संसार के मापदण्ड का, और संसार में बर्ताव का, वह सारा आप

धीरे-धीरे उड़ाते जा रहे हैं, जैसे रेती से कोई लोहे को घिसते हैं और इसी प्रकार से बाहर के स्वार्थ वाले जीव का या जीव-भाव को, जिसके साथ, पीछे व्याख्यानों में कहे राग-द्वेष से लेकर अविद्या तक सारे बन्धन हैं, उसको आपने घिस-घिस कर समाप्त कर दिया। फिर उसके स्थान पर भगवान् का भक्त रूप से अपने-आप को उत्पन्न किया। अब वह यदि आपके अन्दर सिर से लेकर पैर तक उतर गया, तो समझना कि प्रतिप्रसव पहले दोष वाले जीव-भाव का विनाश इतना हो गया कि यहाँ जो विपरीत दुनिया कर रही है, उसके मापदण्ड का हमारा कोई भी कर्म नहीं रहेगा। हमारा कर्म कौन-सा रह गया, जो कि शास्त्र के मापदण्ड का है, जो कि भगवान् के मार्ग का है। जैसा कि उन्होंने आदेश दिया था, उसी के ढंग का आपका सारा जीवन चलेगा। वह क्या है? बाहर किसी से उलझेगा नहीं, क्योंकि आपने ध्यान के बल से इनको समझकर राग-द्वेष आदि बन्धनों को अनर्थकारी समझकर त्याग दिया। जिससे यह प्रकृति शक्ति, सब मनुष्यों के अन्दर तनाव पैदा करके, खोटे रास्ते पर चलाती है, वह आपने अपने अन्दर देख लिया। वह ही मेरे को चला रही थी और मैंने धीरे-धीरे घिस-घिस कर इन सभी बन्धनों को अविद्या सहित इतना समाप्त कर दिया कि मेरे अन्दर का शुद्ध आत्मा इनसे मैला नहीं पड़ता और आनन्द रूप से प्रकट अनुभव में आता है। अब इसी आत्मा को आपने बढ़ावा देना है अर्थात् सब जीवमात्र में समभाव से अनुभव करना है। संस्कृत में बढ़ावे का नाम 'ब्रह्म' है। वह सारे सूक्ष्म रूप से बसे हुए बन्धन इनको प्रेरित करते हैं, कि चलो जी, तुम अपने सुख के लिए 'यह करो' 'वह करो', सारे खोटे काम करवाते हैं। जब बाहर से इसके लिए भी खोटा आने लगता है, तो ये उसी न्याय-युक्ति द्वारा, जैसे यह (आत्मज्ञ पुरुष) अपने इन सब बन्धनों से मुक्त हुई आत्मा को इतना बढ़ावा

देता है, कि सब के अन्दर अपनी ही आत्मा समझता है। पहले उसने पवित्र योग द्वारा शुद्ध करके अपने अन्दर अपनी आत्मा को बैठाया, सारे पाप समाप्त किए, बहुत सीखता गया, सीखते-सीखते सुख का त्याग किया और दुःख सहन करने की तपस्या की, सधते-सधते इतना सध गया कि पहला वह सांसारिक ढंग का उसका अपना-आपा रहा ही नहीं, जो कि स्वार्थ के वशीभूत होकर कुछ खोया करता था। उसका पहले वाला मलिन अपना-आपा इतना उड़ गया, कि वह देखता है, अब इसके बाद कोई भी इसका अंश न रहने से, मेरी आत्मा अपने-आप में प्रकट आनन्दरूप अनुभव में आती है। जब मेरे अन्दर वे दसों बन्धन इस शुद्ध सच्चिदानन्द रूप आत्मा को मैला नहीं कर सकते, तो दूसरे की आत्मा को भी मैला कैसे करेंगे? अब दूसरों की आत्मा में तब तक ऐसा करेंगे, जब तक कि वह मैत्री इत्यादि बलों को नहीं रखता अर्थात् दूसरे की आत्मा को वह केवल मैला तब तक ही दिखाते हैं जब तक कि मैत्री इत्यादि बलों द्वारा अन्तःकरण या मन की शुद्धि नहीं हुई। वैसे सच्चिदानन्द आत्मा तो सदा निर्मल ही है चाहे मुझ में और चाहे उन में, केवल ज्ञान, अज्ञान का ही अन्तर है।

8. जब साधन करने वाले व्यक्ति ने अपनी आत्मा को उस आनन्द की अवस्था में प्रकट देख लिया, जिसमें किसी प्रकार का कोई विकार नहीं है या राग-द्वेष आदि कोई बन्धन नहीं है; अर्थात् उसने अपनी आत्मा को केवल आनन्दरूप, ज्ञानरूप तथा सत्‌रूप में पा लिया। जिसको उसने अपने अन्दर पाया है, दूसरों के अन्दर भी वही है; परन्तु ढका हुआ है। इसलिये दूसरों का भिन्न-भिन्न प्रकार से नज़र आता है; क्योंकि उनके अन्दर अभी उन दोषों और बन्धनों की समाप्ति नहीं हुई है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके अन्दर शुद्ध आत्मा नहीं है या एक दूसरे से

भिन्न है अर्थात् सत्-चित्-आनन्द रूप से विद्यमान नहीं है। यह बात अलग है कि यह सत्य स्वरूप आत्मा उन राग-द्वेष आदि बन्धनों से ढका होने के कारण साधारण जन में अभी आनन्दरूप से प्रकट नहीं हुआ है। इसलिए मित्र, वैरी आदि कई रूपों में दिखता है या समझ में पड़ता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनमें वह आत्मा है ही नहीं, जो कि सबमें है। आत्मज्ञानी अपने-आप में तो यूँ समझता है कि मैंने अपने सब बन्धन उड़ा दिये; इसलिये यह छिपा हुआ आत्मा मेरे लिये तो अपने शुद्ध रूप में प्रकट हो गया। परन्तु दूसरों (जन साधारण) के लिये तो अभी छुपा हुआ बैठा है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि छुपा हुआ बैठा है तो है ही नहीं। है तो यह सब में वैसे ही सच्चिदानन्दरूप से, जैसे मेरे अन्दर है और मैंने देखा है; परन्तु राग-द्वेष आदि बन्धनों के कारण सुख-दुःख आदि के निमित्त अपने-अपने स्वार्थों के द्वारा मित्र, वैरी आदि कई कल्पित (मिथ्या) रूपों में दीखता है; शुद्ध रूप में नहीं दीखता। अस्तु! दूसरों के अन्दर चाहे कैसे भी रूप में दीख रहा है, किन्तु जिन रूपों में भी दीख रहा है, वे सारे रूप मिथ्या ही हैं; सच्चा रूप तो सत्-चित्-आनन्द रूप ही है, जो मेरे अन्दर प्रकट भास रहा है। अब मैं उन मिथ्या स्वरूपों से क्या लूँ; वे तो मिथ्या कल्पनाओं के हैं। मुझे तो सब में भी अपनी वही सच्ची दृष्टि रखनी है, जो कि अपने-आप में आत्म रूप से पाई है। इसलिये दूसरों के इन कल्पित रूपों को न देखता हुआ अपने सही और शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप को भी सब में प्रकट देख रहा हूँ। जब मेरे में यह अन्तर-आत्मा ऐसा है, तो दूसरों में विपरीत कैसे होगा? यह बात अलग है कि दूसरों (जन साधारण) की अभी वैसी दृष्टि नहीं जागी है। इसलिये उनको इस आत्मा का सही स्वरूप नज़र नहीं आता। मैंने अपनी दृष्टि शुद्ध कर ली है, मेरे को साफ दिखाई दे रहा है, जो कि इसका

सही स्वरूप है। मैं दूसरों की मलिन दृष्टि को क्यों देखूँ। मैं तो उनके अन्दर भी अपने अन्दर देखा हुआ आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही देखूँ। इस प्रकार से उसने अपनी आत्मा को बढ़ावा देकर सब में ब्रह्मरूप से देख लिया।

9. जिस प्रकार एक ही जल कई एक पात्रों में पड़ा हुआ होने से जन साधारण द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखा जाता है अर्थात् कई एक नज़रों से देखा जाता है। जैसे कि कोई कहता है कि मेरा जल साफ़ है; दूसरों का मैला है। परन्तु पात्र आदि का भेद होने के कारण से भी यह जल कई प्रकार का दृष्टि (नज़र)में आता है। यदि केवल जल मात्र को ही दृष्टि में रखें; भिन्न-भिन्न पात्रों पर ध्यान न दें; तो कोई भी कह सकता है कि जल ही जल है; चाहे थोड़ा है, मैला है या साफ़ है। क्या-क्या उसके भेद नज़र आ रहे हैं। परन्तु जिसकी दृष्टि जल मात्र को ही देखने वाली है, उसको तो जल ही जल दिखाई दे रहा है। जल मात्र पर दृष्टि रखने वाले को तो नदी, तालाब, समुद्र, गड्ढा या कोई छोटे-मोटे पात्र नाम-रूप आदि भेद से ध्यान में नहीं आते; उसे केवल जल ही जल दृष्टि(नज़र)में आता है। इसी प्रकार जिसकी शुद्ध सच्चिदानन्द रूप आत्मा पर दृष्टि है, उसको मित्र, वैरी, कामी और क्रोधी आदि कोई भी नज़र नहीं आता। उसको तो सब में सच्चिदानन्द आत्मा ही दृष्टि में आता है। इसी आत्मा को सब में बैठाना है और उसी की दृष्टि रख करके सब बन्धनों से मुक्त होकर अपनी आत्मा का आनन्द अनुभव करना है।

10. संसार में अकेले तो कोई जीता नहीं, जीना तो दूसरों के साथ ही पड़ेगा; उधर से तरंगें आयेंगी; आप पर भी उसका कुछ न कुछ प्रभाव पड़ेगा। अब दूसरों के आये हुए विपरीत प्रभावों को अपने सद्भावों द्वारा विफल बनाना है। आपने इन भावों से विफ़ल ऐसे बनाना है कि मुर्दा जीवन रख नहीं सकते, शून्य मन

रख नहीं सकते, जड़ मन से तो संसार में जिया कैसे जायेगा और पहले ढंग से आपने चलना नहीं है तो क्या करोगे? "दरवाजा बन्द करके बैठे रहेंगे या किसी गुफा में बैठेंगे?" नहीं! उन्हीं में रहना और भाव उन्हीं में रखना। कैसे भाव रखने? मैत्री भाव; जैसे परिवार में या संसार में जीवन, मैत्री पर चलता है। यदि घर के जीवन में भी मैत्री नहीं है, तो घर वाले आराम से रह नहीं सकते। हर एक के सुख में भी आपको सुखी होना पड़ता है, इसी का नाम मैत्री है। इसी तरह परिवार का, इसी तरह किसी भी समुदाय का कोई भी जीवन हो, उसमें आपको दूसरों के सुख में सुखी होना पड़ता है। ठीक है! जिन के साथ अपना स्वार्थ जुड़ा हुआ है उनके सुख में तो सब सुखी होते हैं अर्थात् स्वार्थ के लिये तो सुख में सुखी सब होते हैं, उसी के लिये एक समुदाय बन जाता है और उसी के लिये एक परिवार बनता है। उसी के लिये मित्र आदि सारे होते हैं। आत्मज्ञानी पुरुष को तो यह भाव रखना है कि मैं उस स्वार्थ के लिये नहीं कि वह जो मेरे को अच्छा लगता है वह मेरा है, मेरे लिये सब जो कोई है किसी का भी सुख है, उसके लिये मेरी मैत्री है। उसके सुख में, मैं सुखी हूँ। किसी का भी दुःख हो, तो उस में मैं दयावान हूँ। जो भगवान् का या परमात्मा की पहुँच का मार्ग अपनाता है उसके अन्दर इस प्रकार का भाव होना चाहिए कि किसी की भी कोई अच्छाई या उसका गुण है उसके लिये मेरी प्रसन्नता है या प्रशंसा है, यह नहीं कि मेरा बच्चा जो है, उसके अच्छे काम पर तो खुश होता हूँ, परन्तु दूसरों के बच्चों की अच्छाई नहीं दीखती। मेरा बच्चा गलती करता है, उसकी तो मैं उपेक्षा कर देता हूँ, "कोई परवाह नहीं वह बच्चा तो है।" परन्तु दूसरों का बच्चा जब गलती करता है तो उसमें क्षमा नहीं होती अर्थात् उसके दोष की उपेक्षा नहीं बन पाती। अपनों के साथ तो मीठा बोलना, घर वाले यदि कडुवा भी बोलें,

अपने स्वार्थ के वशीभूत हो करके उसको 'कोई नहीं' कहकर सहन कर लिया और आप मीठा ही बोले, परन्तु यदि कोई बाहर का हो, तो वैर बाँध लिया। उत्तम धर्म के मार्ग पर चलने वाले के लिये चाहे कोई भी किसी प्रकार का बर्ताव करने वाला है उसके प्रति भी अपना बर्ताव सही होना चाहिए, इसका नाम है—शील रखना। इसको पुराने लोग भद्र व्यवहार कहते थे। ऐसे शील को धारण करने वाले को वेदों में 'आर्य' शब्द से कहा गया है, आर्य माने पूज्य। इससे कोई भी मनुष्य ये नहीं कह सकता कि उसका बर्ताव गलत था या दुःख देने वाला था।

11. अब यदि यही अच्छा बर्ताव है, तो बाहर आपकी जो आत्मा है, दूसरों के अन्दर कैसे खोटी जाँचेगी, जब खोटी नहीं जाँचेगी, तो दूसरे के अन्दर किस प्रकार उद्वेग जोश आयेंगे। जब जोश नहीं आयेंगे तो उनसे दुःख भी आपको कैसे होगा, और आपको जैसे अपनी आत्मा से सुख मिलता है, उनकी आत्मा से कम-से-कम आपको दुःख नहीं मिलेगा। बस! हो गया आपका ब्रह्म व्यापक। आपको बाहर से शंका नहीं होगी, भय नहीं होगा, व्यर्थ में कर्त्तव्यों के लिये सोचना नहीं पड़ेगा कि क्या करना चाहिये? बस यह जब नहीं है, तो मन मुक्त है। मुक्त मन है, तो जैसे नींद में सुख मिलता है ऐसे ही जागते-जागते भी मिलेगा। ये मुक्ति का सुख होता है। परन्तु है कब? जब ये सूक्ष्म क्लेश बन्धन न रहें, प्रतिप्रसव हो जाये अर्थात् बन्धनों से विपरीत गुणों की सृष्टि हो जाये, जैसे कि राग-द्वेष आदि होते थे, उनके विपरीत वैराग्य और क्षमा आदि गुण उत्पन्न हों, यही प्रतिप्रसव (विपरीत सृष्टि) का तात्पर्य है। इन सब सूक्ष्मरूप में भी टिके हुये अवगुणों और मिथ्या भावों के विपरीत भी उत्तम सद्भावों व गुणों की रचना होनी चाहिये, यही प्रतिप्रसव का यहाँ तात्पर्य है। तो प्रतिप्रसव (विपरीत सृष्टि) के लिये [illegible] चाहिये। [illegible] भगवान्

के कहे जाते हैं, जो कि आप सुनते आ रहे हैं।

(i) मैत्री :- किसी के भी सुख में सुखी होना।

(ii) करुणा :- दयाभाव अर्थात् दूसरे किसी के भी दु:ख के प्रति दया मन में रखनी, चाहे यह नहीं है कि मैंने उसका कुछ करना है, करना-कराना तो अपनी शक्ति के ऊपर है परन्तु दया का दरिद्री नहीं होना है। कोई भी दु:खी है तो मन में इतना हो जाये, ओहो ! बेचारा दु:खी है और यह इतना तक हो, यह केवल मनुष्यों के प्रति ही नहीं, कोई भी जीव हो, कैसा भी हो, उसका यदि दु:ख समझ में आने लगे तो जीवमात्र के प्रति वही भावना होनी चाहिये कि ओहो ! बेचारा दु:खी है। इसलिये अपने मन में दया बसा ले तो इसका नाम है—करुणा।

(iii) मुदिता :- मनुष्य प्रकृति से बंधा हुआ होने व स्वार्थ का दास होने से, जो कुछ भी करता है उससे, व्यवहार भी उसके ठीक नहीं हैं। देखना-सुनना, मन के अनुसार जैसी-जैसी उसकी चेष्टायें हैं वे सारी शायद आपको दु:ख दें, तो उस अवस्था में दु:ख कहेगा, यह अपराधी है और यह दुष्ट है। परन्तु दुष्ट नाम दोष वाले का है, यदि उसका दोष देखेंगे, तो आपको द्वेष होगा। द्वेष होगा तो क्रोध होगा। क्रोध होगा तो खोटा ही करने की प्रेरणा होगी, तो आपने बजाय उसके दोष देखने के उसका गुण देख लिया। उसमें होते हुए किसी छोटे से गुण को भी दृष्टि में रख लिया और गुण देख करके प्रसन्न हो गये और वाह-वाह की, तो उस अवस्था में द्वेष नहीं रहेगा, क्रोध नहीं रहेगा, खोटा करने की प्रेरणा नहीं होगी। परन्तु वो कैसे होगा? आपको किसी के भी गुण को देखने की आदत डालनी पड़ेगी, खोज करके भी गुण निकालना और दूसरों के दोषों के बारे में इस प्रकार मन का भाव बनाना कि जैसे मैंने दोष को देखा ही नहीं। अब यदि ऐसा नहीं करेंगे तो प्रकृति का उल्टा चक्र चल जायेगा।

जैसे देखो, कोई एक किसी का दुष्ट बेटा था, बेचारा बड़ा नशेबाज, खोटे रास्ते लगा हुआ था, तो उसका बाप, उसको यह कह कर कहीं चला गया कि तू इस पशु को पानी पिला देना, नहला देना और इसको चारा डाल देना और भी कुछ काम करना, परन्तु वह था नशेबाज। बाप तो काम के लिये चला गया। कुछ मित्र आये और वह मित्रों के साथ नशे में लग गया। जो कार्य करना था; उसका उसको याद ही नहीं रहा, बेचारा भूखा जानवर खूँटे पर (अपने बँधने के स्थान पर)ही खड़ा रहा। जब दोपहर को उसका पिता आया, तो उसने देखा कि उसका पशु ज्यों-का-त्यों खड़ा है और बच्चा जो है अर्थात् उसका पुत्र अपने मित्रों के साथ नशा करने में ही लगा हुआ है। ऐसा देखने पर उसके पिता को क्रोध आया। दूसरे बच्चे तो उसके पिता जी को देखकर भाग गये कि अब इसका पिता आ गया है, अब यह हमें बुरा-भला कहेगा। परन्तु अपने पिता को क्रोधित अवस्था में देखकर उसके बच्चे ने कम-से-कम इतना कर लिया कि वह भय के कारण चारपाई छोड़ कर खड़ा हो गया। वह जैसे खड़ा हुआ, उसके पिता को, जिसको उस समय क्रोध आ रहा था, क्योंकि उसने देखा, पशु ज्यों-का-त्यों खड़ा है और आज इस पशु को अभी तक खाना भी नहीं मिला और इस लड़के के अपने मित्रों के साथ अमोद-प्रमोद और नशे ही चल रहे हैं। उसके मन में इतना क्रोध आया, कि इस लड़के का सिर फोड़ दूँ, क्योंकि उसने उसका दोष देखा कि देखो, ये कितना नुकसान कर रहा है। जिस पशु का दूध पीना है उसको इसने पानी तक भी नहीं पिलाया। परन्तु जिस समय उसने देखा मेरा आदर करने के लिये मेरा बेटा चारपाई से उठ करके कम-से-कम खड़ा तो हो गया, उसको यह गुण उस लड़के का दिखाई दे गया और झट उसके मन में यह विचार फूट गया, कि कम-से-कम इसने मेरा आदर तो रख लिया और

मेरे से डरता तो है। बस! इतना गुण मन में बसा करके उसका अन्दर क्रोध शान्त हो गया। जैसे मैं कल कह रहा था कि थोड़ा-सा विचार करके काम करने की कोशिश करे—यही पहला अपनी आत्मा का योग है, यदि इस योग को आप अपने मन में धारण करोगे, तो यह बढ़ते-बढ़ते समाधि दे देगा। तो उसने इतना सोच लिया, कि मेरा बेटा कितना भी दुष्ट है, कितना भी दुर्गण वाला है, परन्तु इतना गुण तो है कि बड़ों का आदर तो करता है। बस! इतना गुण उसके अन्दर देखते ही उसका क्रोध शान्त हो गया, बजाये डंडा मारने के इतना ज़रूर उसने कहा, बेटा! जिसका तूने दूध पिया है वह पशु तो ऐसे ही खड़ा है उसको तूने पानी तक भी नहीं पिलाया। यह सुनकर उस लड़के को लज्जा (शर्म) अवश्य आयी।अब यह बात अलग है कि वह लड़का सुधरेगा या नहीं सुधरेगा, परन्तु दुर्घटना तो टल गई। दूसरों के गुण को दृष्टि में बसाने पर, मन में से द्वेष का ज़हर निकल जाता है और क्रोध की आग हट जाती है और जो बाहर मिथ्या या खोटा कर्म होना था उससे भी बच जाता है, तो यही है वह तीसरा प्रतिप्रसव। वह पहला क्या था? जिस प्रकार से वह मन में दूसरे के दोष देख करके संसार के ढंग से चलना था, उस ढंग से नहीं चला बल्कि उसने अपने मन में उसका गुण देख लिया।

(iv) उपेक्षा :- अब चौथा है उपेक्षा, कि किसी का जो दोष दिखाई दे गया है, जिससे वह दुष्ट मालूम होता है, क्योंकि वह तो दुःख देने वाला है, खोटा करने वाला है, उससे उपेक्षा रखना। जैसे पिता ने अपने लड़के का गुण देखा तो दोष से उपेक्षा हो गई। उपेक्षा का तात्पर्य है बेपरवाही या उसके दोष के प्रति बेखबर जैसा रहना, अर्थात् उसके दोष को मन में आने ही न देना, "जाने दो, ये तो हुआ ही करता है।" ऐसा मन का भाव बनाना और किसी के दोष को दृष्टि में रखकर अन्तर मन में मिथ्या भाव

नहीं बनने देना, ऐसा मन का भाव बनाना कि जैसे मैंने दोष को देखा ही नहीं। यदि इस दोष पर निगाह होती, तो वह बुरा लगता और क्रोध के बाद उस पर डंडा भी पड़ता तो सिर फट जाता, फिर भी दुःख अपने सिर पर ही आता। इस प्रकार से ये चार बल—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा उसके हैं, जो भगवान् के रास्ते पर चलेगा और भौतिक जीवन को जीत करके इस आत्मा को अपने अन्दर परखेगा (पहचानेगा) और परख करके इसको बढ़ावा देगा और दूसरों के भी सभी बन्धनों को अपने मन में अवहेलना करके, उनके अन्दर भी अपनी आत्मा का ही दर्शन करेगा। जब सबके अन्दर उसकी आत्मा बैठ गई तो ब्रह्म-भाव मिल गया। इस तरीके का यदि कोई ब्रह्म अनुभव करे तो समझना उसको जीते जी डिग्री मिल गई कि तुम भई! मुक्त हो गये। जब जीते जी तुम अकेले में आनन्द ले रहे हो तो मरने के बाद तुम्हारा आनन्द कौन बिगाड़ेगा? परन्तु यदि जीवन-काल में यह नहीं हो पाया, वें पुराने संस्कार आ गये, पुरानी प्रकृति आ गई, वही जो योग दर्शन में कहा है कि, "सूक्ष्म क्लेश बसे रहे और सूक्ष्म सारी वृत्तियाँ अपनी ही तरंगें मन मे चलाती रहीं, तो उस दशा में पराधीन हुआ मनुष्य कुछ भी अच्छा नहीं कर सकेगा। उसको जीवन-काल में इस परमात्मा का सुख या उससे पहले अपनी आत्मा का सुख भी नहीं मिलेगा।"

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा यदि ये चारों भाव या बल मन में हैं, तो बताओ जगत् में आपका कौन मित्र नहीं है, कौन वैरी होगा, किसके साथ आप बात नहीं कर सकते, किससे आपको डर लगेगा? परन्तु यदि अकेले बैठकर ये भावनायें नहीं कीं, मन के अन्दर ये भाव नहीं बनाये, तो यह शून्य मुर्दा मन किसी से भी मिलने में आनाकानी करेगा और उत्तम रीति से या सुखपूर्वक अपनी जीवन नौका को नहीं चला सकेगा।

(v) शील :- जैसे मन के भाव हैं उनके अनुसार बाहर बर्ताव भी होगा। चाहे कोई प्राणी भी हो उसके प्रति ये भाव होना चाहिये कि मैंने धर्म के नाते अपना बर्ताव श्रेष्ठ (भद्र) रखना है।भद्र का तात्पर्य है कि जो दूसरे को बुरा न लगे, तो ये भी भगवान् का बल है। इसी तरह दु:ख के बीच में 'मैं' आ जाती है, लो जी! दूसरा ऐसे करता है, मैं कैसे सहन करूँ? इस 'मैं' को भी भगवान् के अर्पण कर देना, 'मैं' भगवान् की है, अर्थात् सर्वरूप परमात्मा जो सब दूसरों में बैठा है वह जो मुझे समझे वही मेरी 'मैं' है। अपने-आप से मैं क्या बनूँ? इस प्रकार से यह बड़ा दान है अपनी 'मैं' का दान, इसी को शास्त्र में संन्यास कहते हैं। यह बड़ा त्याग है, यह भी अपने-आप करना पड़ता है। इसके बिना कोई भी मनुष्य जीते जी मुक्ति के आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता।

(vi) क्षमा :- कोई भी मनुष्य किसी को दु:ख दे जाता है या किसी का सुख बिगाड़ता है, तो दूसरा मनुष्य कहता है कि यह अपराधी है। ऐसे किसी के अपराधी होने की बुद्धि होने पर या समझ कर मन में उसके प्रति दण्ड का भाव रखता है। अब इस अपराध की दशा में अपने-आप को शान्त रख लेना या शान्त कर लेना, यह सब के वश का नहीं अर्थात् यह सब के वश का गुण नहीं है। यदि आपके मन में किसी के प्रति भी दण्ड का भाव नहीं है, तो आपके मन में क्षमा का भाव समझा जायेगा। ठीक है भाई! जो हो गया सो हो गया। मैं क्षमा रखूँ इस प्रकार मन को शान्त करे और यह समझना, कोई नहीं, वह बुरा कर रहा है किसी से बंधा हुआ कर रहा है। उस बेचारे के अन्दर इतना बल नहीं है कि वह अपने अन्दर की मिथ्या तरंगों को हटा सके, परन्तु मुझे तो शास्त्र का संस्कार है। मैंने सुना है, पढ़ा है और मैंने समझा है कि सहन शक्ति और क्षमा का फल उत्तम है, मैं तो इसी को बसाऊँगा।

(vii) दानः- मुझे संसार के रास्ते तो चलना नहीं, मुझे तो धर्म के रास्ते चलना है, तो ऐसी रीति से यदि आपने अपनी 'मैं' को त्याग दिया तो ये महादान हो गया, तो ये सात बल थोड़ी-थोड़ी मात्रा में भगवान् के हो गये। आपके अन्दर जितनी मात्रा में ये आयेंगे उतनी ही मात्रा में आपका बाहरी जीवन सफल होगा व शान्त होगा और संसार से भय भी नहीं लगेगा। भय का स्वरूप क्या है? भय का यह स्वरूप है कि बाहर तो दुःख ही दुःख है, दुःख की आग जल रही है। लोगों के बर्ताव सही नहीं हैं। क्यों ये सब ऐसा भाव होता है? क्योंकि अपने से ठीक नहीं बन पाता, इसलिए ये बल प्राप्त किये बिना बाहर अच्छा जीवन नहीं बन पाता।

(viii) वीर्यः- गीता में नरक के तीन दरवाजे बताये हैं—काम, क्रोध और लोभ। पहले इनको त्यागे तब मनुष्य अपनी भलाई साध सकता है। काम (इच्छा) का यही तात्पर्य है कि—अच्छा लग करके मनुष्य का मन खिंच जाता है कि वहाँ सुख है और इतना खिंच जाता है कि उस समय निर्णय करने की बुद्धि भी नहीं रहती। जो कुछ भी वह (काम) कहता है उसी के ढंग से करता है, तो यही काम है। संस्कृत में कहा है 'कमु कान्तौ' अर्थात् इसका अर्थ है कोई भी वस्तु या पदार्थ प्रिय लग करके मन को खींचती है कि आओ! मेरे को लो, मेरा ऐसा करो। इसका नाम है काम। अब ये एक, दो, चार नहीं हैं। सारी इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों में काम है, जैसे गीता में कहते हैं "इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ......इत्यादि।" राग-द्वेष के वश में नहीं आना। राग जो है उसका बेटा काम है, इच्छा करके उस पदार्थ की ओर खिंचता है जैसे चुम्बक लोहे को खींचता है। जैसे भी कोई किसी इच्छा के पदार्थ को देखता है वह स्वयं उस ओर खिंचता हुआ चला जाता है, तो ये खींच का नाम काम है। अब यदि इसका रास्ता आपने रोका तो ये इतना रुक जाता है

जैसे चलते पानी को आप रोक दो, उसके आगे बाँध लगा दो, तो वह छोटे-मोटे बाँध (वट) को तोड़ देगा। इसी प्रकार से काम का रुका हुआ प्रवाह क्रोध पैदा करता है और क्रोध की अवस्था में मनुष्य का विवेक भी समाप्त हो जाता है, तो फिर मनुष्य उसी काम की इच्छा पूरी करने जाता है; यह है सांसारिक जीवन। आपने इसके दोषों को समझ करके, अपने अन्दर विवेक जगा करके, वही युक्ति-युक्त विचार (मीमांसा) करके कि मेरे भले और हित के लिये तो ऐसा-ऐसा सब धर्म का रास्ता ही ठीक है। इस प्रकार बुद्धि जगा करके सीखते-सीखते सारे बन्धन विकारों को समाप्त करना, इसका नाम वीर्य (वीर-भाव) है।

(ix) ध्यानः- अब यदि यह वीर-भाव (वीर्य) किसी के अन्दर आ जाये तब फिर ध्यान करना कोई कठिन नहीं है। बस! ध्यान को यही विघ्नित करते हैं। जैसे जिस समय मन अकेला हुआ अविद्या के चक्कर में पड़ा रहता है, लो जी, कुछ समझ ही नहीं आ रही तो झट वह संस्कार, संसार के जागेंगे, उधर ही इच्छा और उधर ही भागदौड़ और वह ही विषय प्यारा लगेगा। यदि उधर की इच्छा आपने मर्दित कर दी (रगड़ दी) और उसको नहीं पूरा करने का क्रोध भी उड़ा दिया, संशय आदि भी नहीं आने दिया, तो समझो ये पाँचों विघ्न आपने उड़ा दिये।

ये पाँच ध्यान के विघ्न शास्त्रकार बोलते हैं। पहले दृष्टि, जिधर सुख मिलता है उधर दृष्टि जाती है अर्थात् वही दृष्टि (नज़र) में बैठता है। हाँ भई! चाय पियेंगे, मनमें इस प्रकार काम की चमक-सी आ गई, प्रकाश आ गया उसने एक दम इच्छा पैदा कर दी, इच्छा ने आकर जोश मारा, उधर चल पड़े, परन्तु जब देखा अभी वह पूरा होने को नहीं, तो क्रोध रूप में बदल गई, अब यदि क्रोध को शान्त करने लगे और यूँ विचार किया कि भई! ये तो समय ठीक नहीं है और बेसमय (बेमौके) करना तो ठीक नहीं है, बीमारी है या और कुछ है, तो आलस्य सुस्ती, नींद

में चले गये। अब यदि इन पाँचों (दृष्टि, संशय, इच्छा, क्रोध और आलस्य या निद्रा) विकारों को आपने जीतना शुरू कर दिया, जो कि वीर्यवान् (वीर पुरुष) जीतता है, तो समझो! आपका अकेले में मन टिकना शुरू हो जायेगा। अन्दर के सत्यों को पहचानने का मार्ग खुल जायेगा और मन अन्दर जुड़ना शुरू हो जायेगा। अन्दर जुड़ने का नाम योग है। इस तरह से आप निरन्तर विचार करते-करते बाहर को भूले रहें। जितना आप बाहर को भूले रहेंगे और अन्दर मन में जागते हुये, चिन्तन करते हुये, अन्दर के सत्यों को समझते रहेंगे तो यही सारा योग है और यही ध्यान है। जितना आत्मा के साथ जुड़े रहेंगे उतना ही मन अन्दर समझने लगेगा अर्थात् अन्दर के सत्यों को पहचानने लगेगा। ये सब काम, क्रोध आदि विकार और राग-द्वेष आदि बन्धन, जो कि मन में बहते रहते हैं वे सब प्रकट दिखने लग जायेंगे और उनकी खोटी लीला भी पहचानने में आयेगी फिर इनको नष्ट करने के लिए प्रेरणा और उत्साह भी जागेगा और अन्त में इनको दृष्टि में रखते हुए तथा इनके बने रहने के दुःख को झेलते-झेलते इनकी समाप्ति को भी उत्तम साधक पुरुष देख लेगा। इन सबके विदा होते ही अन्दर की शान्ति प्रकट अनुभव में आयेगी और जितना आत्मा के साथ नहीं जुड़ेंगे तो मन बाहर समझेगा, समझे बिना तो रह नहीं सकता क्योंकि अविद्या में यहाँ मन को कोई ज्ञान नहीं होता वहां यह रहता नहीं है। उस अवस्था में ये आनन्द में नहीं होता, इसे अपने न होने या न बने रहने की शंका हो जाती है कि जैसे मेरा विनाश ही हो गया। मैं उजड़ ही गया! इसलिये ऐसी अविद्या की अवस्था में मन दुःखी-सा हो करके किसी भी संसार के संस्कार को जगा करके ज्ञान पाता है और उन संस्कारों द्वारा फिर वही काम आदि की सृष्टि में विचरने लगता है और उससे अपने बने रहने का अनुभव कर लेता है। इन्ही सब मिथ्या संस्कारों को

रोकने के लिये अपने अन्दर की समझ जगाते गये। बस! यही

अन्दर जुड़े-जुड़े का नाम योग हो जायेगा। जैसे बच्चा पहले बाहर संसार में जुड़ा तो देखो उसको कितना ज्ञान हुआ। सारे संसार का और पृथ्वी के दूसरे सिरे तक का यह ज्ञान हुआ। ये तो इन्द्रियों और मन द्वारा संसार की सारी चीजों का पता लगा कि क्या चीज कैसी है, कौन वैरी, कौन मित्र, कौन दुःख देने वाला, कौन सुख देने वाला, क्या करने से क्या मिलेगा? यह सब ज्ञान हुआ और कितनी विद्यायें उसने प्राप्त कीं, कोई डॉक्टर बन गया, कोई इन्जीनियर बन गया, कोई प्रोफैसर बन गया, कोई कुछ बन गया। यह सारा एक समाज़ बना कि नहीं, तो ये बच्चे ने सब बाहर आँखें खोलकर जगत् ही से तो सीखा, जन्म से तो कुछ लाया नहीं। अब यह यदि आपने देख लिया कि इसका फल तो माप का व थोड़ा-सा ही है, थोड़े दिन का ही है, जीते जी बूढ़े हो गये, शरीर में शक्ति नहीं रही, तो ये यहीं समाप्त हो जायेगा, फिर कैसे समय निकलेगा, उसके रास्ते तो निकलेगा नहीं, तो यही रास्ता मिलना है। अपनी आत्मा के साथ जुड़ो और ऐसे जुड़ो कि बिना किसी दूसरे पदार्थ के, बिना किसी दूसरे निमित्त के या साधन के, अपनी आत्मा में ही ज्ञान प्रकट रहे अर्थात् अविद्या टली रहे और ऐसा सुख मिले कि कहीं छूटे नहीं अर्थात् कहीं यह खंडित न हो जाये, नहीं तो यही होता है, मन जब खाली हुआ इसको ऐसा मालूम होता है कि कोई टोटा या घाटा है। बस! वह उस घाटे को पूरा करने के लिये सोच में पड़ जाता है, अब सोचोगे, तो वही तृष्णा के रास्ते की ही सोचोगे। आपने ये सारे सत्य अपने मनके अन्दर देखने हैं कि मन खाली हुआ इसका नाम अविद्या है। हमको अविद्या शब्द याद आये चाहे न आये परन्तु खाली हुये का सत्य तो अपने मन में परख लें, परन्तु परखोगे तब यदि मन के साथ जुड़ करके इसके अध्ययन करने की आदत डालोगे। अब इस आदत को यहाँ तक डालना है कि, इसके अन्दर की छोटी से छोटी तरंग को भी मैं नाम दूँ। यदि मैं नाम नहीं जानता

तो उसके कामों को तो पहचानूँ, क्या करवाने जा रहे हैं, किधर खींच रहे हैं। बस! खाली मन, झट फिर वही याद करता है जहाँ इसको सुख मिलता है। सुख इसको बाहर मिला है तो बाहर के पदार्थ की याद करेगा, यदि वह बीमारी के कारण से या समय निकल जाने के कारण से वश का नहीं रहा, तो आलस, सुस्ती में पड़कर नींद की तरफ जाता है। ये भी सत्य पता लगे, तो मैं इन दोनों अवस्थाओं को पहचानूँ कि किस अवस्था में टिकता है, यह दुःख मानेगा, अच्छा इस दुःख को देखने का मैंने व्रत ले लिया, अब यदि दुःख का व्रत ले करके किसी ने अन्दर ही अन्दर समय बिताना शुरू कर दिया तो अब वो चेतन रूप भगवान् चेत जायेगा, इतना चेत जायेगा, कि दुःख को बिल्कुल नहीं रहने देगा और फिर उस दुःख के बीच में सुख पैदा कर देगा, यह खुजली के दृष्टांत से कई बार मैंने बताया है। अब ये सुख यदि आपकी अन्तरात्मा में मिल गया, तो चाहे आप कितने भी बुड्ढे हो गये, उसको कौन आपसे छीनेगा और चाहे अनन्त करोड़ों वर्षों तक जीते रहो। इस आत्मा में आपने पहचान लिया कि जगत् में असली तृष्णा आपकी समाप्त हो गई, इससे मुक्ति मिल गई, इससे जगत् के बारे में भी आपको क्या दुःख होगा, कि "मर जायेंगे तो ये जगत् छूट जायेगा।" क्या छूटेगा? वह तो जीते जी आपने छोड़ कर देख लिया। यदि यह सत्य आपने अपनी आत्मा से जीवन–काल में परख लिया और फिर यदि संसार में जी करके भी देख लिया तो फिर आपको कोई घाटा भी नहीं और कोई टोटा भी नहीं। परन्तु जब तक यह नहीं मिलेगा, तब तक समझना कि घाटे–टोटे का ही जीवन है। अर्थात् अपनी संतुष्टि के लिये अपने में कुछ खोया हुआ सा प्रतीत हो रहा है या न रहता हुआ सा प्रतीत हो रहा है, जिसके बिना मन अपने–आप में आनन्द नहीं मान रहा और फिर जो कुछ भी होगा, वे बाहर की आदतें ही चलायेगा। बस! कोई पूरा हो गया तो वाह–वाह है नहीं पूरा

हुआ तो क्रोध भी आयेगा, क्रोध में आप गलत कार्य भी कर जाओगे, फिर पीछे पछताओगे। ध्यान लगेगा नहीं और अन्दर के सत्य छिपे ही रहेंगे। जब अन्दर के सत्य पता नहीं लगेंगे, तो फिर ये सादी ऊपर के स्तर की संतुष्टि में ही टिके रहेंगे, इसी को पाना चाहोगे कि ठीक है जी! परमात्मा है उसी का स्मरण कर लो या किसी सत्संग में बैठ जाओ अथवा किसी कीर्तन में ही समय बिताओ इत्यादि-इत्यादि ।

(x) प्रज्ञा:- मनुष्य को उत्तम फल की प्राप्ति तो इस प्रकार से होगी कि वह अपने जीवन को साधे, दसों बल अपनाये, अपने विकारों को दूर करके ध्यान की आदत डाले। बाहर अच्छा जीवन, अन्दर ये ध्यान और ध्यान द्वारा सत्यों को परख करके प्रतिदिन सीखता जाये। सीखते-सीखते ये भाव उसके मन में प्रकट हो जायेंगे कि जो मैंने सीखना था सीख लिया, अन्तरात्मा मिल गई, जो बिना बाहर के निमित्त का और बिना किसी साधन का, सदा रहने वाला आनन्द मिल गया, और वहाँ कोई दुःख भी नहीं है। तो ऐसे आत्मज्ञानी के मन में इस प्रकार का भाव बनता है कि अब मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं, कोई भय नहीं। उस मनुष्य को भय था जो कि केवल बाहर के या संसार के साधनों द्वारा ही सुखी होना चाहता था। इसलिए थोड़ा संसार के बन्धनों या क्लेशों से विपरीत उत्तम गुणों की सृष्टि अपने मन में उपजाकर जीवन बिताने का अभ्यास करे। अपनी आत्मा के फल की इच्छा रखने वाला तो इस तरह करे, प्रतिप्रसव करे, जैसे योग दर्शन में कहा है, "प्रतिप्रसव हे या सूक्ष्मा" वह जो सूक्ष्म क्लेश हैं उनको मन में पहचानना, उनसे विपरीत गुणों तथा बलों की सृष्टि उत्पन्न करना। जब किसी न किसी का खोटा करना ही नहीं तो उसको भय किसका? भाव यदि अन्दर खोटा करने का है तो भय कभी भी नहीं निकल सकता, तो यह व्यापक ब्रह्म तब भय रूप से प्रतीत होता है, यदि अपने स्वार्थ के कारण से कोई उल्टा करने जा रहा

है और उल्टा करने की सोच रखी है। जब उल्टा करते ही नहीं और न उल्टा करने की सोचते हैं, तो ये व्यापक ब्रह्म उसके लिये निर्भय है और उसको अभय का दान देगा। अपनी आत्मा में उसको शान्ति मिल गयी तो बस! यह जीना भी ठीक है और मुक्ति के साथ। इतना तक मनुष्य को साधना करनी पड़ती है।

12. इन पाँचों की (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा) आवश्यकता मरते समय तक तो जायेगी नहीं। श्रद्धा पहले चाहिये धर्म की और सत्य विचार से काम करने की आदत। अभी बच्चा इस संसार में जुड़ा हुआ है, जब आप वहाँ से उखाड़ करके, अपनी अन्तरात्मा में जुड़ोगे और थोड़ा सोच करके काम करने की आदत डालोगे, तो अब से जुड़ना बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ता जायेगा कि अन्दर ही अन्दर मीमांसा (युक्ति-युक्त विचार) को उपजायेगा। आचरण करने के लिये उचित क्या है? इस सबकी खोज करेगा, थोड़ी नींद को जीतेगा, थोड़ा मिथ्या आदत के सुखों को त्यागेगा, सत्य को समझता जायेगा, सीखता जायेगा कि संसार के प्राणियों में किस प्रकार रहना या बसना मेरी शान्ति के अनुकूल है। जिन गुणों तथा आध्यात्मिक बलों की आवश्यकता है उन सबको अपने ध्यान में समझ कर उपजाता जायेगा और सीखते-सीखते यहाँ तक सीखेगा और उसके अनुसार चलेगा कि अन्त में अपनी अन्तरात्मा में परमानन्द की प्राप्ति हो जाये और इसी आत्मा को बढ़ावा दे करके सर्वव्यापक अपनी आत्मा ब्रह्म रूप से पहचान ले, यहाँ तक वह सीखेगा। अब ये सारा करने की आवश्यकता है, यही सारे धर्म का सार है कि पहले थोड़ा योग द्वारा श्रद्धा, स्मृति, वीर्य, ध्यान, समाधि और प्रज्ञा फिर बाहर जीवन को निर्भय बनाने के लिये मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, क्षमा, दान, शील, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा (माने सत्य का ज्ञान) हैं। ये दस बल अपनाने हैं। और इन्हीं दस बलों की प्रथम भक्ति करनी है और इन दस बलों के साथ जो जीवन बाहर संसार में

भी होगा वह साधारण जन के जीवन से भी अति उत्तम दिखेगा। जितना मुक्ति के सुख का आकर्षण है उसी के समान ही इस जीवन का भी आकर्षण है क्योंकि चिन्ता, भय आदि सब विकारों से रहित इसी जीवन में जन साधारण का आदर भी वह पायेगा। ऐसे जीवन का भी आकर्षण है। इस जीवन को पाकर कई साधक तो मुक्ति की भी इच्छा नहीं रखते।

13. इस प्रकार से रहते-रहते यदि मनुष्य अपने बन्धनों को पहचानने लग जाये, जो कि दृष्टि, संशय, शीलव्रत परामर्श (नाना प्रकार के कर्त्तव्य सम्बन्धी विचार), राग, द्वेष, रूप राग, अरूप राग (नाम रूप की प्रीति),मान, मोह औरं अविद्या हैं। यदि ये दस बन्धन अपने अन्दर पहचानने में आने लग गये और इनका अन्दर ही अन्दर त्याग करने लग गये, जहाँ तक ये सूक्ष्म अवस्था में छुपे हुये हैं। वहाँ तक भी इनको ध्यान द्वारा पहचान कर इनका त्याग कर दें तो बाहर के जीवन में भी कहीं भी क्लेश नहीं है। अब यह सारा करने का है। जितने दिन पीछे बोला गया उसका सार आज मैंने बता दिया, अब मनुष्य स्वयं अपने-आप जानेगा कि किस स्थान पर मैं हूँ और कितना कुछ मैंने करना है। ये मुख्य तीन ही धर्म के अंग हैं—बाहर अच्छा बर्ताव, मन ध्यान के योग्य और ध्यान द्वारा सत्यों को समझना अर्थात् यथार्थ सत्यों का ज्ञान प्रकट होने तक इसको बढ़ाना और इसी जीवन को साधते-साधते यहाँ तक साध लेना है कि अन्त में अपनी आत्मा में आनन्द पूर्वक टिकाव मिल जाये, फिर मनुष्य को यह हो जायेगा कि बस करना था सो कर लिया, जो जानना था सो जान लिया और जो पाना था सो पा लिया। अब मुझे किसी की दासता नहीं और किसी का भय नहीं और करना कुछ शेष भी नहीं रहा। यही सारे कहने का सार (निचोड़) है।



प्रवचन-14

दिनांक: 5.12.1993

1. भगवान् ने मनुष्य को ऐसी बुद्धि दी है जिससे समझ करके यदि वह अपने जीवन को चलाये तो जीवन में बहुत से पापों और दुःखों से बचा रहेगा। समझ के साथ चलने से यहाँ भी उसका जीवन सुखी रहता है और परलोक में भी उसका अहित (बुरा)नहीं होता। हमारे शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा है कि इस दुनिया में जितना भी जीवन है, केवल यही नहीं है, उससे आगे भी है। अब यह भी उसे जानना है। यहाँ ऐसा कुछ न करे जो आगे के लिए खोटा हो। देखो! यहाँ का किया हुआ भी खोटा हो जाता है। खाना ठीक नहीं खाया, विचार से नहीं खाया, लोभ लालच से खाया और स्वाद के कारण से ज्यादा (बरता) खाया गया। यदि इन चीज़ों से मनुष्य (आदमी) अपने जीवन को चलायेगा तो वह यहाँ भी सुखी नहीं रहेगा। इसलिए भगवान् ने जो विशेष बुद्धि-रूपी हीरा मनुष्य को दिया है, वह और किसी पशु व पक्षी में नहीं है। सोच-समझ कर, विचार के साथ काम करने की शक्ति केवल मनुष्य में ही है। इसी का नाम बुद्धि है। हाँ भई! यह खाना मेरे लिए अनुकूल नहीं है, इसलिए इसे मैं न खाऊँ। यह स्वाद तो बहुत लगता है, परन्तु थोड़ी देर के लिए ही यह स्वाद अच्छा है, पीछे दुःख देता है। पता तो लग गया, इतना तो ज्ञान है, परन्तु जैसा ज्ञान है उसके अनुसार करने की शक्ति भी होनी चाहिए।

2. शास्त्र कहता है कि दो तरह से योग्यता आनी चाहिए। एक असलियत को मापना और दूसरा सत्य को पहचानना, भले-बुरे का ज्ञान होना और अपने भले के लिए चलने की हिम्मत भी होनी चाहिए। जान तो लिया कि यह मिठाई मेरे काम की नहीं

है, मीठा खाने से मेरे को नुकसान होगा, यह मेरे अनुकूल नहीं है, परन्तु तृष्णा वाला मन तो कहता है कि मैं इसके बिना खुश नहीं रह सकता। कभी किसी ने मौके पर खाने की चीज़ लाकर सामने रख भी दी, यदि वह उस चीज़ को बर्तना शुरू कर देगा तो बताओ, उसके लिए भगवान् जिम्मेवार है या कोई दूसरा? न कोई देने वाला जिम्मेवार है और न ही कोई दूसरा, परन्तु हम तो समझ सकते थे कि हाँ भई! मेरे अनुकूल नहीं है; यदि इस बुद्धि द्वारा काम कर लो तो तुम्हारा बेड़ा पार है। यदि तुम बुद्धि द्वारा काम नहीं करोगे, बुद्धि को नहीं जगाओगे, जगाकर जैसा बुद्धि कहती है उसके अनुसार कर्म करने की शक्ति नहीं रखोगे तो फिर तुम्हारा भला तो है नहीं। इसके लिए अपने-आप का अध्ययन करो। अपने-आप के अध्ययन का मतलब है जैसे मान लो, आज का दिन बीत गया, सांयकाल में थोड़ा ध्यान में बैठे, चाहे सोते समय ही अपने मन को लगाकर विचार करे कि आज का दिन कैसा बीता? विचार करने पर पता चलेगा कि फलाने से टक्कर हो गई, क्रोध में किसी से ऊँचा बोला गया, कहीं विपरीत होने पर मिथ्या भी खाया गया, कई गलतियां हुईं। अब इन गलतियों को मन में देख करके थोड़ा सुधारने की आदत डाले। जब इस तरह से थोड़ा जानेगा, थोड़ा समझेगा और समझ करके फिर थोड़ा ठीक करने का इरादा भी करेगा तो धीरे-धीरे जन्म सुधरने लग जायेगा। और एक दूसरा क्या है, जैसे ही सवेरे उठा, उठते ही तृष्णा ने जोर मारा तो खाने-पीने की चीज़ों की तरफ़ भागा। खाने-पीने के बाद कईयों से बर्ताव हुआ और उनके द्वारा भी कई किस्म के भाव मिले, उन भावों के बीच में बहता गया और बहते-बहते यहाँ तक बह गया कि उन्हीं की सोच करता हुआ घर में आया, शाम पड़ गई, खाया-पीया और सो गया। इसका मतलब है कि जिस तरह से उसकी जीवन नौका चल रही है,

इसका उसने विचार ही नहीं किया।

3. अब शास्त्र कहता है कि भई थोड़ा धर्म को भी रखो, '*धर्मो रक्षति रक्षितः*' आप धर्म को रखो, आपको ये धर्म रखेगा। धर्म का मतलब है धारण करना। अपने को धारणा, क्योंकि प्रकृति के अनुसार जैसे बच्चे को थोड़ा दुःख हुआ तो वह रो पड़ा, तंगी होती है तो रो पड़ेगा और फिर भागेगा भी। हर एक जीव दुःख से भागता है और जो अच्छा लगता है उसकी तरफ़ चलता है। यह दुःख सबके अन्दर है। अब एक मनुष्य ऐसा है जो दुःख को देखता है कि थोड़ा दुःख है, कोई ज्यादा नहीं है —जैसे कोई गलत खाना है, अब इसको सुख तो कहेगा कि खाना बड़ा स्वाद लगता है, इसको खा लो। परन्तु समय ने यह बताया कि भई! ये खाना तो खा लो जिसका सुख तो मिनटों का है, परन्तु खाने के बाद देख लो समय बिताना कठिन (मुश्किल) हो जायेगा या रो-रो कर समय बिताना पड़ेगा। ऐसी हालत में इस खाने को त्याग दो, यह थोड़ा तप ही तो है। तप का तात्पर्य (मतलब) तपना या शोक है, इस शोक को सहन कर लो किन्तु खोटे रास्ते न जाओ। इस तरीके से जो बुद्धि सम्भालकर रखेगा, उसको भगवान् वरदान देगा क्योंकि बुद्धि हमारे लिए वरदान है। कुछ सोचकर, समझकर निर्णय करने का नाम बुद्धि है। थोड़ा सोचा, थोड़ा समझा, समझकर थोड़ा निर्णय कर लिया कि मुझे किस तरह चलना चाहिए, क्या मेरे हित के लिए है, क्या मेरे अहित के लिए है? एकान्त में बैठकर यदि ऐसी अपनी समझने की आदत बनायेंगे तो इस रीति से जो आपका जीवन चलेगा, वह उत्तम रीति का होगा। यदि नासमझी से चलता है, तो भई! जैसे भड़काव बाहर से आए और उन भड़कावों में भड़कावों के ढंग से चले तो यह जीवन ऐसा है जैसे साधारण पशु-पक्षी आदि सकल (आम) जीवों का होता है। चाहे इसको चौरासी-लाख योनी का जानो, चाहे किसी का

भी जानो। बस! मनुष्य वहीं जा करके मनुष्य रहेगा जहाँ थोड़ा सोच-समझ करके उन शक्तियों को पहचान लेगा और सत्य को पहचान करके उसके अनुसार अपने जीवन को ढाल लेगा। हाँ जी! आज सवेरे उठा, किसी ऐसे व्यक्ति से बातचीत हुई जिसकी बात सुनते ही क्रोध आ गया, क्रोध में ऐसे-ऐसे शब्द मुँह से निकल गए, अब जो मन है इस तरह से उदास है कि उन शब्दों को भी सोच रहा है, पछता भी रहा है और नाना प्रकार की चिन्ता भी कर रहा है कि कोई वैरी बन जायेगा या और कुछ हो जायेगा। अब इस तरह से देखो, काम कहीं है और मन कहीं है।

4. शास्त्र वाले यह कहते हैं कि भई! '*एक काम एक ध्यान*', जो काम है उसी में मन जोड़ कर काम करे और मन जोड़कर करता हुआ समझ के साथ रहे, बुद्धि हाज़िर रहे। यदि बुद्धि खो गई तो कैसे भाव हैं? जैसे घर में कोई वृद्ध आदमी है, उसने देखा बच्चा गलत रास्ते पर चल रहा है, उसको समझाने लगा कि अरे बेटा! तू देखता नहीं, इस सुख के रास्ते पर चलने से तेरा बुरा हो जायेगा। बाप का ऐसा वचन सुनकर उसके मन में भी क्रोध आया कि ये मेरे को आदत के सुख से उल्टी चीज़ बता रहा है। उसने बाप को जोश में उल्टा बोल दिया। यह जो तत्काल जोशों के अधीन होकर बोलने की आदत है, वह मनुष्य बुद्धि की नहीं है। हाँ! जैसे उसको बाप के कुछ कहने पर जोश आया था, यदि उसके मन में विचार आता कि जरा सोचो तो सही, इन्होंने जो कहा है तेरे भले के लिए ही तो कहा है। जिसने अपने को बुद्धि से सम्भाल लिया वह तो मनुष्य के स्तर पर बना रहा। यदि उसने अपने-आप को मनुष्य के स्तर पर रख करके इतना रख लिया कि अन्दर मैल तक नहीं रहने दी, तो वह आगे मुक्ति के रास्ते पर भी चलेगा, देवता भी बनेगा। इसलिए सबसे

पहले तो यह है कि जीवन को सम्भाल-सम्भाल कर बनाने का

व्रत ले ले। पुराने लोग बच्चों को यज्ञोपवीत पहनाते थे। यज्ञोपवीत माने यज्ञ से बाँध दिया, जैसे रस्सी से लपेट दिया गया अर्थात् कर्त्तव्यों, नियमों से तुमको लपेट दिया गया है और अब जो कर्म करो, समझ-समझ कर करो। अब बचपन के अनुसार नहीं चलना, थोड़ा अपने-आप को सम्भाल कर चलना। जिस तरह दूसरों के बीच में घूम रहा है उसको कहते हैं – संगतिकरण, दूसरों के बीच में ठीक रहना। फिर अपनी 'मैं' छोड़ो उसका नाम है दान। थोड़ा दूसरों के गुणों की पूजा करो। अच्छा गुण किसी का भी हो उसे ले लेना, तो ये हैं देव संगतिकरण, पूजा और दान। यज्ञोपवीत के तीन अर्थ होते थे, इसलिए तीन ही धागे होते थे। इन तीन धागों से बाँधने का मतलब क्या है? कि अब बचपन के अनुसार नहीं चलना, अपने-आप को सम्भाल कर चलना, जैसे किसी को कड़वा बोल दिया, अब वह कड़वा बोला हुआ सारा दिन मन में आग लगा रहा है। यदि उसी समय मैं समझ कर बोल जाता तो क्या हर्ज था? यदि यही बात आराम से कह देता तो बात कुछ भी नहीं थी। यह सीखने की बात है न, परन्तु उस समय (वक्त) तो वह बोल निकल ही गया। सोचने की शक्ति है तो मनुष्य है, सोचने की शक्ति नहीं है तो मनुष्य नहीं है। जो अपने को सम्भालने वाला है वह क्रोध से भी अपने को बचायेगा, मिथ्या काम से भी बचायेगा, मिथ्या बोलने से भी हटायेगा और नाना प्रकार के जितने बुरा करने वाले पाप हैं उन सब से बचायेगा। खाने-पीने में भी यदि मनुष्य की बुद्धि ठिकाने है और समझ भी रहा है कि मुझे कितना खाना चाहिए तो आपकी तृष्णा काम नहीं करेगी; नहीं तो लोभ-लालच से तृष्णा के कारण ज्यादा खा गए, इतना अन्दर का हाज़मा है नहीं तो फिर पीछे दुःखी ही होना है। ऐसी अवस्था में खाना खाते समय खाने में भी ध्यान है कि कितना खाना चाहिए। यदि दो ग्रास कम खा लेगा तो उससे बुद्धि भी

बनी रहेगी, स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा और नींद भी अच्छी आयेगी। हाँ! जवान आदमी का तो ठीक था, उसकी भूख बढ़ी हुई थी, जितना-जितना रोज खाता गया, आगे-आगे शरीर बढ़ता गया, हज़म भी होता गया। अब सारी उम्र बढ़ना थोड़े ही है। अन्त में ऐसा समय भी आ जाता है कि भूख तो तृष्णा के कारण जवानी की है और खा रहा है बुढ़ापे में, ऐसी हालत में जब खाना हज़म नहीं होगा तो मन के अन्दर रोग, दुःख और मिथ्या भड़काव इनके सिवाय और कुछ नहीं मिलेगा। अन्दर रोग हो गया, उससे मन चिड़चिड़ा हो जाता है; उस चिढ़े हुए मन के साथ दूसरों के पास जायेगा तो क्या सुखी होगा?

5. मनुष्यपना क्या है? कि थोड़ी सोचने की शक्ति और सोचकर काम करने की आदत बना ले, यही मनुष्यपना है। संध्या समय या रात को सोने से पहले आसन पर बैठकर विचार के साथ ध्यान करे और प्रभु को सामने रख ले। प्रभु वही है जो सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञानवान् और सर्व-आनन्द का स्वरूप है। उसको चाहे नहीं भी देखा, उसको अपने दिमाग में जंचा कर रख ले और जो प्रार्थना अपने सम्भलने की करनी है, उसके सामने करे। प्रभु जी! आज बूढ़े के सामने कड़वा वचन निकल गया, न जाने कैसे क्रोध में वचन बोला गया। आज ज्यादा खा गया और मिथ्या भाव मन में आ गया। दूसरे के सुख को देखकर चिढ़ गया, उसका बुरा ताक गया, कितनी सारी बातें हैं। मनुष्य ही अपने किये हुए पर नज़र डाल सकता है, पशु ऐसा नहीं कर सकता। यदि आप मन में विचार करके इनको ठीक करते रहे, चाहे करते-करते शरीर पूरा भी हो गया तो मनुष्य जन्म से नीचे नहीं गिरेगा। और यदि यह है कि ना जी! जैसा हो गया सो हो गया, कल जैसा होगा कल देख लेंगे, परसों जैसा आयेगा परसों देख लेंगे तो यह मनुष्य तो भावों में ही बहता गया, भाव तो सारे पशुओं में भी हैं। कई

बार आप ने देखा होगा कि एक साँड घास चर रहा होता है, दूसरा साँड आ गया तो वह उसको आने नहीं देगा, उससे लड़ाई करेगा कि तू यहाँ कैसे आ गया? मैं यहाँ खा रहा हूँ, तू कैसे खायेगा? यह अहंकार है। ऐसे ही एक सिंह (शेर) है, जंगल में रह रहा है, दूसरा वहाँ आ गया तो उससे लड़ने लगेगा। अब ये जितने भाव हैं, ये आदमियों में भी तो हैं। किसी के सुख को देखकर सहन नहीं करना, किसी के दुःख को देखकर खुश होना, और भी किसी का बुरा करना और थोड़ी-सी बात में उल्टा भी बोल गए। अब इन भावों के साथ यदि जीता रहा और सोच-विचार नहीं करता तो समझो! यह चौरासी लाख का चक्कर है।

6. शास्त्रकारों ने मनुष्य के लिए कहा है कि यदि बुद्धि द्वारा विचार नहीं कर सकते तो एक नियम-व्रत तो रख लो। बुद्धि द्वारा कोई भी नित्य-कर्म करने की युक्ति रखे, जैसे गायत्री का मन्त्र रखा हुआ है तो गायत्री जप लेना। सादे में तो गायत्री का अर्थ यही है कि प्रभु सूर्य-नारायण देव सबको जगाते हैं, सूर्य-नारायण जब तक उदय नहीं होते तब तक सब मुर्दा पड़े रहते हैं। जैसे ही सूर्य-नारायण उदय हों तो उनसे प्रार्थना करना कि हे भगवान्! मेरी बुद्धि को थोड़ा सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देना। सन्मार्ग यही है कि थोड़ा बुद्धि रख लेना। जैसे मान लो सुबह उठा, तृष्णा तो कह रही है कि चाय पीनी है, कुछ खाना है, यह करना है, वह बिगड़ रहा है, यह तो तृष्णा का जाल है, इसको थोड़ा रोकना। पहले नित्य निमित्त कर्म करो। इसका फल बहुत बड़ा तो नहीं है, परन्तु न करने वाले को पाप बड़ा है। पहले बाहर-अन्दर जाओ, नहाना-धोना करो, नहा-धोकर जल्दी खाने का नहीं, कुछ भगवान् के निमित्त नाम-स्मरण कर लो, उसकी याद कर लो, थोड़ा मन को देख लो, सन्ध्या-वन्दन करो, कोई

भी नियम करो। नित्य-निमित्त कर्मों के द्वारा आप अपनी बुद्धि

की राखी कर रहे हैं, ये बुद्धि बिना नहीं होते। सूर्य-नारायण उदय होते ही पशु-पक्षी आदि सबको इसी तृष्णा के रास्ते पर चलाते हैं। अब गायत्री मन्त्र में यही प्रार्थना है कि हे प्रभु! हम तुम्हारे उस तेज़ का ध्यान करते हैं, जो तेज़ हमारी बुद्धि को सन्मार्ग पर लगाये। क्या चीज़ कैसी है, क्या करने से क्या होगा; यह बुद्धि यदि बनी रही तो मनुष्य है। अच्छा, अभी यह सोचने की शक्ति नहीं है कि क्या चीज़ क्या है? यह ज्ञान नहीं है तो कम-से-कम नित्य-निमित्त कर्म ही रख ले। बाहर-अन्दर जाना, नहाना-धोना और चाहे कैसे भी हो, भगवान् के निमित्त अपना थोड़ा समय ही दे देना, फिर सूर्य को अर्घ्य (जल) देकर अपने काम धन्धे में लगना। काम-धन्धे से निवृत्त होने पर फिर सायंकाल या रात के समय वही नियम (उसूल)करें जैसे जागने पर किया। सोने से पहले थोड़ा बैठ कर विचार किया कि दिन में क्या खोटा किया, कहीं खोटा तो नहीं बोला गया, कहीं ज्यादा तो नहीं खाया गया या और कुछ गलत तो नहीं हुआ। कुछ भी है अपनी गलती पहचान करके सुधारने का मन रखे, यह सारा बुद्धि ही कर सकती है, दूसरी चीज़ नहीं कर सकती। जिस समय आप संसार में अपनी जिम्मेवारियों से दूर हो गए, आपके बच्चे बड़े हो गए, अब वही ज्ञान यदि आपने अपने अन्दर और गहराई में ले लिया तो आपको अपने अन्दर उन सारे विकारों की विद्या नज़र आयेगी जो विकार सारी दुनिया को चला रहे हैं, वे सूझने लगेंगे। हाँ भई! काम आता है वह अपने ढंग से चलाता है; क्रोध आता है तो क्या-क्या सोचवाता है; लोभ आता है तो किधर खींचता है; मान-अहँकार आते हैं तो क्या करवाते हैं और ये जो करवाते हैं वह सारा भगवान् का नाटक है, यही देखने में आता है। सारे विश्व का ज्ञान यह ब्रह्म-ज्ञान है। परन्तु है यह उसी को, जिसको पहले सत्य-कर्मों से ज्ञान जाग जाये। मन जाग करके मन का अध्ययन (पढ़ाई)

शुरू हो जाये, मन का अध्ययन (पढ़ाई) करने से मन की चीज़ें पहचानने में आ जायें, यह मन की विद्या हो गई। जब इस अन्दर की विद्या का पता लग गया कि ओहो! ये ऐसे-ऐसे हैं तो खुली आँखों से भगवान् का नाटक देख लो। वह (फलाँ) मनुष्य यह काम कर रहा था तो उसकी ये दशा हुई, और दूसरे का ऐसा स्वभाव था उसके बदले में वह क्या-क्या पा रहा है? और एक नादान आदमी की गलत खाने से क्या-क्या दशा हो रही है? उस वक्त दूसरा कुछ बनता भी नहीं है और उसके अन्दर वह ज्ञान भी नहीं बैठता, उसके अन्दर वह शक्ति भी नहीं आती कि अपने-आप को सम्भाल सके। लो! ये खुली आँखें भगवान् का नाटक है, अकेले में देख करके प्रभु से प्रार्थना करो कि हमको इनसे मुक्ति मिल जाये। अब आप अन्दर की इस विद्या को तो जान ही रहे हैं कि कैसे ये काम, क्रोध, राग, द्वेष, मान, मोह, अहंकार आदि धक्के देकर चला जाते हैं; पहचानने में आने लगेंगे। अब तीसरा दर्जा यही है कि पहचानने के बाद इनसे लड़ाई करना। हाँ भई! आज मेरे पड़ोसी ने, मेरे मित्र ने कड़वा वचन बोल दिया था और उसके वचन की आग मेरे मन के अन्दर अभी तक लग रही है और ऐसा क्रोध आ रहा है कि उससे बदला लेना चाहिए। इस तरह के भड़काव के बीच में मेरे को बेचैनी हो रही है, मेरे को नींद भी ठीक से नहीं आ रही। देखो! ऐसी-ऐसी बातें पहचानने में आ रही हैं। अब इस मन रूपी राक्षस से लड़ना कि ठीक है मनीराम! यह मेरा काम नहीं है, यह मेरे परमात्मा की लाइन का नहीं है, तू मेरा दुश्मन है, तू चाहे धुँआ उगल, चाहे आग उगल, चाहे तू जो कुछ भी कर ले, परन्तु तेरा कहना मैंने नहीं मानना। अजी! उसने दो-चार आदमियों के बीच में मेरी बेइज़्ज़ती कर दी, लानत दे दी, क्या-क्या कर दिया। कुछ भी कर दिया, तू जो

कुछ भी करवाने जा रहा है, वह मेरा बेड़ा गर्क कर देगा और

लोक-परलोक दोनों बिगड़ जायेंगे और बात कुछ भी नहीं है। तू कहाँ तक दुनिया को अपने मन के अनुसार चला लेगा? इसलिए जो हो गया सो हो गया, शान्ति से समझा करके अपने बेटे को कह दे; अपने पड़ोसी को कह दे, मित्र को कह दे, परन्तु अहंकार में आ करके कुछ नहीं कहना। तो इस प्रकार से यदि अपने **मन** के साथ लड़ना आ गया अर्थात् पहले तो पहचानना, फिर लड़ना, फिर सम्भलना; ले अब चाहे मना तू कुछ भी कर ले, मैंने तेरे कहने से कुछ नहीं करना। जैसे यह क्रोध की लीला है, ऐसे ही यह तृष्णा की भी है। हां जी! वह चीज़ खानी है, उस के बिना मेरी तृप्ति नहीं है। उसको कहना न भई! तेरा समय अब वह खाने का नहीं रहा, तेरा खाया-पिया आगे चलकर नुकसान करता है। मन तो कहेगा ना जी! इतना थोड़ा खाने से क्या होता है? थोड़ा और खा लें। ना मना! मैं तुझे देख रहा हूँ, तेरी ये मिथ्या तृष्णा है, मिथ्या काम है; तेरे मिथ्या काम को मैंने पूरा नहीं करना। तू राक्षस है। फिर अपने भगवान् को प्रार्थना करने लग गए, प्रभु! तू राम रूप है, तूने रावण को मारा था। तू ही प्रभु कृष्ण रूप है, प्रभु तूने! कंस आदि का संहार किया था। मेरे अन्दर ज्ञान रूप से बैठकर इन सब दोषों या विकारों का सत्यानाश करो। कुछ भी प्रार्थना करते-करते यदि आप टल गए, तो समझो! आपका मुक्ति का रास्ता खुल गया।

7. मन तो हर समय चलायमान है, कोई क्षण ऐसा नहीं है जब यह टिके। इसको अंग्रेजी वाले एनर्जी (प्राण-शक्ति) कहते हैं। 'प्र' के साथ 'अण्' लगा है, प्राण बन जाता है। अण् के साथ अप लगा दो, अपान बन जाता है। यह सारा जो प्राण है, क्रिया-शक्ति है। यह भगवान् की क्रिया-शक्ति सारे संसार को रचने वाली है, परन्तु है यह ज्ञान के साथ। आपके अन्दर भी यह शक्ति बैठी हुई है। जब आपने इन सब विकारों को पहले

धीरे--धीरे समझ–समझ करके उनकी लाइन पहचान ली, फिर उनके कार्य समझ लिए और अनर्थ करने वाले पहचान लिए, फिर उनसे लड़ना सीख लिया; अब यह युद्ध है, चाहे महाभारत का कहो, चाहे रामायण का। अब यह युद्ध करना भी सीख लो कि हाँ भई! तू राक्षस है, तेरे कहे हुए को मैंने पूरा नहीं करना। हाँ जी! क्या करें? मेरे को मीठा खाने की तृष्णा है, थोड़ा मीठा खाने पर मैं आराम से सो भी जाऊँगा, क्योंकि मन बड़ा दुःखी हो रहा है। डॉक्टर ने तो मना कर रखा है, परन्तु थोड़ा खा लें तो क्या हर्ज है। उसको कहना मनीराम! चाहे तू कुछ भी कर ले, तेरे को मीठा तो मैं देता नहीं। मीठा खाने से तू मुझे ज्यादा परेशान करेगा, चाहे नहीं भी करे, मैंने नहीं खाना, देखता हूँ तेरी तृष्णा कितना तंग करती है? जो मनुष्य जागते–जागते आँख खोलकर इसको देखता हुआ बैठा रहे तो वह भगवान् शंकर का भक्त होगा। शंकर संस्कृत में कहते हैं 'शं करोति' ठंडा करने वाला, जो इन भड़के हुए विकारों को ठंडा करता है अथवा शान्त करता है। जो मनुष्य के अन्दर ठंडा करने वाला स्वभाव है वह भगवान् शंकर की मूर्ति है और जो शान्त करते–करते शान्त हो गया, 'शं भवति इति शम्भुः' वह शम्भु हो गया। तमोगुण का परमेश्वर है शम्भु। अब इन विकारों को ठंडा करते–करते बैठे रहे तो नींद में जाने लगेगा, आपने उस नींद को भी नहीं लेना। शिवरात्रि के समान उधर खाना छोड़ा, फिर नींद भी हटाई। जागते--जागते यदि यह आपका सारा दोष–जाल टल गया तो शंकर भगवान् भी आपका साथ देगा। अब प्रत्येक विकार को यदि आपने ऐसे टालना सीख लिया तो शास्त्र कहता है–उसको जिन्दा समाधि और मोक्ष का पता लग गया, वह दुनिया में बेपरवाह है और वह सबके जीवन को पहचानेगा। उसका इतना बड़ा सुन्दर नाटक है, उसको वह खुली आँखों से संसार में देखेगा। यह कैसे चल रहा है, इससे ये

कर्म क्यों हो रहे हैं, ये ऐसे कैसे सामने आ रहा है? इससे यह सारा जितना भी नाटक है, उसका वर्णन (निरूपण) कारण सहित उसकी समझ में आयेगा, परन्तु आयेगा तभी जब पहले वह अपनी आत्मा को देखे और बुद्धि को संभाल कर कर्म करे। पहले खोटे पापों से बचना, बाहर कुछ भी खोटा नहीं होने देना, न तो बोल-चाल में और न ही मन के भावों में। मन के भाव कैसे हैं जैसे किसी के सुख को देख कर जल गया, किसी के दुःख को देख कर हँस गया, किसी का गुण देख कर उसकी निन्दा कर गया, अवगुण देख कर उसे और बढ़ा-चढ़ा कर कह रहा है और क्षमा रखी नहीं। शील, सन्तोष अर्थात् अपना अच्छा बर्ताव नहीं रखा, अपना बर्ताव गलत कर गया तो यह मनुष्य संसार में चूक जाता है। ये जो चूकना है, ये प्रकृति का है या भगवान् की जो माया-शक्ति है, उसका है। इसके रास्ते से यदि बुद्धि रख कर बचता रहा और बचते-बचते यहाँ तक बचा कि ये जो अन्दर संसार में खोटे काम करवाने वाले हैं, उनके नाम भी याद आने लग गए, उनकी शक्लें भी पहचानने में आने लग गईं और उनके गुण-दोष भी दीखने लग गये। इच्छा, तृष्णा क्या करवा रही है, क्रोध आने पर कैसे-कैसे चक्कर में डाल देता है; लोभ, मोह, अहंकार आ करके कैसे-कैसे चक्कर में डाल देते हैं, एक-एक चीज़ जो है समझ में आने लग गई। समझ में आने पर उन विकारों को लड़ाई करके जीतना है, जीतने पर जो ठंडक होगी वह मुक्ति की ठंडक होगी। एक दिन मुक्त हुए, दूसरे दिन मुक्त हुए, तीसरे दिन मुक्त हुए; अन्त में श्रेष्ठ पुरुषों का ध्यान यह था कि साक्षी हो करके बैठ गए। देखते गए, एक आया वह निकल गया, दूसरा आया वह निकल गया, अंत में ऐसे ठंडे दिमाग में रहे कि दुनिया भी नहीं है और आनन्द में भी हूँ। तब उसको ये विद्या होती है कि लो जी! मर के फिर कहाँ जाना है, कुछ समझ में नहीं आ

रहा और मौज में पड़े हैं, मौत का डर ही नहीं है। मौत इसलिए है कि संसार के चक्करों में पड़े हुए हैं, कहाँ किस की मौत है? इस सच्चिदानन्द की कहीं मौत है, यह सर्व व्यापक एक-रस है, यह कभी नहीं मरता, यह ज्यों का त्यों है। यह विद्या हो गई तो मौत से भी डरने की ज़रूरत नहीं रही। मौत उसी का नाम है कि सब से बिछुड़ जाना। सब से बिछुड़ कर तो यह आनन्द मिला है। जब यह आनन्द सब से बिछुड़ कर मिला है, फिर तो यह भगवान् की तरफ़ से एक वरदान हुआ। फिर डर किससे? डर बस तब तक ही है जब तक वह संसार में प्रकृति के रास्ते से बह रहा था। जैसे किसी आदमी ने एक बार सिगरेट पिया, एक दिन पीने के बाद दूसरे दिन न पिये तो कोई बात नहीं। यदि उसने दो बार, चार बार, दस बार सिगरेट पी लिया तो अब वह अन्दर वाला मन क्या कहता है कि भई! अब मुझे सिगरेट दो, नहीं तो मैं अब तेरे को आराम से बोलने भी नहीं दूँगा, मैं तो उदास रहूँगा, अब मेरी आदत पूरी करते रहो। यही है जो काम बार-बार कर लिया, वह आदत बन गई। आदत बनने का तात्पर्य (मतलब), वह एक शक्ति बन जाती है। शक्ति बन कर उधर चलने के लिए धक्के मारेगी कि चल, उधर चल। उधर चलना आपके भले के लिए नहीं है। अब जितना उससे सुख लिया है, यदि उतनी तपस्या करके उसे समाप्त कर दो, तब तो उससे मुक्ति मिल गई, नहीं तो यह मरने तक पीछा नहीं छोड़ती। सोचकर सत्य निर्णय करने का नाम बुद्धि है, फिर बुद्धि के अनुसार चलने का नाम ही धर्म है। बस! ये दो सत्य अपने साथ रख लें कि प्रभु ने हीरा दिया है। महात्मा लोग किसी को रूद्राक्ष पहना देते हैं, किसी को तुलसी का मनका पहना देते हैं। इनको गले में यही हीरा पहनाते हैं कि देख ले भई! ये बुद्धि का बीज है। सोचकर चलना, सोचकर करने की आदत रखना, थोड़ा अपने को सम्भाल कर चलना, कहीं

ऐसा न हो कि समय की तृष्णा, समय के भड़काव मेरे को उठाकर ले जायें। जो मेरे भले के लिए होना है, वह हो न पाये और जो नहीं होना है वह होता जाये। इस तरह करते-करते आदमी पहले अपने खोटे कर्मों से बचा रहे। कम-से-कम इस बुद्धि को रखने के लिए नित्य-निमित्त कर्म ही रख ले कि हे प्रभु! जब तक मैं नहा धो नहीं लूँगा, तब तक मैं खाना मुँह में नहीं डालूँगा। यह भी बुद्धि से ही रखा जाता है। अच्छा, एक तरह से और भी बुद्धि सम्भालती है। घर में बूढ़े सयाने बैठे हैं, उन्होंने कैसे भी वचन कह दिये, उनके सामने कड़वा वचन नहीं बोलना और अपने अहंकार-मान को दबाकर रखना है। यह बिना बुद्धि के नहीं होता। देखते हैं चींटी को यदि दाब आ जाती है तो वह काट खाती है। साँप को जरा सा छू जाये तो वह फन उठाता है। हर एक मनुष्य के थोड़ा विपरीत होने से उस को एकदम क्रोध आता है। शास्त्रों में आता है कि यदि क्रोध को जीतना है तो पहले मान को त्यागो। वैसे तो जितने बन्धन हैं सबको त्यागो, परन्तु यदि क्रोध को मारना है तो पहले 'मैं' को मारो। पहले 'मैं' भड़कती है फिर उसके रास्ते से क्रोध आता है। अजी! मेरा अनादर कर दिया, मेरा सुख बिगाड़ दिया, मुझे दुःख दे दिया, यह 'मैं' भड़कती है। अब बड़ों के सामने जब यह 'मैं' भड़के तो इसको दबाना है। अजी! थोड़ी-सी गलती हो गई तो देखो मेरे बूढ़े का बोलने का ढंग, यह 'मैं' ही तो है जो भड़कती है। एक जगह यदि यह 'मैं' दब गई तो वह आपका परलोक सुधारने में सहायक होगी। अपनी 'मैं' को यदि मारना है तो यह बुद्धि बिना नहीं मरती। शास्त्र वाले कहते हैं कि बड़ा महात्मा वही है जो अपनी 'मैं' मार ले, योगी भी वही बड़ा है जो अपनी 'मैं' मार दे। दूसरों की सेवा करने से भी 'मैं' मर जाती है। इस तरह बुद्धि द्वारा अपने को काबू में

रखना, क्रोध में कड़वा वचन नहीं बोलना, खाने में भी युक्ति-युक्त

रहना, जागने में भी युक्ति–युक्त रहना और संसार में दूसरों के बर्तावों में भी युक्ति–युक्त रहना। अपने मन के भाव भी ठीक रखने और किसी के दुःख को देखकर हँसना नहीं, अपने में जागते रहे और अपने को सम्भालते रहे तो यह बुद्धि की पूरी ऊपर की यात्रा है। यदि बुद्धि सम्भली हुई है तो यह बुद्धि का ही खेल है, बुद्धि रह गई तो आदमी है। यदि अपने को सम्भाल कर रखा तो देवता है। उसको चाहे देह नहीं भी मिला, तो उसको शास्त्र वाले कहते हैं कि वह हजारों साल तक दुनिया को देखता है। देह के बिना भी उसको आराम है। उसको अगर जन्म मिलेगा तो सुन्दर जन्म मिलेगा, जो आगे बढ़कर विद्याओं को प्राप्त होता है। विद्या का अर्थ है कि जिससे ये अच्छे–बुरे काम होते हैं, उन भावों को पहचान गया। क्रोध, अहंकार आदि को समझ गया और इनके साथ उसने लड़ना भी सीख लिया तो सारे संसार से भी छूट गया। अकेले लड़ते रहो। ध्यान में बैठे इनको पहचान रहे हैं। मन कभी खाली नहीं रहता। अन्त में मन यदि खाली हो जायेगा तो उसमें पुराने संस्कार जागने लग जाते हैं और उसमें पिछले जन्मों के ख्याल भी आने लग जाते हैं। हाँ जी! बैठा है, कहीं देखता है, क्रोध हटाया, काम हटाया, लोभ हटाया, भय हटाया, नींद की इच्छा भी हटा दी और अभी सोना भी नहीं है। हटाते–हटाते अन्त में ऐसे नरमाई में पड़ गया कि सुख देने लग गया। सुख में भी नींद की तरह नहीं रहना, जागता रहा, बचपन के संस्कार फुरने लग गए। हाँ जी! बच्चा था तो कैसा था, कैसे कर रहा था? ये बच्चे की बात को सोचने लगा, सोचते–सोचते वह ज्योति आँख में पहुँच गई, प्रकाश आ गया, इसमें ज्यूँ का त्यूँ नज़ारा दिख रहा है। मैं फलानी जगह घूम रहा था, जो आदमी वहाँ था उस वक्त मेरे को उसने यूँ बोला था, त्यूँ बोला था। जैसे ये संस्कार बचपन के हैं, ऐसे ही अनन्त जन्मों के संस्कार भी आपके अन्दर इकट्ठे

हैं। कई ऋषि-महात्मा लोग ऐसे भी हैं जिन्होंने अपने कई जन्मों के हाल देख लिए। यह तो इतना बड़ा नाटक है कि संसार का नाटक इसके आगे क्या करेगा? यह सारा प्रभु के अन्दर दबा बैठा है। जिस वक्त आप छोटे दायरे से निकल कर बड़े दायरे में पहुँच गए; यही प्रभु है, आपकी व्यापक आत्मा। छोटा दायरा कौन है? यही जीव की 'तेरी-मेरी' 'तू-तू, मैं-मैं' का। हाँ जी! उसने मेरे को यूँ कह दिया तो इसी के लिए कुछ बना बैठा है। अजी! उसने मेरा यूँ कर दिया और उसी के भावों में बह गया, यह छोटा दायरा है। अब यदि यह टूट जाये और उसके बाद यदि इससे (छोटा-दायरा) ऊपर उठ जाये, उठ करके मन ज़रा खाली हो जाये, फिर मन को चलाने वाले जो भाव हैं वे समझ में आने लग जायें, फिर उनसे लड़ना आ जाये और उनसे मुक्ति पा ले; फिर जागता हुआ मन जो है, वह अनन्त प्रभु देखता है। उसको निश्चय हो जाता है कि मौत कुछ नहीं, यह तो आनन्द का सागर है। जैसे *उपनिषद् का मन्त्र है—"ॐ इत्येतत् सर्वम् यद् भूतम् भवति भविष्यति ॐ इत्येतत्," यह सारा* ॐ ही है अर्थात् ॐ रूप परमात्मा ही है। यह भूतम् जो हो गया, यह भवति जो हो रहा है, यह भविष्यति जो आगे होगा, यह सब ॐकार ही है अर्थात् ॐ ही है। परन्तु इतना ज़रूर है कि आपके मन के अन्दर इतनी योग्यता व क्षमता आनी चाहिए जिससे कि यह बड़ा खज़ाना आपके अन्दर से निकल आये।

ये सारे कहने का निचोड़ क्या है? यह जो बुद्धि-रूपी हीरा भगवान् ने मनुष्य को दिया है, सोच कर समझ लेना, क्या वस्तु कैसी है? हाँ भई! ये खाना मेरे भले का है, ये भले का नहीं है। ऐसा बोलना ठीक नहीं है, ऐसा ठीक है। ये सब विवेक करना बुद्धि का काम है। यह बुद्धि यदि किसी ने रख ली तो इतने से तो मनुष्य बना रहा, परन्तु बुद्धि रखकर इसके अनुसार

चल गया और अपने को सम्भाल गया, सम्भालते-सम्भालते यहाँ तक सम्भाला कि अन्दर की सारी चीज़ें प्रकट होने लगीं, सारे चित्र प्रकट होने लगे, दिखने लग गए तो उससे अन्दर की विद्या प्राप्त होने लग गई। यदि उस विद्या के प्राप्त होने पर उन खोटे विचारों से, उन खोटा करने वालों से लड़ना आ गया और लड़ कर उनसे मुक्ति पानी आ गई, तो फिर यह मन जो है इतना स्वच्छ हो गया कि ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, शिवजी का लोक और आगे मुक्तों का पद और इसी में यदि मन थोड़ा निद्रा को जीतकर अपने-आप को सम्भालकर जागता रह गया, तो जैसा मैंने बताया कि संस्कारों को जगाकर अनन्त जन्म भी देखने की योग्यता पा लेगा। अब ये सारे जितने लोक हैं, ये अपने अन्दर का नाटक है। ये जो प्रभु का नाटक देखने वाला है, उसको किसी का भी डर नहीं है। अब उसको अकेलापन नज़र ही नहीं आता। इसलिए इस सारे का सारांश यही है कि थोड़ा-बहुत धर्म की लाइन रखने के लिए सम्भल कर चलना सीखे और सोचकर काम करे। बस! हो गया।



प्रवचन-15

दिनांक: 17.12.93

1. असली आनन्द रूप वही है जो कि अपनी आत्मा का है। अब यदि यही बात बहुत आराम से, पवित्रता के साथ विचार करेंगे तो यह आत्मा उसी सब परमात्मा का ही स्वरूप है। आत्मा रूप से आत्मा-परमात्मा की एकता का ही तात्पर्य (मतलब) है—ब्रह्म दर्शन अर्थात् जो एक रूप में अपनी आत्मा है, उसी का व्यापक रूप में दर्शन करना या होना ही ब्रह्म दर्शन कहलाता है। अब सबके बीच में इस ब्रह्म को देखने के लिए यही है कि मनुष्य जब से इस संसार में उत्पन्न हुआ है तो उसने बाह्य संसार का ही जीवन पाया है जिससे इस बाह्य संसारी जीवन की भी एक ऐसी शक्ति हो गई है कि इसको अपनी आत्मा की तरफ़ जल्दी झाँकने नहीं देती। इसलिये वहाँ आत्मा का ज्ञान नहीं हो पाता और ज्ञान न होने से मन बाहर ही बाहर घूमता है। उसने बाहर ही सब प्रकार की रचना कर रखी है चाहे वह कोई भी प्राणी है। कई अपने प्यारे बना रखे हैं और कई उनके कारण से द्वेषी भी होते हैं और कई संसार की वस्तुएँ हैं, उन्हीं के साथ जुड़ा-जुड़ा सा बँधा-बँधा सा अपना समय बिताना जानता है और यदि उनसे थोड़ा-सा भी किनारा करे तो इसको नींद आनी शुरू हो जाती है और बस! अपने-आप में नींद के बीच में तमोगुण में खो जाता है। अब इन दोनों अवस्थाओं से टलकर यदि कोई अपनी आत्मा में विवेक जगाए और अपने-आप में इस संसार से थोड़ा मुक्त हो करके या यूँ कहो कि संसार को भूल करके फिर यदि वह अन्दर जागता रहे तो ऐसी अवस्था में जो टिका हुआ आत्मा है, वह अपना सुख प्रकट कर देता है। वह सुख अत्यन्त पवित्र है, अति उत्तम है और सदा बना रहने वाला है। उसको पाकर इस

जीव को यह आभास होता है कि मैंने जो पाना था उसे पा लिया, परन्तु इसको पाने के निमित्त शर्त ये है कि थोड़ा बाहर के बन्धनों से छुटकारा मिले। बाहर से तात्पर्य (मतलब) है बाहर संसार के बन्धन। जैसे बचपन से समझ रखा है कि अपने शरीर की ज़रूरतें पूरी करने के लिए बाहर कई प्रकार के कर्म करने होते हैं और नाना प्रकार से बुद्धि को भी उधर ही लगाना पड़ता है, सारी खोज भी उधर की ही है तो उसी प्रकार से जिस प्रकार उस का जीवन ढल चुका है, उस ढले हुए जीवन में कभी भी उसको यह महसूस नहीं होता कि मैं इसको भूल करके कुछ अपने अन्दर जो दूसरी वस्तु तत्व या सत्य है उसको देखूँ। यदि उसको इस अन्दर की वस्तु अर्थात् अन्तरात्मा का अन्दाज़ा तक नहीं हो तो ऐसी अवस्था में ऋषियों के वचनों पर श्रद्धा रख कर अपने भले के लिए कुछ समझने की चेष्टा करे। शास्त्र के ऋषियों व महात्माओं ने अपना अनुभव करके उन को बताया है कि भई! बाहर का जीवन तो अपने समय के अनुसार थोड़ा ही अच्छा है, उसके बाद यदि आप को कुछ अन्दर का जीवन मिल जाये तो वहाँ पर आपकी सदा बनी रहने वाली तृप्ति होगी। अब प्रश्न यही होता है कि जो अन्दर का आत्मा है, उसमें निर्मलता का ज्ञान और निर्मलता के साथ बाहर से भूलकर उस के अपने आनन्द का अनुभव कैसे हो? इसका उपाय यही है कि भई! थोड़ा बाहर को भूल जाओ या बाहर से मुक्त हो। अच्छा! बाहर को भूलें कैसे? हमारे बस की बात तो है नहीं कि हम भूल जाएँ, परन्तु यदि आप नियम (कायदा) के साथ चलें तो बस की बात है। इस प्रकार थोड़ा समझो कि संसार में कितनी ही वस्तुएँ है जो हमारे अन्दर घुस चुकी हैं और जो अपने ही ढंग से हमारी समझ के बिना भी हमें चला रहीं हैं। जैसे कि शास्त्र वाले कहते हैं कि जीव हत्या करना, झूठ बोलना, चोरी करना, दुराचार और नशे आदि का सेवन

करना-ये पाँच महापाप हैं। पहले इन महापापों से यदि मनुष्य थोड़ा टले तो बहुत सारे संसार से इसका छुटकारा हो जाता है। जैसे कोई एक मनुष्य कर्म करता है; चाहे आप हों, चाहे कोई दूसरा हो तो यह नहीं कि वह किया हुआ कर्म अपने तक ही समाप्त हो जाता है बल्कि वह कर्म बहुत सारे दूसरे व्यक्तियों पर भी प्रभाव डालता है और प्रभाव के अनुसार वे व्यक्ति आपको भी कुछ समझते हैं और आपको जो कुछ वे समझेंगे, आप भी जानते हैं कि उसने मुझे ऐसा समझ रखा है, जिससे फिर आपके अन्दर भी नाना प्रकार के भाव, नाना शंकायें और कई भ्रम (वहम) ऐसे रहते हैं जिनको आपकी आत्मा बाहर भूल नहीं सकती अर्थात् उनकी याद अन्तरात्मा में बनी रहती है। जैसे कहीं मेले में कोई मनुष्य जा रहा है, अच्छा ताकतवर भी है, मनुष्यों की भीड़ है, अचानक मेले में धक्का लगने से किसी का पाँव कुचला गया। अब चोट तो आ गई, चोट आने पर जिस को चोट आई है, जिस का पाँव थोड़ा रगड़ा गया है उसका एक दम भाव बन जाता है कि यह अन्धा हो करके कैसे चल रहा है, उसने तो मेरा पाँव ही कुचल डाला। अब इस दुःख की अवस्था में मनुष्य अपने-आप में तो रहता नहीं कि भई! मुझे जो कुछ बोलना है स्मृति (होश) में रहकर आराम से वह शब्द बोल दूँ या मैं न भी बोलूँ, क्षमा कर दूँ। इतना भाव तो बनता नहीं। पर यदि कोई रगड़ा खाने वाला ताकतवर हो, ज्यादा अपने-आप में हो तो इस पैर कुचलने वाले को थोड़ा ज्यादा बुरी तरह धक्का भी लगा दे और दो-चार उल्टे-सीधे शब्द भी सुना दे; जैसे तुम बेवफूक हो, तेरे को दिखता नहीं, अन्धे होकर चल रहे हो आदि-आदि। अच्छा! अब ऐसा उसको कह दिया। अब जिससे पैर कुचला गया है वह यदि थोड़ा क्षमावान् मनुष्य है तो शायद उसी समय कह दे कि देखो जी! बाबू जी! पहलवान साहब! मैंने तो देखा नहीं, जान के तो कुछ

किया नहीं, भीड़ में चलते हुए को धक्का लगा है जिससे आपका पाँव कुचला गया है। ऐसी अवस्था में जो दूसरा मनुष्य है, जिसको दुःख हुआ है उसी के अन्दर का जो क्रोध का तत्व जागा है, वह दो-चार और भी सुनायेगा। अब यहाँ पर नियम (कायदे) की बात तो यही है जैसे धर्म की रीति से कहते हैं कि भई! उस बेचारे ने जानबूझ कर तो कुछ किया नहीं, मेले का काम था, धक्के लग रहे थे; उससे किसी के पाँव पर पाँव पड़ गया है, तो ऐसी अवस्था में उसका कसूर नहीं है। पर आपकी बुद्धि ने तो यह समझ लिया कि उसका कसूर है, उसने मेरा पाँव कुचला है तो इसी के साथ आपको द्वेष होगा। अब द्वेष कहो या वैर कहो, यह मन के अन्दर एक ऐसी आग है जो आपको कभी भी अपनी आत्मा में अन्दर की तरफ आने नहीं देती, यह आपको बाहर ही बाहर चलायेगी। अब जैसा पहले कहा गया है कि यदि अपनी आत्मा या अपना मन बाहर से फुरसत पा जाता है, छुट्टी पा जाता है, बाहर को भूल जाता है और फिर अपने-आप में जागता है तो आपको यह आत्मा अपने-आप में अपना प्रकट ज्ञान देता है कि देखो, मैं आनन्द रूप हूँ, सुख रूप हूँ, और सुख रूप भी कैसे कि किसी दूसरी बाहर की वस्तु के बिना भी मुझे सुख मिल रहा है। यह बाहर की वस्तु के निमित्त (शर्त) बिना ही अन्दर का सुख है। इसका तात्पर्य (मतलब) यही है कि यह सुख पाकर तुमको संसार में कुछ भी पाने व करने की ज़रूरत नहीं। नहीं तो क्या है कि जो बच्चा है, मनुष्य है उसको मरने की इच्छा नहीं होती क्योंकि वह जानता है कि मैं जी रहा हूँ, बना हुआ हूँ, मर गया तो मैं नहीं रहूँगा। वह यही समझता है कि मेरा देह नहीं रहा तो शायद मैं ही न रहूँ। पर इस अवस्था में जब उसने संसार को भूल करके फिर इस आत्मा के सुख को देखा है तो यहाँ उसको यह भाव नहीं आता कि मैं नहीं रहूँगा। वह जानता

है कि सारे संसार में हर एक प्राणी की यह तृष्णा रहती है कि मैं सदा बना रहूँ, कभी ऐसा न हो कि मैं संसार से मर जाऊँ; परन्तु मैंने तो संसार को भूल करके यह सुख देखा है और यदि यह सुख मुझे संसार भूल करके अकेले में मिला है तो संसार में रहने की ज़रूरत नहीं। शास्त्र कहते हैं कि जो संसार से मुक्त हो गया वह आत्मा को पाता है और संसार से मुक्ति बड़ा फल है। पर मुक्त वह मनुष्य होगा जो संसार से अपने मन को एकदम हटा करके अपनी आत्मा के बीच जागता हुआ एक तृप्ति की वस्तु पा जाए। तृप्ति की वस्तु पाने के लिए मैंने यह उदाहरण दिया कि जैसे वैर है और वैर भी किस कारण से है; राग के कारण से, तो अब जो कुछ मन को अच्छा लगता है उसी की दासता होगी। ऐसे मनुष्य का मन बाहर से कभी भी बुझेगा नहीं। वह नींद में भी और जिस समय भी अकेला होगा उसी की सोचों में रहेगा। जैसा मैंने बताया कि उसने किसी तरह से माफी भी माँग ली और निश्चय भी करवा दिया कि मेरे बस की बात नहीं थी, जो कुछ हो गया सो हो गया, पर दूसरे के मन में उस दुःख के कारण से उसकी खोटी दृष्टि ही बनी रही। अब यदि वह खोटी दृष्टि रखता है तो उसका वैर कभी भी शान्त नहीं हो सकता। वैर तब शान्त होता है जब आप अवैर हो जाओ, वैर रहित हो जाओ। पर बिना वैर के वही शान्त हो सकता है जो थोड़ी तपस्या करना जानता है कि दुःख से मैं ज्यादा परेशानी न मानूँ। दुःख एक कड़वी दवाई है, यह दुःख मन के अन्दर तो है पर इसको मैं हज़म करना सीखूँ। अब संसार में जो ये छोटे-मोटे इतने दुःख हैं उनको यदि आप हज़म करने का रास्ता पकड़ लें तो धीरे-धीरे जो बड़े से बड़ा दुःख है, उसको भी आप अपने एकांत में हज़म कर जायेंगे और आपको संसार की याद भी नहीं आयेगी। अब

हज़म करने का तात्पर्य (मतलब) यही है कि अन्दर ही अन्दर

देखते-देखते इस दु:ख को टाल दो। दु:ख अवश्य ही टल जायेगा, ऐसा नहीं है कि नहीं टलेगा। हमारे अन्दर भगवान् की ऐसी कृपा है, उस कृपा से हमारे अन्दर एक ऐसा देव बस रहा है जिसको शास्त्रों में निरंजन (सब प्रकार के मल से रहित), शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा कहते हैं, ब्रह्म भी उसका ही नाम है व न जाने क्या-क्या उसके नाम हैं। परन्तु वह अपनी माया, अपने कानून कायदे रखता है। उसके नियमों के अनुसार उसने कोई भी वस्तु एक जैसे ढंग से टिकी नहीं रहने देनी। यदि आपके अन्दर दु:ख है तो आप धैर्य भी रखो, आप टिकाव भी रखो कि मैंने दु:ख को बहुत देर तक दु:ख भी नहीं रहने देना; परन्तु आप सुन्दर दर्शन ज़रूर बना लो जिससे कि आपको अपनी आत्मा में झाँकने में कोई आना-कानी, कोई तंगी-तकलीफ न हो या कहीं ऐसा न हो कि आपका मन ही न लगे। इस प्रकार का भाव अपने अन्दर बनाओ कि थोड़ा झाँकने वाले बनो, थोड़ा दु:ख भी है तो दु:ख में अधीर होकर झटपट यह नहीं कि बच्चे के समान दूसरे का सहारा लेने के लिए रोने लग गए। इतने में दूसरे को पिघलाने लग गए कि वह आपके दु:ख को टाले। यहाँ ऐसे वीर्य भाव (हिम्मत) की ज़रूरत है कि छोटे-छोटे दु:खों को हज़म करते-करते चाहे बड़ा दु:ख भी है वह भी आधा घण्टा रहेगा, पौन घण्टा रहेगा, एक घण्टा भी रहेगा, मन की एकाग्रता के साथ जरा देखने वाले बन जाओ तो जो आत्मा दु:ख को देखेगी उस आत्मा के अन्दर इतना बल आ जायेगा कि वह दु:ख को देखते-देखते, दु:ख को सुख बना देती है। एक दृष्टांत (मिसाल) है कि कोई मनुष्य ऐसे सुख में पला है कि गर्मी के दिन में धूप में चलेगा तो उसको थोड़ी भी धूप अत्यन्त दु:खदायी होगी। ऐसा व्यक्ति अपने अन्दर इसी मन को लिए धूप में चलता रहेगा कि कब वह समय आये

कि मेरा दु:ख टल जाये और दु:ख टलने की अवस्था का ही

ध्यान करता हुआ चलेगा; जैसे कि कब घर पहुँचूंगा और आराम के स्थान पर बैठूँगा और ठण्डा-मीठा पानी पीऊँगा इत्यादि-इत्यादि। वह इसी प्रकार सुखों का ध्यान करता हुआ ही स्मृति-हीन होकर रास्ता चलेगा, उसको अपने पाँव पड़ने की भी कोई खबर नहीं, केवल उन्हीं सुखों में ही उसका ध्यान उलझ रहा है। ऐसा व्यक्ति ध्यांन कहीं और कार्य कुछ और करता है तो यह कर्मयोग वाला व्यक्ति नहीं है और उसको ध्यान इत्यादि भी असंभव जैसे ही होता है और एक किसी आत्मा के अन्दर ऐसी योग्यता है कि धूप में काम करने वाला है और धूप में काम करते-करते उसकी तंगी को मन में न रखता हुआ सही काम करने में लगन रखता है, जैसे कि कोई कड़ी या तीक्ष्ण (तेज)धूप में भी हल चलाने वाला उस धूप की गर्मी की परवाह न करता हुआ हल की लकीर को सीधा ले जाता है, कहीं से भी टेढ़ी नहीं होने देता, क्योंकि उसका ध्यान उसी में है, वह कहीं धूप से प्रभावित नहीं है। अब ज्ञान-रूप आत्मा तो दोनों के अन्दर समान रूप है, तो अब हमारे अन्दर आत्मा दो, चार, पाँच नहीं हैं, अब यह भी एक आत्मा है इसकी कमाई ही ऐसी है। और एक ऐसी है कि उसने अपने-आप को ढीला, नर्म, कमजोर बना लिया है और इन सुखों के पीछे पड़-पड़ कर जो सुख थे उनको भी अन्त में दुःख बना लिया। अब ऐसे मनुष्य को जहां थोड़ी भी कोई जरूरत की वस्तु नहीं मिलेगी तो वह इतना दुःखी हो जायेगा और दुःखी होकर ऐसा प्रदर्शन करेगा कि ओहो! मेरा तो सब कुछ बिगड़ गया। ऐसा जो कमजोर आत्मा वाला है, उसका जो अपना सत्य या सही ज्ञान—आनन्द रूप आत्मा है उसको नहीं पायेगा। क्योंकि इसने अपनी आत्मा को केवल मिथ्या या न बने रहने वाले सुखों की शरण लेकर अपने-आप को इतने दुर्बल मन वाला बना लिया है कि इसका जरा सुख बिगड़ा नहीं कि इसकी स्मृति (होश) और

देखते-देखते इस दुःख को टाल दो। दुःख अवश्य ही टल जायेगा, ऐसा नहीं है कि नहीं टलेगा। हमारे अन्दर भगवान् की ऐसी कृपा है, उस कृपा से हमारे अन्दर एक ऐसा देव बस रहा है जिसको शास्त्रों में निरंजन (सब प्रकार के मल से रहित), शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा कहते हैं, ब्रह्म भी उसका ही नाम है व न जाने क्या-क्या उसके नाम हैं। परन्तु वह अपनी माया, अपने कानून कायदे रखता है। उसके नियमों के अनुसार उसने कोई भी वस्तु एक जैसे ढंग से टिकी नहीं रहने देनी। यदि आपके अन्दर दुःख है तो आप धैर्य भी रखो, आप टिकाव भी रखो कि मैंने दुःख को बहुत देर तक दुःख भी नहीं रहने देना; परन्तु आप सुन्दर दर्शन ज़रूर बना लो जिससे कि आपको अपनी आत्मा में झाँकने में कोई आना-कानी, कोई तंगी-तकलीफ न हो या कहीं ऐसा न हो कि आपका मन ही न लगे। इस प्रकार का भाव अपने अन्दर बनाओ कि थोड़ा झाँकने वाले बनो, थोड़ा दुःख भी है तो दुःख में अधीर होकर झटपट यह नहीं कि बच्चे के समान दूसरे का सहारा लेने के लिए रोने लग गए। इतने में दूसरे को पिघलाने लग गए कि वह आपके दुःख को टाले। यहाँ ऐसे वीर्य भाव (हिम्मत) की ज़रूरत है कि छोटे-छोटे दुःखों को हज़म करते-करते चाहे बड़ा दुःख भी है वह भी आधा घण्टा रहेगा, पौन घण्टा रहेगा, एक घण्टा भी रहेगा, मन की एकाग्रता के साथ जरा देखने वाले बन जाओ तो जो आत्मा दुःख को देखेगी उस आत्मा के अन्दर इतना बल आ जायेगा कि वह दुःख को देखते-देखते, दुःख को सुख बना देती है। एक दृष्टांत (मिसाल) है कि कोई मनुष्य ऐसे सुख में पला है कि गर्मी के दिन में धूप में चलेगा तो उसको थोड़ी भी धूप अत्यन्त दुःखदायी होगी। ऐसा व्यक्ति अपने अन्दर इसी मन को लिए धूप में चलता रहेगा कि कब वह समय आये कि मेरा दुःख टल जाये और दुःख टलने की अवस्था का ही

ध्यान करता हुआ चलेगा; जैसे कि कब घर पहुँचूंगा और आराम के स्थान पर बैठूँगा और ठण्डा-मीठा पानी पीऊँगा इत्यादि-इत्यादि। वह इसी प्रकार सुखों का ध्यान करता हुआ ही स्मृति-हीन होकर रास्ता चलेगा, उसको अपने पाँव पड़ने की भी कोई खबर नहीं, केवल उन्हीं सुखों में ही उसका ध्यान उलझ रहा है। ऐसा व्यक्ति ध्यांन कहीं और कार्य कुछ और करता है तो यह कर्मयोग वाला व्यक्ति नहीं है और उसको ध्यान इत्यादि भी असंभव जैसे ही होता है और एक किसी आत्मा के अन्दर ऐसी योग्यता है कि धूप में काम करने वाला है और धूप में काम करते-करते उसकी तंगी को मन में न रखता हुआ सही काम करने में लगन रखता है, जैसे कि कोई कड़ी या तीक्ष्ण (तेज)धूप में भी हल चलाने वाला उस धूप की गर्मी की परवाह न करता हुआ हल की लकीर को सीधा ले जाता है, कहीं से भी टेढ़ी नहीं होने देता, क्योंकि उसका ध्यान उसी में है, वह कहीं धूप से प्रभावित नहीं है। अब ज्ञान-रूप आत्मा तो दोनों के अन्दर समान रूप है, तो अब हमारे अन्दर आत्मा दो, चार, पाँच नहीं हैं, अब यह भी एक आत्मा है इसकी कमाई ही ऐसी है। और एक ऐसी है कि उसने अपने-आप को ढीला, नर्म, कमजोर बना लिया है और इन सुखों के पीछे पड़-पड़ कर जो सुख थे उनको भी अन्त में दुःख बना लिया। अब ऐसे मनुष्य को जहां थोड़ी भी कोई जरूरत की वस्तु नहीं मिलेगी तो वह इतना दुःखी हो जायेगा और दुःखी होकर ऐसा प्रदर्शन करेगा कि ओहो! मेरा तो सब कुछ बिगड़ गया। ऐसा जो कमजोर आत्मा वाला है, उसका जो अपना सत्य या सही ज्ञान-आनन्द रूप आत्मा है उसको नहीं पायेगा। क्योंकि इसने अपनी आत्मा को केवल मिथ्या या न बने रहने वाले सुखों की शरण लेकर अपने-आप को इतने दुर्बल मन वाला बना लिया है

कि इसका जरा सुख बिगड़ा नहीं कि इसकी स्मृति (होश) और

बुद्धि अर्थात् विचार करके किसी वस्तु के सत्य को निर्णय करने वाली शक्ति तो रहेगी नहीं और इसका मन तो उन्हीं सुखों के लिए तड़पता रहेगा। ऐसे व्यक्ति की अन्त गति भी वैसी ही होगी और वह अपनी आत्मा को परखने या पहचानने की दिशा में नहीं चल सकेगा। यदि कोई दुःख में भी अपने धैर्य को रखकर अपनी होश (स्मृति)और बुद्धि (अक्ल) को ठिकाने रखकर अपने को सही चला सका, उद्वेगों या जोशों या भड़कावों में नहीं बहा और शरीर आदि से सही कर्म भी कर गया तो ऐसा व्यक्ति एक दिन तृष्णा को रोक कर और उसके सब दुःखों को हज़म करके अपने-आप को साक्षी रूप से रख सका, तो उसके अन्दर का ज्ञान और आनन्द-रूप आत्मा प्रकट हुआ-हुआ उसकी पूरी तृप्ति करेगा। इसी आत्मा के आनन्द-रूप से प्रकट होने पर मनुष्य को स्वयं ही ये भाव बनेगा कि जो पाने की सही वस्तु थी वह मैंने पा ली, अब मुझे संसार में कोई इच्छा ही नहीं।

2. पुरातन ऋषि कहते थे कि आप भगवान् का भजन करो, भगवान् के भजन के साथ-साथ पूजा-पाठ-जप करो, चाहे कीर्तन करो, किसी तरीके से भी करो, पर थोड़ा यह देखो कि इस बहाने से अपनी आत्मा को सही रूप से कमाकर अर्थात् बल दे करके ऐसे ढंग की योग्यता उत्पन्न करना कि दुःख को भी हज़म कर सकें। दुःख से चलायमान होकर मनुष्य के अन्दर जो बुद्धि-रूपी रत्न है उसको न खो बैठे। यदि इस बुद्धि-रूपी रत्न को खो बैठा, तो अपने अन्दर नित्यानन्द या सदा बने रहने वाले आनन्द-रूपी आत्मा को नहीं पा सकेगा, तो मनुष्य जन्म की सफलता भी नहीं होगी। इसलिए दुःख को हज़म करने की शक्ति अवश्य बनाना। यह ठीक है कि मारने वाला दुःख हमने हज़म नहीं करना, जैसे ठण्डी है, अब ठण्डी जरूर लगती है। अच्छा! ठण्डी लग रही है और एक ठण्डी ऐसी लग रही है, जानता है कि मैंने वस्त्र तो

पहने हुए हैं, इसलिए ये ठण्डी मारने वाली नहीं है अर्थात् मेरा नुकसान नहीं कर सकती। ऐसी जो ठण्डी है उसको सहन करना या सहन करने का धैर्य रखना। यह कुछ भी हानि (नुकसान) न करके उसकी आत्मा को बल ही देगा और जो इससे डर-डर कर इसको टालने की सोचता रहेगा और इसके थोड़ा टलने का ही सुख मन में बसाये रखेगा तो उसके अन्दर तितिक्षा का बल प्रकट नहीं हो सकता और इस बल के बिना मनुष्य आत्म-साक्षात्कार की ओर अग्रसर भी नहीं हो सकता। इसलिए जो थोड़ा-सा दुःख है उससे न डरकर, बल्कि उसको सहन करके अपने अन्दर आत्मा के बल को प्रकट करे। इससे उस मनुष्य के शरीर में सही रसों का प्रवाह होगा जो कि स्वास्थ्य के भी अनुकूल होगा और यदि मन इसके विपरीत है तो वह व्याधियों के अनुकूल होगा। जैसा मन है, वैसी ही तन की क्रिया है, इसलिए दुःख से ज्यादा डरने की ज़रूरत नहीं। कोई भी दुःख है चाहे ठण्डी का, चाहे गर्मी का, इसके लिए भगवान् गीता में कहते हैं—देखो अर्जुन! ये जितने भी दुःख हैं, "मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय इत्यादि-इत्यादि", ये मात्रा अर्थात् सुख-दुःख रूप विषयों को मापने का साधन इन्द्रिय रूप हैं। ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं और इनके जितने भी स्पर्श हैं, जितने भी अनुभव हैं; ये कैसे हैं? ठण्डी और गर्मी के हैं, सुख और दुःख को देने वाले हैं और आने-जाने वाले हैं, इसलिए सदा बने तो रहेंगे नहीं। इसलिए धैर्य रख कर इन सब को सहन करता हुआ टाल दे और अपनी बुद्धि (आत्मा) को स्थिर रखे। जैसे यदि कहीं थोड़ी ज्यादा गर्मी है, वहाँ मन कहेगा कि बड़ी गर्मी है और थोड़ी ज्यादा ठण्डी है तो वहाँ मन कहेगा कि बड़ी ठण्डी हैं, ऐसे मन सोचता है। अब कहीं मर तो रहे नहीं अर्थात् मारने वाली ठण्डी या गर्मी तो है नहीं। हाथ भी धोने हैं, पानी भी पीना है, स्नान भी करना है और

अन्य कर्म भी करने पड़ते हैं। मनुष्य जानता है कि मैंने आराम से वस्त्र भी ओढ़ रखे हैं, फिर भी इस अवस्था में यदि वह डर–डर कर सारे काम करेगा तो इसमें न वह तपस्या है, न वह कर्मों का पूरा फल है और इससे जो शरीर की रक्षा होगी वह ज्यादा दिनों में बिगड़ेगी ही, अच्छी नहीं होगी। और दूसरा क्या है? वह देखता है कि चलो भई! क्या गर्मी है, क्या सर्दी है, काम तो करना पड़ ही रहा है, मैं इस दुःख को देखता–देखता सहन करता–करता अपना कर्म स्मृति से करूँ। एक डर के साथ करता है, दूसरा इस डर को निकालता हुआ करता है, तो इस प्रकार दो तरीके से मनुष्य इन दुःखों को सहन करता है। चाहे वह ठण्डी है, चाहे वह गर्मी है पर है तो आने जाने वाली, सदा तो रहने वाली है नहीं। तो भगवान् श्री कृष्ण जी कहते हैं कि इनके कारण से मन जो कुछ उलट कर करना चाहता है, तुम उसको त्यागने की इच्छा रखो। इसका तात्पर्य यही है कि दुःख को सहन करो, छोटा–मोटा दुःख सहन करने से आत्मा को बल मिलता है; फिर धीरे–धीरे इसकी आदत बनती जायेगी। जैसे एक दिन धूप में आप दस या पन्द्रह कदम चले, एक दिन एक फर्लांग चले और किसी दिन आप मीलों चल जायेंगे। ऐसे भी तो लोग हैं जो धूप में हल चलाते हैं और ठण्डी सहन करने वाले भी रात को जागते हैं, घूमते भी रहते हैं। तो यह सारा जितना भी है, यह मनुष्य अपने–आप को कमजोर बनाना चाहे तो कमजोर बना ले और बल वाला बनाना चाहे तो बल वाला बना ले। अब शास्त्र के ढंग से बल वाला बनाने का तात्पर्य यह है कि दुःख में परेशानी न आने पाये, दुःख में धैर्य बना रहे। धैर्य रहने से यही तात्पर्य है कि बुद्धि बनी रहेगी, होश (स्मृति) ठिकाने रहेगी तो दुःख से परिचित हो जायेगा। परिचित होने से दुःख ज्यादा डराने वाला नहीं होगा। डराने वाला नहीं होगा तो उस कारण से जैसे मनुष्य का मैंने दृष्टांत दिया है

कि थोड़ा पाँव कुचला गया, तंगी हो गई, तंगी का दु:ख न सह सका और धैर्य खो बैठा, जिससे बुद्धि (होश) ठिकाने नहीं रही और एक दम मुँह से गाली निकल गई कि तू बेवकूफ है, तू अंधा है, तेरे को दिखता नहीं। अब यदि कोई उस दु:ख को सहन कर सकने वाला होता तो उसी समय बुद्धि से यह निर्णय कर लेता कि "भई! इसने क्या यह जानबूझ कर किया है, इस बेचारे का कोई दिमाग तो घूमा नहीं है।" हाँ! इतना ज़रूर कहेगा कि "सज्जन! जरा अपनी चाल में चलो," तो यह मनुष्य परमात्मा का भक्त कहा जाता है और अपनी आत्मा को सँभालने वाला होता है और ऐसे मनुष्य के लिए इतना निश्चित है कि उसका अपना आत्मा एक दिन ज्ञान और आनन्द-रूप में प्रकट भी हो जाता है। अब प्रकट होने का रास्ता यही है कि जितना मन बाहर के सुख के कारण से राग में और दु:ख के कारण से द्वेष में उलझा हुआ है, उससे अपने-आप को बचाए रखे।

3. प्रीति की वस्तु कहाँ है? जहाँ कि सुख मिलता है और द्वेष कहाँ है, जहाँ कहीं दु:ख मिलता है। अब एक बार इसने उसको पहले कह दिया कि तू अंधा हो रहा है, तू बेवकूफ है, तेरे को दिखता नहीं। अब यदि वह मनुष्य जो पाँव कुचलने वाला था वह यदि इसके नज़दीक बसने वाला होगा तो वह जब भी कभी इस मनुष्य की दृष्टि में पड़ेगा, तो इस मनुष्य को उसके प्रति अपने मिथ्या बोले हुए वचनों की स्मृति होने पर पश्चात्ताप ही होगा और ध्यान में भी बार-बार आयेगा कि मैंने मिथ्या, कटु वचन बोलकर उसको दु:ख दिया है। उसने मेरे को क्या समझा होगा, वह मेरा वैरी बना होगा तो मेरा क्या होगा? तो ऐसी अवस्था में जो ध्यान करने वाले या अपने मन के साथ रहने वाले हैं, वह बहुत सी बार जो मिथ्या दृष्टि, संशय और क्रोधादि से जो मिथ्या व्यवहार झटपट होने को आता है तो इन पर अपनी स्मृति को

सावधान रख करके अपने मन को देखते हुए उन सब मिथ्या वस्तुओं को रोककर अपना उचित बर्ताव करते रहते हैं। उसी से उनकी शान्ति सदा बनी रहती है और शान्त वही कर सकता है जो इन दृष्टि, संशय, राग और द्वेष आदि बीमारियों को मनो-मन देख ले। जैसे इसके अन्दर द्वेष की आग जली थी, वह इसने झट देख ली होती कि देखो, मेरे अन्दर कैसी आग लग रही है? कैसा द्वेष आ रहा है? परन्तु इसकी आँख तो उस द्वेष ने बन्द कर दी, होश (स्मृति) ठिकाने रही नहीं, तभी इसके मुँह से झटपट निकल गया "तू अंधा हो रहा है, तेरे को दिखता नहीं, तू मूर्ख है," ऐसा एकदम ही निकल गया, और जो अपने समय की स्मृति (होश) को ठिकाने बनाये रखकर अपने को सँभालने के आदी होते हैं, उनको जैसे थोड़ा दुःख देखकर थोड़ा द्वेष आया, तभी होश को ठिकाने रखा और मन को पहचान लिया कि मन कहाँ भटक रहा है। देखो! मेरे इस मन के अन्दर ज़हर चढ़ गया है; ज़हर चढ़ कर खोटा वचन निकलवाने जा रहा है। अब बजाय उसको खोटा कहने के वह अपने मन को कहता है कि "तू मेरा क्या करवायेगा, संसार में मेरे वैरी ही बनवायेगा।" तो जो ऐसे मनुष्य होते हैं, जैसे मन में राम-राम जपने वाले, भगवान् का नाम लेने वाले, उसी तरह अपने मन के साथ बोलने वाले, "क्यूँ रे पापी वैर! तू किसी से वैर करवाकर सारी आयु भर के लिए मेरा वैरी बना कर रात की मेरी नींद को भी बिगाड़ेगा।" अब इतना कहकर जो मनोमन शान्त हो जायेगा; उसको कहते हैं आत्मदर्शी अर्थात् अपने-आप को देखने वाला, आत्मा में ही शान्त होने वाला।

4. अब जैसे पुराने महात्माओं व ऋषियों की कथा है, एक बड़े पहुँचे हुए महात्मा थे। कई-एक व्यक्तियों के मन में आया कि देखें, संसार जिसकी प्रशंसा करता है, वह महात्मा कैसे

हैं? चलो! महात्मा को कुछ कहा जाये जिससे कि अपना थोड़ा समय ही बीत जायेगा। वे सत्संगी मनुष्य तो थे नहीं, तो वे जाकर उनसे उल्टे-सीधे ऐसे-वैसे प्रश्न करने लगे। उनका उनसे कुछ भी सीखने का मन तो था नहीं। महात्मा उनके प्रश्नों का जवाब देते रहे। जैसे-जैसे काफी देर हो गई, देर होते-होते बजाय उनके सत्संग का लाभ उठाने के उन्होंने उनकी निन्दा ही करनी शुरू कर दी "सत्यानाशी कहीं के, ऐसे ही ठग घूमते रहते हैं और कोई कार्य तो बनता नहीं, उल्टी-सीधी कई प्रकार की बातें कह दीं।" अब यह सुन कर महात्मा ने सोचा कि ये व्यक्ति मेरे से कुछ सीखने वाले तो हैं नहीं, इसलिए मैं अपने-आप में स्मृति से सम्भला रहूँ जिससे कि मेरी ओर से इनके प्रति कुछ खोटा बर्ताव न हो जाये। अब वह महात्मा बहुत पहुँचे हुए थे और पूर्ण शक्ति वाले थे जैसे अवतारी पुरुष होते हैं। उनके मन में यह शब्द-सा हुआ कि यदि इनको आप थोड़ा विपरीत दृष्टि से देख लो तो इन सब के सिर उड़ जायेंगे जो तुमको ऐसे ज्यादा बोलते हैं। इसके बजाय महात्मा उन उल्टा बोलने वालों को कुछ कहें, उन्होंने अपने उधर झुकने वाले मन को ही इस प्रकार सम्बोधित किया कि "तुम तो मेरे वैरी हो जो कि उनको दण्ड देने के लिए झुक रहे हो, तुमको तो मैं अपने वश में रखूँगा पर वे मेरे वैरी नहीं हैं; इसलिए उनको मैं कुछ भी विपरीत नहीं बोलूँगा।" देखो! यह सम्भली हुई अवस्था है। अब ऐसे मनुष्य को कौन बाहर खींच कर ले जायेगा, कौन उसके सुख को बिगाड़ेगा? अच्छा! मान लो उस समय उन्होंने ऐसा कुछ कर दिया होता तो करने के बाद फिर वे पछताते कि वे तो नादान थे, बच्चे थे, मान-अहंकार के अधीन होकर व्यवहार किये जा रहे थे, उनमें अपने ढंग का क्रोध था, शान-शोभा दिखाना चाहते थे, यदि तू भी उन्हीं की तरह बन गया तो तेरे अन्दर क्या अच्छाई रही? तो ये होते हैं महात्मा और धर्मात्माओं के वचन।

ऐसे मनुष्य फिर किसी से उलझते नहीं है। उनका आत्मा में अपने-आप ही शब्द होता है। जिनके अन्दर ज्ञान की शान्ति होती है वे किसी को शाप नहीं देते, वे अपने साथ दुःख को सहन कर लेते हैं। फिर ऐसा करते-करते अन्त में बात यहाँ तक पहुँची कि महात्मा तो चुप रहे, जब उन्होंने देखा कि वे चुप हो गए तो वे जो अपनी हँसी खेल वाले थे, उन्होंने कहा कि "कहो बाबा जी! तुम तो चुप हो गए", तो महात्मा ने कहा "चुप तो हम इसलिए हो गए क्योंकि आप की बात का कोई जवाब तो बनता नहीं है, कोई सीखने-सिखाने की बात हो तो कोई जवाब भी दें। अब तुमने जो बोलना है, बोलते रहो और तुमने भी अपनी बातें तो सुना ही दी हैं, बस! इसलिए हम चुप क़र गए।" थोड़ी देर बाद उनको हैरानी सी हुई कि भई! देखो महात्मा को कुछ हुआ नहीं अर्थात् महात्मा तो अपने-आप में शान्त ही रहा, बल्कि उन्होंने हमारा कोई दोष भी नहीं देखा, तो एक ने कहा-"बाबाजी, हमने आपको बड़ी गालियाँ सी दी हैं, हमको क्षमा करना।" महात्मा जी ने कहा-"कोई नहीं, गाली कुछ नहीं दी, लेना और देना चार हाथ का सौदा होता है, दो हाथ लेने वाले, दो हाथ देने वाले। तुमने दी, मैंने ली नहीं, तो तुम्हारी वस्तु तुम्हारे ही पास रही, मेरे पास नहीं आई।" देखा महात्मा का वचन, तो दूसरा क्या कहने लगा-"महाराज! आप तो भगवान् हैं परन्तु फिर भी हमने आपको दुःख दिया।" महात्मा जी ने पुनः कहा-"देखो! तुम्हारे ये वचन कहने से मैं नाराज़ नहीं हूँ, तुम जानते नहीं, हम साधु हैं, तपस्वी हैं, तपस्या करने वाले हैं। तुमने यदि हमको दुःख दिया तो हमने आराम से सहन कर लिया। दुःख सहन करने का नाम ही तो तप है। जैसा मैंने पहले कहा, ठण्डी और गर्मी; ठण्डी सहन कर ली, गर्मी सहन कर ली, यह तो चमड़ी का तप है। इसी तरह यदि

आपने किसी का कड़वा वचन सहन कर लिया, यह मन का तप

है। अब किसी का ज्यादा मान-अपमान का वचन सहन कर लिया यह अन्दर और करड़ाई का तप है, तो ये सारे सहन ही तो करने होते हैं। तो मैंने जो यह सहन कर लिया तो मेरी कितनी तपस्या हो गई। अब तुम्हीं बताओ, तुम भी बुद्धिमान हो, तपस्या का क्या फल है?" तो वे बोले-"अजी महाराज, तपस्या का फल तो सीधा स्वर्ग है।" महात्मा जी ने कहा-"तो फिर हमको स्वर्ग मिलेगा, तुम क्यों दुःखी हो रहे हो।" देखो! यह होता है-महात्मा का वचन। अब कहने का तात्पर्य (मतलब) यही है कि इनका संसार में कोई वैरी नहीं। अब आप देखो! आप घरों में रहते हो, ठीक है, यह भगवान् की ऐसी माया है कि जो जिस जगह पड़ा हुआ है, वह बस यही सोचता है कि वह अमुक (फलाना) मेरे बारे में ऐसा सोचता है, वह मेरे बारे में ऐसा समझता है, वह मेरा यूँ करता है, मैं ऐसा क्यूँ करूँ। आप जितना यह सोचेंगे, वह मेरी हँसी उड़ा रहा है, उसने मेरे को जीत लिया, उसने मेरा कुछ खराब कर दिया है, यही दृष्टि है। यदि यही लीला आपके मन में चल रही है तो यह वैर को कभी भी शान्त नहीं होने देती, चाहे आपके बच्चे में हो, चाहे आपके बड़ों में हो, मित्रों में हो। अब यदि आपने उनकी कुछ न कुछ दृष्टि (नज़र) बना करके ये भावों की गाँठ हृदय में बाँध रखी है तो यह मन उन्हीं में बहता रहेगा और बहिःर्मुखी होगा। आप अकेले बैठे नहीं कि उन्हीं के विचार मन में आते रहेंगे कि वह मेरे बारे में क्या सोचता होगा, क्या समझता होगा। इस तरीके से आपकी आत्मा कभी भी शान्त नहीं होगी। इस प्रकार आपकी आत्मा बाह्य संसार में ही भटकती रहेगी। इस प्रकार से यह तो हुई बाहर की बात। इसी प्रकार से राग की बात है, छोटी-मोटी वस्तुएँ देखो! समय अनुसार बच्चे अपने ढंग से खाते-पीते हैं। लड़के जवान अपने ढंग से खाते-पीते हैं, अवस्था

बदलते-बदलते बुढ़ापे में बदलती है, सारी आयु खाना एक जैसा

नहीं होता या रहता। सारी आयु में मान भी एक जैसा नहीं मिलेगा, अब यदि नहीं मिलता तो पुराना मन बुरी आदत वाला है, वह चाहता है कि मुझे ऐसी-ऐसी वस्तु ऐसे-ऐसे ढंग से मिले जैसे पहले मिलती थी। एक मनुष्य जप करता है, पाठ करता है, ठीक है जप भी है, पाठ भी है; पर एक ये भी है कि थोड़ा मन को पहचानना सीखे, इस प्रकार विचार करे कि "हाँ भई! मेरे मन के अन्दर क्या आग जल रही है? मेरा मन क्या खाने के लिए सोच रहा है? अमुक (फलाने) ने मेरा मान नहीं रखा, ठीक है रखा तो नहीं पर अब तू बता क्या करेगा।" मन तो यही कहेगा कि "करना-कराना क्या है, वह मनुष्य अच्छा नहीं, कभी मेरा भी समय आयेगा तो मैं भी कुछ वैसा ही करूँगा। तो मना! तू जो कुछ करेगा उससे तो संसार में आगे ही आगे अपनी जिन्दगी को बिगाड़ेगा और दुःख ही बढ़ायेगा। करने-कराने से क्या है? तू कौन है अन्दर बोलने वाला? तू मान है, तू अहंकार है और कोई नहीं है, तेरी मैं क्यों सुनूँ? ये तेरी ही सुनने वाले हैं जो लड़-लड़ कर मरते हैं और नाना प्रकार के खोटे वचन बोलते हैं। यही चोरियाँ करते हैं, दुराचार यही करते हैं, डाके यही डालते हैं और छुपकर किसी का बुरा भी यही करते हैं और ऐसे करवाते हुए ये अपनी आत्मा में मनुष्य को कभी भी सुखी नहीं होने देते अर्थात् दिनों-दिन दुःख को ही बढ़ाते हुए अंत में दुर्गति को ही प्राप्त कराते हैं।" इसलिए उचित यही है कि "मैं तो तेरी मानता नहीं।" इस प्रकार अपने मन को बोलना सीखो। जो अपने मन को इस तरह से अन्दर शब्द रखकर बोलता है तो हमारे महात्मा-गुरु लोग कहते थे कि यह शब्द गुरु होता है, *"शब्द गुरु सुरति धुन चेला"* अर्थात् जैसा अन्दर से गुरु का शब्द हुआ उसी शब्द के अनुसार अपने-आप को संभालने में सुरति या प्रीति रखे, वही सच्चा शिष्य है। यह तो ऐसा है कि आप जितने भी गुरु बाहर से बना लोगे वे

आपको एक शब्द तो दे देंगे कि आप जप कर लो, यहाँ तक कि एक-दो चीज़ों (वस्तुओं) की शिक्षा भी दे देंगे, परन्तु चौबीसों घंटों का, तीसों दिन का और बारह मास का गुरु तो आपके अन्दर शब्द रूप में बस रहा है। परन्तु वह तब बस रहा है यदि आपको मन की पहचान आती है, यह नहीं कि थोड़ी-सी उसकी उल्टी बात थी, आप बुरा मान गए। अब बुरा मानने से जो अन्दर ज़हर लेकर बैठा है, वह इसके चेहरे पर दिखेगा। जब उसके सामने जायेगा तो वह पहचान जायेगा कि मेरे से अकड़ा हुआ बैठा है। तो अब बताओ, ऐसी अवस्था में बाहर से कहीं सुख मिला? तुम तो इसी तरह से अपनी ज़रूरतों व इच्छाओं के कारण सारे जगत से गाली खाते हो, यह मन को बोलना ही तो है। अब बोल-बोल के यही कहना है कि सभी काम स्मृति (होश) से, मन को टिका कर करो; चाहे कपड़े धो रहे हैं, चाहे नहा रहे हैं, खा रहे हैं या कोई भी धंधा कर रहे हैं। कर्म कई जगह हैं। एक कर्म है अपनी देह के साथ जो कि मनुष्य अकेला करता है जैसे नहाना, धोना, दातुन-क्रिया आदि और दूसरे हैं अपने परिवार के साथ जो परिवार के प्राणियों के साथ होते हैं। तीसरे हैं सामाजिक कर्म जो मनुष्य पूरे समाज के साथ सामूहिक रूप में करता है; जैसे विवाह-शादी में इकट्ठे होना, कोई धार्मिक उत्सव मनाना इत्यादि। अब अपनी देह के साथ परिवार में भी नाना प्रकार की जिम्मेदारियां हैं, उनको निभाने के लिए भी और अपनी देह की तन्दुरुस्ती और मन की शान्ति बनाए रखने के लिए भी कई प्रकार के कर्म करना जैसे सवेरे उठना, बाहर-भीतर जाना, दातुन-क्रिया करके नहाना-धोना इत्यादि। अब थोड़ी देर के लिए आधा घण्टा, पौना घण्टा, एक घण्टा अपने मन को थोड़ा शान्त करने के लिए कहीं जप, पूजा-पाठ भी करना। ये सारे अपनी देह के अन्दर के कर्म हैं। अब इनके बाहर भी कई पारिवारिक (परिवार संबंधी)

कर्म हैं जो कि बाहर के कर्म हैं। पर इन सब के बीच में यदि कर्म करते हुए आपने अपने मन की आँख खोल ली कि मेरा मन किधर-किधर बहता है; ठीक है मैंने काम करना है जैसे मैं अब बाहर जाऊँगा, मैं दुकान पर बैठा हूँ, चाहे मजदूरी कर रहा हूँ, हल चला रहा हूँ या बच्चों को पढ़ा रहा हूँ या कोई नौकरी कर रहा हूँ, कुछ भी करे यह तो उसको पता चलता है कि लोगों के साथ मेरा भाई-चारा बढ़ता है और उनके सम्बन्ध से मेरे मन में कैसे-कैसे भाव और कैसे-कैसे विचार बनते हैं। उनके बीच में नाना प्रकार के अच्छे-बुरे बर्ताव से कहीं किसी पर क्रोध आता है, कहीं कोई बुरा लगता है, कहाँ किससे प्रीति होती है, कहाँ किस प्रकार मेरा मन किसी का खोटा करने की सोचता है, कितनी बातें हैं? एक तो मन के अन्दर इनका प्रायः करके दौरा (चक्कर) आता है, तो जैसे यह दौरा आता है, एकदम मनुष्य को बिना सोचे-समझे झटपट वैसे ही बाहर चला देता है। जैसे मैंने कुचले जाने वाली बात कही और एक यही है कि जिस समय इनका दौरा या चक्कर आता है, उसी समय झट से इनको देखने लग जाता है कि "लो जी! इसने मेरे को देख करके हँसी हँस दी, मेरा यह मन बिगड़ गया कि यह तो मेरा मज़ाक उड़ा गया, पता नहीं इसको क्या दिख गया; बस इतने से मन के बीच गाँठ आ गई।" अब जितने भी यह समाज के कार्य हैं इस ढंग से यदि मनुष्य बाहर वाले का चित्र मन के बीच खींच करके फिर अपने अन्दर कोई वैर या द्वेष या किसी अहंकार की अग्नि और कई प्रकार के बुरा आदि करने के विचारों की गाँठ बाँध कर रखे तो उसको कभी भी आत्मा अपने पवित्र रूप में नहीं दिखेगी और न कभी शान्त आनन्द-रूप में अनुभव में आयेगी। अब देह के कर्म हैं, परिवार के कार्य हैं, सब को अपने-अपने कार्य करने पड़ते हैं और इसी प्रकार से समाज के कर्म करते हुए मनुष्य को बहुतों से

वास्ता भी पड़ता है, ऐसी अवस्थाओं में जिस-जिस समय कार्य करते हुए मन में ऐसा द्वेष, क्रोध और अहंकार आदि का वेग आए तो झट उसको पहचान जाये। जैसे एक मास्टर कहता था कि पहले मैं क्या करता था? कक्षा में छोटे-छोटे बच्चे थे, एकदम जैसे मैं देखता कि वे शरारतें कर रहे हैं, मुझे क्रोध आता था। मैं जा कर उन्हें पीटना शुरू कर देता था। परन्तु जब से महात्मा जी ने मुझे सलाह दी है कि तेरे बच्चे भी तो वैसे ही हैं जैसे उनके हैं। तुम यदि उनको पीटते हो तो तुमको पीछे क्या होता है? उसने कहा कि पीछे मैं पछताता भी हूँ। तब महात्मा जी ने कहा कि तुम पहले ही ऐसा क्यूँ नहीं सोचते कि जब मैं इतना बड़ा होता हुआ भी अपने मन को नहीं सँभाल सका और क्रोध द्वारा उन बेचारे नादान बच्चों को ही पीटने लग गया। बच्चों की तो खेल की इच्छा है। खेल के जो इनके नाना प्रकार के भाव और चेष्टाएँ हैं, वो बच्चे कैसे बस में कर लेंगे। इसलिए अब क्या करता हूँ; सबसे पहले मुझे यही याद आता है कि जब बच्चे शरारत करते हैं तो पहले तू अपना क्रोध दबा ले। फिर क्रोध को ठण्डा करके, आराम से बैठकर जो ज्यादा शरारती हैं उन दो-तीन को बुला ले। बुलाकर यदि धमकाने से वे मान जाते हैं तो उनको शिक्षा मिल जाती है, तब अन्धा-धुंध कसाई की तरह पीटने से क्या तात्पर्य (मतलब) है। इसी तरह ये सारी बातें हैं जैसे एक की, ऐसे ही दूसरे की। एक-दम आपका क्रोध में आ जाना चाहे वह आपका बच्चा ही है, चाहे बूढ़ा है, चाहे मित्र है, यदि आपने उनके लिए कुछ कहा तो कर्म तो हो ही गया। करने का नाम कर्म है। जब वह हो गया तो अब आत्मा के अन्दर जो बैठा हुआ देव है उसने अपने ढंग से आप को अकेले में भी शान्त नहीं होने देना है और एक है कि आपने·पहचान लिया, हाँ! मन भड़क गया, अग्नि आ गई, बस! यहाँ से इसे देखकर चुप रहे। थोड़ी देर बाद मन को

शान्त करके बोलेंगे, टिक-टिक कर शान्ति से जवाब देंगे, यह भी तो एक धर्म है। कोई कार्य बन्द नहीं करना, अपने कर्मों को स्वाभाविक बना देना है। भगवान् गीता में कहते हैं "स्वभावजान् कर्म कौन्तेय" इत्यादि-इत्यादि। अब ठीक है कि कोई गृहस्थी है या कोई जैसा भी है, कोई अपना कर्त्तव्य कर रहा है, पर स्वाभाविक कर्म ये हैं कि अपने सब कर्म करो, पर कर्म को ऐसी भक्ति बना दो कि उस अवस्था में भी अपनी आत्मा को शान्त रूप से पहचानने के लिए आँख खोलते रहो। जिस दिन आपको अन्दर के ये सत्य दिखाई पड़ने लग गए, पहचानने में आ गए तो ये छूटने भी लगेंगे। क्रोध आता है, समझ में आ गया। लोभ आता है, समझ में आ गया। मान भड़का हुआ कुछ विपरीत करवाना चाहता है, पता लग गया। संशय, भय आ रहा है, वह भी दिख रहा है और जैसे-जैसे अन्दर से कोई चीज़ (वस्तु) आकर भुलाना चाहती है, पता लग रहा है। ऐसे ही जैसे मान लो शरीर के अपने कर्म कर रहे हैं, नहा-धो रहे हैं तो इन काम-क्रोधादि विकारों के भुलावे में न आकर इनको शान्त करके कर्म किया या कर्म करते-करते इनको शान्त कर दिया। हाँ! कर्म कर रहे हैं तो कोई इच्छा आ गई, जैसे यह करना है, वह करना है। इस समय थोड़ा ठहर जायेंगे और इस मिथ्या इच्छा को रोक-रोक कर कर्म करेंगे। एक देव है प्रकृति का (कुदरत का) जो अपने-आप ही संसार को चला रहा है। उसके रास्ते बहने से आत्मा कभी नहीं दिखता और आनन्द-रूप से अनुभव में भी कभी नहीं आता और एक ऐसा है कि इनको पहचान भी लेना, पहचान करके इनको त्यागने का यत्न करना और त्यागने का यत्न यहाँ तक करना कि जब हमारी आयु ज्यादा बड़ी हो जाती है और हम अकेले पड़ जाते हैं तो लोगों में या बच्चों में हमारे लिए पहले जैसे प्रिय भाव भी नहीं रहते। अब हमको फुरसत भी है तो हम अपने मन की अग्नि को देखते-देखते

अकेले बैठें और इसको पहचानते रहें; हमारी आँख खुली रहे और समझ जागती रहे। अब जो-जो हमारी पुरानी इच्छाएं आती हैं उनको देखते-देखते शान्त करते जाएँ। वैर-विरोध आदि आते हैं, उनको देखते-देखते शान्त करते जाएं। इस प्रकार देखते-देखते यदि सब विकारों को शान्त करते गए तो पुराने ऋषि कहते थे कि तुम अपनी आत्मा में साक्षी रूप से टिक गए। साक्षी रूप से जिसका आत्मा टिक गया वह अपना आनन्द प्रकट कर देगा। जिस दिन यह आनन्द प्रकट हो गया, उस दिन आप इस आत्मा के आनन्द को अनुभव करते हुए इस प्रकार विचारेंगे कि देखो! "कितनी मौज में बैठा हूँ।" फिर यह नहीं होगा कि मेरा मन नहीं लगता, वहाँ चलूँ, दूसरों के पास जाकर कुछ समय बिता लूँ या कुछ और कर लूँ। उसको तो कुछ नहीं, बस! यही है कि आत्मा इतना आनन्द-रूप है, यहाँ इतना आनन्द हो रहा है जितना और कहीं भी नहीं। अब मुझे और कहीं भी जाने की ज़रूरत नहीं। अब मेरा यह आनन्द कभी भी कोई मिटा नहीं सकता। हाँ, ज्यों-ज्यों आप इस आत्मा के बारे में आगे-आगे ध्यान करोगे तो यह ध्यान आपको और भी नाना प्रकार से सत्य का ज्ञान करायेगा कि भई! यह तो अभी आनन्द ही है। अब तुम जरा शरीर के अन्दर देखो कि जो आत्मा इसमें बैठा है वह कितने कार्य कर रहा है। इससे पता लगेगा कि इतने कार्य तो कोई मशीन भी नहीं कर सकती। इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार से शरीर का बढ़ना और बढ़-बढ़ कर देखो! कैसे बढ़ रहा है, हमको कोई पता नहीं। हम तो अभी दूसरों की संगत में भूले बैठे हैं। हमारे बाल भी बढ़ते हैं तो कौन बाल बढ़ा रहा है, और देह भी दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है, और भी कितने सारे कर्म हो रहे हैं। आप लोगों ने कई बार देखा होगा कि सांस नींद में भी चलता रहता है, हम तो भूले रहते हैं, हमको कोई पता नहीं। पशु-पक्षी भी सारे ऐसे

ही हैं, संसार में अपने-अपने खेल करते रहते हैं, तृष्णा के पीछे भाग रहे हैं; पर अन्दर देह को जीवित रखने वाला 'देव' वह इन सबसे अछूता रहकर इन्हीं में बैठा अपनी माया-रूप शक्ति द्वारा सबके कार्य कर रहा है। अब इसी देव का ध्यान करो और ध्यान द्वारा इसका साक्षात्कार करो। पर ध्यान वह करेगा जो थोड़ा बाहर की उलझन से फुरसत पाए। अब ध्यान करने के लिए जैसे ही अकेला हुआ नहीं कि अन्दर मन में वही उलझनें—किसी का राग, किसी का द्वेष, कहीं संशय, कहीं वैर तो कहीं यह इच्छा पूरी नहीं हुई। हाँ! चलो भई ठीक है! परिवारों वाले मनुष्य हैं, उनको कमाने की चिंता ज्यादा होती है। पर कमाया तो उतना ही जायेगा जितनी योग्यता है। उसमें भी यही ख्याल रखे कि अपनी तरफ से मैं कुछ कसर तो रखूंगा नहीं, परन्तु फिर मुझे जो कुछ भी मिल जाये उसमें ही मुझे अपना जीवन संतोष से बिताने की कोशिश करनी चाहिए। अब यदि इसी तरह कर्म करने लग गए तो भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे सारे कर्म स्वभाव के हो जायेंगे। स्वभाव का तात्पर्य यही है कि जहाँ कर्म किये वहीं झड़ गए, उसके बाद जहाँ तुम अकेले पड़ो, अकेले पड़कर अपनी आत्मा को देखना शुरू करो। नींद में भी मनुष्य अकेला होता है, सोने के लिए तो आप जागते-जागते भी अकेले हो सकते हो। जैसे आप बाज़ार में अकेले चले जा रहे हो। थोड़ा बाज़ार में चलने के लिए अपनी दृष्टि (नज़र) बचाकर चलना पड़ता है, कहीं गाड़ी, मोटर, रिक्शा आदि से भी बचना पड़ता है। पर यह भी तो है कि चलते समय मनुष्य थोड़ा अपने मन को भी देखता है कि इस बाज़ार में कई ऐसी वस्तुएँ हैं जो मेरी तृष्णा की हैं, जो तुरन्त मेरे मन को खींचती हैं तो तृष्णा भी तो पहचानने में आ सकती है। तो यह सारे दृष्टि, संशय, राग, द्वेष, काम-क्रोधादि जितने भी हैं, इनके पहचानने को ही मन की पहचान कहते हैं। यदि ये मन की

पहचान खुल जाये तो मनुष्य कृत्-कृत् (निहाल) हो जाये। पर मन की पहचान खुलने का रास्ता यही है कि मनुष्य थोड़ा-सा एकांत में अपने-आप का निरीक्षण (छानबीन) करे। पूजा-पाठ के बहाने से, जप के बहाने से, किसी तरीके से भी थोड़ा मन को झाँकने लगे। यह नहीं कि थका-हारा हुआ जप करते-करते सो गया या जैसे घूम के आया, अपना कार्य करके आया और नींद में चला गया। बल्कि थोड़ा नियम का पालन करता हुआ थोड़ा मन को झाँकना और झाँकते हुए इसको समझना सीख ले और सीखते-सीखते यहाँ तक सीखे कि जब मैं अकेला अपने शरीर के कर्म करता हूँ, नहाता हूँ, कपड़े धोता हूँ, कहीं झाड़ू भी लगाना पड़ता है और कई बीसों कर्म हैं, उनके बीच में भी मेरा मन किधर-किधर जाता है, किन-किन के लिए क्या-क्या भाव बना रखे हैं, कहाँ-कहाँ बंधता है। जब आपने इन कर्मों के बीच में विघ्न डालने वाले सब विकारों को समझ करके दूर करने की हिम्मत कर ली तो अब ये दूर भी होंगे। इस प्रकार आप आत्मदर्शी और पूर्ण अन्तर्मुख हो जाओगे। प्रत्येक प्राणी जन्म से बहिःर्मुख होता है अर्थात् संसार में ही भटके रहने वाले मन वाला होता है। यदि आप ऊपर कहे अनुसार चल गए तो आप सही आत्मदर्शी हो गए। इससे जो उत्तम से उत्तम फल है—आत्म दर्शन और परमात्म दर्शन, उसके सुख में आप रमण करोगे। यदि आपने देख लिया कि कोई भी सुख जाने से मेरा मन बिगड़ा है, मुझे पता है कि थोड़ा दुःख आन पड़ा है तभी मन बिगड़ा हुआ है, कोई बात नहीं, इस बिगड़े हुए मन के कारण से होने वाले इन सुख-दुःख दोनों को मैंने सहन कर लेना है। सुख गया कोई परवाह नहीं, दुःख भी है कोई परवाह नहीं। ऐसी अवस्था में यदि आप थोड़ा-थोड़ा अपने मन को उन्नत करते गए तो उन्नत मन के

साथ-साथ आप के देह की रचना भी वैसे ही उन्नत होने लगेगी

और उस देह में भगवान् तन्दुरुस्ती भी अच्छी देगा और नाना प्रकार से बाहर से भी आपको अच्छा बर्ताव मिलेगा और यदि ऐसा नहीं है तो जो मन बनता है वह चेहरे पर भी छाया रहता है। अब हम लोग किसी को कह देते हैं कि मैंने तो उस को कुछ कहा भी नहीं और उसने मेरे को फालतू उल्टी-सीधी बातें कह दीं, पर भई! यदि उसके मुँह से उल्टी-सीधी बातें निकली हैं तो तेरे अन्दर भी कुछ ऐसा ही मन था जो कि तेरे चेहरे पर प्रतीत होकर उसके अन्दर ऐसी प्रेरणा दे रहा था कि इसके साथ इस ढंग का बर्ताव करो। जैसे कोई चिड़चिड़े चेहरे वाला हो और वह किसी की दृष्टि में पड़ जाये तो उसके चेहरे को देखकर बच्चा हँस दे कि "यह कैसी शक्ल है।" उसने देखा कि बच्चा हँस रहा है, इसने मेरा मज़ाक उड़ा दिया, यह बच्चा दुष्ट है, पर ऐसा हुआ क्यों? हुआ ऐसा इसलिए कि इसी का वह ऐसा कर्म था, वह 'नारायण' या 'भगवान् श्रीकृष्ण' इसी अवस्था में इसके अन्दर बना बैठा था और ऐसा ही इसके चेहरे से भी प्रकट या व्यक्त हो रहा था कि अगला या दूसरा इसको हँसी-मज़ाक में ही ले। इसी प्रकार कई गालियां होती हैं, उल्टे-सीधे वचन भी होते हैं, कई बच्चों या बड़ों के भी अपने ढंग के ऐसे बर्ताव होते हैं कि जैसे वचन उनकी वाणी से निकल जाते हैं, चेहरे पर भी वैसे ही प्रकट होते हैं। अब जब इसी प्रकार से दूसरों की दृष्टि में आता है तो उसी ढंग के बर्ताव संसार से मिलते हैं। इसलिए और किसी को दोष देना फालतू व गलत है, हमारे अन्दर ही ऐसा भगवान् बैठा हुआ है। हमारे कर्मों द्वारा ऐसा संसार रचा हुआ है कि जैसे हम दूसरों की दृष्टि में पड़ते हैं उसी ढंग का जवाब वहाँ से आता है अर्थात् जिस प्रकार से हम संसार को लेकर अपने-आप में बने बैठे हैं, वैसा ही बाहर हमारा चेहरा प्रकट होता है। दूसरों के प्रति ये हम कोई इच्छा करके नहीं करते, किन्तु अन्दर के देव-अधिनियम

(कानून) के अनुसार यह लीला सर्वत्र हो रही है। चाहे हम अपने सुख-दुःख को लेकर एक-दूसरे को दोष दें, दूसरों से राग-द्वेष भी करें, परन्तु जो अपने मन को झाँकता हुआ अन्दर मन की सब तरंगों को पहचानता हुआ अपने-आप में संयम में रहकर उचित बर्ताव करे तो वही अन्दर का देव अपने दूसरे अधिनियम (कानून) के अनुसार ऐसे व्यक्ति के लिए सब स्थानों पर सुख की दृष्टि ही करवाएगा। ऐसे व्यक्ति के लिए ही बैकुण्ठ-धाम कहा जाता है, ऐसे व्यक्ति का सुख (प्रसन्नता) और आनन्द कभी भी क्षीण नहीं होता। इसका तात्पर्य यही है कि अभी आप अपने को अविद्या में, अज्ञान में डाले हुए हो। इसलिए करना यही है कि मेरे से कहीं दुर्वचन न निकल जाए और अकेले में बैठ कर भी मैं किसी की खोटी बात न सोचूं और मेरा मन भी खोटा न रहे, बुद्धि भी खोटी न रहे। बुद्धि खोटी कैसी? जैसे किसी को भ्रम हो गया कि देखो! कितना दुष्ट पुरुष था उसने मेरा पाँव कुचल दिया, अँधा हो कर जा रहा था। ऐसा सोचने में उसकी बुद्धि ठीक नहीं है क्योंकि ये सब मलिन बुद्धि के ही किये हुए निश्चय हैं। जबकि उसमें है तो वही चेतन रूप परमात्मा ही जो सबके अन्दर विराजमान है। तब उसने एक चेतन को क्या समझा कि वह महान दुष्ट है। अब यह जो दुष्टता की बुद्धि है, इसके साथ ही क्रोध भी है, खोटा इरादा भी है और खोटा संकल्प भी है। कई ऐसा कहने वाले व्यक्ति भी हैं कि भगवान् उसको दण्ड देगा, उसका सर्वनाश हो जाये क्योंकि अंधे होकर ऐसे ही कार्य करते हैं। और भी कई ऐसी बातें है जैसे आपके घर के सामने किसी ने कूड़ा-कर्कट फेंक दिया। अब आप इतने ताकतवर हैं नहीं कि उसको उल्टा-सीधा वचन ही बोल दें, परन्तु मन में ज़हर चढ़ा रहेगा। मन ही मन यही कहता रहेगा कि ये ऐसे दुष्ट पुरुष हैं कि भगवान् इनका बेड़ा गर्क कर दे, हमारे दरवाजे को

गन्दा करते हैं, हमारा घर बिगाड़ते हैं। अब मन से तो कह दिया, भगवान् ने करना है या नहीं करना है यह तो भगवान् ही जानता है। परन्तु आपने अपने–आप में ऐसा मिथ्या चिन्तन करके अपना बुरा तो कर ही लिया। अब ऐसी अवस्था में जो मन को देखकर इस प्रकार बोल ले कि "क्यों रे मान भाई, क्यों रे क्रोध भाई! क्यों तू ऐसा कर रहा है, तू जो चाहता है, क्या तेरे कहने के अनुसार हो जायेगा?" अब तू जो ऐसे ज़हर चढ़ाकर घूमेगा तो तेरी रोटी ठीक से हज़म नहीं होने की और तेरे अन्दर खून का दौरा भी ठीक नहीं होगा और साँस भी ठीक नहीं चलेगा। अब उस बर्ताव को यदि तुम तीव्र विष रूप में मन में बिठाये रखोगे तो यह ठीक नहीं, इसको तुम विदा क्यों न करो। तो देखो! ऐसी अवस्था में एक भगवान् का नाम लेता है, राम–राम, शिव–शिव रटता है और एक मन को ऊपर कहे प्रकार से संयम में रखने की चेष्टा करता है, ये भी नाम स्मरण है। ये हैं गुरुओं के वचन जो उचित शिक्षा देने वाले हैं। दातुन करते–करते यदि फिर ज़हर आ गया तो ऐसा कहते–कहते उसको शान्त कर दे कि मैं तेरे को देख रहा हूँ, तेरे चक्कर में नहीं पड़ूँगा, तू अमुक (फलानी) जगह यूँ करवाता है, किसी जगह त्यूँ करवाता है और सबको चक्कर में डाल रखा है। वही तू मेरे अन्दर आ रहा है। तेरे को ही पुराणों में असुर कहा है। ठीक है तू प्रजापति की संतान है पर मैं तेरे चक्कर में पड़ने वाला नहीं, चाहे मेरा कुछ भी अनिष्ट हो गया। घर के सामने गंदा कर दिया तो क्या हो गया, संसार भर में गंदगी फैली हुई है, आँधी भी सब कूड़ा–कर्कट फैला जाती है, पत्ते गिरा जाती है, चलो थोड़ा हो गया तो हो गया। अब शान्त मन से प्रार्थना भी ज़रूर कर देनी है कि देखो भई! ऐसा करना ठीक नहीं है क्योंकि कूड़ा–कर्कट फिर हमको ही उठाना पड़ता है। किसी समय अपने

मन के बीच में, कोई मेरे घर वाले हैं उनको भी क्रोध आयेगा,

कुछ और भी हो जाता है, परन्तु मन में यह रखो कि मैंने न लड़ाई करनी है, न झगड़ा। यदि आप सोचें कि मैं लड़ाई-झगड़ा करके सफल हो जाऊँगा तो शायद बात ज्यादा ही बिगड़ जाए, क्योंकि दूसरे के अन्दर भी वही अन्धकार बैठा है जो मेरे अन्दर बैठा है। आपके अन्दर अन्धकार (अज्ञान) चेत गया तो उसने दूसरे के अन्दर भी वैसा ही जगा दिया, वह कहेगा चलो! मैं फिर तीसरे को जगाऊँ। इसलिए यह जो वैर है, जो अहंकार है, कभी भी इनकी आज्ञा का पालन करना ठीक नहीं है और दूसरों के अन्दर भी इनको भड़काना ठीक नहीं है। अब यदि यह हो गया तो जब आप आराम से घर में बैठेंगे तो आपका मन कहेगा, लो जी! ऐसे सहन करते-करते संसार में कैसे जिया जायेगा? ऐसी अवस्था में यह विचार करे कि अरे भाई! जिया नहीं जायेगा तो तू कर भी क्या सकेगा, कुछ करने की शक्ति है? करने की शक्ति होने पर भी चक्रवर्ती सम्राट सबको दण्ड से रास्ते पर नहीं लगा सकता। ऐसी अवस्था में यदि प्रार्थना से समझा-बुझा कर कुछ करना है तो कर लो, पर मन में ज़हर ले करके क्रोध से, अहंकार से कुछ बुरा करने का भाव और कोई लड़ाई-झगड़े का भाव मत रखो, इससे तो बात बिगड़ेगी ही, बनेगी नहीं। अब जिस तरह से यह क्रोध का दृष्टांत है, उसी प्रकार से राग और काम का है, इनकी जड़ में भी क्रोध है। जैसे कि हम वृद्धावस्था में पहुँच गए; इस अवस्था में हमारी पहली रुचि वाले किसी खाने की बड़ी तीव्र इच्छा हो और वह अवस्था के अनुसार अनुकूल नहीं है। यदि ऐसे किसी खाने की मन को इच्छा हो रही है जो हज़म भी नहीं हो रहा तो उसकी इच्छा रखने वाले मन को यूँ बोलना "ठीक है तू आ गया, तू राग है, बस! तेरा समय निकल चुका, अब तेरा समय नहीं है। अब जो बच्चे हैं ऐसी चीज़ें खाने का उनका समय है।" अब यदि तेरे सामने वैसा पहले की रुचि वाला खाना आ

भी जाए, तब भी तेरी मात्रा इतनी थोड़ी होनी चाहिए जितनी कि तुमको किसी प्रकार की शारीरिक और मानसिक हानि या दुःख न करे। इस प्रकार की भावना करता हुआ व्यक्ति अपने साथ जुड़ा रहता है और अपने भले के रास्ते पर ही अपने-आप को चलाता है। इस तरह से अपने-आप के साथ जुड़े रहने का नाम शास्त्र में 'योग' है। आत्म-संयोग इसे कहते हैं कि अपने-आप के साथ जुड़े रहना और जुड़े रहकर अपने-आप को संयम में रखना और संभालते रहना, आदत के रास्ते फिसलने नहीं देना। भगवान् गीता में कहते हैं कि ऐसे आत्म-संयम योगी में 'मैं' सदा सर्व रूप में बसा रहता हूँ। क्योंकि उसको किसी से वैर तो है नहीं, अब वह यही समझेगा कि जो चेतन पुरुष आत्मा, आनन्द-रूप मेरे में है, वही चेतन पुरुष आत्मा आनन्द-रूप सब में है, सब जगह उसका ही राज है, वही खेल रहा है, दूसरा कौन है? अब यहाँ पर इस प्रकार वैर शान्त करने लग गए। ठीक है! ये लीलाधारी का ही खेल है कि कहीं कुछ प्रकट होकर चक्कर चला जाता है और कहीं कुछ और हम 'तू-तू, मैं-मैं' में पड़े रहते हैं, पर वह चक्रधारी अपनी लीला कर रहा है। इस प्रकार की साधना से भक्ति भाव भी बन जायेगा। इस भक्ति भाव के साथ न तो आपका कोई मित्र है और न आपका कोई वैरी। यदि इस प्रकार का मन है तो कोई आपका शत्रु नहीं, अब किसी के प्रति आपका दुर्भाव या खोटा मन नहीं, केवल चेतन ज्योति पर ही दृष्टि टिकी हुई है। आपको सब जगह वही एक भगवान्, चेतन आत्मा आनन्द-रूप से देखने में आ रहा है। ऐसे पुरुष के लिए ही भगवान् गीता में कहते हैं कि 'मैं' सर्व रूप से ऐसे भक्त का बन जाता हूँ। अब आपको अकेले में भी मन लगाने का रास्ता मिल गया। प्रत्येक व्यक्ति संसार में दूसरों से बातचीत करता हुआ या बातों में ही लगा रहने पर अपना समय सुख से बिताता

है, परन्तु आत्मदर्शी अपने मन से बातचीत करता हुआ और अपने मन को सँभालता हुआ सुख-पूर्वक समय बिता लेता है। उसके लिए संसार से बिछुड़कर रहना कोई समस्या नहीं है। जिसने मन को जीत लिया, मन को मार लिया उसको संसार के साथ लड़ाई-झगड़े की ज़रूरत नहीं। बस! संसार से वह ही लड़े जो अपने मन में कमज़ोर है। जरा मन को तो देखो! इस मन के अन्दर कैसे-कैसे वैरी बैठे हैं? पर इनकी पहचान होनी चाहिए। अब नाम तो आप सुनते ही हैं जैसे, राग, द्वेष, काम, क्रोध, भय, संशय, मान-मोह इत्यादि-इत्यादि। परन्तु नाम सुनने के बाद भी इनका असली चित्र दिमाग में नहीं आता। चित्र तब आयेगा जब दिमाग के अन्दर इनका चक्कर आएगा। जैसे ही इनका चक्कर आये "हाँ भई! देखो, ये वैर चल रहा है, देखो इसने कैसी मन की दुर्दशा बना रखी है? क्या-क्या भाव दिखा रहा है? किधर-किधर खींच कर ले जायेगा? अब जो इसके कहे के अनुसार ही चले तो पता नहीं क्या-क्या बुरी रचना रचेगा," इस प्रकार विचार करता हुआ अब सीधे-सीधे इन दोषों को देखता हुआ यूँ कहे—"मैं तेरे को पहचान गया। तू वह राग है जो सारे संसार को लड़ाता है और लड़ा कर संकट में डालता है।" अब यह देखो कि अकेले बोलने में ही मन लग गया। इनको देखने की भी एक लीला है। फिर इसी बहाने से अब यह लीला बाहर खुलेगी जैसे यह जो मेरे में ऐसे चक्कर चला रहा था, वह चक्कर इसने अमुक (फलाने) व्यक्ति में भी चलाया। देखो उसके साथ कैसी रचना हो रही है, किसी जगह क्या बिगड़ रहा है, किसी को कैसे लड़ाई-झगड़ों में उलझा रखा है। फिर नज़दीक वालों में और दूर वालों में भी ये भगवान् की लीला खुले-आम, बाहर भी होती हुई दिखेगी। जब अपने मन के अन्दर से थोड़ी छुट्टी मिल जायेगी तब यह लीला दिखने और समझने में आयेगी। छुट्टी

तब मिलेगी जब उलझनों से रहित होक़र शान्त मन टिक जायेगा। अकेले बैठकर इस टिकी हुई अवस्था में आत्मा का आनन्द भी प्रकट हो जायेगा और फिर संसार भी ध्यान में नहीं आएगा। ध्यान में आयेगा ये परमात्मा, समष्टि देव। जैसे ये सारे जीव अपने–आप में न्यारे–न्यारे हैं और ये सारा संसार जुड़ करके परमात्मा का ही एक रूप है तो यही समष्टि है। ज्यों–ज्यों हमारी अन्दर की दृष्टि खुलेगी, त्यों–त्यों ये सब संसार की लीला समझ में आने लगेगी अर्थात् जब मैंने अपनी आत्मा से अर्थात् अपने–आप में अपने मन को देखा तो दूसरों का मन भी देखने और समझने में आने लगेगा। दूसरों के वैसे बोल–वाणियाँ भी पहचानने में आयेंगी, दूसरों के भाव समझ में आयेंगे, तब यह भी साफ–साफ दिखेगा कि इन बोलने वालों का ऐसा–ऐसा भाव है। इन ऐसे–ऐसे भाव वालों को संसार में ऐसी–ऐसी वस्तुएँ मिलती हैं, ऐसे–ऐसे बर्ताव मिलते हैं अर्थात् जैसे–जैसे उनकी वाणी के बोल और मन के भाव होते हैं, उन्हीं के अनुसार दूसरों से भी उनको वैसा–वैसा ही मिलता है, यही सब अपने मन में विकसित हुआ–हुआ सबसे उत्तम ज्ञान है। पर है यह उस मनुष्य के लिए जो थोड़ा बाहर की दोनों तृष्णाओं से मुक्त हो। परन्तु ये जो बचपन का मन बाहर फैल रहा है, वह समझता है कि बाहर बिना जीवन नहीं और जिस समय बाहर से निवृत्त होता है, लौटता है तो नींद में चला जाता है अर्थात् जब नींद से जागा तो संसार में रमता रहा और जिस समय संसार से थकावट परेशानी हुई तो नींद में चला गया। तो ये दो ही तृष्णाएं हैं जो कभी भी तृप्त नहीं होतीं, ऐसी भूख का नाम तृष्णा है। इन दोनों से जो मुक्त हो वही कल्याण के मार्ग पर चल सकता है। हाँ, जितना ज़रूरी है उतना रखना अर्थात् बाहर का मन भी रखना और आवश्यकता के अनुसार निद्रा भी लेना और बाकी जितना मिथ्या तृष्णा वाला मन है उसका निरोध

करना अर्थात् उस पर काबू पाना। शरीर की ज़रूरत पूरी करने के लिए, परिवार की जिम्मेदारियां निभाने के लिए और समाज के कर्म करने के लिए बाहर का मन रहना चाहिए। पर यह उसी समय तक रहना चाहिए जब तक बाहर कार्य कर रहे हैं। अब ऐसा स्वभाव बना लिया कि जहाँ कर्म किए, वहीं छूटे। हाँ थोड़े और होते हैं, कई बेचारों की ऐसी चिन्ताएं होती हैं कि हमारी ये जिम्मेवारी है, निभ नहीं रही, दरवाजे पर पड़ी है, सिर पर चढ़ी हुई है, पता नहीं क्या होगा? ऐसी अवस्था में कहते हैं कि मनुष्य को 'अनासक्ति योग' अपनाना चाहिए। भगवान् ने गीता में कहा है, "अनासक्तः कुरु कर्माणि इत्यादि-इत्यादि" कि तुम अनासक्त अर्थात् आसक्ति रहित या चिपकाव से रहित होकर कर्म करो, फल के बारे में अधिक मत सोचो, जो कुछ होना होगा हो जायेगा। हमारे तुम्हारे बस की बात है क्या? अपनी तरफ से आपने सब अच्छा करना है, पर चिन्ता करने से दिमाग इतना परेशान होगा कि उसी परेशानी के कारण खून का दौरा भी बिगड़ेगा, साँस ठीक नहीं चलेगा, अंगों पर उसका असर (प्रभाव) भी ठीक नहीं होगा, तकलीफ भी होगी, हाँ! फिर आपने जो जिम्मेदारी निभानी है, वह भी ठीक तरह से नहीं निभेगी। ऐसी अवस्था में तो "हे प्रभु सब तुम्हारे अर्पण है।" परन्तु आपने अपना कर्त्तव्य कर्म करने में पीछे नहीं रहना है, फिर जो कुछ होता है सहन करना ही पड़ता है। जैसे कोई भी मनुष्य नहीं चाहता कि मैं बूढ़ा हो जाऊँ, पर बुढ़ापा तो आयेगा ही। इसलिए बुढ़ापा सहन करना ही पड़ेगा। कोई नहीं चाहता मैं रोगी हो जाऊँ, पर रोग भी सबको सहन करने पड़ते हैं। क्या कोई मौत चाहता है, परन्तु सबको मरना भी पड़ता है। भगवान् की ऐसी ही मर्जी (इच्छा) है अर्थात् भगवान् के संसार को चलाने के ऐसे ही रास्ते हैं, तो ये ऊपर कहा हुआ सब सहन करना ही पड़ेगा। अब इन्हीं चिन्ताओं को याद करके

हम दु:खी क्यों रहें? जो होना है वह तो होगा ही, परन्तु अपनी तरफ से सब अच्छा ही करते रहना और अच्छाई रखने में प्रमाद (ढिलाई) नहीं करना। बहुत सी वस्तुएँ नहीं टलतीं, इसने भी नहीं टलना, तो यह भी न टले, जैसा समय आयेगा देखा जायेगा। आपने इतना कर लिया, तो बस! आसक्ति छोड़ कर कर्म करना सीख लिया। अब अपने काम करते रहो, अपने मन को पहचानते रहो, क्रोध आए, उसको शान्त करना, मान-अहंकार आये, उसको हटाना। ज्यों-ज्यों आप इन्हें मन के अन्दर देखना शुरू करेंगे तो आपको ठीक पता लगेगा कि राग किसको कहते हैं? द्वेष किसे कहते हैं? वह कौन है? मान क्या चीज़ (वस्तु) है? और इन सबकी माता अविद्या कौन-सी है? ये सारे उस मनुष्य के अन्दर झलकेंगे, जिसने अपने मन के अन्दर की आँख खोल ली। आँख खोलने के लिए यह ज़रूरी नहीं कि आप किसी के पास जा करके उसकी नौकरी करो या इसके लिए पैसे लगाओ। बस! इतना ही है कि थोड़ा कर्म करते-करते, टिक-टिक के कर्म करना सीख लो। टिक-टिक के कर्म करते-करते थोड़ा मन की खबर रहे कि मन किधर जा रहा है और मन को भटकाने वाले दृष्टि, संशय, राग, द्वेष, मान, मोह, काम, क्रोधादि बन्धनों को भी पहचानना सीखो। यह नहीं कि मनुष्य कहता है कि मैं ध्यान में बैठता हूँ, पर मेरा मन नहीं लगता, भागता रहता है। ये भागना दिखता तो उसको भी है, पर फिर भी मन भटकता रहता है। ऐसे समय में निराश न हो, बल्कि उत्साह (हिम्मत) करके जिधर मन भटकता है उसको भी तो पहचाने कि मन कहाँ-कहाँ भटका? किसी की बात मन में लाता है, उसी के बीच में भटकता है, किसी को भला-बुरा समझता है, उसने मेरा मान भंग कर दिया अब मैं भी उसको यूँ सुनाऊँगा, यूँ करूँगा। इस प्रकार वह संसार में ही उलझा रहता है और मन के अन्दर जो इन मिथ्या विचारों

की जड़, मान और क्रोधादि हैं, उनको नहीं पहचानता। जब तक उनको पहचानने की आँख नहीं खुलती और उनको वैरी नहीं समझता, तब तक उनसे मुक्ति का यत्न भी कैसे बनेगा? उनसे तो केवल वह ही मुक्त हो सकता है जो उनको वैरी पहचान कर, मनो-मन धैर्य रखकर, उनको अन्दर की आँख से झाँकता हुआ दूर कर सके और तेरी-मेरी के चक्कर में न पड़े। अब यदि तुम सोचते रहो कि ऐसा नहीं होना चाहिए था तो आपकी आत्मा दु:खी होती रहेगी। न जप ठीक, न विचार ठीक तो ऐसी अवस्था में मन को यही कहना है कि जो होना था सो हो गया। कहीं न कहीं संसार में सब जगह ऐसा होता ही रहता है। अब इसी मोह को बोलना शुरू कर दो कि तेरे को मैंने पहचान लिया, "तू मोह है जो हुए-हवाए के चक्कर में पड़ा हुआ है। जो सुख नहीं मिला उसके लिए दु:खी है, जो थोड़ा दु:ख ज्यादा आ पड़ा उसके लिए भी दु:खी है। कोई बात नहीं, तेरे जैसी दु:ख की चिन्ताएँ तो संसार भर में हैं, कौन इनसे बचाएगा?" अब करना यही है कि भगवान् का नाम लेना शुरू किया और इसको टालना शुरू किया। यह है सक्रिय जीवन; अपने-आप को चेतन बनाना, जगाना और भले मार्ग पर चलाना। अब यदि इस तरह से अपने मन को सँभालने की युक्ति नहीं सोचोगे अर्थात् इनमें आँख खोलने के लिए थोड़ी एकाग्रता या एकान्त की प्राप्ति नहीं रखोगे तो ये कभी भी पहचानने में नहीं आयेंगे। एकाग्रता और एकान्त का तात्पर्य (मतलब) यही है कि जब भी अपने शरीर से कर्म करना तो इतनी चौकसी व सावधानी से करना कि हमको ये भी पता चले कि मन किधर जा रहा है? जैसे दातुन कर रहा है, मन चाय पीने में जा रहा है, तो उसी समय मनोमन बोल ले कि, "चाय कहीं भागी जा रही है, यह तो शरीर की ज़रूरत की भी वस्तु नहीं है। यह तो ऐसा है जैसे बच्चे पीते हैं, हम भी पी लेंगे, पर इतनी

ज़रूरी भी नहीं कि चाय के बिना हम रह ही नहीं सकते, चाय का क्या ख्याल करना।" चाहे राम-राम जप ले, भगवान् का नाम स्मरण कर ले, थोड़ा विचार जगा ले कि देखो! चाय का फालतू राग है, न कोई पेट भरने की वस्तु है, न कोई भला करने की बल्कि खाली एक तृष्णा है। अब यह पूरी नहीं हुई तो यह भी दिमाग को परेशान करती है। इन विचारों द्वारा चाय को भुलाकर फिर दातुन करने का ही पता लगे। चाय का ख्याल तक न आये तो ऐसी अवस्था में यह कर्म, कर्मयोग कहा जायेगा। ऐसे थोड़ा सीखते-सीखते उद्योगी मनुष्य कुछ और भी सीखता है, जैसे भई! ये बार-बार चाय का मन उठता है, अब किसी दिन बिना चाय के भी रह कर देखूँगा अर्थात् व्रत करके, फिर मन कैसा होता है- इसकी भी पढ़ाई करूँगा और इसको पहचानूँगा और पहचान कर जैसा करना या रहना चाहिए उस तरह का यत्न भी करूँगा। ये पुराने ऋषियों की बातें हैं। इसलिए बहुत से व्रत रखे हुए हैं जैसे कि किसी में नमक छोड़ कर देख लेना, किसी में मीठा छोड़ कर, किसी में अन्न छोड़ कर देख लेना और किसी में रात जाग कर देख लेना। शिवरात्रि के अवसर पर इन दोनों तृष्णाओं का निषेध इसलिए रखा है कि ये तृष्णा वाला जो मन है, यह नाना प्रकार से बंधा हुआ है। प्रथम तृष्णा तो खाने-पीने में है, क्योंकि यह इसके बिना रह नहीं सकता। यदि नहीं खाया तो मन उदास, किसी से बोलने की इच्छा नहीं, काम करने की इच्छा नहीं, तो ऐसी अवस्था में बस! नींद में जाना चाहता है, यह है दूसरी नींद की तृष्णा। अब थोड़ा नींद को भी जीतना है। इसलिए रात को जागता है, नींद नहीं लेता अर्थात् जब कोई नींद नहीं ले पाता या उसके निद्रा के सुख में कोई विघ्न करता है तो चिड़चिड़ा दिमाग क्या-क्या दोष देख रहा है? क्या-क्या शंका-भय मन में पड़ रहे हैं? कि पता नहीं, कहीं नींद न लेने से पागल न हो

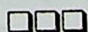
जाये, कहीं ऐसा न हो जाये, वैसा न हो जाये। ऐसी अवस्था में यूँ विचार करे कि देखो भई! ये जो बचपन से प्रकृति की आदतें पड़ी हुई हैं, इनको पूरा करने की कितनी ज़रूरत है? यदि इनके बन्धन से छूटकर हम आराम का साँस ले सकते हैं तो फिर इनकी दासता में क्यों रहना? एक तो यही है कि व्रत के दिन खाया तो नहीं पर संगत के बीच में हँसी-खेल में समय बिता दिया। पर ठीक उद्योगी वे होते हैं जिन्होंने पहले तो पेट भर तृप्ति का खाया नहीं, फिर एकान्त का सेवन किया। अब एकान्त में सेवन करके देखो तो सही, मन कैसा होता है? हाँ जी! वह खाना याद आ रहा है जो आज खाया नहीं। चलो नहीं खाया तो क्या हो गया, जीवित तो रहेंगे ही, बल्कि हाज़मा तंदुरुस्त हो जायेगा। एक ही दिन की तो तंगी है। एक दिन की तंगी सहन कर ली तो आपका बल बन गया। इसी तरह नींद की तृष्णा है, आज रात नींद नहीं लेनी, ठीक है! कीर्तन करते, सत्संग करते-करते रात बिता देंगे, ये भी पुण्य है। पर सबसे ज्यादा पुण्य है, अकेला बैठे, अकेला जागे और जाग-जाग कर फिर देखे कि मन किधर-किधर जाता है? नींद न लेने से किन-किन मिथ्या भावों में बहाता है? क्या-क्या शंकाएँ उपजाता है? जिधर-जिधर मन जाता है, उसको पहचानते जाओ और जैसे-जैसे पहचानते जाओ, वैसे-वैसे और बाहर के दूसरों के उदाहरणों द्वारा इनको बुद्धिपूर्वक दुःख सहन करके टालते जाओ, जैसे कि विवाह-शादियों में बच्चे भी रात-भर जागते रहते हैं, नींद न लेने पर उनके दिमाग तो कहीं पागल नहीं होते। जगराते, नाटक, स्वाँग इत्यादि में भी मनुष्य रात-भर जागते रहते हैं और जागते हुए उनको दुःख भी नहीं होता, बल्कि वे सुखपूर्वक जागते हैं। इसी प्रकार जो कर्तव्य परायण होकर एकान्त में भी अन्दर की आँख खोलकर मन के विकारों को पहचानता हुआ, उनको

देखते-देखते टालने का अभ्यास करेगा और उससे जो थोड़ी तंगी

या दुःख होता है उससे भी यदि नहीं डरेगा तो वह एक दिन निद्रादि की तृष्णा को भी जीतकर अन्दर की आत्मा के परमानन्द को एकान्त में बैठा हुआ पायेगा, जब कि रात को स्वाँग तथा नाटकों में जागने वाले उसकी तुलना में थोड़ा ही सुख पाते हैं। इस प्रकार जो ऊपर कहे अनुसार अपने अन्दर (एकान्त) की दृष्टि (नज़र) खोलेगा, वह सदा बने रहने वाले सुख को पायेगा उसको मृत्यु का भय भी नहीं रहेगा। यह अन्दर की विद्या है। इससे उस मनुष्य को अन्दर के सभी सत्यों की खबर लगेगी। मनुष्य थोड़ा-सा अपने सुख के रास्ते को टाल करके फिर इस की चाल को देखे कि यह मन किधर जाता है, फिर अपनी चाह से थोड़ा दुःख को स्वीकार करे अर्थात् कोई थोड़ा-सा दुःखपूर्वक पूरा होने वाला व्रत या नियम अपना ले; जैसे नींद न लेने का, खाना न खाने या छोड़ने का, इस प्रकार स्वेच्छा से (जान के) थोड़ा दुःख लिया। एक दिन नमक छोड़ने का कि भई! नमक के साथ बंधे हैं, "थोड़ा कहीं नमक कम हुआ नहीं कि क्रोध आता है।" यह सारी तृष्णा कितनी गहराई तक है, यह तो मनुष्य अपने-आप में अकेला पढ़ाई कर सकता है। जिस दिन इसने आत्मा के अन्दर यह नाटक देखना शुरू कर दिया तो फिर इसको इतना ज्ञान होने लगेगा कि यह आत्मा सबके अन्दर समान ही है। जैसे मेरी आत्मा, उसी प्रकार सबकी आत्मा है; यही सारे का निचोड़ है।

4. जो सर्व की आत्मा है, उसी का नाम परमात्मा है। अब परमात्मा भी यही है कि मेरे अन्दर जो पवित्र ज्योति बैठी है, जो आनन्द-रूप है, वही दूसरों के अन्दर भी बैठी है। अब किस से वैर, किस से झगड़ा? ऐसा करने वाले व्यक्ति को मौत का भय नहीं होता क्योंकि उसको अपने अन्दर वह तत्व नज़र आता है जो सारे संसार को रच रहा है। वह हमारे अन्दर ही तो है, जैसे देह

सो गया तो नींद में देखो वह कितने सपने देखता है? वहाँ धरती भी है, आकाश भी है, सूर्य-नारायण भी है, हज़ारों मनुष्य घूम रहे हैं और एक मैं भी हूँ, अब यह किसमें से निकला? जिसमें से निकला है, वह हमारे अन्दर ही तो बैठा है। हम तो इतने बड़े हैं अर्थात् हमारी आत्मा इतनी बड़ी है या व्यापक है कि सारे संसार को अपने अन्दर समेट रही है, पर हमारी समझ में यह आत्मा नहीं है। हमारी समझ में तो छोटी-मोटी कुनबे (परिवार) वाली आत्मा है, तू-तू, मैं-मैं वाली। उस महान् या व्यापक आत्मा की समझ इसलिए नहीं है कि जिस जगह ये समझ होती है, वहाँ जाने के लिए मन नहीं बनाया। ऐसे व्यापक को पहचानने वाला मन वह होता है जो सारे संसार के बन्धनों से रहित होकर अपने में जागे। जब वह अपने में जागेगा तो फिर वह देखेगा कि नींद में तो स्वप्न दिखा है, किन्तु अब मैं जाग रहा हूँ तो ध्यान में भी सारा संसार दिखता है। ऐसी अवस्था में ऋषि-मुनि, महात्माओं ने अपने अनेक जन्मों के हाल देख लिए; ऐसी कई कथाएं शास्त्रों में बताई हैं। पर दिखते ऐसे हैं कि शान्त टिके मन में धीरे-धीरे बीती हुई बातें याद करने लगे। तो पहले-पहले बचपन की बातें याद आने लगेंगी, पर उस मन को आने लगेंगी जो जाग रहा है और संसार की उलझन से परे है, नहीं तो कल का खाया भी याद नहीं आता कि कल रोटी किससे खाई थी। तो यह है आत्मा के अन्दर अज्ञान का पर्दा, इसको हटाने के लिए स्मृति रखनी चाहिए। स्मृति का तात्पर्य (मतलब) है होश रखकर सब काम करना अर्थात् अपने कर्तव्य की याद बराबर बनी रहे। बस! यही है सब।



प्रवचन–16

दिनांक: 2.1.1994

1. पिछले रविवार को यह बतला रहे थे कि यह जो पाने की सत्ता या वस्तु है वह अपने अन्दर ही है और उसको मनुष्य स्वयं अपने पवित्र यत्न से ही पायेगा। अब यह जो अन्दर पाने की सत्ता या वस्तु है वह इस प्रकार की है कि सबके अनुभव में आने योग्य भी है, परन्तु इतना अवश्य है कि मन थोड़ा अन्तर्मुख हो। जिस प्रकार का जो यह जीवन इस संसार में आया है, वह बाहर की तरफ़ बह रहा है। बच्चे की आँख बाहर खुलती है, कान भी बाहर की वस्तुएँ सुनता है, जिह्वा रस भी बाहर के लेती है, नाक गन्धियाँ भी बाहर की सूँघता है, स्पर्श भी बाहर की हवा के ठंडे–गर्म पाता है और मन भी बाहर की ही सोचता है। तो ये सब इन्द्रियों के रास्ते बाहर की तरफ़ हैं। अब इन रास्तों से जो कुछ भी मन बनता है वह भी बाहर का ही बनता है, इसी को ही बहिर्मुख मन कहते हैं। अतएव, इसके बीच में दो प्रकार के तत्त्व हैं, एक तो यह मनुष्य के अन्दर स्वयं का है जो कि आम पशु–पक्षियों में नहीं है और एक तत्त्व या सत्ता ऐसी भी है जो आम पशु–पक्षियों से न्यारी (अलग) भी नहीं है। जैसे कोई भी जीव होगा उसके अन्दर जो कुछ क्रोध आयेगा वह उसको जानकर नहीं लाता, जन्म से बच्चे को भी क्रोध आता है, बच्चे को भी दुःख–सुख मालूम होता है, नाना प्रकार की उसकी इच्छाएँ भी होती हैं; 'मैं' और मान भी आ जाता है। तो ये जितनी वस्तुएँ हैं, वे पशु–पक्षियों के अन्दर भी आती हैं और वे आने के कारण से अपने ढंग से बाहर दुनिया में भगाती हैं और अपने ढंग से कर्म भी करवाती हैं। तो यदि मनुष्य इन्हीं शक्तियों के साथ ही बहता रहा तो वह कभी भी यह नहीं सोच सकता कि वह अपने कल्याण

के मार्ग तक पहुँच जायेगा। जैसे चींटी को दाब आने पर वह काट लेती है, साँप भी डंक मारता है, खरगोश को कुत्तों का भय होता है तो वह भी एकदम भाग लेता है, जब गर्मी लगती है तो हम छाया में चले जाते हैं तथा जब ठंडी लगती है तो धूप में भी बैठ जाते हैं। अब चाहे पशु हो, पक्षी हो या मनुष्य हो, सबके अन्दर समान रूप से ये अन्दर की तरंगें आती हैं जो जीवन को चला जाती हैं। अब यदि मनुष्य इसी तरह बहता रहा, जिस तरह कि आम पशु-पक्षी, तो फिर उस मनुष्य के अन्दर भी यह समझने का ज्ञान नहीं है जिससे कि वह अपने कल्याण का अधिकारी हो सके। तो इसके लिए फिर यही उपाय़ है कि थोड़ा अपनी बुद्धि को उन्नत करके उन शक्तियों के वेग या बल में न बह करके प्रत्युत् (बल्कि) अपने-आप को मनुष्यता (इन्सानियत) के स्तर पर बनाए रखे। मनुष्यता का स्तर क्या है? जहाँ पर बुद्धि जाग रही है, सोचने की शक्ति है तथा सोचकर अपने हित के बारे में समझने की शक्ति है और फिर समझकर उसके अनुसार अपने को झुकाकर चलने की भी शक्ति है। उदाहरण के तौर पर मान लिया कि किसी शक्तिशाली मनुष्य के सामने आपको क्रोध आ गया और क्रोध आने पर आपसे कुछ उल्टा बोला गया तो वहाँ पर आप कुछ न कुछ खोवोगे ही। अब यदि आपने वहाँ पर उस क्रोध को समझ करके या दबा करके आराम से दो वचन बोल दिये होते तो उससे आराम से छुट्टी पा जाते। यही छुट्टी पाने का ही नाम है– मुक्ति अर्थात् जिधर उल्टी जगह मन जा रहा था, उधर जाते-जाते आपने अपने मन को रोक लिया। पर अन्दर का देव जो सबके अन्दर समान रूप से बैठा है उसका नाम वेदों में चाहे 'प्रजापति' है वह सब जीवों के अन्दर है। जैसे कि पशु-पक्षियों के अन्दर जब खाने की भूख लगती है तो वह खाने की वस्तु देख करके उसको पाने के लिए भाग लेता है। पशु यह नहीं जानता कि उस मनुष्य के खेत में जो घास है वह मेरे लिए है या नहीं। परन्तु

जैसे ही उसके अन्दर (खाली) एक प्रकार से खाने की तृष्णा या भूख उठेगी तो वह मुँह उठा कर उसकी तरफ़ चल देगा। भले ही खेत की बाड़ लगी हो, उसको भी वह तोड़ देगा और चाहे कैसे भी हो मुँह में डाल लेगा। परन्तु मुँह डालने पर उसको यह पता नहीं कि जो यह व्यापक चेतन है, जो सबके अन्दर ज्ञान रूप से बसा हुआ भगवान् है, वह उस व्यापक चेतन के विपरीत करने जा रहा है और विपरीत करके दण्ड पाने को जा रहा है अर्थात् यदि वह खेत में घुसेगा और बोयी हुई हरी फसल को बिगाड़ेगा तो पता पड़ने पर बुरी तरह पिटेगा भी और भागेगा भी। यह सब बुद्धि का बल न होने का ही परिणाम है। अब इस प्रकार सोच कर निश्चय करने की शक्ति तो केवल मनुष्य के अन्दर ही है और सारे व्यापक की वह एक ही है। इस शक्ति को ले करके यदि देखें तो गीता में जैसा कि भगवान् कृष्ण अर्जुन को कहते हैं: 'व्यवसायात्मिका बुद्धि इत्यादि-इत्यादि', अर्थात् किसी वस्तु का भी पक्षपात रहित निर्णय या निश्चय करने की जो बुद्धि है वह सब मनुष्यों के अन्दर समान रूप से 'मैं' ही हूँ अर्थात् मेरा ही रूप है और जो पक्षपात वाली बुद्धि है वह तो सबके अन्दर अपने-अपने पक्षपात के अनुसार न्यारी-न्यारी है। परन्तु जो निष्पक्ष बुद्धि है वह सब मनुष्यों में एक ही प्रकार की या समान रूप वाली होती है। अब जैसा कि उपर्युक्त पशु का उदाहरण दिया गया है, उसी प्रकार मनुष्य ने भी चाहे यह समझ तो लिया कि अमुक (फलाँ) वस्तु उसके पाने की नहीं है या उसके लिए ठीक नहीं है। इतना होने पर भी यदि वह उस वस्तु को पाने के लिए लपकेगा तो यही समझना चाहिए कि व्यापक उसके साथ नहीं है तथा व्यापक का निश्चय उसके विपरीत ही होगा और यह निश्चय उसका अपनी पक्षपात वाली बुद्धि का ही है। अतः यह आवश्यक है कि अपने भले का निश्चय करके मनुष्य अपने आप में उसको

धारण भी करे। जैसे मान लो! किसी वस्तु का लोभ है, किसी के बाग का फल ही तोड़ने की इच्छा है या किसी दूसरे की वस्तु उठाने की या क्रोध में किसी को कड़वा बोलने की या किसी दूसरे की हानि करने की भी इच्छा हो सकती है। अपनी 'मैं' नहीं मिली या किसी ने अनादर कर दिया तो उस पर टूट पड़ने की भी इच्छा है। अब यह कितनी ही प्रकार की प्रेरणायें पशु-पक्षियों के अन्दर भी हैं तथा मनुष्य के अन्दर भी हैं। तो कहने का अभिप्राय यह हुआ कि इतना तो वह अन्दर का देव है जिसने जीवन का स्रोत बाहर की तरफ़ चला दिया। अब इसमें मनुष्य की बुद्धि यदि निर्णय करके अपने-आप को सम्भाल कर चल गयी, तो इतने में इन्सानियत या मनुष्यता है। अब यही मनुष्यता होते-होते कहाँ तक जायेगी? यही बताने का हमारा विशेष विषय है। अब यह कहाँ तक जायेगी? यह वहाँ तक जायेगी जहाँ तक कि वह हमारा आनन्द-स्वरूप चेतन प्रभु बैठा है और सब जीवों के अन्दर समान है। हम सो रहे हैं, वह साँस चला रहा है; हृदय की धड़कन चला रहा है। ऐसा कोई अवसर नहीं कि उसके नियम के बीच में कोई अड़चन पड़ जाये। बच्चे के अन्दर अंग बढ़ रहे हैं, सारे काम हमारे देह के अन्दर चल रहे हैं, बुड्ढों के अन्दर सारे कार्य बुड्ढों के ढंग से हो रहे हैं, खाना हज़म हो रहा है। यह कोई जानकर नहीं कर सकता और बाहर की कोई मशीन भी नहीं कर सकती। अब यह जो देव है कीड़े के अन्दर भी इसी तरह बैठा है, पशु, पक्षी के अन्दर भी इसी तरह तथा पेड़ों के अन्दर भी सारे रस चला रहा है। तो यह सबके अन्दर है। अब यह जो है सब के अन्दर सम है, इसके अन्दर मन नहीं है। फिर इसके अन्दर क्या है? इसके अन्दर अपने चेतन रूप ज्ञान की शक्ति है और जो सदा बनी रहने वाली है, इसका नाश कभी भी नहीं है। जैसे विद्युत् शक्ति (बिजली) है, इसका

नाश कभी भी नहीं होता। यह एक ऐसी धारा (करन्ट) है, जिस जगह जायेगी दूसरे को जला देगी परन्तु इसका नाश कोई नहीं कर सकता। तो हमारे अन्दर भी चेतन के साथ उसके करने-कराने की शक्ति है, इसका नाम है 'माया' या दूसरे शब्दों में प्रकृति। प्रकृति का अर्थ है कि जिसके प्रकर्ष (खूब करके) से नाना प्रकार के यत्न हों। पशु-पक्षी के अन्दर अपने ढंग से, कीड़े-मकोड़ों के अन्दर अपने ढंग से, पेड़ों के अन्दर अपने ढंग से तथा मनुष्य के अन्दर अपने ढंग से। तो यह नाना प्रकार के यत्न वाली शक्ति है, इसको संसार में कोई मार नहीं सकता। अब यह सदा बनी रहेगी और फिर इतना अवश्य है कि जिस तरह से इसको कमाया गया, उसी ढंग से यह अपने अन्दर से वस्तुएँ निकालेगी। अब एक मनुष्य ने इसको कैसे कमाया है कि प्रकृति के प्रभावों में बह करके (जैसे कि पशु बहते हैं) अपने को संभाला नहीं, क्रोध में कड़वा बोल गया, जहाँ थोड़ा खाने की इच्छा हुई तो किसी का भी उठा कर खा गया और जैसी प्रेरणा आयी वैसा ही कर गया, संशयों में बहता-बहता न जाने किन-किन सोचों में पड़ा-पड़ा अपना साँस भी घुट-घुट कर चला रहा है, जिससे शरीर के अंगों पर न जाने किस प्रकार का प्रभाव पड़े। जो बिना विचार के इस शक्ति में बहता रहा तो कोई पता नहीं कि मनुष्य मर करके मनुष्य बनेगा भी या नहीं। परन्तु एक बात तो है कि यदि इसमें प्रत्येक स्थान पर जहाँ-जहाँ भी इसका कोई प्रभाव आता है, वहाँ-वहाँ पर ही बुद्धि को टिका करके अपने-आप को पहचान कर ठीक कायदे के अनुसार चला सका तो यह मनुष्य तो पक्का है ही और इसके आगे और भी नाना प्रकार की उत्तम गतियाँ हैं चाहे अभी मनुष्य को समझ में आवें या न आवें। मनुष्य बन के ऐसे प्रकार से भी है कि देवता समान है। हर समय अन्दर ही लीला करती हुई इसकी विद्युत् (बिजली) जैसी शक्ति है।

जैसे कि यह स्वप्न के बीच में नाना प्रकार की रचना रच देती है, जबकि वहाँ पर क्या-क्या रचा हुआ है, ऐसी निर्माण करने वाली कुछ भी वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। इसी प्रकार यह मनुष्य के मन को बहलाने के लिए नाना प्रकार के लोकों को रच देती है। जैसे ब्रह्मलोक रच दिया, नाना प्रकार के अपने बन्धु दिखा दिये, कहीं बन्धुओं के बीच में मौज करता हुआ अपने को दिखा दिया, तो ये जो हैं सब पीछे की गतियाँ हैं। परन्तु शक्ति तो इसकी (ज्ञान की)है, थोड़ा-सा मनुष्य यदि बुद्धि को अन्दर करे और अन्दर बुद्धि करके विचार करे तो सबको यह विद्या मिलेगी और सबको इस शक्ति का पता भी लगेगा। परन्तु जब तक अन्दर झुकता नहीं (अन्दर की ओर सरकता नहीं) अर्थात् बाहर संसार में ही पशु-पक्षी के समान बहता रहता है तब तक इस अन्दर की शक्ति का सही परिचय नहीं मिलता।

2. अब तक जो पहला जीवन बचपन से मिला है वह तो संसार में बाहर की तरफ़ का धक्का है कि बाहर ही पहचानो बाहर ही देखो, बाहर ही सूँघो, सुनो व चखो, बाहर के ही सारे काम करो और बाहर ही लड़ाई-झगड़े करो और बाहर ही उन्नति करो। अब बाहर के बाहर में ही चलते-चलते यह शक्ति यहाँ तक बहा कर ले जाती है कि मनुष्य को मालूम होता है कि इसमें अच्छा होगा, परन्तु करने के बाद मालूम होता है कि हाय-हाय करके अन्त में दुःख ही है। अब इस अवस्था में यदि यही बुद्धि जाग गयी तो शास्त्र वालों का यही आदेश है कि बुद्धि जागने पर यह मनुष्य कल्याण के मार्ग का अधिकारी हो गया, फिर बुद्धि जागने पर अपना बुरा-भला समझ गया तथा बुरा-भला समझ करके भलाई के अनुसार अपने को चला गया, जैसे अपने क्रोध को मार गया, गलत खाना छोड़ गया, किसी के क्रोध के वचन आने पर सहन शक्ति से काम ले गया, मन से किसी का खोटा

नहीं सोचा, थोड़ा बहुत निद्रा के बन्धन को भी जीत करके, विचार करके, अपनी बुद्धि को भी सम्भाल करके नियम से अपने को रख सका, तो ये सारे प्रकार के धर्म जो पालन कर गया, वह मनुष्यता (इन्सानियत) के स्तर से कभी नीचे नहीं गिरेगा। ऐसा मनुष्य उन्नत होता–होता इतना उन्नत होगा कि बाहर से हट करके भी जब ऐसी अवस्था आ जाये कि अब वह बाहर का कुछ भी नहीं जानता, तो अन्दर जागेगा। अब जिसको कि मैं पहले कह गया हूँ कि जो शक्ति अन्दर बैठी हुई है अर्थात् अन्दर ही सब कुछ देख रही है, सुन रही है तथा सब के जीवन के अन्दर काम कर रही है, तो अन्दर जाग जाने पर उसके साथ एक रूप हो जायेगा तथा एक रूप हुए को जैसे वह आनन्द–रूप है उसी प्रकार उसे आनन्द–रूप में अपने–आप भी अनुभव करेगा। अतः अकेला बैठा हुआ भी यह संवेदन (महसूस) करेगा कि नींद का आनन्द इतना नहीं था जितना कि इसके साथ जागते–जागते बैठे रहने का आनन्द है। अब इस आनन्द को पा करके पुराने लोग कहते हैं कि मनुष्य की यह समझ बनेगी कि जो पाना था सो पा लिया अब शेष पाने का कुछ नहीं रहा। जैसे छत्तीस काम छोड़कर भी मनुष्य सुख की जगह जाता है, उसी प्रकार सब वस्तुओं को छोड़कर वह मनुष्य समझेगा कि मेरा आनन्द बना रहे, फिर जैसे कि वह बना रहे उसी के ढंग से चलेगा। अब देखो! जैसे कोई भी, चाहे अभी छोटा बच्चा ही है, जहाँ उसको सुख मिलता है वहीं जाता है। क्या पशु, क्या पक्षी, सुख के अनुसार ही तो सब चलते हैं और जहाँ से उनको दुःख होता है, वहाँ से भागते हैं और यह अन्दर का स्वाभाविक सुख है, जो कि है तो उसी का, नींद में भी है; और किसी समय भी है। परन्तु इतना अवश्य है कि यह खाली सुख ऐसे किसी का बना नहीं रह सकता, बनेगा उसी का जो इसको (सुख को) ढंग से बनाये रखने का साधे। अब साधने के लिए यही है कि जिस

प्रकार आम जीव का (प्रकृति का)धक्का है, पशु-पक्षियों के अन्दर भी जीवन है, उस जीवन में प्रकृति के धक्के को समझ करके उस पर काबू पा करके विवेक और विचार द्वारा अपने अन्त भले के अनुकूल चलने की हिम्मत रखे और फिर थोड़ा उसके ढंग का अनुशासन भी अपने-आप में अपना ले। कैसे? जैसे थोड़ा कड़वा भी खा सकता हूँ, थोड़ा नींद को भी जीत सकता हूँ, अपने वचन भी ठीक रख सकता हूँ, मन के भावों को भी ठीक रख सकता हूँ। इतना यदि है तो समझो! वह अन्दर जाग गया और यदि ये पहचानने में नहीं आते तो ये अपने ढंग से बाहर चला जायेंगे, कड़वा बुलवा जायेंगे, ज्यादा खिला जायेंगे, दूसरों से ये लड़वा जायेंगे, चोरी, झूठ, तूफान, जीव हिंसा आदि जैसे सारे दुष्कर्म करवा जायेंगे। अब इन्हीं को देख करके पुराने लोग कहते थे कि भाई! यह मत समझो कि मनुष्य सदा मनुष्य ही बनेगा। चौरासी लाख योनियाँ है, जैसे-जैसे अन्दर भाव होंगे, सारी शक्लें उनकी ही हैं। अब इसके लिए उन्होंने थोड़ा-सा प्रमाण दिया है कि जैसे स्वप्न के बीच में आप तो अकेले हैं, नींद में सोये हुए हैं, परन्तु वहाँ स्वप्न की सृष्टि के बीच में आप को क्या-क्या दीखता है? कुत्ते भी दीखते हैं, पशु भी दीखते हैं, भागते सिंह तथा व्याघ्र तक दीखते हैं, साँप भी दीखते हैं। तो ये सब कुछ आप के अन्दर कहाँ से निकला? जब आपके अन्दर ये सब दीख रहे हैं तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि इनके संस्कार नहीं हैं, आपके संस्कार हैं, तभी वे दीखे, तो पुराने लोग यह भी बता देते थे कि मान लो! किसी के सुख को देखकर ऐसा भाव बन गया कि 'मैं' तो सुखी हूँ परन्तु वह मेरा वैरी इस प्रकार सुखी क्यों है? अर्थात् दूसरे के सुख को अपने अन्दर सहन न कर सकना, तो समझो! यह बुरा भाव है। अब यही कहीं ऐसे मान लो कि ध्यान में आ गया या कहीं नींद में ऐसा सो गया

कि मन ठीक नींद नहीं ले पाया तो वह ऐसा देखेगा कि एक कुत्ता भागा जा रहा है, तो अब बताओ कि वह कुत्ते की शक्ल किसने बनायी? उसी ज्ञान-देव चेतन ने उस संस्कार के कारण, जो कि किसी के सुख को नहीं सहन कर सकता था, उसकी शक्ल रच दी। क्योंकि कुत्ता आप कोई खाने के पदार्थ को स्वयं खाते रहने पर भी दूसरे कुत्ते को वैसा खाते हुए देख कर सहन नहीं कर सकता और अपनी रोटी छोड़ कर भी उसको काटने जायेगा। तो जब यही भाव लेकर मनुष्य मरेगा तो क्या वह कुत्ता नहीं बनेगा? इसलिए पुराने लोग कहते थे कि भाई चौरासी लाख योनियां हैं। आपके अन्दर जिस ढंग से हवाएं बैठेंगी तो उसी ढंग का आपका आसन होगा। अब यदि आप किसी के बारे में गलत सोच रहे हैं तो हो सकता है कि झट से आपके पाँव में बल पड़ जाये, मन ढीला हो जाये, टेढ़े हो करके शरीर को नीचे झुका करके पता नहीं किस तरह सोते हैं, बस उसमें जो हवा बैठेगी वह कुत्ते जैसी ही होगी और इसी तरह किसी का सुख देख करके जले तो नहीं, परन्तु इतना तो अवश्य हो गया कि यह सुख मेरे को भी हो, तो यही है-ईर्ष्या भाव। अब इस ढंग से आपके अन्दर दूसरी हवा चलेगी और दूसरी हवा के साथ दूसरी शक्ल होगी। तो जितने-जितने प्रकार के ये भाव हैं, जैसे कहीं डर का भाव, कहीं किसी का खोटा करने का भाव तथा चाहे वैसा करने की क्षमता, योग्यता या शक्ति हो या न हो, जितने ये भाव हैं ये सब आप के अन्दर संस्कार रूप में बड़ी बारीकी में लकीर डाले बैठे हैं। चाहे यूँ कहो, जैसा कि, गरुड़ पुराण में आता है कि यह चित्रगुप्त है जो सारे चित्र (फोटो) को गुप्त करके, छिपा करके बैठा हुआ है। अब जैसे नींद में भी खिल करके यह नाना शकलें दिखाता है। कहीं कुत्ता दिखा दे, शेर दिखा दे, बघेरा दिखा दे, कौआ दिखा दे तो कहीं वानर दिखा दे। अब ये सब कहाँ से आये? ये

इन्हीं के संस्कार बनते हैं। फिर यदि मनुष्य मर जायेगा तो कैसे नहीं दिखा सकेंगे। फिर भी वह शक्ति है, नींद और मृत्यु में कोई अधिक अन्तर नहीं है। परन्तु अन्तर केवल यही है कि नींद से उठकर मनुष्य फिर वही संसार में देखता है, और मृत्यु में यह शरीर तो रहेगा नहीं, परन्तु संस्कार तो नींद में भी वहीं हैं। जैसे स्वप्न में यह शरीर तो मुर्दा-सा पड़ा हुआ है और वहाँ कोई दूसरा शरीर लिए हुए घूम रहा है। तो इसीलिए ऋषि-मुनियों ने कहा है कि भाई! जरा बचने के लिए थोड़ा यह ख्याल करना कि यह नहीं है कि मैं अपना मनमुखापन रखूँ। मनमुखे के विपरीत है गुरुमुख बनना अर्थात् थोड़ा नियमों के अनुसार अपने जीवन को चलाना। जो गुरु लोग होते हैं वे कुछ उसूलों के अनुसार अपने जीवन को ढालते हैं और उसूलों के अनुसार ही जीवन को ढाल करके तथा उसूलों को अपना करके चलते हैं। यह नहीं कि चौरासी लाख योनियों के जीवों में जिस प्रकार की प्रेरणा हुई उसी प्रकार चल पड़े। जैसे उनको क्रोध आ गया तो वे लड़ पड़ते हैं, भूख लगी तो किसी के भी घर में घुस कर खाना चाहेंगे। भय में भागते हैं और नाना प्रकार के और भी जैसे-जैसे उनके विकार हैं वो सब करते हैं तथा वही मनुष्य भी करता है, तो इन्हीं में ही नहीं बहते रहना। थोड़ा-सा अपनी बुद्धि को जगा करके, इन विकारों से टल करके, अपने को सम्भाल कर चलने की इच्छा रखना। सम्भाल कर चलने का ही नाम है- 'सम्भल ग्राम'। अपने-आप को धारने का या धारण करने का ही नाम है-धर्म। तो थोड़ा धर्म के रास्ते चलने के लिए अपने-आप को झुकाना और अपने-आप को तैयार करना। अभी तैयार करते गए तो पहले मोटे पाप टलेंगे जैसे कि बाहर कम से कम जीव हत्या से ही हट जाये, चोरी झूठ से ही हट जाये, दुराचार से ही बच जाये, नशे-बाजी से बच जाये, थोड़ा खाना-पीना नियन्त्रण (काबू) से खाये, थोड़ा

अकेले बैठकर मन के विचारों को भी पहचाने कि कौन से विचार खोटे आये? गलती है तो थोड़ा पहचान भी ले। उसको सुधारने के लिए संकल्प (इरादा)भी बनाये। दूसरे दिन उसके अनुसार ठीक चलने के लिए हिम्मत भी करे। तो इस प्रकार का जो जीवन होगा, वही बुद्धिपूर्वक है; यह बुद्धिहीन नहीं कहा जायेगा। क्योंकि बुद्धि है तो ही यह सब चल सकेगा। यदि यही बुद्धि कुंठित हो गयी, खुंडी हो गई या ढीली पड़ गई तो यह जीवन फिर क्या है? वही जैसा कि पशु-पक्षी का। अब जैसी प्रेरणा, जैसा धक्का या जैसी तरंग आयी उसी तरह का बोल निकलेगा, उसी तरह के भाव निकलेंगे, वही नींद में जायेंगे; तो वह संसार में व्यापक की दृष्टि में अपराध होगा। अब देखो! जैसे किसी ने किसी की कोई वस्तु उठा ली, तो इस प्रकार का कर्म करने के बाद ऐसा मनुष्य अपने को व्यापक से छुपायेगा। व्यापक जो यह जीवन का स्रोत है अर्थात् जो ये सारे मनुष्य बड़े आराम से रह रहें हैं, इनके बीच में वह यह तथ्य प्रकट नहीं कर सकता और आँखें बन्द करके, मन को झुका करके संकोच से रहेगा। फिर वह जो उसका चोरी का कर्म है वह इन सब के बीच में उसको जन्मने नहीं देता। जब वह सब मनुष्यों की सृष्टि से हटा तो इसका अभिप्राय यही है कि वह मनुष्यों की सृष्टि नहीं है और फिर जब वह सोयेगा तो संस्कार भी अपने ढंग का डर, शंका वाला होगा; पता नहीं किस प्रकार का होगा? कुत्ते का होगा, गीदड़ का होगा या बिल्ली का होगा? इसीलिए शास्त्र वाले कहते हैं कि कोई ऐसा पाप न हो जो दूसरों की दृष्टि में छुपाना पड़े। तो जो सर्वव्यापक परमेश्वर है वह समझने वाला है। एक रूप में उसका नाम है- महान् आत्मा या परमात्मा और उसी को भगवान् कृष्ण जी कहते हैं- कि यदि व्यवहार में लायें तो सब

के बीच में एक निश्चय करने की शक्ति के रूप में 'मैं' ही बैठा

हूँ। क्या वस्तु कैसी है? व्यापक की दृष्टि से निश्चय करो। अब कोई भी खोटा कर्म करने के समर्थन में मन यदि कहता है कि "हाँ जी! मैं अपने लिये ले रहा हूँ या कर रहा हूँ। क्या हर्ज है यदि खोटा कर्म कर दिया? संसार भी तो करता है।" अब यहां पर यदि मन से यह प्रश्न कर दो कि, "खोटा कर्म तो तुम करने जा रहे हो, परन्तु अपने इस कर्म को क्या तुम सबके सामने प्रकट कर सकते हो?" तो यह मन डरेगा। अब जो यह सबके सामने डरेगा तो यही इसने सबके सामने उस सत्ता को चुराया। जो इसने अपनी सत्ता को चुराया तो यह व्यापक की दृष्टि से न्यारा (अलग, पृथक्) बना। पहले व्यापक की दृष्टि में तो वह मनुष्य था, अब न्यारा जो बना, वह क्या बनेगा? छोटे-मोटे खोटे कर्म तो उसको थोड़ा दुःख दे देंगे और यदि भयंकर खोटा कर्म होगा तो न जाने चौरासी के चक्कर में कहाँ डाल दे। इसलिए मिथ्या भय को भी रोकना, और मिथ्या काम को भी, मिथ्या क्रोध को भी, मिथ्या संशयों को भी रोकना और मिथ्या मान-अहंकार को भी रोकना। देखो! अहंकार में ही तो शेर लड़ते हैं कि मैं जंगल में रह रहा हूँ, तो मेरे सामने दूसरा कैसे रहेगा? साँड लड़ते हैं कि मैं घास खाऊँगा तो दूसरा कैसे खायेगा? अब इसी तरीके से जितने भी खोटे भाव हैं, जो कि सभी चौरासी लाख जीवों में उत्पन्न होते हैं और मनुष्य भी जिसका विशेष अपवाद नहीं है अर्थात् उससे न्यारा (अलग) नहीं है। यदि इनके उत्पन्न होते ही मनुष्य स्मृति रखे अर्थात् होश टिकाकर चलने की आदत रखे, जिसके लिए पहले बार-बार कहा गया है कि प्रत्येक काम को (समझ को) टिकाकर करने की आदत डाले अर्थात् पता लगता रहे कि मन की क्या अवस्था है? मन क्या सोच रहा है? शरीर कैसे करने जा रहा है और क्या होने जा रहा है? फिर जैसा हमारा अनुकूलता का धर्म है, जिससे हमारा

भला होता है उसके अनुसार है या नहीं? इतनी जाँच बनी रहने

पर अन्दर से यदि यह उत्तर मिलता है कि "नहीं भाई! उसके अनुसार तो नहीं है।" तो फिर यहाँ पर ऐसे मनुष्य का यही कर्तव्य है कि इसको थोड़ा रोक कर चले, और नहीं तो कम-से-कम रोकने का भाव ही आ जाये। जैसे मान लो! किसी के सामने या अपने किसी बूढ़े के सामने ही क्रोध में बोला गया और पीछे मन पश्चात्ताप करने लग गया कि "अजी क्या करें? उस समय ऐसा धक्का-सा ही था कि मुँह से निकल गया। वह जो क्रोध का धक्का-सा था, नहीं दब सका।" तो ऐसे पश्चात्ताप की अवस्था में एकान्त में बैठ जाये और अपने मन की छानबीन इस प्रकार करे कि अच्छा! ऐसे खोटा नहीं बोलता तो कैसे बोलता? अर्थात् अच्छा बोलना किस प्रकार का होता? जो अनुचित बोला गया उसको भी मन में बोल कर देखे। अब जरा नरमाई का बोल एक, दो, तीन बार मन में बोलकर देखे। ऐसा करते हुए जो भड़का हुआ मन है वह उस बात का ध्यान करके बीच में फिर भड़कावे का कड़वा शब्द भी बोलेगा, तो उस समय तुरन्त मन को प्रश्न कर देना कि "नहीं भाई! यह ठीक नहीं है। दुबारा बोलो। इस प्रकार दो, तीन, चार बार जब बोलकर देखा, तो मालूम हुआ कि अब बोल बिल्कुल कायदे का (शान्त) था, इस का किसी पर खोटा प्रभाव नहीं पड़ेगा और मेरे मन में पीछे पश्चात्ताप भी नहीं होगा।" थोड़ा यही सीख लिया और यही प्रतिज्ञा कर ली कि "अब ठीक रहूँगा।" और मनोमन भगवान् से थोड़ी प्रार्थना भी की कि "हे प्रभु! तू सर्व अन्तर्यामी है, तू ही सब शक्तियों वाला है, तेरे में ही अपने को सम्भाल कर चलने की शक्ति है।" चाहे वह प्रभु हमने नहीं भी देखा, परन्तु इतना तो जानते हैं कि इन उसूलों को पूर्ण रीति से अपना करके, अपने-आप में पूर्ण आनन्द रूप कोई तो हुआ होगा जिसका कि शास्त्रों में अवतारी कह करके वर्णन किया गया है। तो उस अवतार को ही थोड़ा मन में रख

करके प्रार्थना करनी कि "हे प्रभु! हम पर भी कृपा करना, हमारे मन को भी विकारों से रहित करके शान्ति के पथ पर चला देना।" इतना भाव मन में पक्का होने पर यदि फिर कभी भड़कावे का अवसर आयेगा तो उस मनुष्य को झट से अपनी प्रतिज्ञा याद आ जायेगी कि "भाई! ऐसा पहले भी हुआ था, याद करो, उस समय एकान्त में क्या किया था?" तो इस प्रकार सोलह आने नहीं तो कम से कम दो-चार आने तो सफल होगा ही। इतना ही यदि एक बार सफल हो गया तो थोड़ा-थोड़ा करते-करते ज्यादा भी हो जायेगा। इस प्रकार से जो सुधार का रास्ता है वह मनुष्य का ही है, पशु ऐसा नहीं कर सकता और जीते जी यदि पूर्ण रीति से नहीं भी सुधरा तो भी सुधरने की पंक्ति में तो है ही। मनुष्य के स्तर से वह नीचे नहीं गिरेगा। तो शास्त्र वाले कहते हैं कि कम से कम इतना तो हो कि मनुष्य की मनुष्य बनने की श्रृंखला या डोरी न खो जाये और मनुष्य होने के लिए यह आवश्यक है कि वह बुद्धि को साथ रखे। बुद्धि क्या है? बुद्धि विचार करके सत्य का निर्णय करने वाली और अपने भले का ख्याल करके उसके अनुसार अपने को झुकाने की ओर चलाने वाली है-जैसे कि क्रोध में झुक गए, अहंकार को पी गए, बड़ों के सामने ठीक बोल गए, गलत काम नहीं किया और गलती होने पर भी अपने को ठीक करने का इरादा है। तो इतने से भी आपको कम से कम मनुष्यता तो मिल ही जायेगी, मनुष्यता मिल गई तो कम से कम दुर्गति से तो बच गए। पहले दुर्गति से बचना फिर सुगति पाना मनुष्यता है। दुर्गति क्या है? कि मनुष्य मनुष्य ही न बने। सुगति क्या है? कि मनुष्य बन कर इतना स्वतंत्र हुआ कि उसको अपने-आप में अन्दर का सुख मिला, जो कि उस परमेश्वर का है। जो सबके अन्दर सर्व कर्म कर रहा है, सब के अन्दर जीवन दान दे रहा है और सब के अन्दर नित्य-स्वरूप है, जो अनन्त काल तक रहने वाला

है अर्थात् जिसके जीवन की सीमा ही नहीं है। तो ऐसे परमेश्वर के साथ एक रूप और उसके सुख को पाना, यही है परम फल, इसी को कहते हैं ब्रह्म का साक्षात्कार। ब्रह्म का अर्थ है–व्यापक। एक रूप में तो वह जीव है और व्यापक रूप में सब में बैठा हुआ वह ब्रह्म है। उसके लिए तो ऐसा हो जायेगा कि जहाँ पर भी, जिस पर भी दृष्टि जायेगी तो "वह परमेश्वर ही परमेश्वर है।" जब कि किसी अन्य को वह एक ही प्रभु भिन्न प्रकार से दीखेगा, जैसे कहीं मित्र, कहीं वैरी, कहीं बेटा और उसके लिए यह सब संसार में व्यवहार या बर्ताव करने के ढंग तक ही होगा और अन्त में तो उसके लिए ऐसा ही होगा कि "वही मेरा प्रभु ही सब में है, जो मेरे अन्दर बैठा है और जिसको मैंने ध्यान में देख लिया है।" अब थोड़ा और गहराई में जाने पर पता लगेगा कि "ऐसा मेरा प्रभु मुझे तभी दीखा है जबकि ध्यान के बीच में उस मन को पवित्र करके, उन बुराइयों के बल के धक्कों से बचा करके बुद्धि रख गया और फिर बुद्धि रख कर, नींद को भी जीत कर इसको अन्दर सारे काम करते पहचान गया। ऐसा पहचान करके फिर जहाँ नींद में वह अपना आनन्द देता है, वही जागते-जागते भी ले आया।" अब इस प्रकार यदि जागते-जागते कोई उस आनन्द को ले आया, तो उसके लिए फिर कोई शंका वाली बात नहीं रहेगी। उसके लिए तो ऐसा ही होगा कि बस ठीक है, संसार में हैं तो केवल व्यवहार तक ही हैं। परन्तु हर समय उसकी यही दृष्टि रहेगी कि कब मुड़ूँ और कब इसके साथ एक रूप हो करके इसका आनन्द पाऊँ। अब इस प्रकार का जीवन यदि किसी ने साध लिया तो यह समझना चाहिए कि जीवन-काल में ही उसने वासुदेव को पा लिया। परन्तु इतना यदि अभी नहीं हुआ तो भी बुद्धि रख कर उसके अनुसार चलने की हिम्मत करता रहा तो समझो कि वह मनुष्य, मनुष्य की श्रृंखला

(डोरी) से नीचे नहीं गिरा और दुर्गति को नहीं पायेगा। अब यह बात अलग है कि कितने जन्मों में जाकर वह पूर्ण होगा। तो सबसे पहले यही है, जैसा कि अभी बताया है, शास्त्रों में भी ऐसा कहा है कि चौरासी लाख से बचे। चौरासी लाख का अभिप्राय यह है कि हमारे शरीर में चौरासी प्रकार की वायु है, चौरासी प्रकार के जोड़ हैं, उन जोड़ों में जैसे-जैसे भाव होते हैं, वैसा-वैसा ही मन उनमें जाकर बैठता है, उनमें बैठा हुआ वैसा ही साँस चलाता है। अब जिस तरह का साँस चलेगा उसी ढंग की शक्ल बनेगी। जैसे कुत्ते की, साँप की या बिल्ली की शक्लें सब इसी प्रकार से हैं। अब जो सिर में बैठ कर रीढ़ की हड्डी में से गुजरता हुआ सारे शरीर को थामेगा तो यह मनुष्य की शक्ल बनेगी। अब इस प्रकार से यदि मनुष्य खूब आराम से जप कर सकता है या भगवान् की भक्ति या भाव ला करके अपने मन को मना-मना करके किसी तरह से चलता है तो समझो, उस समय मनुष्य के स्तर (लैवल) पर है; क्योंकि बुद्धि रखी हुई है और अपने को सम्भाल रहा है। पशु-पक्षी इस प्रकार का जीवन नहीं रख सकते, पशु-पक्षी तो भाव में बहते हैं। यदि क्रोध आ गया तो उसी के अनुसार चल गये, इच्छा आ गई तो उसके अनुसार, लोभ आ गया तो उसके अनुसार और यदि संशय-भय आ गया तो उसके अनुसार चल गए। अब यदि यही मनुष्य रहा तो यह अभी बच्चा है। परन्तु यही बच्चा रहते-रहते यदि इसने इन्हीं के ढंग के कर्म करने शुरू कर दिये तो समझो गिरावट का रास्ता तैयार और करते-करते इतना गिर गया कि अच्छाई की सोच भी नहीं सकता, तो यह महादुर्गति होगी। तो कम से कम इससे तो बचे, यह है पहली भक्ति। इससे बच करके फिर अच्छाई के विकास के लिए पहले मोटे-मोटे पाप त्यागे। फिर थोड़ा बहुत पाप त्याग करके अकेले बैठकर अपने मन पर विचार करे और उसकी इन शक्तियों को

पहचाने, पहचानते-पहचानते यहाँ तक पहचाने कि इनकी पहचान आने के बाद इनको टालने का यत्न बन पड़े और टालने का यत्न करते-करते इनको टालकर साँस भी ले सके। तो अब आ गया प्राणापान स्मृति।

3. जैसे मान लो! खाना खाया हुआ है, तो और कुछ नहीं तो श्वास के साथ ही बैठ जाओ अर्थात् समझते हुए श्वास ले रहा हूँ और समझते हुए श्वास छोड़ रहा हूँ या जो श्वास अन्दर लिया जा रहा है, वह समझ के साथ ही लिया जा रहा है और छोड़ते समय समझ के साथ ही छोड़ा जा रहा है। अब जो वो शक्तियाँ है वे चुप थोड़ा बैठेंगी, कहीं किसी की याद आयेगी, कभी इच्छा आयेगी, कहीं किसी ने उसको खोटा बोला था उसकी दृष्टि बनेगी, दृष्टि बनने से क्रोध आयेगा; फिर पता लगेगा कि क्रोध में आ करके उसका मन उसी की सोचने लग गया। अब क्योंकि यह तो एक तरफ़ होना चाहता है, इसलिए साँस के साथ ही इन सबको रगड़ देगा और अन्दर यह बुद्धि रखी हुई है कि इनके साथ जीना जो है, वह नरक में ले जायेगा और दुःखदायी जीवन होगा। इस तरह करते-करते यदि कोई रात को अपने में निर्मल होकर सोता है, सवेरे निर्मल उठता है; स्मृति रख कर अपने को सम्भाल कर काम में लगता है और सब के बीच में अपनी यात्रा ठीक रखता है तो समझो वह गृहस्थ के सारे काम करता हुआ भी बड़े आराम से धार्मिक मनुष्य है। अब यदि यह बुद्धि नहीं रही तो कम से कम श्रद्धा से ही रखे। इतना तो कम से कम अवश्य हो कि मैं शास्त्र के कहे अनुसार अपने नित्य-नैमित्तिक कर्म ठीक रखूँ। यह नहीं कि सुबह उठते ही सबसे पहले खाने की तरफ़ ही भागूँ या क्रोध आदि के झगड़े में पड़ूँ, बल्कि देह के सारे नित्य-नैमित्तिक कर्म करूँ, जैसे सफ़ाई इत्यादि और उसके बाद थोड़ा किसी प्रकार जैसा कुछ भी मैं भगवान् के बारे में जानता हूँ, कुछ ही कर लूँ। थोड़ा जप,

पाठ-पूजा इत्यादि ही कर लूँ, कुछ ही करूँ तो इस प्रकार जो रहने वाले हैं उन्होंने इस प्रकार रहते-रहते कम से कम बुद्धि रखकर अपने को सम्भाल तो लिया। अब दूसरी श्रेणी कौन-सी है? तो दूसरी श्रेणी वह है कि जैसे किसी स्थान पर कोई कड़वा वचन आ गया, जैसे बच्चे का ही बूढ़े को आ गया, तो उस वचन को सुन करके बुद्धि द्वारा अपने को सम्भाल गया और उसमें बहा नहीं तथा प्रत्युत्तर में खोटा वचन भी नहीं निकाला तो समझो! उसने बुद्धि रख ली और बुद्धि के अनुसार चलना भी बन गया, तो यह दुर्गति को कभी प्राप्त नहीं होगा और यदि यही स्वभाव और आदत बन गयी तो सारे जीवन में यह पक्का है कि मरते समय भी वही भाव रहेगा। यही भगवान् गीता में कहते है कि 'अन्तकाले च मामेव' इत्यादि—इत्यादि, अर्थात् जो अन्त काल में मेरा स्मरण करके शरीर छोड़ता है वह मेरे को प्राप्त होता है और जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर त्यागे, उसी-उसी भाव को अर्जुन तू प्राप्त होगा। तुम उस समय (अन्त समय) केवल यही है कि अपने को वश में रखना, बुद्धि जगा के अपने को सम्भालना। इन्हीं उत्तम भावों के साथ यदि संसार से गए तो कभी भी दुर्गति नहीं है और फिर थोड़ा भगवान् का भजन भी है। भगवान् उसी का नाम है जिन्होंने इस सारी सच्चाई को पा करके अपने-आप को उस सच्चिदानन्द रूप में सदा के लिए टिकाया हुआ है और टिके बैठे हैं। उनका एक चित्र अपने मन में धारण करके उनके गुणों के अनुसार ही अपने को भी भावित करे अर्थात् उन गुणों को रखने के भाव वाला हो कि "हे प्रभु! मैं तेरी शरण में हूँ, तू ही बचाने वाला है, तू ही सर्वान्तर्यामी है, सर्वव्यापक है, सर्वशक्तिमान है।" चाहे मैं अभी कुछ जानता नहीं और मेरे से कुछ हो भी नहीं रहा, करने के लिए मेरा मन ही नहीं फ़ुरता, बुद्धि ही नहीं जागती और हो भी नहीं सकता, तो भी

सोते और जागते समय अपने को उपर्युक्त रीति से भावित करता ही

जाये अर्थात् अच्छे भावों को मन में रखता ही रहे। अब यदि यह भी नहीं है तो पुराने लोग कहते थे कि थोड़ा भगवान् के नाम का जप ही कर लो, और कुछ नहीं तो कीर्तन–मण्डलियों में बैठकर उसका कीर्तन ही कर लो। कुछ न कुछ अपने–आप को बुद्धि द्वारा सम्भाल कर चलाओ। यह नहीं कि जैसे अन्दर से विकार आते हैं (पशु–पक्षियों की तरह) उसी ढंग से चलाते रहो। अन्दर से खोटा बोल आया तो खोटा ही बोल गए। किसी की वस्तु उठानी चाही तो वह भी उठा ली और मन में ऐसा भाव रखा कि मर कर के किस ने देखा है? तो यह भाव ठीक नहीं है। इसलिए बुद्धि को दूसरे रास्ते से प्रेरित किया और किसी तरीके से भी श्रद्धा रख करके अच्छे कर्म कर लिये, थोड़ा अपने को सम्भाल लिया। नहीं भी हो तो भी यह भाव तो रखना ही कि जो मेरा प्रभु सर्व–अन्तर्यामी है, सिद्धों के अन्दर या जो तू भले पुरुषों में बैठा है, मैं तेरी शरण में हूँ। तू ही मुझे सम्भालने वाला है, कम–से–कम यह भाव तो रखे। चलो दस मिनट, पन्द्रह मिनट, आधा घण्टा, घण्टा जप ही कर लिया या भगवान् की किसी कीर्तन मण्डली में ही जाकर बैठ गए, तो यह है मोटा रास्ता। फिर भी किसी तरीके से इसका थोड़ा संग रखने से यह बुद्धि यदि अन्तकाल तक रह गयी, तो मनुष्य की श्रेणी से नीचे नहीं जायेगा। इसलिए थोड़ा बहुत अपने को सम्भाल कर चले, पापों से हटे, जीवन को नियमों में बाँधे। अकेले बैठ करके अपने दिन–भर के कर्मों के विचार में लगे। जहाँ कहीं भी खोटा हुआ है वहाँ उसको सुधारने का संकल्प करे और करते समय उसकी याद भी रखे कि जब वह होने लगे तो स्मृति में रहे और जो कुछ खोटा होना चाहता है हिम्मत करके उससे बचने का यत्न भी करे। एक बार करेगा, दो बार करेगा, दस बार करेगा तो यत्न भी होने लग जायेगा और बचाव भी हो जायेगा। तो यह तो उसकी एक प्राप्ति रूप है जैसे कि एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में उठ जाना। करते–करते, करते–करते इतना

ऊपर बढ़ेगा कि एक दिन यह उसमें पूरा आचार्य भी हो जायेगा और उसके लिए यह कठिन भी नहीं रहेगा। तो वह देखेगा कि जो मेरे मन का छोटे से छोटा प्रभाव भी है, आता है और मेरी दृष्टि उस पर पड़ती है। दूसरे से बात करते-करते थोड़ा अपने-आप को समझ करके, ठीक ही बात बोलता हूँ तो मेरे से कोई अपराध या पाप होता ही नहीं। इतना यदि वह सम्भल गया तो यही कहो कि वह मनुष्य जीवन मुक्ति का रास्ता पा रहा है। तो इसको फिर क्या है? कि जैसे किसी की दृष्टि बन गई कि वह मेरे को उल्टा वचन बोल रहा है। झट से मन में यही प्रतिक्रिया होगी कि मना! यह दृष्टि किसकी है? यह तो उसी की है जो सारे जीवन का देवता है, पशु के अन्दर भी है, पक्षी के अन्दर भी है, उनको भी तो दृष्टि होती है, उनको भी क्रोध आता है। वास्तव में तो यहाँ भी वही है मेरा श्याम, मेरा भगवान्, मेरा प्रभु जो ज्ञान रूप है। बता भाई! प्रकृति की प्रेरणा के अनुसार चलने में क्या तेरा कल्याण है? अब यह भगवद् भावना ही यहाँ पर यह बतायेगी कि न भाई! यदि ऐसे ढंग से बोल-वाणी निकलेगी तो दूसरे को वैरी ही बनायेगी, उनकी शंका भी रहेगी, उनसे खोटे का भय भी रहेगा और नींद तक भी ठीक नहीं आयेगी। इसलिए मैं उस रास्ते में क्यों पड़ूँ जिससे कि दूसरा मेरा वैरी बने। साथ ही एक तरफ़ की प्रकृति की हुजक भी मन में होगी कि तुझे तो दबना पड़ेगा। ऐसे में ध्यान-विचार का बल फिर यह सुझाव लायेगा कि मना! आराम से बोलने का अर्थ दबना थोड़े ही होता है, और यदि तू ऐसा नहीं भी करता तो क्या तू किसी को भी अपने मन चाहे के अनुसार दण्ड दे सकता है? इस प्रकार थोड़ी-सी बातों द्वारा अपने-आप को शान्त शीतल समझा करके किसी तरीके से भी आराम से यदि काम करना सीख जाये, तो इसका निर्मल जीवन शान्त जीवन होगा। परन्तु होगा इसी तरह से कि पहले मोटे पाप छोड़, जैसे चोरी, झूठ, दुराचार व नशे इत्यादि। फिर किसी से

खोटा नहीं बोलना। फिर बोला हुआ याद करके थोड़ा सुधार करने का भी संकल्प रखना। फिर खाने-पीने में भी तृष्णा को अन्धाधुंध पूरा नहीं करना, यह देखना कि उतना खाया हुआ यदि आलस्य लाता है, बैठने को मन नहीं बनता तो खाने-पीने में भी स्मृति रखना। थोड़ा मन को सम्भालना, यदि मन तंगी मान रहा है तो थोड़ा विचार का सहारा लेना। इस तरीके से शान्त रीति से अपने जीवन को थोड़ा देख-देख कर चलने की कोशिश करे तो धीरे-धीरे यह भी सारा बुद्धिपूर्वक ही होता है। बुद्धि, विचार की शक्ति का नाम है अर्थात् विचार करके अपने को सम्भालने का नाम है। सम्भाल करके इसके अनुसार अपने को इतना तक सम्भालना कि अन्त में सम्भलते-सम्भलते संसार व बाहर का कोई भी प्रभाव आ रहा है, तो अपने ध्यान में उस चेतन के साथ एक रूप हुआ-हुआ वह देखते-देखते उसको टाल करके जाग रहा है। वही चेतन प्रभु जैसा कि पहले बताया है कि सब में समान रूप से बैठा है। रात को आप सो रहे हैं, आँख, कान काम नहीं करते, बुद्धि निश्चय नहीं करती, मन सोचता नहीं फिर भी वह अपने सारे काम कर रहा है। जिस जगह वह काम कर रहा है वहाँ तक हमने जाना है, वहाँ की यात्रा करनी है। यदि वहाँ की हमारी यात्रा हो गई तो समझो! पूरी तीर्थ यात्रा हो गई। अब इस यात्रा के लिए ही सारे काम हैं तो थोड़ी तंगी भी सहन कर ले। थोड़ा मन को भी मार ले। थोड़ा मिथ्या आवश्यकताओं को तपस्या रूप से त्यागने का दुःख भी सहन कर ले। थोड़ा लोभ को हटा कर संतोष भी बसा ले तथा थोड़ा क्रोध को हटाकर क्षमा भी बसा ले। इस प्रकार जब ये सारे अवगुण दब जायेंगे तो उनके विपरीत जो सारे गुण हैं वे तो उस प्रभु के ही हैं। उस भगवान् के ही हैं, जिसके बारे में पहले कहा है कि यदि और नहीं तो उस भगवान् के नाम का ही स्मरण करे, और फिर! जब कभी अकेले बैठे और ऐसा हो कि मन तो जाग नहीं रहा या कुछ

फ़ुरता ही नहीं है तो उसका नाम ही सही। नाम और उसके गुणों का ध्यान किया। मान लो जैसे-जैसे मन कहीं गया, किसी के क्रोध को ही याद किया और क्रोध होने लगा तो झट मन में याद लानी कि मेरा प्रभु तो क्रोध से परे है। यदि मान-अपमान की याद आ गई तो झट प्रभु की याद लानी कि मेरे प्रभु में मान-अपमान कहाँ है? इस तरह उस प्रभु के गुणों का ध्यान करते-करते यदि भाव बना करके अपने मन को शान्त करते गए तो यह सुन्दर तरने की यात्रा है, जिसको तीर्थ-यात्रा कहते हैं। अब यह तीर्थ-यात्रा उसी समय पूरी होगी जिस समय बिना किसी शर्त के अपने मन को देखता-देखता बिल्कुल न्यारा करके उस परमात्मा की ज्योति में जा करके टिक जायेगा। फिर क्या होगा? कि ज्ञान जाग रहा है, मन पूरा जागा हुआ है और सारे विकार देखते-देखते टलते जा रहे हैं और अन्दर का सुख प्रकट हो गया है। जैसे ही अन्दर का सुख फुरा, इसका मन लग जायेगा; जब मन लग जायेगा तब अन्दर की विद्या प्राप्त हो जायेगी। यही विद्या फिर पूछेगी कि बता भाई! यह सुख किसका है? खाने का है, पीने का है, आदर मान का है या धन लाभ का है? उत्तर मिलेगा कि नहीं भाई! यह सुख तो अपने अन्दर के चेतन प्रभु का ही है, जो जागती जोत है। तो फिर प्रश्न होगा कि अच्छा यह बता कि यह जागती जोत किसमें नही है? कीड़े में भी है, पतंगे में भी है, तो यही सर्वत्र हुआ; तो मैंने तो सब में इसी जागती जोत को ही देखना है; क्योंकि है भी यही और शेष दूसरा कोई अपने ढंग से कुछ भी समझे। अब जैसे दूसरे के क्षण के व्यवहार के कारण मन शिकायत करे कि "हाँ जी! मेरे को कड़वा बोल दिया, यह तो दुष्ट पुरुष है।" यह सब मिथ्या दृष्टि हुई। यह तो पशु-पक्षियों के अन्दर भी है। जैसे मान लो! कौआ किसी के अण्डे उठा ले तो क्या दूसरा पक्षी उसको दुष्ट नहीं समझेगा? उसके अन्दर भी तो क्रोध आता

है। एक सारस का छोटा-सा बच्चा था, अपने माँ-बाप के पीछे-पीछे

घूम रहा था, एक कौआ आया, उसने देखा कि बच्चा छोटा-सा है; उसके माँ-बाप की नज़र बचा करके बच्चा चोंच में उठाकर भाग लिया। अब दुःख के कारण बच्चे ने जैसे ही हूँ-हूँ किया नहीं कि उस बच्चे के माँ-बाप दोनों कौओ के पीछे ऐसे लग गए जैसे दुश्मन के हवाई जहाज के पीछे दूसरे दो हवाई जहाज लग जायें और उन्होंने ऐसे क्रोध में पीछा किया कि एक ने जा करके कौअे के पेट में चोंच मारी, कौअे ने काँव-काँव करके बच्चा नीचे फेंक दिया। तो देखो! राग के कारण, अपने बच्चे को बचाने के लिए उनके अन्दर इतना क्रोध आया। तो क्या यह राग पशुओं या पक्षियों में नहीं है? यह सब में है। अब इन सब को देख करके अपने अन्दर जो ये मिथ्या भाव हैं, इनको किसी प्रकार से सम्भाल करके जो चल जायेगा, वही उस प्रभु की जोत तक जायेगा; अन्यथा संसार में ही उलझा रहेगा। जैसे पशु और पक्षी इन भावों और जोशों में उलझे हुए हैं, ऐसे ही मनुष्य भी उलझा बैठा है। अब यदि मनुष्य यह समझ करके कि ये भाव आदत से बने हुए हैं, समय पर अपने अनुसार चलाते हैं, मैंने इनमें बहना नहीं है बल्कि सम्भल-सम्भल कर चलना है; सोते भी, जागते भी थोड़ा अपने मन को सम्भालना है, मैंने कड़वा नहीं बोलना है, किसी का खोटा नहीं करना है, थोड़ी सहन शक्ति का अभ्यास करना है; तंगी भी सहन कर लेनी है परन्तु मेरे से खोटा न हो जाये। जब यह सब विपरीत नहीं हुआ तो मन के अन्दर व्यर्थ का चिन्तन नहीं चलेगा, मन सँभला हुआ रहेगा। जब मन सँभला हुआ है और कुछ सोचने का भी नहीं है, तो नींद अवश्य आ सकती है। जब थोड़ा नींद को टालोगे तो यह प्रभु प्रकट हो जायेगा। अब इसका सुख प्रकट होने लग गया तो यह आनन्द भी ठीक है। यदि यह आनन्द प्रकट नहीं हुआ तो कहीं ऐसा भी है कि मन सोने की तरफ़ जाता है, तो वह मनुष्य यह समझता है कि उसको बड़ी समाधि हो रही है। जब कि है वह नींद का सुख। तो

यह लय है, दोष है और समाधि नहीं है। यह मन जब सब विकारों से मुक्त हो जाये अर्थात् सब से छूट जाये और फिर इसकी जागती जोत रहे, तब इसको जागता हुआ आनन्द आये, तो यह मन इतना चेतन होगा जितना कि संसार में जागने वाले मनुष्यों का भी नहीं होता। यह जागती जोत का जो सुख है, वह प्रभु का सुख है। परन्तु इसको लेने का रास्ता यही है कि अपने मन को ऊपर के स्तर से लेकर नीचे गहराई तक जहाँ तक इसका स्तर है, वहाँ तक शुद्ध करे। ऊपर का स्तर है शरीर का, उसके नीचे का स्तर है इन्द्रियों का; उससे नीचे है मन का जहाँ जाकर भाव बनते हैं। उसके बाद है बुद्धि का, जो कि दूसरों को नाना प्रकार के रूप देती है, अमुक मेरा वैरी है, अमुक मेरा मित्र है, अमुक ऐसा-ऐसा है। यही नाना दृष्टियाँ बना करके क्रोध पैदा करवाती है। जहाँ तक ये सब दृष्टियाँ बनती हैं, वहाँ तक इनको समझ करके, इनको रोक करके आराम से जो निकल जाये, मुक्त हो जाये, बस! वही पुरुष परमात्मा के दरबार में सदा रहेगा। अब उसी के लिए यह बुद्धि जगानी है और बुद्धि को जगा-जगा करके अपने को सम्भालना है। अब यदि बुद्धि सम्भली रही तो कम-से-कम दुर्गति से भी बचा रहेगा। और जैसा कि पहले भी बोला गया है कि सर्वप्रथम मनुष्य अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मों की तरफ़ ध्यान दे। जैसे मान लो सुबह उठा तो देह के कर्म किये बिना कोई वस्तु मुँह में नहीं डालनी और कुछ नहीं तो उतनी देर उसमें अपने-आप को रोके रखना; तृष्णा का काम है कि उठते ही मेरे मुँह में खाना डाल दो। जैसा कि पशु-पक्षियों को देखो, सुबह सूर्य की किरण निकली नहीं कि काँय-काँय करके खाने की तरफ़ ही भागते हैं; ऐसे ही मनुष्य भी खाने की तरफ़ ही भागता है। परन्तु शास्त्रकारों ने कहा है कि नित्य-नैमित्तिक कर्म किये बिना तुमने खाना नहीं खाना। नित्य-नैमित्तिक कर्म क्या हैं? पहले शरीर की

सफ़ाई करो, सफ़ाई करने के बाद फिर थोड़ा ध्यान में बैठो, थोड़ा

बहुत तृष्णा का चक्कर रोक कर चाहे जप ही करते रहो, पूजा ही करते रहो; नाम का स्मरण कर लो। इस प्रकार कुछ ही करे, वह मनुष्य के लिए कल्याणकारी ही है। क्योंकि जितनी देर यह करते रहे तो समझो! उतना ही बुद्धि द्वारा अपने को सम्भाल कर बैठे रहे। पशु–पक्षियों के पास इस प्रकार अपने को बुद्धि द्वारा सम्भाल कर चलने की योग्यता नहीं है। अब जिस समय ऐसा मनुष्य मरेगा तो और कुछ भी यदि उससे नहीं हुआ, तो उसको पहले आँख खुलते ही यही याद आयेगी कि "मैं तो जी! ऐसे–ऐसे करता था, उस समय यह कर्म होते थे", बस! यह याद आते ही समझो! जैसे कि वह मनुष्य के स्तर पर ही है। उसकी दुर्गति नहीं होगी और एक दूसरा किस प्रकार के भाव लेकर मरा कि "अजी! वह मेरा दुश्मन था, उसने मेरे साथ ऐसा खोटा किया था और मैंने भी ऐसा ही खोटा करना है।" तो ऐसा कहीं सिंह, व्याघ्र ही बनेगा। क्रोध की अवस्था अपने ढंग की है जो कि मनुष्यता के स्तर की नहीं है और यह अपने–आप को सम्भालने की तथा सम्भाल कर चलने की जो बुद्धि है वह मनुष्य ही रख सकता है। तो इस प्रकार बुद्धि के साथ योग (सम्बन्ध) रखने वाले को कम–से–कम मनुष्य का जन्म तो मिलेगा ही यही सब करते–करते यदि मन की पहचान इतनी खुल गई कि जैसे बात करते–करते भी उसको अपने मन के भावों की सोधी है तथा वह क्रोध आदि को टालता हुआ ही बात कर गया, तो यह तो बहुत उसूलों वाला और बहुत भारी साधन वाला मनुष्य होगा और बढ़ते–बढ़ते जिस समय क्रोध आदि का भाव तक भी नहीं रहने दिया और ऐसे ही सब प्रकार के खोटे भावों से अपने मन को सम्भालता हुआ यदि जीवन धारण कर गया, तो उसको कहना चाहिए कि यह तो जीवन–मुक्त मनुष्य है और यदि कर्म करते–करते कुछ खोटे भाव रह भी गए, परन्तु पीछे ध्यान में सम्भाल लेता है या उनके संस्कारों को साफ कर लेता है तब भी उस मनुष्य

को जीवन मुक्त ही समझ लेना चाहिए। अब यदि कोई ऐसा भी है जो कि कर्म करते हुए विकारों से नहीं सम्भलता, परन्तु वह उनके साथ बहने की इच्छा नहीं करता और पीछे जप करते-करते प्रभु का नाम लेते-लेते यदि ये रह भी गए और पूर्णतया नष्ट नहीं हो पाये, तो भी ऐसे मनुष्य की खोटी दुर्गति नहीं होगी। इस प्रकार सारे कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य पहले बुद्धि को सम्भाले। बुद्धि वही है जो कि अपने-आप का, सत्य का, भलाई का निश्चय करने वाली शक्ति है और उसके द्वारा जैसे निश्चय किया उसके अनुसार अपने को पकड़कर सम्भाल कर चलने की शक्ति है। जैसे मान लो! अपने बुड्ढे से ही कोई कड़वा वचन आ गया तो उसकी प्रतिक्रिया में (उसके विपरीत करने के लिए) जोश आयेगा, क्रोध आयेगा, कड़वा वचन भी निकलने लगेगा; परन्तु यह सम्भाल गया तो यह सम्भालना बुद्धि के साथ ही है। कोई पशु-पक्षी अपने-आप को इस प्रकार नहीं सम्भाल सकता। ऐसे ही राग की अवस्था में, लोभ की अवस्था में, मोह की अवस्था में न जाने क्या-क्या भाव बन कर क्या-क्या कर्म करवाना चाहते हैं। इन सब में अपने-आप को सम्भालते-सम्भालते जो चलेगा वही धार्मिक जीवन वाला कहा जाएगा और यही धार्मिक जीवन की यात्रा एक दिन उस सच्चिदानन्द प्रभु से मेल करवायेगी, जो कि सबके अन्दर बैठा है। अच्छा! अब इससे आगे एक अध्याय और है कि मान लो! उस प्रभु तक पहुँच ही गया और वहाँ पहुँच कर उसका आनन्द भी आने लग गया, तो एक तो उस आनन्द को देखता-देखता आनन्द लेता-लेता मस्ती में सो गया और जो दूसरा है वह उस आनन्द को क्षण-क्षण देखता व जागता हुआ बैठा है, तो इस के अन्दर फिर ऐसे संस्कार जागने लगते हैं जिसको कि पुराने लोग कहते हैं कि पूर्व जन्म भी फुरने लग गए। जैसे नींद में हम देखते हैं कि कोई-कोई संस्कार फुर कर क्या-क्या चित्र दिखाते हैं, तो ऐसे मनुष्य को ध्यान में नाना प्रकार के वह चित्र नज़र आने लग जाते हैं। अब ऐसी

अवस्था में जो भगवान् बुद्ध थे, वह कहते थे कि मैंने एक पहर में निन्यानवें कल्पों के हाल देख लिये थे। आ:वट्य ऋषि कहते थे कि मैंने दस कल्पों के हाल देख लिये, और भी कभी कोई मिल जाता है वह कहता है कि मैंने दो-तीन जन्म के हाल ऐसे-ऐसे देखे, तो यह सब इसी के अन्दर है। अब बताओ! ऐसा रौनक मेला कहीं संसार में है? लोग फिल्में देखते हैं, नाना प्रकार के रिकार्ड सुनते हैं और मन को लगाने के लिए क्या-क्या करते हैं। परन्तु यह जो अन्दर की फिल्म है, जिसको यह नज़र आ जाये उसका आनन्द क्या कभी बाहर जायेगा? तो यह है ब्रह्म-लोक, इससे आगे बढ़ गए तो बैकुण्ठ धाम है। तो इस प्रकार, जो इस धर्म-बुद्धि को रख करके अपने को सम्भाल कर चलने वाला है, उसी की ये धर्म की यात्राएँ हैं। पहले जैसा बताया गया है कि कुछ नियमों के अनुसार जीवन को ढाले, गुरुमुख होवे, मनमुख न होवे; मनमुख जो है वह जीवन संसार का है। हाँ जी! जैसा भाव बन गया, उसी के अनुसार जैसी हुजक हुई उसी तरह का बर्ताव कर गया। जैसे किसी की वस्तु उठा ली, किसी से कड़वा बोल गया, और भी लड़ने के लिए तैयार हो गया तथा मन में खोटा सोचने लग गया और किसी के सुख को देखकर जल रहा हैं, दूसरे के दुःख को देख कर हँस रहा है, किसी के खोटे कर्मों को तो मन में धारण करके रखता है, परन्तु उसके अच्छे गुणों पर पानी डाल देता है तो, इस तरह के भाव न रखे। जब इस प्रकार से सम्भलते-सम्भलते आपने अपने मन को बिल्कुल पवित्र-निर्मल कर लिया और वह ज्योति का सुख फुरने लगा और उस सुख में खोये नहीं तथा जागते हुए बैठै हैं, तब ये संस्कार फुरने शुरू होंगे। कैसे-कैसे फुरेंगे? जैसे कईयों को तो नींद में स्वप्न की तरह शक्लें दीखती हैं; परन्तु इसको नींद के सपने नहीं दीखेंगे। इसको तो यही दीखेगा कि जैसे पहले बचपन की बात याद आने लग गई। जैसे बचपन में [illegible] रहा था वह ज्यूँ का त्यूँ

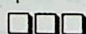
घूमता हुआ नज़र आ रहा है, छोटा बच्चा था, वह क्या–क्या बातें करता था, सारी की सारी ज्यूँ की त्यूँ सुन रही हैं, तो हमारे अन्दर यह जो प्रभु है वह हजारों तो क्या, जितने जन्म हुए हैं उन सबका लेखा–जोखा सम्भाले बैठा है; सारी छापें उसके अन्दर हैं। बस! यही है कि आपके पास वह सुई होनी चाहिए, जो कि इनको फुरा सके, सुना सके और इनके नज़ारे दिखा सके। अब यदि इसका नज़ारा देखने में आ गया तो समझो परलोक भी और लोक भी दोनों जीते गए। परन्तु अब है यह अपनी–अपनी कमाई। कौन कहाँ तक कर सकेगा? यह मनुष्य वही है जो अपने–आप को नित्य देखे, नित्य सम्भाले और अपनी गलतियों को चुन–चुन कर निकालता जाये और अच्छाइयों के अनुसार जीवन ढालता जाये। दूसरे को कम देखे, अपने को अधिक। दूसरे को देखकर कुछ विपरीत न करना चाहे, बल्कि अपने धर्म के रास्ते से चलने की हिम्मत रखे। यह भाव मन में न रखे कि वह तो ऐसे–ऐसे करता है तो मैं अपने को कैसे ठीक रखूँ? यदि ऐसा ही रहा तो जैसे वह करता है और तुम्हें भी अपने रास्ते पर वैसा ही चला गया तो तुम अपना कल्याण कैसे करोगे?अर्थात् तुम्हारा कल्याण तो फिर ऐसा ही रह जायेगा और वैसा ही यदि कर गए तो कल्याण तो क्या दुर्गति में ही डाल देगा। इसलिए दूसरे के मिथ्या व्यवहार को तो मैंने देखना ही नहीं, चाहे अपना पिता, बेटा, मित्र या पड़ोसी कोई भी हो। परन्तु मैंने अपने–आप को देख करके, अपने धर्म को देख करके बुद्धिपूर्वक अपने को सम्भालने का यत्न अवश्य करना है। यदि बुद्धि बनी रही, तो मनुष्य है और तभी यह परमात्मा तक भी पहुँच सकता है। तो इस बुद्धि को नहीं खोने देना। सोच–समझ कर सत्य का निर्णय करना और निर्णय करके उसके अनुसार अपने को चलाना, फिर चलाने की शक्ति पैदा करना और यहाँ तक पैदा करना कि मैं अपने–आप में शान्त हो करके जी सकता हूँ। यही सादी बातें सारी कहने की हैं।

अब इनके अनुसार जीवन को रचने के लिए जो कुछ भी मनुष्य करता है वह सब धर्म का मार्ग है। फिर धर्म के मार्ग के अनुसार चलने से इस तरह है कि जैसे मनुष्य अकेला बैठा है और बैठे–बैठे अपने अन्दर ज्ञान हो रहा है और इस ज्ञान के रस में उसको दूसरे का संग करने तक की इच्छा नहीं। इसका मरने के बाद भी चाहे करोड़ों साल भी बीत जायें कभी मन नहीं ऊबेगा अर्थात् उसका मन अपने–आप में कभी भी खिन्न या दुःखी नहीं होगा कि मेरे को दुःख हो रहा है। यदि कुछ परेशानी है तो ऐसे में मैं क्यों दूसरों में जाऊँ। अन्यथा आम मनुष्य के लिए क्या है कि पाँच–छः व्यक्ति बैठे हैं, उनके बीच में गप्पें लग रही हैं। गप्पों में मन इतना लग रहा था कि जब वह स्थिति नहीं रही, तब अकेले का कहीं मन नहीं लगता। वह उसी चीज़ को याद करता है कि वहाँ गप्पों वाली संगत मिले और फिर उस संगत को पाने के लिए ही भागेगा। अब मरने के बाद संगत कहाँ मिलेगी? फिर इसी संसार में आयेगा या नहीं? यही हुआ मिथ्या जन्म और एक अन्य क्या है कि जैसे ही अकेला हुआ नहीं कि अकेला होते ही परमात्मा का सुख। परमात्मा का सुख क्या है कि परमात्मा की फिल्म। ऐसे के लिए क्या है? कि अब उसके सारे नज़ारे भी दीख रहे हैं और किसी किस्म का बन्धन भी नहीं है, किसी किस्म का दुःख नहीं है और कोई दुःख देने वाला भी नहीं है। ऐसी अवस्था में पहुँचे हुओं को वही उत्तम लोक हैं; ब्रह्म–लोक, विष्णु–लोक; यदि शान्त रूप से बैठा है तो शिव–लोक और यदि इन्द्रियों के संसार में अपनी आँखों, कानों इत्यादि से देख व सुन रहा है तो स्वर्ग–लोक है। परन्तु यह उसी के लिए है जिसने संसार में अपने–आप को सम्भाल कर रखा है और मिथ्या रूप से बहने नहीं दिया।

4. तो यह सारा कहने का अभिप्राय क्या हुआ? कि जैसे पिछली बार कहा था कि वही यहाँ अन्दर बैठा है वहाँ और सबमें

समान रूप से बसा हुआ है, इसके ऊपर नज़र खोलनी है। यदि यह दीख गया तो इसके दीखने पर समझो! मनुष्य ऐसी जगह पहुँच गया जहाँ अजर हो गया, अमर हो गया और सब दुःखों को टाल गया। परन्तु पहुँचने के लिए इतना है कि पहले चौरासी के चक्कर से निकले। चौरासी का चक्कर क्या है? जिस प्रकार कि आम जीव के अन्दर वह जो देवता प्रजापति है, अपने भाव पैदा करके चलाता है, जैसे क्रोध पैदा करके चलाता है। मान लो! सुख नहीं हुआ तो क्रोधी हो गया, क्रोध में रोने लग गया। बच्चा तो रोता है, परन्तु जो आयु में कुछ बढ़ गया है, वह उल्टे-सीधे खोटे वचन बोलने लग गया; खोटे कर्म तक सोच कर खोटा करने को चल पड़ा तो यह सब प्रजापति का लोक है। इसमें यदि सबके अन्दर उस देव को समझ करके कि भाई! यह तो वही देव है जो जीवन का देव है, यह मेरा नहीं बल्कि यह तो उस प्रभु का है। अपने-आप में उसके धर्म को पहचान कर अपने-आप को सम्भालता रहे, सम्भालते-सम्भालते इतना सम्भाल लिया कि एक दिन देखता है कि सम्भालते-सम्भालते संसार से बिल्कुल अलग हो गया। संसार की कोई याद नहीं और अपने-आप में आनन्द आ रहा है। आनन्द आ रहा है और मन खूब लग रहा है, अन्दर के समाचार भी मिल रहे हैं और इतना समय है परन्तु व्यतीत होने का पता ही नहीं लग रहा है। यदि ऐसा हो गया है तो समझो! उसने कल्याण का रास्ता पा लिया है और कल्याण भी पा लिया है। कल्याण किसे कहते हैं? वह सुख जो मिलने के बाद घटता नहीं और वह सुख जिसमें दुःख का निशान नहीं, इसको शास्त्र वाले कल्याण कहते हैं। इसलिये सारा कार्य यही है कि इस ज्योति को पहचानने के लिये पहले अ, ई, ऊ से अपने जीवन को शुरू करे। पहले छोटे पापों को टाले, जीव हत्या छोड़े, मन में श्रद्धा रखे, चोरी नहीं, झूठ नहीं,

दुराचार नहीं, नशे आदि नहीं और फिर धीरे-धीरे थोड़ा अन्दर बोल कर सम्भालना, थोड़ा मन की सफ़ाई रखना, फिर थोड़ा अपने-आप में अपने-आप की पढ़ाई करना कि आज का दिन कैसा व्यतीत हुआ? कौन सामने आया था? किस-किस प्रकार के भाव हुए थे? कैसे-कैसे बह गया था? देख भाई! तेरे मन में तो उसके प्रति क्रोध आ गया था, तेरे मन में तो अभी तक वह बुरा लग रहा था, तू उसको वैरी समझ रहा था और भी क्या-क्या भाव आ रहे थे, तो इस रीति से अपने ढंग से सुधारने का यत्न करना और फिर यह देखना कि जैसा तेरे साथ हुआ यदि उसी ढंग का बर्ताव दूसरे के साथ होता, तो दूसरे के मन में भी तो ऐसे ही भाव पैदा होते। तो अपनी आत्मा से परमात्मा को भी जान लिया। कैसे? जैसे कि दूसरे का कड़वा बोला हुआ मेरे को दुःख देता है, मुझे बुरा लगता है, तो मेरा कड़वा बोला हुआ भी तो उसी प्रकार दूसरों को दुःख देता है, और वह भी दूसरों को वैरी बनाता है, तो कम-से-कम इतना सीख लो कि मैंने कड़वा नहीं बोलना, मैंने किसी को दुःख देने का ढंग नहीं रचना, ये सब सीखने की बातें हैं। सीख-सीख कर यदि सुधारता जायेगा तो एक दिन प्रभु की दया होगी और वह मनुष्य अपने-आप में सदा आनन्द रूप में रहेगा। तो यही सारे का निचोड़ है।



प्रवचन-17

दिनांक: 9.1.1994

1. जैसा कि पहले आपने सुना था कि अपने अन्दर ही एक ऐसा देव विराजमान है, जिसको हम बाहर खोजते हैं और जिसको परमात्मा भी कहते हैं। उस परमात्मा की परम-आस्था व श्रद्धा होने पर और उसके नियमों के अनुसार अपना जीवन चलने पर परम-शान्ति की प्राप्ति होती है। वह देव कौन-सा है? जैसा कि मैंने पहले बोला था कि नींद में जब सब सो रहे होते हैं तो आँख, कान, नाक वगैरह कुछ नहीं जानते कि कहाँ पर क्या कोई वस्तु है, कैसे कोई शब्द हैं, कैसे कोई रूप हैं कैसी सुगन्धियाँ, दुर्गन्धियाँ हैं? मन किसी प्रकार से कल्पना भी नहीं कर सकता और बुद्धि भी किसी वस्तु के बारे में निश्चय नहीं कर सकती, परन्तु तब भी देह के सारे काम चलते रहते हैं, हृदय बड़े आराम से धड़कता रहता है और सांस बड़े आराम से चलता है। उस नींद की अवस्था में भी वह जागती ज्योति अन्दर चेतन रूप से ज्ञान के साथ है और सारे देह के अन्दर वह काम कर रही है। चाहे बच्चा है, बूढ़ा है, कीड़ा है, पतंगा है, पशु-पक्षी कोई भी हो; सब की देह को उसने थाम रखा है। यह शक्ति सबके अन्दर एक रूप में है, जिसमें तेरी-मेरी करके कुछ समझ में नहीं आता, और जहाँ तेरी-मेरी करके समझ में आता है, वहाँ नाना प्रकार के राग, द्वेष, संशय, भय वगैरह हैं। उनके अनुसार न जाने कई प्रकार के कर्म हैं, अब उन कर्मों में पड़ने पर मनुष्य के मन की शान्ति भी नहीं रहती और उसको कई प्रकार के भय भी होते हैं।

2. अब हमने उस निर्लेप शक्ति को जो शुद्ध ज्ञान रूप में अपनी क्रिया शक्ति के साथ है, उसको जानना है। ज्ञान रूप से तात्पर्य (मतलब) यह है कि हर समय उसको अपने-आप का

पता रहता है। अभी भी समझ रही है। कोई भी ऐसा समय नहीं है कि एक क्षण भी, सैकण्ड तो बहुत बड़ा है, जब कोई कह सके कि मेरी देह के अन्दर वह ज्ञान-रूप चेतन शक्ति नहीं है, ऐसा कभी नहीं हो सकता अर्थात् वह सदा है इसलिए उसका नाम सत् है। वह सदा समझ रही है, इसलिए उसका नाम चित् है। वह सदा ही ऐसी आनन्द की अवस्था में है कि मैं सदा बनी रहूँ, कभी भी ऐसा न हो कि मेरा नाश हो जाये। यही है उसका बने रहने का आनन्द। इसको सारे वेद, शास्त्र, उपनिषद् व पुराण आदि में सच्चिदानन्द करके कहते हैं।

3. यदि मनुष्य उस ज्योति के साथ टिक जाये तो उसको एक ऐसा परमानन्द प्रकट हो जाये, जो संसार में बिना किसी दूसरे के सम्बन्ध और बिना निमित्त के है और सदा बना रहने वाला है। अब उसी के लिए ये सारे शास्त्र कहते हैं कि "ऋते ज्ञानान् न मुक्ति," कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है। जब तक इस सच्चिदानन्द का ज्ञान आपको नहीं होगा, तब तक मुक्ति सम्भव नहीं। मुक्ति का अर्थ संसार से छुटकारा नहीं, बल्कि इस संसार के बन्धन-कारक सम्बन्धों से छूटना है। इसका तात्पर्य (मतलब) यह है कि हम संसार में एक दूसरे के साथ ऐसे बंध रहे हैं कि उन बन्धनों का सुख खोजते-खोजते हम संसार में और ज्यादा उलझते जाते हैं। ये जो बन्धन हैं अन्तकाल में दुःख का कारण हो जाते हैं। जैसा कि मान लो! दो मित्र हैं। उन्होंने किसी समय सोचा कि चलो दोनों मिल कर कोई धन्धा कर लें और एक-दूसरे के विश्वास से धन्धा करने लग गए। परन्तु अन्त में प्रजापति देव की तरंगों के कारण अपना-अपना स्वार्थ रखते हुए वे असफल रहे और उन्हें दुःख झेलना पड़ा। दोनों के अन्दर एक देव ऐसा बसा हुआ था, जिसका नाम प्रजापति है। वह बच्चे से लेकर वृद्ध (बूढ़े) तक सबके अन्दर समान रूप से है। वह देव ही है

जो सबके अन्दर जन्म से साथ होता है। उसका नाम चाहे प्रजापति कह लो। उसको, 'सादर शरीरी प्रथमा', जिसकी उत्पत्ति सबसे पहले होती है तो वह शरीर से भी पहले जन्म लेने वाला हो गया। वह सब रूप में है। सारे संसार का व्यवस्थित रूप से जो उसका एक रूप है, उसका नाम ब्रह्मा है; अर्थात् जितने रजोगुण के भाव हैं ये सारे ब्रह्मा के हैं, चाहे वे किसी भी व्यक्ति में हों। यदि ये किसी एक-एक व्यक्ति के हैं, तो वे उस व्यक्ति के अन्दर उस प्रजापति के हैं। सामान्य रूप से वह ब्रह्मा है और एक खास, विशेष रूप में प्रजापति है। वह सब मनुष्यों के अन्दर जन्म से ही बैठ जाता है और संसार (दुनिया) की दृष्टि (नज़र) में कोई खोटा काम नहीं करने देता, इसलिए मनुष्य छुप कर खोटा कार्य करता है, जिससे उसको डर लगता है। मनुष्य व्यापक (समष्टि) सर्वरूप है, एक दूसरे से जुड़ा-जुड़ाया है। यह भी सब में बैठा है, इसी के डर के कारण कोई भी व्यक्ति खुले में मनमानी नहीं कर सकता। जिस समय वह व्यक्ति बाहर अपने लिए कोई खोटा कर्म करता है, तो अन्तकाल में ही वह देव उसको खोटे कर्म की याद दिलाता हुआ उसको दुर्गति को प्राप्त करवा देता है। यह देव भी सर्वव्यापक है।

4. जो भी ये पाप कर्म होते हैं, छुपकर होते हैं, लेकिन व्यापक की नज़र से तो छुपकर नहीं होते। जैसे चोरी कर लो, झूठ बोल लो, इन कर्मों को मनुष्य छुप कर ही करता है। यह जो व्यापक ब्रह्म है, जिसको शास्त्रों में परमात्मा कहते हैं; यह सबके अन्दर एक रूप में है। यह तो अन्दर बैठा हुआ सबको देख रहा है, लेकिन पाप करने वाले को उस समय दीखता भी नहीं। जो व्यक्ति इस सर्वव्यापक का डर रखकर अपने अन्दर समझने वाला है, वह बिल्कुल पापों से दूर रहता है और पाप न करने से उसका मन हल्का रहता है और धीरे-धीरे उसको पता लगता है कि

किस-किस प्रकार के कर्म कैसे बनते हैं? और यह ज्योति या अन्दर की बिजली जो कि ज्ञान के साथ है, इन्हीं कर्मों से साँप भी बनाती है, बिच्छू भी बनाती है, सिंह, व्याघ्र भी बनाती है, कुत्ता भी बनाती है और यह जो कुछ भी बनाती है, वह बनाया हुआ भी समझ में आने लगता है। बुद्धिपूर्वक सोच-समझ कर यदि कार्य कर लिया, तो मनुष्य-रूप रह गया। यदि मान, अहंकार, ईर्ष्या, मत्सर और क्रोध आदि में बहकर पशुओं के समान चल गया तो पशुओं की योनि को ही प्राप्त होगा क्योंकि पशुओं के अन्दर भी यह सब भाव देखने में आते हैं। कुत्ता दूसरे कुत्ते के सुख को देखकर सहन नहीं करता, थोड़ा-सा दब जाने पर चींटी भी काट खाती है और साँप भी थोड़ा छूने पर डंक मार देता है। अहंकार के कारण साँड भी दूसरे साँड को देखकर लड़ने के लिए तैयार हो जाता है। यह सब भाव पशुओं में भी हैं। यदि मनुष्य बुद्धि को जगा करके, भला-बुरा विचार करके अपने-आप को इन भावों के चक्कर में न डाल करके सम्भल कर चल सका, तो वह मनुष्य के स्तर पर है और मनुष्य के स्तर से कभी नीचे नहीं गिरेगा। यदि उत्तम भाव रख ले तो देवताओं के स्तर पर पहुँच जायेगा, जैसे सबके सुख में सुखी होना, किसी के भी सुख को देखकर मन मैला नहीं करना; किसी के भी दुःख को देखकर मन में दया बसानी इत्यादि-इत्यादि।

5. यह जो अन्दर **की ज्योति है,** उसका अपना रूप-रंग कुछ भी नहीं है। रूप-रंग वही है जैसे-**जैसे** आप संस्कार एकत्रित करेंगे, उसी ढंग की बिजली घूमेगी और **यह संस्कार** रूपी बिजली वही शक्लें बनायेगी। ये सारे संसार में, जिसको **हम** चौरासी लाख योनियां कहते हैं, सारी शक्लें उसी की हैं; परन्तु बुद्धिपूर्वक सोच-समझ कर जो अपने को चलायेगा वही मनुष्य है। यदि यह **बुद्धि नहीं रही और भावों में बह गया, संशयों में पड़ गया और**

खोटे कर्मों के कारण संसार से छुप कर रहने लग गया तो पता नहीं किन-किन रूपों को प्राप्त होगा। ऐसा मनुष्य सोते-सोते भी यही सोचता रहता है कि भई ! देख लो, जिनके लिए मैंने खोटे कर्म किये, झूठ बोला, ठगियां कीं, वही घर वाले आखिर मेरे नहीं बने और अब वे मेरे को ठोकर मार रहे हैं। ऐसी अवस्था में मैंने ये कार्य क्यों किये? ये सारे मिथ्या ध्यान अन्त में आते हैं। अब उस समय न तो राम का नाम, न और कोई अच्छाई और न ही कोई किसी प्रकार के पुण्य कार्य ही बन पाते हैं। वही जो किये हुए संस्कार हैं, उनकी मिथ्या प्रकार की स्मृतियां उसके दिमाग में आती हैं और न जाने कितने प्रकार के मिथ्या ध्यान आयेंगे, अब उन मिथ्या ध्यानों के साथ वैसा ही बिजली का करण्ट भी चलेगा। बाहर जब छुप कर कर्म कर रहा था तो उसका मनुष्य-रूप छुप गया। जिसका जैसा अपना भाव होगा उसके वैसे-वैसे अपने रूप हैं। यदि क्रोध, अहंकार का भाव है तो उसमें सिंह या व्याघ्र का रूप दिखेगा। ठगी चोरी का भाव है तो उसमें गीदड़ का रूप दीख जायेगा, ईर्ष्या, द्वेष या मत्सर का भाव है अर्थात् दूसरों के सुख को देखकर जलता है तो कुत्ते का भाव है; तो ये सारी शकलें उसी की हैं।

6. जिन योगियों ने इस विद्या को अपने अन्दर प्राप्त किया उन्होंने बताया कि बाहर का सुख छोड़ दो, उस सुख को छोड़ने पर जो तंगी होती है उसको सहन कर लो, खोटा नहीं बोलना, खोटा नहीं करना और फिर अकेले बैठकर मन में ध्यान करना, नींद को भी थोड़ा जीतकर देखना कि किन-किन भावों से अपने अन्दर की प्राकृतिक शक्ति रूप बिजली गुजरती है; क्या-क्या अवस्थायें बनाती है। ऐसा देखते-देखते वे संसार से कट गए अर्थात् संसार मन से उतर गया और जब ससार मन से उतर गया तो वे अपने ध्यान में आ गए। शास्त्र वालों ने कहा है कि थोड़ा

सोच-समझ कर बुद्धि द्वारा कार्य करें। जो मैं कर रहा हूँ, उसका क्या परिणाम होगा? इस प्रकार थोड़ा समझ कर काम करने की आदत डालो। करो सब कुछ, परिवार भी पालना है, दुनिया में जो भी अपने कार्य हैं सारे करने हैं। परन्तु इतना है कि झटपट किसी जोश में आ करके कोई कार्य नहीं करना। जैसे प्रजापति तो कहता है लो जी! उसने मुझे कड़वा वचन बोल दिया, मुझे क्रोध आ गया और क्रोध में वह मुझसे कड़वा वचन बुलवायेगा। अब यदि कड़वा वचन आपके मुँह से निकल गया, तो आप हार गए और वह प्रजापति देव जीत गया। दूसरों के अन्दर भी वही देव बैठा है। वह कहेगा मेरे को उसने कड़वा वचन बोला है, तो मैं क्यों मीठा बोलूं, वह भी कड़वा बोलेगा। यदि आप इस प्रकार उस देव के अनुसार ही चलोगे, तो आप अपने परिवार में भी दुःखी रहोगे और अपने मित्रों में भी प्रीति नहीं मिलेगी। फिर एक दिन यही वैर बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ जायेगा कि दूसरों के प्रति जो आपका भाव है, वह निद्रा में भी जायेगा और मौत में भी साथ रहेगा। यह देव सबके अन्दर है। जैसे मेरे अन्दर भड़कता है, वैसे ही दूसरों के अन्दर भी भड़कता है। दूसरे चाहे रोक सकें या न रोक सकें परन्तु मैंने अपने-आप को धर्म-नियम के अनुसार रोक कर चलाना है। जितना आप रोक करके, अपने-आप को धारण करके नियम से चलेंगे, तो इसी का नाम धर्म है। जैसे मेरे अन्दर एक देव है, ऐसे ही दूसरों के अन्दर भी है। तो मैं अपने अन्दर इसकी तरंगों को रोक कर उचित रूप से चलूँगा और दूसरों को, जो बेचारे सम्भलने के हक में नहीं हैं या सम्भलने की शक्ति नहीं रखते, क्योंकि उनको उसका ज्ञान नहीं है, इसलिए उन दूसरों के प्रति क्षमा-भाव रखूँ। परन्तु मेरी तरफ़ से कभी कुछ ऐसा न हो कि मैं इन विपरीत तरंगों के चक्र में पड़कर कुछ खोटा कर दूँ। इस प्रकार संभलकर चलने वाले व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान होगा,

आत्मज्ञान भी होगा, अन्दर के देवताओं का भी पता लगेगा, अन्दर के सत्यों का भी और अन्तकाल में सबसे बड़ा उसका फल यह है कि उसे अकेले में मन लगाना आ जायेगा। अकेले में भी वह आनन्द को पा सकेगा और उसका आनन्द भी सदा बना रहने वाला होगा।

7. जो जीवन पहले संसार में चला है वह दूसरों के संग से ही चला है। दो, चार, दस के बिना अकेले में उसका मन नहीं लगता। जैसे बच्चे को कोई खिलाता-पिलाता रहे तो बच्चा खुश है, अकेला पड़ जाये तो वह रोता रहेगा या सो जायेगा। इसी तरह मनुष्य भी हैं, मित्र-प्यारे हैं जिनके संग से 'मैं' मिलती है। उस समय वह अपने-आप को बड़े आनन्द में समझता है कि 'वाह! मैं आनन्द में बैठा हूँ।' जब तक वे 'मैं' देने वाले मिल रहे हैं, तब तक तो ठीक है। परन्तु जब उन मित्र-प्यारों की, परिवार वालों की 'मैं' नहीं मिलती तब वह अकेला पड़ने के बाद बच्चे की तरह संसार में भागेगा। शास्त्र कहते हैं कि ऐसा मनुष्य मरने के बाद झटपट जन्म लेकर आयेगा क्योंकि मरने के बाद अकेला होने पर उसको वह 'मैं' नहीं मिलती जो दूसरों के संग से मिलती थी। वह 'मैं' नहीं मिलती, तो संग तो तभी पायेगा जब वह जन्म जायेगा। इस प्रकार वह मनुष्य फिर जन्मेगा। मान लो! बचपन में, लड़कपन में, जवानी में परिवार वालों से जो 'मैं' मिली थी; यदि बूढ़ा होने पर उसके परिवार वाले उसका आदर न करें, तो इस हालत में उस बूढ़े का मन लगेगा क्या? उन बच्चों के बीच में जाकर क्या करे जो उस वृद्ध के संग को नहीं चाहते और वृद्ध के प्रति उनका आदर का भाव नहीं है। तो इसके लिए शास्त्र कहते हैं कि उसको अपनी आत्मा में आने का प्रयास करना चाहिए। अकेले अपने-आप को पहचाने, अन्दर की विद्या को जाने जैसे आप बाहर की वस्तुओं को जानते हैं, उसी प्रकार अन्दर

भी बहुत से सत्य जानने के हैं। जैसे बाहर की वस्तुओं को पहचानते हुए आपका समय व्यतीत हो जाता है, उसी प्रकार अन्दर के सत्यों को पहचानते हुए आपका समय भली प्रकार व्यतीत हो जायेगा।

8. जो जानने की वस्तुएं है, उनको पहचानने का यत्न करे कि कौन मेरे को चला रहे हैं, और चला करके किधर ले जा रहे हैं और कहाँ ले जा करके मुझे पटकेंगे? जो वस्तु मैं चाहता हूँ, मिलती नहीं है और जब मिलती नहीं है तो पीछे दु:खी भी होता हूँ। अब ये सब अन्दर के ज्ञान हैं। यदि मैं बच्चों में न जाऊं तो क्या है? अकेले तो मन लगता नहीं। जरा देखूं तो सही कितनी देर मन नहीं लगता है। अब अकेले का मन जो है, वह तो नींद में जाता है। रोगी व्यक्ति को भी तो मन लगाना पड़ता है। इस तरह सुने-सुनाये के अनुसार श्रद्धा रख कर इन्हीं अन्दर के सत्यों में यदि अपनी नज़र खोलेंगे, तो अन्दर ज्ञान जन्मना शुरू हो जायेगा। जिसको अन्दर से ज्ञान मिलना शुरू हो गया, उसको दूसरों के संग से अधिक ज्ञान जानने की आवश्यकता नहीं है। जैसे बच्चों को दूसरों के संग से ज्ञान मिलता है, ऐसे ही जवानों को भी दूसरों के संग से ज्ञान होता है। जवान-जवान मिलकर आपस में कई बातें करते हैं। एक-दूसरे की संगत से उनको आनन्द मिलता है। जैसे ही वह अकेला पड़ गया, फिर उसका मन नहीं लगता। संसार में अकेले तो आखिर पड़ना ही पड़ेगा। एक समय ऐसा आ जायेगा कि आप अपने अन्दर किसी प्रकार की संगत (अपने-आप में) नहीं रख सकोगे। फिर आपको जाकर धर्म की संगत खोजनी पड़ेगी। धर्म की संगत में भी एक, दो घंटा ही व्यतीत हो पायेगा, सारा दिन कैसे व्यतीत होगा? काम तो कुछ होता नहीं, क्योंकि आपके शरीर में शक्ति नहीं रही, तो उस अवस्था में आप क्या करेंगे? अकेले बैठे-बैठे वह संगति में रहने वाला मनुष्य दु:खी होगा, दु:खी मनुष्य फिर अपने पापों को याद करता

है कि अहो! मुझे दुःख हो रहा है। उस समय उसे अपने पापों की याद आने लग जाती है। उन पापों को याद करता हुआ और भी दुःखी व विक्षिप्त होकर फिर अपने मन को बहलाने के लिए किसी संगत की याद करता है। संगत का सुख तो उसकी बढ़ी हुई अवस्था ने पहले ही समाप्त कर दिया है; ऐसी अवस्था में अन्तरात्मा में ही ज्ञान जगाये बिना दूसरी कोई शरण नहीं है।

९. खाली बैठे मनुष्य में पुराने पापों के संस्कार जागते हैं, उन संस्कारों के अनुसार जो भी आपकी स्मृतियां होंगी वे सब मिथ्या स्मृतियां हैं। उनसे जो कुछ भी आयेगा, सारा आपके कर्मों का मिथ्या ध्यान होगा कि वे हुये क्यों हैं? वे इसलिए हुए हैं कि आपने मिथ्या ढंग से अपना जीवन निकाला है। मिथ्या वचन बोले, मिथ्या इच्छायें रखीं, मिथ्या ढंग से कर्म किये कि दो पैसे जरा ज्यादा हो जायेंगे तो ज्यादा सुखी हो जायेंगे। उस समय तो विचार नहीं किया कि इन दो पैसों के लालच के कारण खोटे कर्म भी हो रहे हैं। अब पीछे याद आता है कि जिनके लिए ऐसा किया वे भी अपने नहीं रहे, तब मन ज्यादा दुःखी होता है। शास्त्र वाले कहते हैं कि इस मन को खाली मत रहने दो, पहले से भी थोड़ा ज्यादा तंगी के सामने टिक के जीना सीखो। तंगी में जीना यही है कि जब दूसरों का संग नहीं है तो अकेले बैठकर थोड़ा भगवान् के नाम का ही स्मरण कर लूँ। नाम जपते-जपते भी मन नहीं लगता, नींद आती है, तो मैं नींद को भी थोड़ा जीतूं और थोड़ा अपने पुराने कर्मों का विचार करूँ कि जो कुछ मेरे से खोटा हुआ है उसकी याद करके आगे के लिए संकल्प करूँ कि यह आगे न होने पाये। यह अन्दर की विद्या है, अन्दर का एक ज्ञान है। इनके साथ रहकर यदि वह मन की भ्रान्तियों को मिटा सकता है, तो उसको बुढ़ापे में जाकर जब वह अकेला पड़ जाता है तो उसके लिए अकेले जीना कोई समस्या नहीं है और साथ ही साथ

उसको यह समस्या भी नहीं है कि जो प्राकृतिक दबाव सबको समय–समय पर मिथ्या रीति से चला जाता है, वह दबाव इस पर नहीं होगा, कारण कि वह विचार करके अन्दर के सत्यों को पहचान कर अपने को सम्भाल कर चलता है।

10. जिसने आप को कड़वा वचन बोला है, आपने उसका दिमाग में कड़वा चित्र धारण कर रखा है। शास्त्र वाले कहते हैं कि कड़वा चित्र न धारण करके आप दो चित्र धारण कर सकते हैं। एक चित्र प्रभु का जो अपनी माया के साथ बैठा है या वह नादान है उसके अन्दर कहने की समझ नहीं थी। वह तो देवता था। कौन देवता? वही प्रजापति जो शरीर में पहले जन्मता है, जो शरीर में पहले 'मैं' थामता है, वह है। जब वह है तो उस बेचारे को पता ही नहीं है कि देवता ने उसकी बुद्धि मैली कर दी है, इसलिए उससे अच्छा बर्ताव नहीं हो सका। उसके ऐसे बर्ताव की उपेक्षा करके अपना बर्ताव सही रखना और अपना बर्ताव सही रख करके उसके लिये प्रभु से प्रार्थना करना कि प्रभु! इस बेचारे को भी सद्–बुद्धि देना, जिससे यह अपने–आप को सम्भालकर चल सके।

11. यदि आपका अपना–आपा समझ कर करने वाला हो गया तो आपको यह सारा संसार नाटक की तरह दीखेगा। तो देखो! यह देवता किस–किस प्रकार से किसी को प्रकट कराता है। किस–किस प्रकार के भाव बनवाता है, द्वेष बनवाता है। उनकी लीला संसार में कितनी भयंकर है। तो आप हिम्मत करके कोशिश करें कि अब मन मार कर भी किसी को दुःखदायी या किसी के मन को भड़का देने वाला कोई भी शब्द किसी को नहीं कहना। इस प्रकार जब अपने–आप को सम्भालने वाला व्यक्ति स्वयं अकेला बैठेगा तो उसका मन संतोष व तृप्ति में होगा।

कई बार मनुष्य की अवस्था के अनुसार जैसे कि वृद्धावस्था

में अपने घर के प्राणी भी उसका संग नहीं चाहते और उस व्यक्ति को एकान्त में अपने मन को लगाकर समय बिताना भी नहीं आता। यदि वह घर वालों के पास जाता है तो उनके धक्के ही खायेगा और मन में फिर और दुःखी ही होगा। इसी तरह दिनों-दिन दुःख बढ़ते-बढ़ते अन्त में उसी दुःख में मरेगा और मरके फिर उत्तम गति भी क्या पायेगा? इसलिए मनुष्य को चाहिए कि जब तक ये विपरीत अवस्था नहीं आयी, तब तक उससे पहले ही अपने-आप को और अपने अन्दर के भड़कावों को थोड़ी पहचानने की शक्ति उत्पन्न करे। यह शक्ति थोड़ा एकान्त में बैठने की आदत से उत्पन्न होगी। बैठकर अपने मन को देखने या पढ़ने की आदत डाले और मन के अन्दर दीखने वाले जो भड़काव हैं, जो कि मनुष्य को बाध्य (लाचार) करके दूसरों के चक्कर में ही आनन्द लेने के लिए प्रेरित करते हैं, उन सबको पहचानने का यत्न करे। इससे उसको काफी समय एकान्त में बिताना आ जायेगा और उन भड़कावों को पहचानकर थोड़ा चिन्तन द्वारा ज्ञान जगाकर समझने की कोशिश करे कि ये भड़काव धक्के लगाकर मनुष्य को जबरदस्ती अपनी मिथ्या शक्ति द्वारा कहाँ-कहाँ और किन-किन चक्करों में डाल देते हैं? और अन्त में इन चक्करों में पड़े हुए व्यक्ति की क्या दुर्दशा होती है? जब इन सारे सत्यों का मनुष्य को अपने अन्दर ज्ञान होगा, तो उसे सच्ची प्रेरणा अपने अन्दर से मिलेगी और अन्दर ही अन्दर यह भाव उत्पन्न होगा कि इन भड़कावों के चक्कर में पड़कर कभी भी इस संसारी जीवन को नहीं बिताना, बल्कि इनसे लड़कर, इनसे मुक्ति पाकर अपने-आप में शान्त होना। अब जब इनसे मुक्ति मिल गई तो अब उसको दूसरों के जीवन की बाहर की भक्ति का भी अवकाश मिलेगा और दूसरी जगह यही देखेगा कि जैसे ये भड़काव मेरे अन्दर लीला करना चाहते थे, वैसे ही ये सारे जगत् के अन्दर रमे हैं;

परन्तु प्रभु कृपा से ज्ञानदेव की भक्ति द्वारा मैंने तो इनको अन्दर पहचानकर अपने-आप में इनसे लड़कर मुक्ति पा ली और पाकर सुखी भी हो गया, परन्तु दूसरों में ये नाटक खेलते हुए स्पष्ट नज़र आ रहे हैं। दूसरा, तीसरा कोई नहीं, यह सब इन्हीं की लीला है।

12. जो इनको जीत ले, उसको बाहर किसी से विजय पाने की क्या आवश्यकता है? अन्त में पता चलेगा कि जिन पर विजय पानी थी, वे यहीं मेरी दृष्टि में बसे थे, जिनको मैंने अन्दर देख लिया; फिर बाहर उसके लिए बड़ा रौनक मेला है। सब के प्यारे बनकर, आनन्द के साथ हैं। आपको फिर यह इच्छा नहीं कि मेरी मुक्ति हो जाये। मेरे प्रभु! मैं यदि मर भी जाऊँ, तो कोई बात नहीं। मैं वैसे भी संसार में देवता के रूप में हूँ। मेरा स्थूल (पार्थिव) शरीर न भी हो, तो भी सारा रौनक-मेला मुझ को दीखता है। मैंने तो बस! तेरा तमाशा देखना है। ये हैं-बैकुण्ठ वासी। वह मुक्ति में है। मुक्ति में वह है जो सारे बन्धन निकाल कर शून्य मन वाला हो गया। शून्य मन के बीच में ज्ञान का दीपक रख दिया, ज्योति जल रही है और आनन्द रूप में ज्ञान प्रकट हो गया। उस आनन्द में वह मुक्त प्राणी ऐसे खोया रहता है जैसे नशे में कोई मनुष्य खोया हुआ रहता है। वह कहता है कि मुझे इस नशे में किसी की आवश्यकता नहीं है। ठीक है! संसार का तमाशा देख रहा हूँ कि भगवान् कैसी लीला कर रहा है और कैसे इसके अन्दर देवता बर्ताव कर रहा है? और दूसरों के अन्दर भी कैसे क्या लीला हो रही थी? जो सम्भलने वाला है, उसके अन्दर कैसी थी? उसके अन्दर क्या हुआ? यह सारा नाटक है और आप स्वयं मुक्त हो करके देख रहा है। किसी प्रकार से उसको यह अनुभव नहीं होता कि मैंने इन सब भड़कावों को नहीं देखा, या लो जी! मैं खाली बैठा हूँ, मेरा मन नहीं लग रहा। यह करना था, वह

करना था। ये होते हैं महान् देवता लोग, जिन्होंने इस तरह से अपने जीवन को साधा है व सम्भाला है और सम्भाल कर चले हैं; वे ही इस प्रजापति की लीला को देख पाये हैं। आप तंगी सहन कर ली, दूसरों को कुछ नहीं कहा। दूसरे के अन्दर यह देख लिया कि दूसरा कोई है ही नहीं। दूसरा कोई है तो वही एक ही देव है, जो अपनी 'मैं' में बढ़ा हुआ है। वह 'मैं' वाला कौन है? वही प्रजापति देव, जो जन्म से ही साथ है। वह सबके अन्दर है। थोड़ा अनुकूल नहीं होने पर क्रोध पैदा करता है और जहां पर अच्छा लगता है, उसमें राग पैदा करता है और उसको पाने के लिए संघर्ष भी करता है। जैसी उसकी इच्छा होती है, वही मनुष्य के अन्दर प्रकट हो रही है। जैसे किसी ने कड़वा बोल दिया तो उसमें बंध गया, उसकी खाली दृष्टि (नज़र) ही बनी है। उस की इस प्रकार दृष्टि ही बनी और दृष्टि में ही वह खोटा करने वाला समझा गया है और मिथ्या दृष्टि से खोटा करने का भाव भी बना। 'वह जो उसने कहा', का अर्थ है कि उसी देव ने कहा है, जो मेरे अन्दर भी ऐसा बुलवाता है और मेरे अन्दर भी ऐसा बर्ताव करवाता है, वह दूसरा कोई नहीं है। वह दूसरा तो बेचारा उसको जानता भी नहीं था। इसलिए उसकी उलझन में पड़ गया। ऐसा विचार करके उसने इस मिथ्या दृष्टि-बन्धन को टाल दिया। अब उसके प्रति क्रोध नहीं है। क्रोध नहीं है तो खोटा करने का भाव भी नहीं है। यदि भाव नहीं है और खोटा नहीं किया, तो वह मुक्त रहा। ऐसी अवस्था में मन इतना हल्का है कि नींद अच्छी आयेगी व खाना भी अच्छा हज़म होगा। भगवान् की दया से शरीर में श्वास ठीक प्रकार से चलेगा। अब यदि ये सारी वस्तुएं ऐसी होंगी, तो वह व्यक्ति संसार में भी और संसार से भी बड़े आराम से पार होगा, नहीं तो इन्हीं भावों के साथ जिसका मन उलझा हुआ है वह श्वास भी ठीक प्रकार से नहीं ले सकता और श्वास

ठीक न लेने से वह अपने शरीर में प्रभु का घर भी नहीं बना पाता।

13. पुराने ऋषि कहते थे कि भई! बाहर जितने भी मन्दिर हैं, वे इस शरीर का ही चिन्ह हैं। अपने शरीर में ही मन्दिर बनाओ। अब शरीर का मन्दिर कब बनेगा? जब आप सारी बुराइयों से दूर हो जाओगे। इस निर्मल देव को शरीर में बसाने के लिए आपको कोई रचना रचनी पड़ेगी। रचना रचने के लिए आप क्या करेंगे? यही जो निकम्मे राक्षस बाहर से आते हैं, कहीं क्रोध, कहीं अहंकार, कहीं किसी का बुरा करना इत्यादि इनका मन्दिर अपने शरीर में मत बनने दो, इनको ज्ञान द्वारा मन से उजाड़ दो। इनको उजाड़ते-उजाड़ते यहाँ तक उजाड़ना है कि ये शरीर में रहने नहीं पायें। यदि ये साथ रहते हैं तो श्वास को भी ठीक से चलने नहीं देते और खाना भी ठीक से हज़म नहीं होने देते। क्रोध, अहंकार रख करके आप दूसरों का जीवन भी ठीक नहीं रहने देते। अन्त काल में ये साथ जाने से भयावनी शकलें दिखाते हैं और दुर्गतियां कराते हैं। इसलिए इनको उजाड़ना है। पहले मन द्वारा निश्चय किया, मन द्वारा अपना अभ्यास किया और फिर मन से उनको निकाल दिया। अब आप खाली बैठे हैं, परन्तु इन राक्षसों ने आपको छोड़ना थोड़े ही है। वे कहते हैं 'राज्य तो हमारा है', देवता तो वहीं बैठा है। जब इनकी तरंगें आयें तो मन को श्वास के साथ जोड़ दो। ऐसी अवस्था में जो श्वास अन्दर आये उसको समझ से लिया और जो श्वास बाहर जाये उसको भी समझ से छोड़ा। श्वास लेते-छोड़ते समय इनको नहीं आने देना। जब आपका श्वास शुद्ध चलेगा तो देह की रचना भी शुद्ध होगी। ऐसी अवस्था में न तो अहंकार रहा, न मान रहा तथा देह में कंस की सारी सेना मारी गई। जब सारे राक्षस मर गए तो फिर राम जी या कृष्ण जी का या किसी देव का रूप अपने अन्दर रख लिया। इस प्रकार जब शरीर रूपी मन्दिर बन गया, तो अब आप जो भी अन्न खायेंगे

वह भगवान् को भोग लगेगा। जब नींद में जाओगे तो भगवान् सुलाया जायेगा और आप जब नहायेंगे तो भगवान् स्नान करेगा। जो कुछ आप बाहर मूर्ति-पूजा करते हैं वह सारी इस शरीर-रूपी मन्दिर में करनी है। मूर्तियों की पूजा तो केवल पहले उन बच्चों को समझाने के लिए है कि बेटा! तुम्हारी तो अभी उम्र नहीं है, तुम तो कहीं बड़े होकर ही समझोगे और तब भगवान् के वास्तविक मन्दिर को जानोगे। पहले तुम इन्हीं बाहरी मन्दिरों की पूजा करो और इन्हीं देवों की पूजा करना सीख लो। अपने अन्दर जो दोष विकार हैं:- जैसे काम, क्रोध, अहंकार, किसी का बुरा करने का भाव, कड़वा वचन इत्यादि उनको देखकर अन्दर से हटाना और गुणों को अपने अन्दर उत्पन्न करना। अब ज्ञान का दीपक जलाकर आप यह समझोगे कि भई! इन विकारों को छोड़े बिना गति नहीं है और इस ज्ञान के दीपक से भगवान् की ऐसी आरती उतारना है कि चारों तरफ भगवान् ही भगवान् हो, दूसरा कोई विकार नहीं होना चाहिए।

14. इस प्रकार जब आपकी स्मृति (होश)टिकी हुई है, टिकी स्मृति में दोष तो कोई आता नहीं है, विकार कोई है नहीं और शुद्ध ज्ञान जब बैठा है तो आनन्द में है और भगवान् की लीला को देखकर उसकी समझ में आ रहा है कि सारे कर्म तो वही कर रहा है; तब जा करके उसको निर्मल रहने की सच्ची इच्छा होगी। जब इस तरह वह शुद्ध भावों में अपने अन्दर जीता है और बाहर किसी को नहीं देखता तो बताओ उसकी समाधि को कौन परेशान करेगा? समाधि यही है कि मन बाहर कहीं भी नहीं भटकता और अपने अन्दर ही विचार में लगा रहता है। भटकाने वाले यही थे, कहीं काम, कहीं क्रोध, कहीं तू-तू, मैं-मैं, यही सारी मिथ्या दृष्टियां। जब मनुष्य इन सारे भटकाने वाले तत्वों

को दूर करके, अपने अन्दर ही सारे संसार की लीला देखता है

तो कहते हैं कि भक्त में तो भगवान् कर्म करता है। यदि आत्मा निर्मल, पवित्र हो गई तो यह भगवान् है। अब उसी का मन्दिर बनेगा, उसी को भोग लगेगा और वह ही सारे कर्म करेगा, यही पूजा है। इसमें उसका स्नान हो रहा है, अन्त में शरीर भी उसी का होगा और सब कुछ उसका ही होगा। अब यदि सब कुछ उसी का ही होगा तो बताओ! मरते समय किसकी याद रहेगी? कहाँ पहुँचेगा? उसी में रहेगा न और वह अपने-आप में आनन्द-रूप है और सब के अन्दर उसी का ही दर्शन है। जो प्रभु मेरे अन्दर बैठा है, उसके कारण जो लीला मेरे अन्दर हो रही है, वही सबके अन्दर भी हो रही है। जब सब जगह वही देव है तो मनुष्य कहता है कि मुझे मुक्ति की आवश्यकता नहीं है। इससे निर्मल ज्ञान की ज्योति प्रकट हो जायेगी। जब निर्मल ज्ञान की ज्योति प्रकट हो गई तो यह देह ही उसका मन्दिर बन गया। अब जो श्वास चलेगा वह सब उसी निर्मल ज्योति का चलेगा।

15. अकेले बैठे का मतलब यह नहीं है कि खाली मन है तो फिर जो खोटा बोलने वाला था, उसकी यादें करो, या कोई मिथ्या इच्छायें हैं, मिथ्या बर्ताव हैं; उनको ध्यान में लाते रहो। जब उनके भाव आने लगें तो समझ के साथ श्वास लेना, छोड़ना, चालू रखना व उनको टालते रहना है। जो श्वास अन्दर आये उसका भी पता है और जो श्वास बाहर जाये उसका भी पता रहे। अन्त में श्वास बड़े आराम से चलेगा जैसे बच्चे में चलता है, क्योंकि बच्चों को किसी के साथ कोई वैर-विरोध नहीं, अन्दर कोई भड़काव नहीं, अभी कोई किसी प्रकार की बीमारी नहीं; इसलिए उन बच्चों का सांस बड़ा निर्मल चलता है। जो बच्चा है, वह अपने-आप में सब प्रकार से निर्मल है। क्यों निर्मल है? क्योंकि उसमें संसार की उलझन वाले भाव नहीं हैं। इस प्रकार से जब शुद्ध श्वास चलने लगेगा तो रोम-रोम खिल उठता है। आप देखते हैं कि

जब अग्नि जलती है तो धुँआं उठता है। धुँआं जब हवा में मिलता है तो नाना प्रकार की शक्लें बना करके पता नहीं धीरे-धीरे कहाँ चला जाता है। धुँआं हवा के रोम-रोम में घुस गया, पता ही नहीं लगा कितनी बारीकी में गया।

16. इसी प्रकार हम जो अन्न खाते हैं, उस अन्न को अन्दर की ज्योति सारे रोम-रोम में पहुँचाती है। अन्दर के जैसे-जैसे भाव होंगे, देह के ऊपर उसी भाव के ढंग का अन्न जमेगा। आपने यदि निर्मल-भाव करके अन्न खाया है और निर्मल-भाव करके श्वास लिया है तो आपकी देह का रोम-रोम भी निर्मल होगा। अब इसी को लेकर शास्त्र कहते हैं कि उसी तरह यदि आपका मन निर्मल है और निर्मल मन में श्वास भी शुद्ध है तो समझो! प्रभु का मन्दिर आपके इस शरीर में ही बन गया। अब इस प्रभु के मन्दिर के शरीर में यात्रा भी शुद्ध होगी। उस चेतन तक पहुँचने के लिए कोई अलग ध्यान करने की आवश्यकता नहीं हैं, परन्तु कर्मक्षेत्र अर्थात् कर्मयोग में थोड़ी भावना शुद्ध करने के लिए विचार करना पड़ेगा। जब तक ज्ञान नहीं जागता है, जैसे बच्चे ने कुछ कड़वा वचन कह दिया तो समझना पड़ेगा कि प्रभु! मेरे को समझ में नहीं आ रहा कि कौन से देव के भड़काव में आकर उसने ये वचन बोला? परन्तु इतना अवश्य है कि उसमें भी तू ही बैठा है, यह भाव की भक्ति है। इस भाव की भक्ति को रख करके अन्त में ज्ञान होने पर पता चलेगा कि हर शरीर में मेरा परमेश्वर ही विराजमान है, और कोई नहीं है। अब वह जागते-जागते अपने-आप के साथ बैठा है, कहीं बाहर मेरा मन नहीं है, कहीं बाहर सोच-विचार नहीं है, कुछ करने-कराने का इरादा नहीं है तो जब आप अकेले निश्चिन्त होकर बैठेंगे तो बड़े हल्के मन से शरीर में आनन्द पायेंगे। यही वह ऋषियों का आनन्द है जिसको कहते हैं- 'आठों पहर बसन्त।' जैसे कहते हैं कि 'सदा दीवाली

साध की', साध का अर्थ है साधना करने वाले की, 'आठों पहर बसन्त' अर्थात् वह आठों पहर अपने में ही बस रहा है। यही बस रहे का नाम बसन्त है।

17. एक जीवन बचपन का है, उसको बच्चा जान करके नहीं चलाता है। वह जो चला रहा है वह अन्दर का एक देव है, जो पशु, पक्षी और कीट-पतंग में भी है। पशु-पक्षियों को भी क्रोध आता है, उनको भी इच्छाएँ होती हैं और उनके अन्दर भी मान-अहँकार आता है। तो वह सब जो भाव उनके अन्दर हैं, उस देव के हैं। वे बेचारे अपने अन्दर कुछ नहीं जानते। उन्हीं कामना (इच्छा), क्रोध आदि के अनुसार विभिन्न तरंगें हैं, जो कार्य करवाती हैं, पशुओं को लड़ाती हैं, बेचारे जीवों को मरवाती हैं और भी न जाने क्या-क्या करवाती हैं? मच्छर मनुष्य पर खून पीने के लालच से बैठ जायेगा, उसको यह पता नहीं कि वह मुझे थोड़ा-सा हाथ मारकर मार डालेगा। परन्तु मनुष्य को अपने हित और अहित के बारे में पता है और विचार से वह समझ सकता है और समझ करके सम्भल भी सकता है, समझ कर अपने हित का रास्ता भी सोच सकता है। फिर इस देव की परतन्त्रता व उलझन वाले चक्कर और देव के नाना प्रकार के धक्कों से बच करके यदि अपना जीवन साध लिया तो यही धर्म का जीवन है। जो धार्मिक जीवन के अनुसार स्वस्थ मन रखकर तन्दुरुस्ती में श्वास लेने वाला है, वह सुख की नींद सोयेगा और सुख की नींद से जागेगा। प्रभु हर प्रकार से उसमें चेतन है, तो यह है भगवान् की कृपा। अब साधना अपने हाथ में है। इस प्रजापति देव के जीवन के धक्के और दोष तो इतने ज़बरदस्त हैं कि वे किसी प्रकार से जल्दी समझ में नहीं आते। वह देव तो इतना बलशाली है कि एक सैकिण्ड भी मनुष्य को सोचने नहीं देता। जैसे चींटी पर थोड़ा सा दबाव पड़ने पर वह काट खाती है, ऐसे ही मच्छर

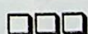
भी खून पीने लग जाता है, चाहे वह बेचारा मर ही जाए। इसलिए जो कर्म बगैर सोचे-समझे होगा, वह तो फिर संसार में ऐसे ही होगा जैसे उस मच्छर की अवस्था थी या उस काटने वाली चींटी की थी। मनुष्य तो वह है जो विचार के साथ सोच करके ठीक कायदे से कार्य कर ले और सोचकर अपनी रक्षा भी कर ले और कहीं कुछ नुकसान भी न हो। मनुष्य भाव यही होता है कि सोच करके अपने-आप में कार्य करे। मान लो! कोई मच्छर आपके शरीर पर बैठ गया तो आपने झटपट बिना सोचे-समझे जोश में आ करके उसे वहीं पर रगड़ दिया, मार डाला। ऐसी अवस्था में आपको इतना करने की ज़रूरत नहीं थी। आप बड़े आराम से वैसे भी उसको हटा सकते थे, परन्तु ऐसा तभी सम्भव हो पाता यदि आपके अन्दर बुद्धि विकसित होती। आप उसको आराम से उड़ा दो, वह उड़ जायेगा। थोड़ा-सा दया का भाव रख लो, फिर बैठेगा तो फिर उड़ा दो। आपने यदि थोड़ा दया-भाव रख लिया और बुद्धि से सोचकर कार्य कर लिया तो आप बढ़िया मनुष्य हैं। इस तरह से समझ-समझ कर चलने वाले के लिए कहीं पर भी, कभी भी दुर्गति नहीं है और उसकी उत्तम गति यही है कि अन्त में अन्दर की विद्यायें समझते-समझते अकेले में शरीर के अन्दर ही रघुनाथ जी का मन्दिर बन जायेगा, शान्ति का मन्दिर बन जायेगा और मन्दिर में भगवान् खेलेंगे, आनन्दरूप से सदा जागते रहेंगे और संसार की लीला भी दिखेगी, इससे बड़ा पुण्य और क्या होगा? इसलिए थोड़ा श्रद्धा से सुन करके जितनी भी इस उम्र में सम्भलने की कोशिश हो सके, उसे करने का प्रयास करना। थोड़ा बहुत अपने को संभाल कर चलें, जीव हत्या से बचें, थोड़ी-सी बात में जीव हत्या न करें, झूठ न बोलें। झूठ बोलने के लिए छुपना पड़ता है। चोरी न करें, उसके लिए भी छुपना पड़ता है। कोई भी आप बुरा या दूषित कार्य करो, छुपना

पड़ता है; और भी नशा आदि करते हैं, इनसे भी कई किस्म की बीमारियां हो जाती हैं। इन सब कर्मों से बचना है और इन मिथ्या कर्म करने की आदत वाले मन को इन्हीं कर्मों से बचाकर चलने के लिए थोड़ा तंगी या दुःख भी पाना पड़ता है, इसी का नाम तपस्या है। इस तपस्या के रास्ते (मार्ग) से आपको अपने अन्दर वह बल मिलेगा जो कि सम्भाले रखता है। धीरे-धीरे यह बल बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ जायेगा कि जो भी ये मिथ्या कर्म करवाने वाले दोष हैं वे समझ में आने लगेंगे। जब उन दोषों से आपको लड़ना आ गया और उनसे लड़ करके उनको टालना भी आ गया तो आप बड़े योद्धा हो गए।

18. इन सबसे बचने के लिए यही करने का है कि जब से उम्र सम्भले अर्थात् मनुष्य होश सम्भाले तो पहले से ही थोड़ा जीवन को समझ-समझ कर चलने का प्रयास करे। नियम के अनुसार जीवन को बाँधे, थोड़ा सोच-समझ कर कार्य करने की आदत डाले और ये जितने भी विकार हैं, उनको समझ-समझ कर अपनी आत्मा में ही टालने का यत्न करे, यह नहीं है कि दूसरों के संग में ही अपना मन रखे कि दूसरों के संग से कुछ मिलेगा। अन्त में यहाँ तक आ करके जब अन्दर का ज्ञान जाग जाये अर्थात् अन्दर की विद्या जाग गई तो परमात्मा मिल गए। अब यदि यह हो गया तो मरने के बाद संसार में जाने की क्या ज़रूरत है? अपने-आप में ही आनन्द मिल रहा है।

19. सारा कहने का तात्पर्य (मतलब) यही है कि वह प्रजापति देव है जो सबके जीवन को चला रहा है। अब उसके जीवन के अनुसार चलने से सब लड़ेंगे, सब अपनी-अपनी खोजेंगे, अपनी-अपनी दुनिया में रहना चाहेंगे, इससे बचने के लिए तो फिर कुछ नियम चाहिए। व्यापक में आप इसका थोड़ा ख्याल करके अपनी दुनिया में चलो, थोड़ा सा दूसरों की कमजोरी को

माफ करके, अपने-आप को समझ करके, सारे बन्धनों से छूटने का प्रयास करो, यदि आप इस बन्धन-जाल से छूट गए तो इसका नाम मुक्ति है। बन्धन से छूटने को ही मुक्ति कहा है। मुक्ति मिल गई तो मन हल्का हो गया। हल्के मन में वह प्रभु, जो नींद में आनन्द देता है वह जागते-जागते भी आनन्द देगा। परन्तु यह कमाई एक, दो, चार दिन में तो होने वाली नहीं है। जैसे बाहर संसार में आप अपने जीवन को चलाने के लिए सब प्रकार से यत्न करते हैं, उसी प्रकार से अन्दर के जीवन को सम्भालने के लिए उसी प्रकार के यत्न में लगे रहें। हर सम्भव प्रयास करते-करते इस अन्दर के जीवन में भी कोई ऐसा समय आयेगा कि बाहर के सब स्वार्थ छूट जायेंगे और बाहर का संसार भी उसके लिए (खत्म) समाप्त-सा हो जायेगा। उस अवस्था में यदि अन्दर का ही जीवन रह गया, अन्दर की ही सम्भाल रह गई, अन्दर की ही पढ़ाई पढ़ते-पढ़ते अन्दर की ही पहचानें खुल गईं, अन्दर ही ज्ञान प्राप्त हो गया, फिर बाहर संसार में किसी का संग करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। दूसरों की इच्छा हो तो पर-हित के लिए थोड़ा संग कर लें, नहीं तो अपने-आप में मौज में रहें। इससे यह होगा कि श्वास भी ठीक है, मन भी ठीक है और प्रभु का घर भी ठीक है। यही सारे कहे हुए का निचोड़ है।



प्रवचन-18

दिनांक: 23.1.1994

1. सत्संग का मूल (जड़) उद्देश्य यही होता है कि मनुष्य को अपना किसी विशेष प्रकार का सुख मिलता रहे, जिससे उसको अपने-आप का बना रहना अच्छा मालूम हो व आराम से उसका समय निकलता रहे और उसके ऊपर उसके अन्दर के दुःख व क्लेशों का आक्रमण (हमला) न हो। जब कोई बालक संसार में आता है तो उसका मन देखने, सुनने व दूसरों के साथ मिलकर बातचीत करने में लग जाता है और वह बड़े आराम के साथ सब में खेलता रहता है, कारण कि उसका मन उनके साथ लग जाता है। यदि उसका मन बाहर खेलने में लग गया, तो उसको सदा बाहर रहने की इच्छा होती है और वह चाहता है कि ऐसा न हो कि मैं न रहूँ अर्थात् वह सदा बना रहना चाहता है। इस प्रकार से जो अपने अन्दर अपने ढंग से बच्चा बना हुआ जीवन खेल रहा है, वही जीवन बचपन से लड़कपन में, लड़कपन से जवानी में व जवानी के बाद बुढ़ापे में पहुँचता है। प्रत्येक अवस्था में जीवन एक जैसा नहीं चलता।

2. जब वह बच्चा था तो दूसरों को प्रिय (प्यारा) लगता था और उसको उनसे मान व आदर भी मिलता था व सब उसके सुख के लिए यत्न भी करते थे। ऐसी अवस्था में उसका मन संसार में ऐसे रंगा रहता था कि मैं सदा के लिए ऐसा ही बना रहूँ। कहीं ऐसा न हो कि मेरा यह सुख मुझ से बिछुड़ जाये। तो यह वह अवस्था है जिस अवस्था में रहता हुआ व्यक्ति कहता है कि ऐसी अवस्था में 'मैं' सदा बना रहूँ। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसी अवस्था में उसको एक ऐसी 'मैं' मिलती है अर्थात् अपने-आप को ऐसा सुख-रूप ज्ञान होता है जिसको वह खोना

नहीं चाहता व उसको कभी मरने की इच्छा नहीं होती। परन्तु जिस प्रकार बच्चे ने बचपन वाले सुख देखे हैं, वे आगे लड़कपन में पहुँचने पर नहीं मिलेंगे अर्थात् लड़कपन में उसको बचपन जैसा आदर-मान, आज़ादी व सुख नहीं मिलेगा। उस समय उसको अपना मन लगाने के लिए व अपनी वही 'मैं' पाने के लिए दूसरा ही रास्ता सोचना पड़ता है। उसको फिर उन्हीं बाहर की वस्तुओं व मनुष्यों से सम्बध रखना पड़ता है और वह उनके सम्बन्ध से प्रीति व सुख महसूस करता है, जो उसके मन को लगाये रखता है।

3. यह जीवन चलते-चलते बचपन से लड़कपन, लड़कपन से जवानी में कदम रखता है और जवानी के बाद एक ऐसी अवस्था आती है, जिसका नाम बुढ़ापा है। इस बुढ़ापे की अवस्था में पहुँचने पर वे बचपन, लड़कपन व जवानी के सुख तो रहते नहीं और इस अवस्था में उसको अकेले में खाये-पीये व तन्दुरुस्ती का सुख कहाँ मिलेगा? ऐसी अवस्था में भी सुख पाने के लिए ऋषि-मुनियों ने अन्दर की खोज की है और उन्होंने बताया है कि आपका ऐसी अवस्था में धर्म ही एक सहारा होगा। धर्म अर्थात् जिस तरह से आप अपने-आप को धारण करके रखेंगे। यदि ठीक रीति से आप ने धर्म को पहचान लिया और उसके अनुसार चलना सीख लिया तो आपका मन सुख के साथ उसमें इतना लगने लगेगा कि आपको अनुभव होगा कि इतना सुख तो बचपन, लड़कपन व जवानी में भी नहीं देखा था जितना कि मुझे इस धर्म की शरण में आने पर इस अवस्था में मिल रहा है। यदि आप ऋषि-मुनियों के बताये व कहे हुए धर्म के अनुसार, थोड़ा अपने-आप को संयम में रखते हुए तथा पहचानते हुए व अपने अन्दर के ज्ञान को समझते हुए उसी के अनुसार अपने को ढालते हुए चलेंगे तो आपको ऐसा सुख मिलेगा व आप कहेंगे कि अब

मृत्यु (मौत) ही नहीं है, यह सुख (आनन्द) तो सदा बने रहने वाला है। बचपन तो छूट गया, लड़कपन, जवानी की अवस्था और जवानी के सुख, दुनियावी ढंग की तन्दुरुस्ती (सेहत) व दूसरों में आदर का भाव आदि सब अब नहीं रहे। अब दूसरों के साथ हमारा मन उसी पहले वाली स्थिति में रहना चाहता है, लेकिन हमको वही पहले-वाला व्यवहार नहीं मिल सकता। यदि हम ऐसी अवस्था में बच्चों जैसा सम्बन्ध व प्रीति दूसरों से प्राप्त करना चाहेंगे तो हमें बुरी तरह असफ़ल होना पड़ेगा। उस असफ़लता की अवस्था में कई बार मनुष्य ऐसे निराश हो जाते हैं व सोचते हैं कि अब हम किसका संग करें, कौन हमारा साथी है? उस निराशा की अवस्था (हालत) में यदि वह उन बच्चों व जवानों की तरफ़ जाये और उधर से केवल धक्के पड़ें तो यह दुर्गति की अवस्था है। इन सब बातों व अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए ऋषि-मुनियों ने एक ऐसा महान् मार्ग (रास्ता) बताया है जिसके अनुसार चलने से पहले कभी मिले हुए सुख से भी कई गुणा अधिक (ज्यादा) सुख मिलेगा। वह मार्ग (रास्ता) यही है कि आपको थोड़ी अपने अन्दर की खोज व अन्दर की आँख खोलनी पड़ेगी। यदि आप अपने अन्दर ऋषि-मुनियों के बताये हुए अन्दर के धर्म को बैठाने लग गए, उस धर्म के अनुसार आचरण करने लग गए और वह स्वाभाविक बन गया तो आपको बचपन आदि के सुख से भी ज्यादा सुख मिलेगा। आप स्वयं कहने लगेंगे कि इस अन्दर के सुख (आनन्द) की अवस्था में पहुँचकर मौत ही नहीं है।

4. इस धर्म के मार्ग पर चलने के लिए थोड़ी अपने ढंग की तैयारी भी करनी पड़ती है। यदि ठीक तरीके से तैयारी न हो तो शास्त्र वालों ने थोड़ा-सा दूसरे ढंग का एकान्त में जीवन खोजने का मार्ग (रास्ता) भी बताया है। यदि ठीक रीति से उस मार्ग पर

आप उसको समझ कर चल सकेंगे तो आपको ऐसा मालूम होगा कि हे प्रभु! जितना मैं अकेले में आनन्द में हूँ, इतना आनन्द तो मैंने दूसरों के संग से भी कभी अनुभव नहीं किया। अब दूसरों के संग में आनन्द कहाँ है? यह ठीक है कि बच्चे की अपनी एक दुनिया है जिसमें उसको एक आदर-मान व प्रीति (प्यार) की 'मैं' मिलती है, उसमें उसको सुख मिलता है। जहाँ उसको आदर-मान, प्रीति नहीं मिलेगी, वहाँ उसका मन जाना नहीं चाहेगा। यह बाहर की 'मैं' सदा मिलने वाली नहीं है। इसलिए ऋषि-मुनियों ने बताया है कि आप थोड़ा अन्दर की विद्या व अन्दर के सत्यों को पहचानो। इसके लिए थोड़ा बाहर से मन को शनैः-शनैः (धीरे-धीरे) हटाओ और अपने मन को थोड़ा चेताओ, थोड़ा ध्यान भी सीखो। विचार द्वारा अन्दर के सत्यों को पहचानो और अन्दर के भड़कावों पर नज़र खोलो। उन्हें पहचानते हुए उनसे लड़ना भी सीखो। अपने अन्दर के खोटे दोषों से लड़ने से आपको एक ऐसी विद्या मिलेगी और एक ऐसा ज्ञान मिलेगा, जिसमें लग जाने पर बाहर किसी से उलझने तथा बोलने तक की भी इच्छा नहीं होगी।

5. इस ज्ञान को पाने के लिए महात्माओं ने अपने शब्दों में उत्तरायण मार्ग, दक्षिणायन मार्ग, स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक, बैकुण्ठलोक, विष्णुधाम और शिवजी का कैलाश कहा है और आपने ये सारे शब्द सुन ही रखे हैं। ये सारे शब्द सुनने-सुनाने तक ही नहीं हैं। जिन ऋषियों ने इनकी खोज की है, उन्होंने ये प्रत्यक्ष अवस्थाएँ अपने मन के अन्दर साक्षात् अनुभव की हैं और उनके अनुसार उन्होंने सुख भी पाया है। यदि ये अवस्थाएँ उनको प्रत्यक्ष दिखी हैं तो ये प्रत्येक मनुष्य को भी दिखाई दे सकती हैं। जैसे वे अपने जीवन में चले हैं, हर एक मनुष्य को भी ऐसा ही चलना पड़ेगा; तभी इन शास्त्र के शब्दों का सही अर्थ (मतलब) समझ में

आयेगा। इन ऋषि–मुनियों के शब्द व भाषा बहुत पुरानी है, जिसको आजकल समझ पाना बहुत मुश्किल (कठिन) है। इन सब को सुन करके हम अपने ढंग से अपने अन्दर उतारने का प्रयत्न करें। यदि आपने करने के ढंग से इन शब्दों को सुनकर उनको समझ लिया तो आप के लिए उत्तरायण, दक्षिणायन कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो आपकी समझ में नहीं आये। अन्दर की विद्या जानने वालों के लिए ये वैसे ही सादे सत्य हैं।

6. जैसे एक मनुष्य कुछ समय पहले बच्चा था, आज बड़ा हो गया, बाल–बच्चों वाला हो गया। अब बच्चों में उसका मन रम रहा है। उसका यह अपने परिवार का दायरा अर्थात् उसकी रहने की जगह बहुत सीमित और छोटी है, जिसमें वह खुशी से जी रहा है। इस संसार में कितना लम्बा–चौड़ा जीवन है, कितने मनुष्य हैं जिनके प्रति उसके वे भाव नहीं हैं जो कि उसके अपने घर वालों के प्रति प्रेम व प्रीति के भाव हैं। उसके घर वाले सुखी हैं, बच्चे खेल रहे हैं, घर वाले आनन्द में हैं तो ऐसी अवस्था में वह बड़ा सुखी है। अपने बच्चों के अवगुणों की तरफ़ तो उसका ध्यान ही नहीं जाता। यह केवल छोटे वृत्त (दायरे) का थोड़ा सुख है। वास्तविक सुख प्राप्त करने के चार मार्ग (रास्ते) हैं, किसी के भी सुख में सुखी होना। जैसे बाल–बच्चेदार अपने बच्चों के सुख में सुखी हो रहा है, वैसे ही किसी भी प्राणी का सुख ध्यान में आने पर मनोमन सुखी होना। इस संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है जो अपने बच्चों के सुख में सुखी नहीं होता और उनके दुःख में दयाभाव से पिघलता नहीं है। इस प्रकार ऐसा व्यक्ति तो बहुत छोटे दायरे (वृत्त) व छोटी जगह में है। उसका जीवन सारे संसार (दुनिया) में, जहाँ तक कि सूर्य का प्रकाश है, नहीं है। अब यह छोटे दायरे का जीवन उस समय तक तो ठीक है जब तक कि बच्चे उसका आदर–मान कर रहे हैं

और जब तक उसके आश्रित हैं; बड़ी चिकनी-चुपड़ी बातें भी करते हैं व उसके प्रति बड़े सुन्दर भाव भी रखते हैं। उसका उन भावों के साथ ऐसा मन लगा हुआ है कि वह चाहता है कि हे मेरे प्रभु! मेरी दुनिया सदा ऐसी ही बसी व बनी रहे। इससे और अच्छी सुख पाने की वस्तु क्या है? परन्तु इस प्रकार की दुनिया सदा एक जैसी नहीं रहती। बच्चे बड़े होने पर उनको अपने ढंग की बातें सूझने लगती हैं और उनको अपने बड़ों से इतना डर भी नहीं लगता जितना कि पहले लगता था। उस वृद्धावस्था की स्थिति में यदि वह ठुकराया जाता है और उसकी इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं, तो बताओ घर में बाल-बच्चों के साथ उसका मन सुख से लगेगा? अर्थात् नहीं लगेगा। जब मन लगेगा नहीं, कारण कि वे पहले वाले आदर-मान तो रहे नहीं, तो ऐसी अवस्था में मन को कहाँ ले जाया जाये? घर वाले, बाल-बच्चे बड़े होने पर इस वृद्ध (बूढ़े) का संग अब करना भी नहीं चाहते।

7. ऐसी अवस्था में यदि कोई यह समझता है कि यह बच्चा खोटा है या वह खोटा है तो समझो कि वह मनुष्य ठीक प्रकार से नहीं समझता। अब इस अवस्था में खोटा कौन है? सब अपनी-अपनी जगह पर अपनी अवस्था के अनुसार ठीक हैं। अपने जीवन की अवस्था के अनुसार अब जैसा समय आ गया, वही खोटा है। हमें विचार करना चाहिए कि घर में रहने वाले कोई भी खोटे नहीं हैं। इस अवस्था में मेरा समय ही खोटा है जो कि अब मेरी वृद्धावस्था का समय है, जब मैं किसी की सेवा नहीं कर सकता, पर दूसरे सब तो सेवा चाहते हैं। अपने आप में मैंने रहना सीखा नहीं। इस अवस्था में यदि कहीं कोई रोग आ भी गया तो ऐसी अवस्था में बताओ कौन मेरा आदर करेगा? घर वाले व दूसरे मिलने वाले जब उस का आदर नहीं करेंगे, जिसके लिए वह उनकी तरफ़ झाँक रहा है तो समझो उसका यह मन

सुस्त, ढीला और भ्रम के रास्ते से पिछड़ा हुआ है। ऐसी आदर-मान न मिलने की अवस्था में आप अपने मन को इस ढंग से टिकाओ व चेतन करो कि आपको वास्तविकता (असलियत) की समझ आ जाये। यह ठीक है कि यह उदास व खिन्न मन अपने अन्दर टिकना न चाहेगा और पुनः-पुनः उछलकर बाहर वालों को ही अपने अनादर के लिए दोषी ठहरायेगा और यह समझने का प्रयत्न ही नहीं करेगा कि यह सब उसकी अवस्था व समय का ही खेल है। परन्तु आप इस भागते मन को अपने अन्दर ही शान्त करने का यत्न बनाये रखो। कुछ समय बाद मन अपने अन्दर ही टिकने का अभ्यस्त हो जायेगा।

8. यदि किसी मनुष्य के भाव अपने बच्चों व घर के छोटे दायरे में ही बंधे हुए हैं और इतने व्यापक संसार (परमेश्वर) में जहाँ तक कि सूरज की किरणें हैं उसके भाव नहीं पहुँचते तो समझो वह अन्धकार में ही जीवन व्यतीत कर रहा है। यही दक्षिणायन है। यदि किसी की आँख बाहर खुल जाये जहाँ प्रकाश ही प्रकाश है अर्थात् जो सारे संसार को एक ही भाव में देख रहा है तो यही उत्तरायण है। उसकी सूरज जैसी चमक है। उसने किसी अन्धकार में अर्थात् सीमित दायरे में भाव नहीं रखा अर्थात् घर के छोटे दायरे से वह बाहर निकल गया। जो भी उसका खुशी का एक भाव अपने बच्चे के लिए है, वही भाव दूसरों के लिए भी है। वृद्ध मनुष्य समझता है कि अब मेरे बच्चे यदि मेरे ढंग से नहीं रहे तो कोई बात नहीं। इस सारी दुनिया के बच्चे तो खेल व हंस रहे हैं व कहीं रो रहे हैं और ये सब बच्चे अपने ही तो हैं। अब मैं इन सब बच्चों को देखकर ही इनके सुख में सुखी व इनके दुःख में दयाभाव युक्त होने का यत्न करूँ। कल तक अपने बच्चों की मुस्कान को देखकर खुश होता था और अब इस सारे संसार के बच्चों को मुस्कराते व हँसते देखकर खुश होना सीखूँ।

अपने बच्चों को तो आप अपने बच्चे समझते हैं व उनके गुणों की प्रशंसा भी करते हैं, परन्तु ऐसा आप संसार के बच्चों के लिए भी करना सीखें। वैसे तो बच्चे किसी एक के नहीं होते, बच्चे तो भगवान् के होते हैं। ऐसा भाव बनाकर यदि उनकी सुख की आवाज़ है, तो आप सुखी हो जाओ। यदि रोने की आवाज़ है या कोई दु:ख की बात है, तो उस समय अपने मन में थोड़ा दया भाव जगाने का यत्न करो। ऐसा करने में आपका मन लगा रहना चाहिए। मन किसी तरह व्यस्त रहे, किसी भी वस्तु में उलझा न रहे तो आपके लिए आपका जीवन कभी भी समस्या नहीं बनेगा।

९. यह ठीक है कि किसी समय अच्छी वस्तुएँ, विषय-भोग सामग्री मिली थी और अवस्था परिवर्तन के कारण अब वे मिल नहीं रहीं, तो आप उनके बिछुड़ने का शोक कर रहे हैं। इस प्रकार यह शोक व मोह में पड़ा हुआ आपका मन खाली मन कहलाता है और यही आपकी अज्ञानता व नामसझी है। इस नासमझी में पड़े-पड़े आप बच्चों के दोष ही देखेंगें व अपने मन में यही समझेंगे कि लो जी! ये बच्चे किसके होते हैं, ये सारे ही बच्चे ऐसे हैं, यूँ हैं, त्यूँ हैं। ऐसा समझने वाला मन निकम्मा है व अपनी शक्ति ही नष्ट कर रहा है। ऐसी अवस्था में उसका मन नहीं लगेगा और उसे चिड़चिड़ापन भी आयेगा। ऐसे मन वाले के लिए पितृलोक में भी अच्छी गति नहीं है। दक्षिणायन मार्ग वाला केवल अपने घर व बच्चों में तो सुखी रहना जानता है, यदि वह कुछ सत्कर्म करता हुआ अच्छे मार्ग (रास्ते) पर जीवन में चलता रहा तो मरने के बाद दुर्गति नहीं पायेगा। यह ठीक है कि जीवन-काल में ऐसे मनुष्य का अकेले में मन नहीं लगता। व्यापक में जो देव चमक रहा है और जहाँ तक सूर्य-नारायण की किरणें हैं, यदि वहाँ तक आपका भाव जाग गया तो समझो! आप दक्षिणायन से निकलकर उत्तरायण में चले गए।

10. दूसरों के सुख में सुखी होने का अर्थ (मतलब) यही है कि जहाँ तक जीवन फैला हुआ है अर्थात् जहाँ तक सूर्य-नारायण की किरणें पहुँच रही हैं, वहाँ तक किसी भी प्राणी के सुख को देखकर या याद करके अपने मन में सुख का अनुभव करना, इसी को शास्त्र वाले ब्रह्मलोक कहते हैं। अतः जहाँ तक सूर्य-नारायण की किरणें पहुँचती हैं, वहाँ तक का भाव बनाने का प्रयत्न करो। ऐसा नहीं होना चाहिए कि अपने मन के भावों को अपने घर तक या परिवार तक ही सीमित रखो। यह ठीक है कि अभी घर के अन्दर अपने भाव सीमित रखने की आदत बनी हुई है और उधर से ही सुख खोजने की इच्छा है। यदि उधर से सुख नहीं मिलता है तो चिड़चिड़ा हो करके दुःख में अपना समय व्यतीत करके नींद में जाना चाहता है और जब तक जागता रहता है तो दूसरों के दोष ही देखता रहता है, यह मन उत्तम गति वाला नहीं है। उत्तम गति वाला मन वही है जो कि ऐसी दुःख की अवस्था में भी थोड़ा भगवान् का नाम स्मरण करने लग जाये कि हे मेरे प्रभु! मैं आपको जानता हूँ या नहीं भी जानता हूँ, तो भी कोई बात नहीं। इतना अवश्य है कि प्रभु! तू ही सच्चिदानन्द रूप में सब के अन्दर चेतन व ज्ञान रूप से बैठा हुआ है और लीला कर रहा है। अपने मन को बोल-बोल कर चेतन करता रहे। उत्तम गति वाले मन की यही अवस्था है कि दूसरों के सुख में सुखी होना, दूसरों के दुःख में थोड़ा दया भाव रखना, दूसरे के छोटे से भी गुण को तो देखना व प्रशंसा (वाह-वाह) करना, परन्तु दूसरे के दोषों व अवगुणों की तरफ़ बिल्कुल ध्यान न देना अर्थात् उनकी उपेक्षा करना। मान लो किसी ने आपके प्रति थोड़ा कड़वा वचन बोल दिया; ऐसी अवस्था में अपने मन को बोल-बोल कर समझाना कि उसने जो वचन बोलना था वह तो बोल ही दिया, उसका ऐसा बोलना उचित (ठीक) ही था, क्योंकि उसके

मन में मेरे प्रति ज़हर था। अब मेरे मन में उसके वचनों के प्रति ज़हर चढ़ रहा है व इससे मेरे मन को क्रोध भी हो रहा है, इसी का नाम द्वेष है। क्रोध की अवस्था में मन उसका बुरा करने के लिए भी सोच सकता है। ये जितने भी भाव हैं, ये आप के नहीं हैं। ये सब भाव बच्चे में भी थे जो कि अपना थोड़ा-सा अपना सुख बिगड़ने पर रोने लग जाता था। ये जितने भी भाव व धर्म हैं, ये सब अन्तःकरण या मन के हैं। काम, क्रोध, राग, द्वेष, मान, मोह आदि को केवल जानने से कोई फायदा (लाभ) नहीं होगा और न ही कोई सुख मिलेगा, जब तक कि हम इन सब को अपने अन्दर पहचान कर इनसे मुक्ति पाने का यत्न न करें। इस अन्तःकरण या मन के कई विविध धर्मों को अपने मन में पहचानने लग जाओ। जैसे कि आज उसने मुझे कड़वा वचन बोल दिया तो मेरे मन में कैसे ज़हर चढ़ गया था। ज़हर चढ़ने के साथ ही वह आदमी (मनुष्य) मुझे बुरा लग रहा था और बुरा लगने के साथ-साथ उसके बारे में क्या-क्या दूषित विचार मेरे मन में आ रहे थे। इस लीला को देखते-देखते और ऐसा अपने मन में बोलते-बोलते यदि आपने अपने मन को ठण्डा कर लिया अर्थात् यदि सद्-विचारों द्वारा सब किस्म के मिथ्या विचारों को विरोधमय प्रकृति का स्वभाव समझ करके तथा अपनी शान्ति व सुख के विपरीत जानकर और उनका अन्तिम परिणाम दुःख और अशान्ति समझते हुए शान्त कर लिया, तो समझो आप द्वेष से मुक्ति पा गये और भगवान् के धाम में पहुँच गये।

11. इच्छा, क्रोध, संशय, भय आदि बच्चे के अन्दर जन्म के साथ ही आते हैं और जब बच्चा बूढ़ा हो गया, तब भी ये सब भाव उसके अन्दर रहते ही हैं और अपने स्वभाव के अनुसार उसका जीवन चलाते हैं। ये आपकी आत्मा के धर्म नहीं है, किन्तु अन्तःकरण (मन) के धर्म हैं। इन भावों को पहचानते हुए व इनकी

बाढ़ में न बहते हुए इनसे थोड़ा निकलने का यत्न रखें; तब वह आत्मा, जो कि सुन्दर, मुक्त व आनन्द-रूप है नज़र आयेगा। अपने मन में विचार करना चाहिए कि वही स्वाभाविक, प्रजापति (प्राकृतिक जीवन का देवता) पशु, पक्षी व सब के अन्दर है और उसी के ये सब भाव हैं। इन भावों में मैं क्यों बहता रहूँ, मैं वह भाव नहीं हूँ। मेरे अन्दर तो वह आत्मा शुद्ध चेतन-स्वरूप व ज्योति-रूप है जो कि मेरे सोने पर भी नहीं सोता और नींद में भी शरीर के सब कार्य करता रहता है। मेरा आत्मा तो वह है जो विद्या रूप से मेरे अन्दर बैठा हुआ है, वही सब के अन्दर ज्ञान रूप से और शान्त सुख रूप से प्रकट हो रहा है और सारे संसार के कार्य चला रहा है। इस प्रकार यदि आप अपने भाव बनाओगे, तो आप के अन्दर कोई भी बुरा (दुष्ट) मनुष्य करके नहीं बैठेगा, चाहे वह बच्चा है या नज़दीक या दूर का है। इतना अवश्य है कि आपके अन्दर जो मन में थोड़ा-सा कड़वापन है, उसको हज़म करने की युक्ति होनी चाहिए। जैसे कि आपको किसी ने मान नहीं दिया व थोड़ा-सा अपमान का दुःख दे दिया, जो कि केवल दुनिया के थोड़े से भाव ही हैं; इनको आप थोड़ी समझ के साथ देखने का यत्न करें। ये सब तो जीवन के सत्य हैं व सबके अन्दर हैं। बच्चा रो पड़ता था, बड़ा मनुष्य भी यदि बच्चे के समान रोने लग जाये तो कोई समझदारी की बात नहीं है। इन सब दुनिया के भावों का भी एक समय होता है। इस तरह से भाव बना करके अकेला मन में विचार करता रहे तो समझो, उसको अन्दर की विद्या मिल गई व उसका आत्मा जाग गया। जैसे बच्चे सबके सामने संसार में खेलते रहते हैं, वैसे ही वह अपने मन के साथ भी खेलता रहे। कोई भी ऐसा सैकिण्ड या मिनट नहीं आयेगा, जिस समय अपने भावों में, इस अन्दर रहने वाले मनुष्य का मन जागता न रहे। जैसे गीता में भगवान् श्रीकृष्ण जी ने कहा है कि

"सब धर्मों का परित्याग करके एक मेरी शरण में आ जा।" वह एक भगवान् की शरण कौन-सी है? यह वही सच्चिदानन्द ज्योति है, जो सब जगह ज्ञान-रूप से हर वस्तु को समझती हुई निर्लेप है। वही मेरा परमात्मा है। आप उसकी शरण लो अर्थात् उसी पर दृष्टि (नज़र) रखो। इन मन अर्थात् अन्त:करण के काम (इच्छा), क्रोध आदि भावों व धर्मों पर दृष्टि ठीक नहीं, जो कि सदा बने रहने वाले नहीं हैं व आने-जाने वाले हैं। मेरी आत्मा तो निर्लेप, सदा बने रहने वाली, सर्वव्यापक व आनन्द-रूप है। ऐसे भाव बना-बना कर यदि आप ने अपने मन को इस तरह लगाये रखा तो समझो, आपको अकेले में जीना आ गया और मन में विचार भी बना रहेगा और वह खाली भी नहीं रहेगा, कारण कि खाली मन शैतान का घर होता है।

12. जहाँ-जहाँ भी जीवन है, वहाँ-वहाँ ही किसी के भी सुख में सुखी रहो। मान लो! आप बैठे अपने मन में विचार कर रहे हैं, कहीं बाहर ढोल बज रहे हैं व शादी के बाजे बज रहे हैं, वहाँ मन जाग रहा है तो उस अवस्था में मन तो सोचेगा कि ये ढोल व शादी वाले मेरा ध्यान खराब कर रहे हैं, यही द्वेष की बात है। ऐसी अवस्था में यदि उसने अपने मन में विचार किया कि कोई बात नहीं, चलो जी! मैं भी भगवान् की दया से बैठा हुआ अपना ध्यान कर रहा हूँ, उनके वहाँ बाजे-ढोल बज रहे हैं; खुशियाँ मनाई जा रही हैं। हे मना! तू भी उनकी खुशी में खुश रहना सीख। इस प्रकार अपने मन को चेताओ और कहो कि देखो! इतने मनुष्य खुश हो रहे हैं, तू भी उनकी खुशी को देखकर खुश होने का यत्न कर। जहाँ आपका मन खुश हुआ तो आपकी नींद उड़ जायेगी। वहाँ आनन्द के साथ ज्ञान-रूप भगवान् जाग जायेगा, जो सर्वत्र व्यापक देव है। इस प्रकार आप छोटे दायरे से

निकल कर बड़े दायरे में पहुँच गए। अन्धकार से निकलकर

प्रकाश में पहुँचने का नाम ही दक्षिणायन से छूट कर उत्तरायण में जाना है। उत्तर-ध्रुव देवताओं की जगह मानी जाती है। अब इस उत्तर-ध्रुव में प्रकाश आने लग गया; नहीं तो यहाँ पहले रात्रि थी। रात्रि इसी अज्ञान की थी अर्थात् छोटी-मोटी तृष्णा व जीवन के छोटे दायरे में रहने की रात्रि थी। आपने छोटा दायरा छोड़ दिया, उसका कोई काम नहीं रहा। जब तक बच्चों का पालन-पोषण करना था, संसार में जिम्मेवारियां थीं, तब तक तो इसमें धँसे रहना ठीक था। अब बच्चे बड़े हो गये। उनको अब हमारे सहारे की कोई ज्यादा आवश्यकता भी नहीं है और वे हमारा ज्यादा संग करना भी नहीं चाहते हैं। हमें ऐसी अवस्था में यही करना है कि हे मेरे प्रभु! उधर का मन हटा करके व्यापक में डाल दे अर्थात् केवल अपने परिवार के भाव से निकाल कर व्यापक संसार रूपी परिवार में डाल दे। यही जंगल में बैठ कर श्रद्धा और तप की उपासना करना है। व्यापक की श्रद्धा रखनी है और उन पुराने सुखों के बिछोड़े का दुःख (ताप) सहन करना ही तप है।

13. जंगल में रहने का मतलब (तात्पर्य) है कि अपने मन के बीच में संसार का कोई भी खोटा शब्द नहीं रहने पाये। यदि आपको नींद तंग कर रही है या किसी का अपमान तंग कर रहा है या उसने मेरी इच्छा पूरी नहीं की, तो ऐसा जीवन आपको ध्यान नहीं करने देगा। इनसे थोड़ा छूट करके, इनसे रहित हो करके यदि आप व्यापक में पाये जाने वाले मैत्री इत्यादि भावों में खेलेंगे तो आपका मन ऐसे खेल में लग जायेगा, जिस तरह बच्चे का मन दुनिया के खेल में लगा रहता है। अब समझो! आपका मन ज्ञान में खेलने लग गया। जब किसी से थोड़ा-सा भी अपमान-जनक या दुःख से भड़के हुए मन में अन्दर के जीवन के देवता (प्रजापति) द्वारा जो क्रोध और द्वेष आदि भाव उत्पन्न

किया जाता है, तो वह इस जीव को उसी संघर्ष में या उसी के ढंग़ के मिथ्या भावों द्वारा अपनी शान्ति के विपरीत वाणी या शरीर के सब कर्मों में धकेलता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य अपनी स्मृति में या होश में रहकर उस प्रजापति (जीवन का देव) के प्रति विचार और ज्ञान का शब्द बोलता हुआ अपने मन को या अपने-आप को सम्भाले रखे, उन उद्वेगों में न बह जाए जो उसने उत्पन्न किये हैं। जैसे कि इस प्रकार से उस देव के प्रति ऐसे शब्दों को बोलता हुआ अपने-आप को जगाता जाये कि देव जी, आपने मेरे अन्दर जो काम (इच्छा), क्रोधादि भाव उत्पन्न किये हैं वे किसी समय बाल्यावस्था में तो दूसरों को प्रिय लगते थे, परन्तु अब इस बढ़ी हुई अवस्था (वृद्धावस्था) में ये भाव मेरे जैसे को सिवाय संघर्ष और विरोध के दुःख को छोड़कर, सुख शान्ति के मार्ग पर नहीं चलने देंगे। इसलिए कृपा करके देव जी! आप मेरे अन्दर शान्त रहें। जो मनुष्य इस प्रकार अपने मन को देखते हुए उसके साथ बोलता है और उसकी लीला देख कर, बजाय इसके कि बाहर की तरफ़ की सोचे और बाहर की ओर ही पुनः मिथ्या रूप से बह जाये, मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने-आप को अन्दर में झाँकता और पहचानता हुआ संयम में रखे। इस अन्दर की दृष्टि में ही उसका आनन्द है। यही उसका जीवन बन जाये, बाहर उलझन के बीच में न रहे जैसे साधारण-जन का जीवन होता है। अब इस जीवन में अपने मन से बातें करते-करते उसको सारे संसार के दृश्य (नज़ारे) दिखने लगेंगे। कैसे दिखने लगेंगे? जैसा मेरा मन है, वैसा ही संसार के प्रत्येक प्राणी का भी है। देखो! अभी मेरा मन कहाँ विपरीत चला रहा था, संसार के प्रत्येक प्राणी को भी यह ऐसे ही चलाता है। संसार में नाना-प्रकार के संकट, नाना-प्रकार के लड़ाई-झगड़े और खोटे कर्मों की बातें होती हैं, यह सब यही मन करवाता है और आप

बाहर इसके नज़ारे अखबारों में पढ़ लो, टेलीवीज़न में देख लो। ये सारे वही हैं और उसी की ये फिल्में बन गई हैं, तो मेरे प्रभु! कृपा करके मेरे को क्षमा करना और अपनी शरण में रखना। बस! ऐसा भाव बना कर यदि आप रहोगे तो आपको अन्दर सुख मिल जायेगा और एकान्त में बैठे हुए के साथ यदि आपसे कोई बात भी करना चाहेगा तो आपको यह मालूम होगा कि लो जी! इस अवस्था (हालत) में मेरा यह ध्यान तोड़ने वाला आ गया, चाहे वह मेरी सेवा करने वाला ही है, परन्तु इस अवस्था में वह भी आपको ज्यादा अच्छा नहीं लगेगा। इस प्रकार आप दूसरों से भी थोड़ा बचना ही चाहेंगे और इसके साथ अन्दर का यह ज्ञान होगा कि मरने के बाद भी यह आनन्द कैसे छूटेगाा? मनुष्य इसलिए मौत से डरता है कि मैं अकेला हो जाऊँगा अर्थात् सब से बिछुड़ जाऊँगा, यह सारा संसार छूट जायेगा। अब सारे संसार से बिछुड़ कर भी तो मैं अकेले में सुख पा रहा हूँ, मेरा ज्ञान तो जाग रहा है, मैं तो आनन्द में हूँ तो फिर मौत कहाँ हुई? जो संसार (दुनिया) में धँस रहे हैं, संसार की वस्तुओं में मन लगाने वाले हैं और उन्हीं के बिछोड़े पर दुःख मानने वाले हैं तो यह मृत्यु उनके लिए है और यही सारा दक्षिणायन है कि केवल एक परिवार में ही जकड़े रहना, एक परिवार में ही बसे रहना, उन्हीं के बीच में उनके भाव रखना अर्थात् उन्हीं के बीच में उनके सुख और उन्हीं के बीच में दुःख, शिकायतें आदि सारी रखना। अब उनसे निकलकर जिस समय आप व्यापक रूप में संसार के सब प्राणियों के बारे में सोचने लग गये और सब के सुख में सुखी होने लग गए, जैसे अपने बच्चों के सुख में सुखी होते हैं, दुःख में दुःखी और दया-भाव भी रखते हैं, ऐसे ही सारे संसार के बच्चे हैं और यदि उनके सुख में भी इसी प्रकार आप सुखी होने लग गए तो यही उत्तरायण है। अब इस उत्तरायण के बीच में

जो मरेगा, वह ब्रह्मलोक को जाता है। यदि इस प्रकार का भाव किसी का नहीं है और वह जीवन भर छोटे दायरे में ही रहा और उन्हीं परिवार की बातों में उलझा रहा, यद्यपि वह धर्म-कर्म वाला है, किसी का खोटा नहीं करता, दान-दक्षिणा भी देने वाला है, तो उसको पितृलोक का स्वर्ग मिलेगा। ऐसी अवस्था में जिस समय आपने देखा कि हमारे जीवन की वृद्धावस्था आ गई, तो अब बचपन से लेकर जवानी तक की अवस्था का हमारा समय नहीं रहा; ऐसी अवस्था में आप व्यापक भगवान् के प्रति चलने का यत्न करें।

14. व्यापक भगवान् के प्रति चलने का तात्पर्य यही है कि संसार के सब प्राणियों के प्रति भाव बनाओ। भाव यही हैं मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। सब के सुख में सुखी होना ही मैत्री है। जैसे पहले अपने बच्चों के सुख में सुखी होते थे, वैसे ही अब सारे संसार के बच्चों के सुख में सुखी होओ तथा किसी भी प्राणी के सुख में सुखी होना ही व्यापक दायरे में जाना है। अपने बच्चों के दुःख में दया भी रखते थे। अब किसी के भी दुःख में दया-भाव रखना ही करुणा है और किसी का भी गुण तो देख लेना, अवगुण नहीं देखना। जैसे मैंने कई बार कहा भी है कि कहीं किसी का गुण न भी दिखाई दे तो भी कोई न कोई गुण तो खोज कर निकाल ही लेना; दूसरे के अवगुण बिल्कुल न देखना। जैसे किसी ने एक महात्मा से पूछा कि "महात्मा जी! आप जिस गाँव से निकले हैं, वह गाँव कैसा है? उस महात्मा ने कहा भई! बहुत अच्छा है। तो उसने आगे पूछा कि किसी ने आप की सेवा की?" तो महात्मा जी ने कहा अरे भाई! सेवा तो ज़रूरत की होती है, तो उसने कहा कि गाँव कैसे अच्छा है जी! जब किसी ने सेवा ही नहीं की। तो महात्मा जी ने कहा, "अच्छा इसलिए है

कि मेरे को किसी ने गाली तो दी नहीं, ढेला (पत्थर) नहीं मारा,

मेरा रास्ता नहीं रोका।" तो देखो, उस महात्मा ने गाँव वालों में कितने गुण देखे। अब ऐसे दूसरों के गुण देखने वाले का प्रत्येक मनुष्य मित्र है। उसके लिए ब्रह्मलोक ही नहीं, बल्कि बैकुण्ठ धाम है। बैकुण्ठ-धाम किसके लिए है? जो इस नियम पर चलता है और यह पहचानता है कि सब जगह बैठा हुआ मेरा चेतन प्रभु देख रहा है, जो निर्लेप है, सदा बना रहने वाला है, आनन्दस्वरूप है। मुझे दूसरा कोई नहीं दिखाई देता। अब दूसरा कोई नहीं तो अब उसी के साथ अर्थात् परमेश्वर के साथ मैंने बोलना है। ऐसी अवस्था में आपकी वाणी भी ठीक होगी और आपके मन के सब भाव भी ठीक होंगे व सोच-समझ कर बुद्धि-पूर्वक वाणी निकलेगी। अब आपकी वाणी जैसी भी निकलेगी, दूसरे के मुँह से खोटा बोल कभी नहीं निकलेगा और उसका कोई भी खोटा-भाव नहीं होगा। खोटा तब निकलता है जब आपका शब्द क्रोध अहंकारादि से निकलता है। देखो! जैसे ही कोई अहंकार के वचन सुनता है तो उसके अन्दर भी प्रजापति (जीवन का देवता) अहंकार और भड़काव उत्पन्न कर देता है। वह भी जानकर के कुछ नहीं करता है। अब वह भी कोई बात बोलेगा तो वह आपको भी बुरी लगेगी। यदि आपने अपने को संयम में रखकर, उसके अन्दर परमेश्वर भाव बिठा दिया और सही बर्ताव कर गए तो सारे जगत में जहाँ इच्छा (मर्जी) हो जाओ, आपको हर प्राणी से मिठास ही मिलेगी। इसको कहते हैं 'बैकुण्ठ-धाम।'

15. बैकुण्ठ का तात्पर्य (मतलब) है जहाँ खुशी कभी भी मैली नहीं होती, कभी भी कम नहीं पड़ती, सदा एक जैसी बनी रहती है। कुण्ठा नाम संस्कृत में खुण्डे का है, जैसे चाकू की धार खुण्डी पड़ गई तो काटती नहीं। ऐसे ही खुशी खुण्डी पड़ गई तो आनन्द नहीं रहा। परन्तु व्यापक भाव वाले की खुशी कहीं भी खुण्डी नहीं पड़ती। चाहे जो कोई भी मिले या कोई न भी

मिले और मिलने पर कैसी भी बातें करे, उसका सब जगह जीवन खिला हुआ है, जैसे बच्चे को यह संसार-समुद्र आनन्द वाला मालूम होता है। ये सारे सब जगह भगवान् विष्णु का ही रूप देखने वाले हैं और ऐसा देखने के कारण से ये सदा आनन्द में रहते हैं; चाहे वे जीते रहें, चाहे वे मर जायें।

16. अब अन्त में यही कोशिश करने की होती है कि हम किसी प्रकार से अपने अन्दर से इस छोटे दायरे का जीवन हटा करके, बड़े दायरे में जीवन खोजें। बड़े दायरे के सुख में सुखी, सभी के दु:ख में दया और उनके गुण देखना, अवगुण नहीं देखना अर्थात् यदि अवगुण पर दृष्टि पड़ भी जाये तो उसे ध्यान (ख्याल) में नहीं लाना, उसकी उपेक्षा कर देना। अच्छा! अब दूसरा कोई कड़वा वचन बोल देता है तो उसका कड़वापन मन में नहीं रखना, उसके लिए थोड़ी सहन-शक्ति और क्षमा का बल रखना कि चलो भई! कोई बात नहीं। नामसझी में उसके मुख से ऐसा कोई खोटा (मिथ्या) शब्द निकल गया होगा, इसके लिए क्षमा धारण कर ली तो वह जो आपको खोटे-पन का दु:ख था, वह भी चला गया और इसके साथ ही अपना बर्ताव सही रखने का नाम ही शील है। अब दान भी यही है कि अपनी किसी प्रकार की भी बाहर की 'मैं' या संसार की 'मैं' आने ही नहीं देनी अर्थात् अपनी 'मैं' नहीं रखनी। 'मैं' रखने से क्या लाभ है? 'मैं' तो बस! एक उस प्रभु की ही है। इस संसार में यदि कोई अपनी 'मैं' बल के आधार पर रखना चाहे तो उसकी 'मैं' भी सदा नहीं रहती। वह भी अंत में धक्के ही खायेगा। इस प्रकार विचार व बुद्धिपूर्वक अपनी 'मैं' का त्याग करो और प्रार्थना करो कि हे प्रभु 'मैं' तो किसी की भी नहीं रहती, 'मैं' तो अपने समय की ही होती है और अपने-आप इस मिथ्या समझी हुई 'मैं' को प्रभु के अर्पण कर दो। फिर आपको जो 'मैं' संसार देगा, वही आपकी 'मैं'

सच्ची व सही होगी अर्थात् जिस प्रकार का संसार ने आपको समझा, उसी प्रकार के ही आप हैं। अपने मन से जो बना जायेगा वह 'मैं' झूठी है, इसलिए यदि आप सही रूप से चलेंगे तो संसार आपको सही रूप से ही समझेगा और यदि विपरीत भाव से चलेंगे तो संसार आपको विपरीत ही समझेगा। तो इसलिए जैसे संसार के प्राणी आपको समझेंगे, वही आपकी सच्ची 'मैं' है। जो आप अपने-आप में कुछ भी बने बैठे हैं, परन्तु संसार को वैसे दीखते नहीं; इस प्रकार से जो आप अपनी 'मैं' लिए बैठे हैं, वह 'मैं' झूठी ही है।

17. अब किसी के मिथ्या खोटे वचन से, किसी के खोटे बर्ताव से या आपकी इच्छा पूरी न होने से आपके मन में क्रोध है तो ऐसी अवस्था में क्रोध को अपने अन्दर ही देखना शुरू कर दें। जो क्रोध को अपने अन्दर ही ठण्डा कर सकता है, वह मनुष्य वीर पुरुष है। जो अपने अन्दर मिथ्या-इच्छा को त्यागने वाला है, वह महावीर पुरुष है। ये जितने भी मन के विकार हैं; काम, क्रोध, संशय, भय आदि इनको समय पर पहचानना और पहचान करके थोड़ा विचार जगा कर बुद्धिपूर्वक इनको दूर करने का नाम वीर-भाव है; जिसको वीर्य भी कहते हैं। अब वीर-भाव रखने वाले के लिए कोई समस्या नहीं है। जैसे कि कोई भी मिथ्या इच्छा है, उसको पूरा न करने की हम में सामर्थ्य होनी चाहिए। अब ठीक है कि किसी समय की इच्छाएँ हैं वे पूरी नहीं होतीं, जैसे मैं मीठा खाने वाला था और अब मीठा खाने के योग्य नहीं रहा क्योंकि उससे स्वास्थ्य की हानि होती है। परन्तु पहले खाने की आदत से इच्छा तो बड़ी तीव्र उत्पन्न होती है। ऐसी अवस्था में आप इस मीठा खाने की मिथ्या-इच्छा को रोक दें तो यही वीर भाव है। कोई भी मिथ्या इच्छा है तो उसके साथ लड़ना, यह वीर पुरुष का काम है।

18. जैसे पहले ऊपर बताया 'मैत्री' अर्थात् दूसरे के सुख में सुखी होना, दूसरे के दुःख में दया-भाव रखना; सारे व्यापक के बीच में अर्थात् संसार के सब प्राणियों के प्रति मैत्री इत्यादि भाव रखने का अभ्यास करना। यह नहीं कि केवल घर वालों तक ही सीमित रहना। यदि मैत्री आदि के भाव केवल घर वालों में ही हैं तो यह छोटे दायरे की दक्षिणायन भक्ति है। सारे व्यापक ज़ीवन के लिए मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि बलों को अपनाना यही उत्तरायण भक्ति है। अब किसी का गुण तो देखना, अवगुण नहीं देखना और किसी के बारे में भी अपने अन्दर क्षमा रखकर अपना बर्ताव सही रखना। अब इस प्रकार से आपको प्रत्येक मनुष्य पहचानेगा। जिससे भी आप मिलेंगे, उसके अन्दर आपके ये गुण छाप डाल देंगे और आपकी छापों से जो कुछ भी उसके अन्दर से बर्ताव निकलेगा, वह आपको बढ़िया खुशी देगा। आपकी यह खुशी कभी कुण्ठित नहीं होगी। इसी को शास्त्र वाले 'बैकुण्ठ धाम' कहते हैं। और नहीं तो चाहे कोई अपने ही घर वाले हैं अर्थात् चाहे बेटे हैं, चाहे बड़े हैं, उनके साथ भी यदि आपका उल्टा या मिथ्या व्यवहार होगा तो उस अवस्था में आपके उस व्यवहार को महसूस करके दूसरे के अन्दर से भी मिथ्या या उल्टा व्यवहार ही निकलेगा। जैसे किसी ने आ करके किसी को कहा कि, "अरे तू कहाँ जा रहा है," अब जैसे ही तू करके उसको कहा कि उसको अपना अपमान महसूस हुआ और उसके अन्दर का प्रजापति देव (जीवन का देवता) उसी प्रकार का प्रकट हो गया। क्रोध में आ करके उसने जवाब दिया कि, "तू यहाँ पड़ा रह, तेरे को क्या लेना, मैं कहीं भी जाऊँ।" उसने भी उसको 'तू' कह कर उत्तर दिया।

19. इस संसार में कोई भी जान करके कुछ नहीं करता। यह परमेश्वर का अधिनियम (कायदा) है जो सारे संसार में जीवन

चलाने वाला है। उसका नियम (कायदा) यही है कि जैसी दृष्टि होगी, वैसी सृष्टि बनेगी। अगले के अन्दर से जैसा बर्ताव आयेगा, उस बर्ताव की दृष्टि दूसरे के अन्दर कैसी बनती है अर्थात् उसका कैसा अक्स (छाप)पड़ता है; जो कि दूसरे सामने वाले मनुष्य के बर्ताव का आधारभूत कारण होगा।अर्थात् जैसा अक्स(छाप)पड़ेगा, उसी के ढंग की आवाज़, उसी के ढंग का भाव, सब ऐसे ही उसके मुख से निकलेंगे। अब अपने को शोध करके अर्थात् जिस प्रकार से दूसरों के प्रति क्लेश देने वाला व्यवहार नहीं हो, ऐसा अपना व्यवहार होना चाहिए। इस प्रकार व्यवहार करते हुए बीच में जो मिथ्या काम (इच्छा), क्रोधादि विकार आयें, उनको शान्त करे और बुद्धिपूर्वक अपना बर्ताव सही रखे। दूसरे के सुख में सुखी, दुःख में दया, गुण देखना, अवगुण नहीं देखना तो समझो आप सब के प्रति मीठे हो गये। जब यह मिठास दूसरों के हृदय में जायेगी, तो उधर से भी मिठास ही निकलेगी। इस अवस्था में आप कहेंगे कि हे प्रभु! यह संसार का रौनक मेला मेरे लिए सदा बना रहे, मैं आनन्द में हूँ, मुझे मुर्दा-सा होकर शून्य-भाव के साथ मुक्ति में जाने की कोई ज़रूरत नहीं है; बल्कि वैष्णव भक्त तो कहते हैं कि यह मुक्ति उनके लिए है, जिनको आज संसार बुरा लग रहा है। बुरा कुछ नहीं है, बुरा तो तभी है यदि मैं कमज़ोर हूँ और मुझे सब जगह भगवान् नहीं दीखता। मैंने अपने अन्दर भगवान् की पूरी भक्ति की है। सब सद्गुणों को अपनाया है या अपनाने की चेष्टा बनाये रखी है और सद्गुणों को अपना करके अपने ठीक रास्ते का ऐसा अभ्यास कर लिया है कि जिससे स्वभाव से ही मेरे अन्दर से बिल्कुल ठीक बर्ताव निकलेगा। ऐसी अवस्था में आपने सोचना कुछ भी नहीं है। ये वे भक्त हैं, जिनको कहते हैं कि भगवान् के लोक 'बैकुण्ठ-धाम' में गए।

20. अब जो इन सब मन के मिथ्या काम, क्रोध, लोभ आदि

धर्मों का त्याग करके इस प्रकार के भाव बनायेगा कि मेरा कोई नहीं, मेरा तो भगवान् ही है, वही सब जगह ज्ञान रूप से खेल रहा है, दूसरा कोई नहीं है, तो यह बैकुण्ठ-धाम भगवान् विष्णु का है। इसके बीच में यह नहीं कि यह मर गया तो सब खेल समाप्त हो गया। ठीक है, शरीर चला गया परन्तु जैसे नींद के बीच में स्वप्न आते हैं और हमें सोये शरीर की कोई खबर तक नहीं रहती, वैसे ही इसका शरीर जाने के बाद भी सारा संसार इसकी नज़रों में है और सब जगह इसको मिठास मिल रही है, उसको कभी कोई इच्छा नहीं होती कि मैं शून्य भाव में मुर्दा-सा हो करके रहूँ। परन्तु जिनका ऐसा भाव नहीं बना है, जिन्होंने भगवान् के मैत्री इत्यादि गुणों की कमाई नहीं की है, वे ही चाहते हैं कि संसार न दिखे क्योंकि उनको कड़वी चीज़ें (बातें) सहन नहीं होती हैं। वे उस अवस्था में सोचते हैं कि किसी प्रकार हम इस संसार को भूल जायें, ऐसे मनुष्य ही नशे का सेवन करते हैं। ऐसी अवस्था में चाहे कोई भी ऐसा लोक है जहाँ हम नींद में जाकर सो जायें; यह तमोगुण का लोक है। वे अपने-आप को रौनक-मेले में ठीक नहीं रख सकते। अब यही उत्तरायण वालों का कहना है कि आप छोटे भावों को बड़े दायरे में पहुँचाओ और यहाँ तक पहुँचाते रहो कि मन के भावों को पहचान लो और सब के अन्दर इन भावों को एक समान पहचानते रहो और यह समझ लो कि कोई भी भाव सदा टिका रहने वाला नहीं है, इसलिए उसके ढंग की इच्छा ही मत करो। इसके बाद आपके अन्दर जो कुछ भी होगा, सब बढ़िया ही होगा। इतना अवश्य है कि मन के इन भावों को इस प्रकार से समझो कि हे भई! सारे संसार के भाव तो उस प्रजापति के हैं और मैं उनको सहन करने के लिए आया हूँ। इस प्रकार ज्ञान जगा करके उधर से भाव टल गया और मन के बीच तृष्णा भी नहीं रही, तो उस समय जो आपकी

गति होगी, वह ऋषियों जैसी होगी। इसको ही उत्तरायण कहते हैं, जिसके बीच में से मनुष्य ब्रह्मलोक को पार करके पुनः वापिस नहीं आता है।

21. अब कहने का तात्पर्य (मतलब) यही है कि यदि मनुष्य 'तेरी–मेरी या तू–तू, मैं–मैं' के छोटे दायरे में ही उलझा रहा तो दुर्गति को ही पायेगा। ऐसी अवस्था से बचने के लिए शास्त्रवालों ने कहा है कि आप थोड़ा भावों को जगाओ और थोड़ा ध्यान को जगा करके असलियत को जानो तो आपको पता लगेगा कि जीवन का स्रोत नदी के बहाव के समान बहता रहता है। इसकी हर तरंग नई–नई है। आप किस समय की तरंग को याद करके पछता रहे हैं और किस समय की तरंगों को चाह रहे हैं और उनके न मिलने पर दुःखी हो रहे हैं। ये तरंगें तो ऐसे ही सबको घुमा रही हैं, तो यह सब ध्यान है। इसी को भगवान् गीता में कहते हैं कि भई! ठीक है तुम अभ्यास करते रहो, जप करते रहो, परन्तु थोड़ा–सा श्रेष्ठ ज्ञान करो, थोड़ा–सा अन्दर सत्य को पहचानो। यह सत्य को पहचानना अभ्यास करने से थोड़ा श्रेष्ठ है। परन्तु इससे 'ध्यानं विशिष्यते' अर्थात् ध्यान विशेष है। ध्यान यही है कि इन वस्तुओं का विचार करके इनकी असलियत को जानना कि देखो! यह वस्तु तुमको मिली नहीं, तो अब ऐसी अवस्था में हे मना! तुम इसकी इच्छा कर रहे हो, कोई भी वस्तु सदा नहीं रहती। उसकी संगत नहीं रही, अब संगत नहीं रही तो तुम उसकी इच्छा ही क्यों कर रहे हो, कोई भी संगत सदा बनी नहीं रहती। 'ध्यानात् कर्मफलत्यागः' ऐसे ध्यान से भी उत्तम है कि सब कर्मों के फल का त्याग करना। यह तभी बन पायेगा जब आप थोड़ा सत्य का ध्यान करेंगे। इस प्रकार ध्यान करने से सत्य का ज्ञान होगा कि सदा एक जैसा कर्म का फल रहता नहीं। फिर अब जो कर्म का फल सदा रहता नहीं तो उसकी इच्छा भी क्यों रखनी?

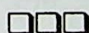
इस प्रकार कर्म के फ़ल से वैराग्य हो जायेगा और कर्म का फल त्यागा जायेगा। यदि सब कर्मों के फल का मन से त्याग हो गया, तो मन शान्त हो जायेगा। परन्तु मन विचार में, समझने में और बुराई को साफ़ करने में लगा रहना चाहिए। असलियत को जानने में और व्यापक के प्रति भाव बनाने के लिए आपको यह करना है कि जैसे दूसरों के बच्चे संसार में खेल रहे हैं, तो उस समय दूसरों के बच्चों को सुखी देखकर अपने मन में आप भी सुखी होओ और ऐसा भाव बनाओ कि दूसरों के बच्चों में, मेरे घर के बच्चे ही नज़र आ रहे हैं। इस प्रकार सारे संसार के सुख में मन को फैला दो। जब सारे संसार के बीच में आपका सुख (मैत्री) आदि का भाव फैल गया, तो आप भगवान् सूर्यनारायण को प्राप्त हो गए; अब आपका यह ब्रह्मलोक है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब आप छोटे दायरे से निकल कर इसमें जाग गए, तो समझो! आपका मन ध्यान में जाग गया। ध्यान में जगे हुए मन में यही है कि अकेले कहीं बैठे हुए किसी वस्तु की याद करने में लग गए तो खेल के समान सारी सृष्टि आपके सामने खड़ी हो जायेगी अर्थात् बचपन का वही नज़ारा। हाँ जी! बचपन में मैं कैसे घूमता था, लोग कैसे मिलते थे, कैसे बातें करते थे। इसमें पूर्व जन्म तक भी दिखते हैं, यह हमारे शास्त्रों की कथा है। ये अन्दर की सारी सिद्धियाँ और अन्दर की सारी पूर्तियां उस व्यक्ति के लिए हैं, जो मन को थोड़ा बाहर से हटा कर, भावों के साथ अन्दर जाग जाये और व्यापक बने। इस प्रकार करने से वह सदा के लिए सुखी हो जायेगा।

22. अब यही है कि सारे संसार के सुख में सुखी, दुःख में दया, गुण देखना, अवगुण नहीं देखना। थोड़ा दूसरों के लिए क्षमा रखना और ध्यान करके थोड़ा ज्ञान जगाना कि जो कोई भी कुछ उल्टा कर रहा है, ज्ञान करके वह भी नहीं करता। उसके अन्दर

प्रजापति देव ही ऐसा बैठा है, जो धक्के से अपने स्वार्थ (मतलब) के लिए ऐसे भाव खड़े कर रहा है। अब मैं उसको अपराधी भी क्यों कहूँ, उसके लिए क्षमा और अपने लिए तप अर्थात् थोड़ी तंगी को सहन करके शान्त रहूँ। ऐसे भावों को रखते हुए यदि चलता रहेगा तो इसको कहीं भी खतरा नहीं। यदि इससे हजारो-लाखों पाप भी हो चुके हैं, तो इस उत्तम चलाई से ये सब पाप भी दब जायेंगे और अब यही उत्तम गुणों का जो जीवन है, वह उसको आगे ब्रह्मलोक में ले जायेगा।

23. सारे का सारांश (निचोड़) यही है कि पहले बचपन था, फिर लड़कपन आया। उस अवस्था के निकलते ही उसके सुख भी अदृष्य हो गए अर्थात् छुप गए। अब थोड़ी बुद्धि भी जाग गई। इससे अन्दर के सत्यों को समझने का प्रयत्न करें; जैसे कि दूसरों के सम्बन्ध से कोई भी संसार का सुख सदा बना रहने वाला नहीं है आदि-आदि, और अध्ययन करके अन्दर के सत्यों को पूर्ण रीति से पहचानने का यत्न करें। इसी प्रकार अपने परिवार का मोह छोड़कर अपने मन को मैत्री आदि भावों द्वारा व्यापक में फैला दें और सब में परमात्मा की समझ रख कर अपने मन के सब भड़कावों को शान्त करने का यत्न करें। यदि यह पीछे कहा हुआ किसी से सारा नहीं बनता तो शास्त्रकार कहते हैं कि भगवान् का कोई नाम पकड़ लो, जपते रहो, रटते रहो, चाहे ध्यान कुछ नहीं लगता। अब इतना करते रहो कि जहाँ-जहाँ भी मन जाये, इस प्रकार का मन में भाव बनाओ कि हे मेरे प्रभु! वहाँ-वहाँ भी तू ही है। ऐसा भाव बनाकर फिर नाम का स्मरण करते जाओ। यदि आप ऐसा भी करते रहे तो यह श्रद्धा की भक्ति है। इस श्रद्धा की भक्ति को करते-करते यदि आप अपने कुटुम्ब (परिवार) में रहते हुए भी चल बसेंगे, तो भी आपको स्वर्ग मिल जायेगा। इसी लोक में रहोगे तो भी दुर्गति नहीं होगी। परन्तु यदि

यह भी नहीं है, मन सड़ा हुआ है और नाना प्रकार के क्रोध, अहंकार मन में बह रहे हैं तो इसके लिए कहते हैं 'जायस्व म्रियस्व' उपनिषद् का वचन है उत्पन्न होओ और मरो अर्थात् उत्पन्न होते रहो और मरते रहो। अब यह भी पता नहीं कीड़ा बने, पतंगा बने, क्या-क्या बने? अब कोई मनुष्य यदि क्रोध के, अहंकार के और दूसरों के बदले के भाव लेकर मरा तो कोई पता नहीं, क्या बनेगा। जैसे भाव हैं, वैसी ही उनकी शक्लें हैं। हाँ बुद्धि रखकर होश से अपने को सँभालने की शक्ति मनुष्य की है। यदि यह नहीं रही तो उसके बाद भावों की तो यही सब शक्लें है। कुत्ता किसी दूसरे कुत्ते को खाता देखकर खुश नहीं होता। सिंह (व्याघ्र) कहता है कि जंगल में मैं हूँ तो दूसरा कोई नहीं हो सकता। मच्छर कहता है कि मुझे तो कुछ पता नहीं, मुझे खून चाहिए। दबाव आने पर चींटी भी काट खाती है। छू जाने पर साँप भी क्रोध में आ करके डसने को तैयार हो जाता है। यह सब भावों का जीवन है। इन भावों में ही यदि मरा तो ऐसे-ऐसे कुत्ता आदि प्राणियों का जन्म ही पायेगा। अब यही है कि अपने को सँभालना और बुद्धिपूर्वक विचार करके सँभलने में तंगी भी सहन कर लेना, तो ऐसी अवस्था में मनुष्य ही बनेगा और यदि सर्वव्यापक में मैत्री आदि भावों को रखकर शरीर त्यागा, तो ब्रह्मलोक आदि को प्राप्त होगा और यदि इसी अपनी आत्मा को व्यापक परमात्मा के साथ एकं रूप में पहचान लिया तो यह मुक्ति को प्राप्त होगा। यही सारे कहे हुए का निचोड़ है।



प्रवचन-19

दिनांक: 29.01.1994

1. धर्म के बारे में सत्य का परिचय पाना और परिचय पा करके उस सत्य के अनुसार उत्तम गति को प्राप्ति करना, यही सब धर्म के सत्संग का फल है। तो पहले यह धार्मिक सत्संग का आरम्भ या शुरूआत कहाँ से है? अब देखो! जैसा कि संसार में साधारण जीवन है, जो कि उत्पन्न होकर कोई भी व्यक्ति या बच्चा देखता है तो वह जिस प्रकार से संसार के बीच मे रंग जाता है, उसको आनन्द प्रतीत होता है; वह आनन्द उसी प्रकार उसको सारी आयु भर बाहर नहीं मिलेगा। परन्तु उस आनन्द के सम्बन्ध से दूसरों में होने में, दूसरों के साथ जुड़े रहने में और दूसरों के अन्दर ही अपने भावों को पाने में उसको यह प्रतीत होता है कि वह बना हुआ है और इसलिए वह मृत्यु से भी डरता है कि कहीं ऐसा न हो जाये कि वह कभी न रहे। कोई भी मनुष्य जो इस संसार में उत्पन्न हुआ है, वह मरना नहीं चाहता। किसलिए मरना नहीं चाहता? क्योंकि वह जानता है कि मरने से कोई ऐसी वस्तु उससे छूट जायेगी या बिछुड़ जायेगी जो कि उसके भले के लिए या उसके आनन्द के लिए है। इसलिए किसी को भी मरना प्यारा नहीं लगता। तो फिर मरना क्या हुआ? यही कि संसार से बिछुड़ जाना। संसार से बिछुड़ जाने से क्या होगा? यही कि इन्हीं संसार वालों के साथ जुड़े हुए होने से जो उसको अपने-आपे का पता पड़ता है, वह अपने-आपे का पता न पड़ना। तो यदि किसी व्यक्ति को इसी अपने-आपे की खबर या समझ बिना इस संसार के भी मिल जाये, तो इसी को ही ऐसा कहते हैं कि जीते जी उसने मर करके देख लिया और मौत उसके लिए कोई डराने वाली वस्तु नहीं रही। अब ये वैदिक धर्म वाले ऋषि लोग यही

बताना चाहते हैं कि आप देखेंगे कि संसार में होने का जो आनन्द है या संसार में बने रहने का जो सुख है, वह तो किसी का टिका रहेगा नहीं। परन्तु इतना अवश्य है कि आपने यदि संसार में रह करके, कुछ इस प्रकार से अपने अन्दर ज्ञान पा लिया या इस तरह से अपने-आप को साध लिया कि आप अपने अन्दर यह देखें कि संसार से बिछुड़ने पर यह नहीं कि "मेरी मौत हुई या मैं सदा के लिए उजड़ गया या मैं आगे के लिए बिल्कुल नहीं रहा," तो ऐसी जगह भी पहुँचा जा सकता है कि जहाँ आनन्द की कभी समाप्ति नहीं और जहाँ कभी भय भी नहीं। अब उसी विद्या को या उन्हीं सब सत्यों को बतलाने वाला यह धार्मिक सत्संग या धार्मिक जीवन है तथा वेद, शास्त्र इत्यादि धार्मिक ग्रन्थों का जितना भी समुदाय है, उनका अध्ययन भी यही बतलाता है। जैसे वेद अपने ढंग से नाना प्रकार के भावों द्वारा बतायेंगे; शास्त्र अपने ढंग से नाना प्रकार के तर्क-वितर्क द्वारा भी बताते हैं और यह जो पुराण इत्यादि हैं, वह भी नाना प्रकार की कथाओं द्वारा यह सूचित करते हैं। है सारा यही कि एक मनुष्य जो इस संसार में उत्पन्न हुआ है, जब वह बिछुड़ना नहीं चाहता तो इसका अभिप्राय यही हुआ कि कोई ऐसी वस्तु है जो मरने से बिछुड़ जाती है, इसीलिए वह मृत्यु से भी डरता है और जिसने जीते जी यह समझ लिया कि "ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो जीवन न होने पर मृत्यु मेरा बिगाड़ेगी।" यह तभी है जब कि संसार का बिछुड़ना देख करके उसने अपने अन्दर ध्यान में, एकान्त में भी आनन्द पा लिया। अब यह जो एकान्त का आनन्द या एकान्त का जीवन है, वह कैसे बनता है? तो आज के प्रवचन का मुख्य विषय यही है।

2. जो भी बच्चा उत्पन्न हुआ है, यह नहीं कि बच्चा मनुष्य का ही हो बल्कि कोई भी प्राणी, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी कोई भी

हो; हर एक जीव के अन्दर अपने-अपने ढंग के भाव हैं। जो भी

प्राणी उत्पन्न हुआ है उसको ज्ञान होगा अर्थात् कुछ समझ अवश्य आती है, हवा की भी, पानी की भी, इतने लम्बे-चौड़े आकाश की भी, उसमें घूमते हुए व्यक्तियों की भी और उनको देख कर नाना प्रकार के भाव भी होते हैं जैसे डर, शंका इत्यादि। इच्छाएँ भी होती हैं, इच्छाओं के विपरीत होने से क्रोध भी होता है, द्वेष भी होता है और नाना प्रकार के कर्म भी ऐसे होते हैं कि "जो दुःख देता है उसका मैं नाश भी कर दूँ।" अब ये जितने भी घटनाचक्र हैं, ये सारे ही संसार के बीच में प्राणी मात्र को होते हैं। अब चाहे चींटी हो, पतंगा हो, उसको भी सुख-दुःख मालूम होता है, उसी के अनुसार इच्छा, क्रोध होते हैं, उसी के अनुसार उसकी चेष्टाएं (हरकतें) होती हैं जिससे कि दुःख की वस्तु को समाप्त कर दे और सुख की वस्तु को पाये। अब यही सब मनुष्य के अन्दर हैं। अब इन्हीं वस्तुओं को यदि मनुष्य पाता रहेगा तो कभी भी उसका इस तरीके का जीवन एक जैसा आनन्दमय नहीं होगा। बच्चे को जो सुख मिल रहे हैं, वे बचपन बीतते ही निकल जायेंगे; लड़के, जवान को जो हो रहे हैं वे भी जवानी के साथ-साथ ही उड़ जायेंगे। और अब वृद्धावस्था में यदि उन्हीं की तृष्णा, उन्हीं की लपक, उन्हीं की खोज लगी रही तो यह मनुष्य ऐसा सोच रहा है जैसे कि रेत से कोई तेल निकालेगा। अब ऐसी अवस्था में शास्त्र यह कहता है कि तुम तो यह चाहोगे कि "मन के अनुकूल मैं खाऊँ-पीऊँ, मन के अनुकूल मुझे आदर-मान मिले और मन के अनुकूल ही सारी प्रकार की वस्तुएँ मिलें" जबकि उसका तुम्हारा यह समय नहीं, तुम बिना समय की वस्तुएँ खोज रहे हो; ये तुमको सुख देने वाली नहीं हैं। यदि फिर भी तुमने स्वतन्त्रता (आज़ादी) बरती तो तुम वह दुःख पाओगे कि जिस अवस्था में छोटा-मोटा होने का सुख भी बिगड़ जायेगा। तो ऐसी अवस्था में क्या है? कि एक अन्दर का धार्मिक जीवन है, धार्मिक रीति से

अपने को वश में करने का जीवन है और वह समझ के साथ है। यदि उसको तुमने उन्नत कर लिया तो तुम्हें ये सारी व्याधियाँ समाप्त करके अन्दर एक ऐसा जीवन मिलेगा कि बाहर का संसार तो उजड़ जाये परन्तु अन्दर का व्यक्त प्रभु जो अन्तर्यामी है, वह सारे संसार का देवता कभी नहीं उजड़ेगा। ऐसे अन्दर के देव का यदि निकट से ज्ञान हो जाये तो उसके साथ आनन्द रहेगा।

3. तो वह कैसे? अब साधारण-सी बात है। जैसे मान लो! किसी छोटे बच्चे को कहीं तंगी होती है तो उस कारण से जो कुछ उसके अन्दर क्रोध आता है, बच्चा कोई जानकर नहीं लाता और क्रोध के अनुसार उसका जो रोना निकलता है वह भी जानकर नहीं करता। अब ये तो अन्दर के प्रकृति के देव की वस्तुएँ हैं, चाहे कीड़े-पतंगे में हैं, पशु-पक्षी में हैं और चाहे मनुष्य में हैं। अब ये जितनी भी वस्तुएँ हैं यही जब अपने अन्दर जोश रूप से खड़ी हो जाती हैं, तो वैसा ही बाहर कर्म (हरकत) करवा जाती हैं तथा इस जोश में बह जाने वाला प्रत्येक जानवर भी है तथा मनुष्य भी है। जैसे कहीं जरा-सा दुःख हुआ नहीं कि एकदम दुःख में बुरा-सा भाव बनता है। जिस से दुःख आया है उसके प्रति क्रोध आता है तथा उसके लिए एक ऐसी दृष्टि बनती है कि "ओहो! दुष्ट, खोटा करने वाला।" हाँ! चाहे दूसरे ने अपने ढंग से बुद्धि से जैसा भी बोला है, परन्तु यह तो यही समझा है कि वह इसको दुःख देने वाला है। एक कीड़े में भी यह समझ विद्यमान है कि "सामने आ करके अमुक (फलाँ) मेरे को ही दुःख देने वाला है।" अब जैसे ही उसके अन्दर यह दृष्टि बनी नहीं कि उसी के साथ क्रोध उछलेगा और क्रोध के साथ जिससे कि दुःख हुआ है, उसका नाश करने के लिए उछलेगा। जैसे साँप डंक मारेगा, बिच्छु काट खायेगा; चींटी भी काट लेती है और जहाँ कहीं अपने स्वार्थ की वस्तु दिखी, वहाँ अन्य ढंग से बाहर

कुछ-न-कुछ करेगा। जैसे पशु खेत में मुँह मारने के लिए घुस जायेगा और जानवर कहीं-न-कहीं कोई वस्तु उठाने चले जायेंगे। अब ये जितने भी भाव हैं, इनमें मनुष्य यूँ सोचता है कि "मैं अपनी बुद्धि से करता हूँ, मैं करता हूँ।" इसमें यह 'मैं' करने-कराने की नहीं है। यह तो जीवन का वह देव है जिसको कि शास्त्रों में प्रजापति कहते हैं। यह सब वही करने वाला है।

4. अब यह जन्म से सब के साथ है। एक-एक शरीर में यह जन्म से न्यारा-न्यारा है। अब जैसे एक मेरे अन्दर है, ऐसे ही सब के अन्दर, दूसरों के अन्दर भी एक-एक है। इसलिए इसने अपने ढंग से एक-एक के लिए सुख की वस्तु चाहनी है और एक-एक में या अपने-आप में होने वाला दुःख निवारण करने के लिए सोचना है और चेष्टा करनी है। परन्तु यह सबके बारे में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं समझता। यह कर्त्तव्य तो यदि मनुष्य व्यापक जीवन को समझने की चेष्टा करे तो वही पहचानेगा और यदि अभी पहचानने की बुद्धि नहीं जन्मी तो श्रद्धा वाला मनुष्य दूसरे इस मार्ग के आचार्यों के ऊपर श्रद्धा रखकर अपने-आप को चला सकता है। यह तो बच्चा हुआ। अब यही बच्चा होने के बाद थोड़े दिनों के बीच में फिर क्या होगा? बच्चे का यही है कि वह तो अपनी आज़ादी खोजता है। चलो! दो, तीन, चार, पाँच वर्ष तक आपने बच्चे को आज़ादी देकर उसके सारे हठ मान लिये; उसकी जितनी इच्छाएँ थीं, पूरी कीं। यह सोचकर कि चलो! यह नहीं समझता, नादान है, अभी बुद्धि नहीं है, तो आप सब कुछ उसके लिए क्षमा करके देते रहे। फिर बच्चे के अन्दर उस समय का जो भाव प्रकट होता था, वह आपको भी प्रिय लगता था। तो आप उसके लिए सब प्रकार के त्यागी भी हुए और अपना दुःख पा करके भी उसको सुख देते रहे। परन्तु धीरे-धीरे बच्चे के अन्दर इस व्यापक जीवन रूप भगवान् की समझ आने लग गई।

5. यह व्यापक क्या है? कि जिसमें बुद्धिपूर्वक ही चला जाता है, मनमानी नहीं करनी, अपने मन की भी नहीं खोजनी; और थोड़ा सम्भल कर चलना। यह बच्चा भी तो समझता है। अब ज्यों-ज्यों वह समझने लग गया तो वह बच्चा नहीं रहा। बचपन के उसके सारे सुख मिट गए। अब जितना-जितना वह समझता जाता है तो वह व्यापक की समझ है अर्थात् एक-दूसरे के सम्बन्ध वाले इस जीवन के सागर की; क्योंकि अकेला तो कोई जीता नहीं, जीता तो सब में है। यही सब जो एक रूप से है, उसी का नाम व्यापक है। यही समष्टि रूप परमात्मा शास्त्रों में कहा गया है। सब इसी में रहते हैं और इसी का एक भाग हो करके जी रहे हैं। अब इस व्यापक में कैसे रहना चाहिए? जैसे कि अपने को काबू करके रहना, मनमानी नहीं करनी, अपना हठ भी नहीं चलेगा, खाना-पीना भी अपने ढंग का और समय का है, यह सब कुछ सीखेगा। अब जितना-जितना यह व्यापक उसके अन्दर घुसता जाता है, उतनी-उतनी उसकी समझ बढ़ती जाती है। शास्त्र में ऐसा कहते हैं कि जब आँख खुली तो यह महान् व्यापक तत्व उसके अन्दर घुसा, तो ये बचपन की जितनी वस्तुएँ थीं, उन पर यह रोक लगाने लगा। बच्चे को तो थोड़ी रोकें लगायीं, परन्तु अब वह लड़का युवक हो गया। धीरे-धीरे जैसे-जैसे बढ़ता गया, आयु के अनुसार न जाने उस व्यक्ति के अन्दर क्या-क्या परिवर्तन आयेंगे और उन्हीं के ढंग का इनका सुख-दुःख बंधा होगा। अब यदि उसने व्यापक में दृष्टि खोल कर, उसी ढंग से बुद्धि रखकर जितने भी नाना प्रकार के विकार आते हैं, अपने को सम्भाल करके उनसे लड़ना सीख लिया तो वह व्यक्ति सुखी रहेगा। और यदि ऐसा नहीं है तो उस प्रजापति की जैसी लपक है और जैसा उसका ऊपर उठना है, उनके ढंग से ही भावों में बह

गया तो उसका परिणाम उस मनुष्य के लिए सुखकारक नहीं होगा।

6. उदाहरण के तौर पर जैसे मान लो! आप रास्ता चलते जा रहे हैं तथा दूसरी ओर से कोई व्यक्ति आ रहा है और वह व्यक्ति बेचारा अपने ढंग से दुःखी था। उसको कोई पता नहीं "कि मेरे सामने कौन आ रहा है? मेरी चाल कैसी है?" उसी प्रकार से आते-आते वह आपके पास से निकला। आपको अचानक उसका कन्धा लग गया या ठोकर लग गई और आपके मन में एकदम भड़कावा आ गया कि देखो जी! यह कैसा बेवकूफ है, इसको चलना भी नहीं आता। अब यह जितना भड़कावा आया है, यह आपने जान के पैदा नहीं किया और उसके अन्दर भी जो हो रहा है, उस दुःख के कारण से वह सब भी उस बेचारे के अन्दर जान के नहीं हो रहा। वह उछला हुआ, उसके अन्दर बैठा हुआ देव ही नाना प्रकार के दुःख के साथ होने वाले भावों में व्यक्त हो रहा है। जैसे उसकी चाल ठीक नहीं है, उसको सामने से आता हुआ दूसरा व्यक्ति भी नहीं दीख रहा है; सुख वाली उसकी दशा नहीं है तथा इसी में घुटा-घुटा न जाने किधर को मुँह किये हुए चल रहा है। इसी अवस्था में जिस समय उसकी आपके साथ टक्कर लगी तो आपके अन्दर भी वह देव ही नाना प्रकार से व्यक्त हो रहा है। जैसे ठोकर लगने पर आपके अन्दर भी अपने ढंग से क्रोध, उसके लिए खोटी दृष्टि, खोटा भाव और उसके अनुसार क्रोध में कुछ अपने ढंग की कहने की इच्छा हुई। अब इन अवस्थाओं में आप भी अपने में नहीं हैं। ऐसी स्थितियों में जिसने अपनी बुद्धि रख ली; थोड़ा समझ को रखते हुए चलने की हिम्मत कर ली जैसा कि उपर्युक्त स्थिति में यदि आप सम्भल सकते तो इस प्रकार का भाव बनता कि "ठहरो भाई! यह जो कुछ भी बाहर के किसी प्रभाव के कारण से मेरे अन्दर उत्पन्न होने जा रहा है वह तो उस देव का ही है, जिसको मैंने कई बार देखा है कि मेरे को क्रोध ला करके उल्टा झुलवा जाता है और पीछे पश्चात्ताप

(पछतावा) करवाता है; मिथ्या इच्छा पैदा करके ज्यादा खिलवा जाता है तथा पीछे मुझे नुकसान होने पर पछताना पड़ता है।" तो ये ऐसी-ऐसी कई बातें हैं कि 'मैं' जरा थोड़ी-सी इस देव की जो नाना प्रकार की लपकें हैं, उस देव के जो नाना प्रकार के धक्के हैं, उनको थोड़ा अपने अन्दर पहचान लूँ। अब जिस दिन आपने अपने अन्दर उस देव को पहचान लिया तो समझो! उस दिन बहुत-सा बाहर के जीवन से मुक्त होने का आपका रास्ता खुल गया और उसी के साथ आपको अन्दर का जीवन चलने का रास्ता भी मिल गया और उसी के अनुसार अब यदि उसमें सम्भल कर चलने लग गए तो आपका अकेले में मन भी लगने लग जायेगा। फिर जितना आपका अकेले में मन लगने लग जायेगा, उतनी आपको दूसरों की समझ भी बढ़िया आने लगेगी। फिर मन अपने-आप में ही कहेगा कि ओहो जी! हम तो समझते थे कि वह व्यक्ति विशेष ही अमुक (फलाँ) कर्म करने वाला है, परन्तु 'वह' करके वहाँ पर कौन है? 'वह' करके वहाँ पर कुछ नहीं, बल्कि यही है अन्दर की करवाने वाली देव की बड़ी शक्ति, यही है नाना प्रकार की प्रेरणा देने वाली तथा यही है धक्के मारने वाली। जब पशु-पक्षी इसमें बह जाते हैं तो यह तो साधारण (मामूली) सी बात है, परन्तु यह देखो कि मनुष्य भी इसमें वैसे ही बह रहे हैं। जैसे जरा-सा बाहर से विपरीत व्यवहार मिला नहीं कि मन कैसे-कैसे व्यक्त होने लगता है कि लो जी! मेरे को उसने ऐसे-ऐसे कह दिया; मैं कैसे सहन करूँ, अब रात भर यही सोचता रहा और दिन में जब उठा तब भी वही सोच, खाते-पीते भी वही सोच; जैसे कि इसी सोच ने उसको बाँध रखा है। अब जन्म-भर उसका वैर नहीं छोड़ेगा। तब उसके मन में यह कभी नहीं आयेगा कि ये जो कुछ भी है, ये वही विकार हैं जो कि उस देव में एक बार उछले और उनमें ही वह अपनी 'मैं'

सम्भाल कर बैठ गया।

7. अब शास्त्र वाले कहते हैं कि इस 'मैं' को ही पहचान कर ब्रह्म के अर्पण कर दो, भगवान् के अर्पण कर दो। जैसा कि गीता में भगवान् कहते हैं "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकम् शरणम् व्रज", अर्थात् हे अर्जुन! तू सारे धर्मों का त्याग करके एक मेरी शरण ले। सारे धर्म कौन से हैं? यही जो अन्दर 'मैं' तथा इसी के बीच में लपक या उठाव उठते हैं, जैसे किसी से क्रोध आ गया तो क्रोध रूप धारण करके बैठ गया; किसी वस्तु को देखकर इच्छा आ गयी तो इच्छा धारण करके बैठ गया जबकि उसका समय भी नहीं है और उसको पूरा करने से हानि भी होगी। पता नहीं कब की इच्छा को लेकर बैठा हुआ है, उसी के बारे में शोक भी कर रहा है कि "जी! पूरी नहीं हुई।" तो अब यह देखो कि जितने भी ये धारण हैं, ये ही सब धारण रूप मन के धर्म हैं; ये सब उसी प्रजापति देव के हैं। परन्तु तुम इन सब धारणों को छोड़ करके बुद्धि की, ज्ञान-देव की जो कि सबके बीच में समान है, उसकी शरण लेना। बुद्धि भी दो प्रकार की है। एक बुद्धि तो वह है कि जो अपने लिए अर्थात् अपने स्वार्थ के लिए ही सोचती है और एक बुद्धि ऐसी है जो कि सबके बीच में साधारण रूप से बैठी है। वह जो कि साधारण रूप से बैठी है, वह है निष्पक्ष बुद्धि और जो कि पहली है वह अपने एक व्यक्ति के स्वार्थ को ही लेकर निश्चय करती है; दूसरों के बारे में विचार नहीं करती, वह है पक्षपात वाली बुद्धि। जैसे इसने किसी को कड़वा वचन बोला तो उसके लिए पक्षपात वाली बुद्धि कभी नहीं कहेगी कि "मैंने गलत किया" और दूसरे ने यदि कड़वा वचन बोल दिया तो यही निश्चय करेगी कि "जी! फलाँ ने कड़वा वचन बोल दिया; मैं कैसे सहन करूँ? मैं भी गलत ही करूँगा।" अब उसके लिए यह बुद्धि गलत निश्चय देती है। तो यह जो बुद्धि है, वह पक्षपात

वाली है। यदि इस प्रकार से सोचे कि जैसे मेरे को दूसरे का वचन कड़वा लगा था, वैसे ही मेरा भी इस ढंग का वचन दूसरों को कड़वा लगता है; यदि मैं इसकी आशा नहीं करता कि दूसरा मुझे कुछ ऐसा कहे तो मैं भी दूसरे को ऐसा मत कहूँ। अब इस तरीके से सीखने की जो बुद्धि है, वह निष्पक्षता की बुद्धि है। इसी का नाम गीता में आता है 'व्यवसायात्मिका बुद्धि।' भगवान् कहते हैं कि जो बिना किसी पक्षपात के निर्णय करने वाली बुद्धि है वह एक मैं ही हूँ और सब मनुष्यों में वह एक ही है, उसी का नाम है 'व्यवसायात्मिका बुद्धि।' अर्थात् हे कुन्तीनन्दन (अर्जुन)! इस संसार में निश्चय करने वाली यह निष्पक्ष व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही है। अब तुम इसको अपने अन्दर बिठाओ और जिस समय भी तुम्हारे अन्दर के देव का भड़काव आये, झट! तुम इस बुद्धि को जगाओ। यदि तुमने इस बुद्धि की शरण ले ली तो समझो! तुमको बचने का मार्ग मिल गया, तो तुम त्यागी भी बन सकोगे और थोड़ा गम भी खा लोगे; फिर दुःख में भी डटे रहोगे। नहीं तो वह जो कुछ बाहर होगा तुम उसमें अपनी 'मैं' ले लोगे; जब कि वह 'मैं' पैदा की है उस देव ने। अब यह 'मैं' जो पैदा हुई है, वह तो मरेगी ही। यदि इसी 'मैं' में तुम मरोगे तो न जाने किन-किन चक्करों में पड़ोगे? अब कौन-सी 'मैं' नहीं मरती? वही जो भगवान् की है, वही जो सद्बुद्धि की है, वह जो पक्षपात रहित बुद्धि है जिससे अपने-आप को इस प्रकार समझा गया कि "ठहर जा भाई! बच्चे जैसा भड़काव आया है; जैसे बच्चा तो रो पड़ता था, क्रोध करता था और वैसी स्थिति में दूसरे लोग उसका हठ भी पूरा कर देते थे; परन्तु तू बच्चा नहीं है, अब समझ के साथ चल; देख! अब इस अवस्था में तेरा कौन है? और जिस समय की वस्तु तू चाह रहा है वह तो अब तेरे लिए पुरानी है, वह तो किसी दूसरे के लिए है।" फिर इस प्रकार अपने-आप को

समझाते-बुझाते हुए शान्त हो करके, ठण्डा हो करके अपने प्रभु का ही ध्यान करते हुए कि "मेरे प्रभु! व्यापक रूप से तू सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द स्वरूप है, सब विकारों से परे है।" ऐसा करते-करते, जप करते-करते ही उस विपरीत होने की स्थिति को टाल दिया। इस प्रकार जितने भी ये विकार रूप धर्म हैं: जैसे इच्छा भी धर्म, क्रोध भी धर्म, संशय-भय भी धर्म, मान-अपमान भी धर्म, राग-द्वेष भी धर्म और नाना प्रकार की चिन्ता-फिकर भी धर्म, अन्तःकरण के ये सब धर्म है, जो कि एक, दो, चार में ही नहीं बल्कि उसी जीवन के देव-प्रजापति देव के तनावों या भावों से छोटे कीड़े से लेकर बड़े हाथी तक और सब मनुष्यों में, सबके अन्दर, समान रूप से उत्पन्न होते रहते हैं। इनके बीच में वह बुद्धिमान जो भगवान् का भक्त है, इस बुद्धि को जगा करके, थोड़ा तंगी को भी सहन करके, इनका वेग-जोश रोक करके अपने-आप को यदि ठण्डा कर देगा तो वह अपनी अन्तरात्मा में शान्त होने लग जायेगा।

8. अब यह जो अन्तरात्मा की शान्ति है उसमें यह दो प्रकार से लाभ देगी। अपने अन्दर आग बुझ गयी-एक; दूसरा, अपने अन्दर का जीवन मिल गया। अपने अन्दर का जीवन क्या है? जैसे कि पहले बताया है कि मनुष्य डरता है कि "ओहो! जिस संसार में आया हूँ, मर गया तो यह संसार छूट जायेगा।" फिर क्या होगा? "लो जी! मैं तो उजड़ गया" क्योंकि वह संसार में बना बैठा है। इसीलिए वह डरता है कि "मैं मर जाऊँगा तो यह संसार समाप्त हो जायेगा और मैं कहीं नहीं रहूँगा।" यह संसार के सहारे ही अपनी 'मैं' समझे बैठा है। अब इधर क्या है अर्थात् भगवान् के भक्त में क्या होता है? कि संसार अन्दर दीख गया और यह भी पता लगने लग गया कि "ये जितने भी भाव-विकार आते हैं, जैसे मेरे में आते हैं वैसे दूसरों में भी आते हैं।" अर्थात्

ये अन्तःकरण या मन के विकार या धर्म इसके अन्दर उत्पन्न होकर जैसे इसको अपने ढंग से चलाना चाहते हैं, वही धर्म या वही विकार सबमें उत्पन्न होकर दूसरों को भी उसी अपने ढंग से चलाते हैं। अब इस धार्मिक अन्तर्मुख प्राणी के अन्दर जब ये खड़े होते हैं तो यह उनसे लड़ता है और उन को टालता है। यह नहीं कि बाहर जिनमें ये उत्पन्न होते हैं, उनसे लड़े या उनसे उलझे। इन्हीं बातों में या इन्हीं सब वृत्तान्तों में संसार का प्रत्येक प्राणी अपने जीवन को बिताता है और इन्हीं में उलझे-उलझे उनका सारा जीवन निकल जाता है। अब जो धर्म की शरण में आया हुआ है और अन्तर्मुख होकर बाहर से अपने ध्यान को हटाकर इन्हीं सब अन्दर के मन के विकारों को पहचानता हुआ और इन्हीं को देखते-देखते इनसे लड़ते-लड़ते इन को टालता हुआ समय बिताता है तो उसके लिए जीवन-जीना कोई समस्या रूप नहीं है; चाहे यह सब उसमें अकेले में नाटक ही हो रहा है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि बाहर दूसरों से कोई बर्ताव आन पड़े तो ऐसा नहीं कि वह नहीं करेगा। बाहर उनसे भी आवश्यक सम्बन्ध रखता हुआ, मुख्य करके वह अपनी अन्तरात्मा में ही रहेगा तथा व्यर्थ में किसी से केवल अपने मन को ही बहलाने के लिए उसे बात तक करने की भी कोई आवश्यकता नहीं।

अब इस तरह देखते-देखते यदि उस मनुष्य से इतना तक हो गया कि इन विकारों से लड़ना सीखकर अपने अन्दर इनको धोता गया तो एक दिन वह देखेगा कि इनको धो करके मैं तो चुपचाप बैठा हूँ, ऐसी अवस्था में वायु का सेवन भी सुख देने वाला प्रतीत हो रहा है; गर्मी को महसूस करने में भी तंगी नहीं है; धरती पर चलना भी अच्छा लगेगा। अब जैसा कि प्राकृतिक चिकित्सा वाले कहते हैं कि खुली हवा का सेवन करो; जरा सूर्य-नारायण की किरणों का सेवन करो। परन्तु जब तक यह

मन उलझा हुआ है तब तक मनुष्य इन सबका सेवन नहीं कर सकता। अब इस उलझे हुए मन के साथ कहाँ हवा, कहाँ गर्मी, कहाँ पानी, कहाँ धरती; बस! उसका तो अपना दिमाग परेशानी वाला है और इसी को ही लिये हुए वह घूमता है। परन्तु जब उपर्युक्त बतायी हुई रीति से आपका मस्तिष्क (दिमाग) हल्का होगा, तभी आपको हवा भी बढ़िया लगेगी, टहलना भी अच्छा लगेगा, धरती पर चलना भी अच्छा लगेगा और जिस रूप में संसार प्रकट हो रहा है उसी रूप में ही आपको प्यारा लगेगा! तो उसी के लिए वेद में मंत्र हैं। जैसा कि पण्डित लोग भी उच्चारण करते हैं,"ॐ शान्तिः, अन्तरिक्षं शान्तिः, पृथ्वी शान्तिः, रापः शान्ति इत्यादि", इसका अर्थ यही है कि हमारे लिये अन्तरिक्ष अर्थात् यंह आकाश भी शान्त है, पृथ्वी भी शान्त है, पानी भी शान्त है; इस प्रकार सारे देवता शान्त हैं। अन्त में जिस मनुष्य ने यह शान्ति बाहर की सब वस्तुओं से मुक्त होकर अपने मन में पा ली, तो चाहे वह बूढ़ा भी हो गया है तब भी उसको कोई समस्या नहीं कि उसको किसी संग की आवश्यकता है, जबकि दूसरे उस वृद्धावस्था वाले का संग चाहते भी नहीं। दूसरों का प्रीतिपूर्वक संग न मिलने पर वह देवों का संग करना चाहे, ऐसी भी कोई बात नहीं। परन्तु यहाँ एक शर्त और है कि देवों का संग वही मनुष्य कर सकेगा जिसका मन संसार की उलझन से रहित हो गया है और संसार की उलझन यही है कि जिस वस्तु का समय नहीं रहा, स्वभाव या आदत से मन उसको पाना चाहता है, उसको छोड़ना नहीं चाहता, केवल इसलिये कि "जी! इनके बिना कैसे जीयें?" अब ऐसे में यही समझ कल्याण देने वाली है कि "अन्त में जब धक्के पड़ेंगे और इनके बिना भी रहना पड़ेगा तो फिर तू कैसे जीयेगा?" इसलिये इन सबके बिना अन्दर आओ, अन्दर की विद्यायें जानो कि जैसे पुस्तक पढ़ते हुए किसी का मन लगता

है, उससे भी ज्यादा आपका मन इस अन्दर की लीला या नाटक को देखने में लगा रहेगा। केवल एक अपने-आप को ही देख लिया और अपने अन्दर की सारी वस्तुएँ पहचान लीं तो समझो! सारा संसार आपने पहचान लिया और सारे संसार की लीला आपको पता लग गयी। कैसे? जैसे मान लो! किसी विकार को आपने अपने अन्दर पहचान कर उस की दुर्गति देख ली, तो बाहर दूसरों में भी उसे बहता हुआ देखकर आपको पता लग जायेगा कि भाई! मेरे अन्दर जो यह विकार आया था, जो मुझसे यह करवाना चाहता था, वही दूसरे के अन्दर भी आया था। उससे क्या-क्या काम करवा गया और उस कारण से उस प्राणी ने क्या-क्या दण्ड भोगा। इस-इस तरह से संसार का सारा नाटक आपको दीखने लगेगा। परन्तु इतना है कि आपके अन्दर वे मैत्री आदि दस बल चाहिएँ, दूसरों के सुख में सुखी रहना और दूसरों के अपराधों में क्षमा रखना इत्यादि-इत्यादि। साधारणतया जो भी दूसरा सामने आयेगा, वह तो पड़ी हुई आदत की कमज़ोरी के ढंग से ही अपने को व्यक्त करेगा। इस कमज़ोरी के बारे में जैसा कि पहले भी बताया है कि वह तो बच्चे के अन्दर बैठे देव की ही है। उस देव ने जैसा भाव जन्माया, वैसी ही उसने बाहर 'मैं' उत्पन्न कर दी।

10. जैसे एक के सुख को देखकर यदि दूसरा चिढ़ जाता है तो कैसे सृष्टि चलती है कि "ओह! देखो जी! यह मेरे को देखकर चिढ़ गया।" बस! यह दूसरे का चिढ़ का भाव उसको बुरा लग गया; बुरा लगते ही उसके अन्दर क्रोध आ गया; क्रोध में इसने अपनी 'मैं' पकड़ ली कि "तू मेरे को देखकर कैसे चिढ़ गया?" यही 'मैं' बनी। अब यह जो 'मैं' बनी यह मिथ्या है, झूठी है। किन्तु क्या करें? सारा संसार इसी से चल रहा है। अब यदि कोई व्यक्ति सुख चाहता है तो उसके लिये पहले बताया है कि

जैसे भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि "तू इस 'मैं' को पहचान करके मेरे अर्पण कर दे।" "मेरे अर्पण कर दे" वाक्य का अभिप्राय है कि बुद्धि द्वारा समझ करके, निश्चय करके अपनी 'मैं' के अनुसार, जो भी भड़कावे आते हैं, वैसा कुछ बाहर करने को तैयार न हो जाये। जब बाहर कुछ करने को तैयार नहीं तो समझो! आपने अपनी 'मैं' त्याग दी। जैसे ही आपने अपनी 'मैं' त्यागी तो पहले तो आपको धीरे-धीरे अवश्य ही मन के बीच में इसी के ही मोह और मान की लीला दिखाई देगी। मन में ऐसा भाव बना कि "देखो जी! मैंने अपनी 'मैं' छोड़ दी।" यही मान है और इसी मान को त्यागने का शोक (गम) भी हो सकता है कि "लो जी! मैं नहीं रहा।" उदाहरण के तौर पर जैसे एक व्यक्ति था; वह बीड़ी का सेवन किया करता था; उसने बीड़ी पीनी छोड़ दी, चाहे किसी के कहने से ही छोड़ी परन्तु ऐसी स्थिति में उसका अन्दर का मन जो कि वही आदत वाला था, क्या कहता है? कि "बीड़ी पीनी तो छोड़ दी, अब यदि तुम बीड़ी पीने का आनन्द नहीं ले सकते तो फिर जीने का भी क्या लाभ?" अब यही है उस प्रजापति की आवाज़। यह कब तक है? जब तक कि अन्दर बुद्धि उन्नत नहीं हुई, धर्म के अनुसार विकसित नहीं हुई और बुद्धि के अनुसार चलना नहीं सीखा तथा अन्त में ज्ञान द्वारा वास्तविकता पहचानने में नहीं आयी। यदि थोड़ा भी पहचानने लग जाओगे तो अन्दर का ज्ञान इतना चेतन हो जायेगा कि आपको किसी से बात करने की भी इच्छा नहीं रहेगी। आप कहेंगे कि "जिस मरने से मनुष्य डरता है कि मैं मर जाऊँगा, संसार से बिछुड़ जाऊँगा तो कहाँ रहूँगा अर्थात् जैसे बिल्कुल नहीं रहूँगा," जबकि अब ऐसा प्रतीत हो रहा है कि "संसार को छोड़ करके मैं तो अजर-अमर हो जाऊँगा।" वही मनुष्य या वही अन्तर्मुख प्राणी अपने इन अन्दर के विकारों को पहचानकर और उनसे लड़ कर

टालता हुआ समय बिताना सीख लेगा और टालकर अपने अन्दर शान्ति का भी अकेले में अनुभव कर लेगा। उसी के मन में स्वयं ही यह विद्या प्रकट होगी या ज्ञान होगा कि सारे संसार से मैं बिछुड़ा बैठा हूँ, किसी की याद नहीं, अकेले में हूँ और अकेले में आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ, तो मेरा यह अकेलापन कैसे मरेगा? संसार से बिछुड़ने का नाम ही मृत्यु है और अकेले होने से ही वह डरता है कि जैसे मैं नहीं रहूँगा। जब अकेले होकर भी उसने यह सुख देख लिया तो मरने पर भी संसार से या दूसरे प्राणियों से बिछुड़ने का उसको कोई भय नहीं रहेगा। दूसरों के संग से ही बच्चे ने जन्म लेकर अपनी 'मैं' को अनुभव किया है कि 'मैं' भी हूँ, संसार में भी बना हुआ हूँ। अब यदि दूसरों का संग नहीं रहता तो इस 'मैं' या 'अपने-आप' के बने रहने का अनुभव नहीं होता। इसी से ही प्राणी दुःखी होता है और मौत से डरता है क्योंकि जो मौत है वह सबका संग भी छुड़ा देती है। इस धार्मिक अन्तर्मुख प्राणी ने तो जीते हुए ही सारे संसार से अपने मन के सम्बन्ध छोड़कर अन्दर के सब विकारों को पहचाना है और इनसे लड़कर, इन को टालकर और इनसे मुक्त होकर सुख भी पा लिया है। अब ऐसी अवस्था में मौत द्वारा भी यदि दूसरे से बिछुड़ गया तो उसका क्या डर? इसको अपनी 'मैं' या 'अपना-आपा' तो अपने-आप में या संसार से बिछुड़कर भी मिलता रहेगा, क्योंकि आत्मा तो कभी मरती नहीं। जिस प्रकार नींद में सोये हुए प्राणी का संसार यद्यपि बिछुड़ गया, परन्तु वहाँ आत्मा के बना रहने से निद्रा में भी नयी सृष्टि खड़ी करके इस जीव को भी उसी में प्रकट करता हुआ अपनी लीला दिखाता है। इसी प्रकार मृत्यु द्वारा आत्मा नहीं उजड़ता। वह जिस प्रकार के संस्कार लिये बैठा है, उसी ढंग के खेल दिखाता है। अब ऊपर कहे प्रकार से जिसने अपना जीवन अपने-आप में साध लिया है,

वह इस सारे संसार से बिछुड़ कर भी अकेले में शान्ति का अनुभव कर चुका है। जैसे निद्रा मनुष्य को जागृत के संसार से बिछोड़कर संस्कारों के अनुसार स्वप्न की सृष्टि दिखाती है, उसी प्रकार मृत्यु भी बिछोड़ा करवा करके ऐसे प्राणी को अपने अन्दर की शान्ति की लीला ही दिखायेगी अर्थात् वह अपने-आप में शान्त आनन्द रूप से ही रहेगा; उसको अपने नष्ट होने की या संसार से बिछुड़कर उजड़ जाने की शंका तक भी नहीं होगी।

11. अब यहाँ तक समझ जागने के बाद उस मनुष्य को अन्य प्रकार से भी उन्नति करने का अवसर मिल जायेगा। जैसे खाने-पीने में भी संयम और नींद को भी वश में करना। इन्हीं को ध्यान में रखते हुए पुराने लोगों ने जैसा चलाया हुआ है कि जन्माष्टमी का व्रत होता है। इसमें थोड़ा-सा मन के साथ लड़ाई करके आधी रात तक थोड़ा नींद को भी जीतना पड़ता है। आधी रात में जब तक चन्द्रमा चढ़ेगा, तब तक उपवास रखना पड़ता है। चन्द्रमा के बारे में वेदों में आता है कि "चन्द्रमा मनसो जातः इत्यादि-इत्यादि" अर्थात् जो चन्द्रमा है वह भगवान् के मन से पैदा हुआ है, तो मन का देवता चन्द्रमा है। चन्द्रमा का अर्थ है वह प्रकाश जो कि शान्त है और एक प्रकाश है सूर्य-नारायण का; यह तो कर्मों में है, सारे संसार में है जब कि चन्द्रमा का जो प्रकाश है वह मन के पास है। तो क्या अभिप्राय हुआ कि अपने अन्दर की वस्तुओं को अपने अन्दर ही चुपचाप आराम से समझने का नाम है—चन्द्रदेव और उसका निरोध (संयम)। तो आधी रात में चन्द्रमा के चढ़ने का अभिप्राय है कि अन्धकार के बीच में भी हमारे लिये चन्द्रमा चढ़ गया, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण जी का जन्म हुआ अर्थात् निद्रा में छुपे रहने वाले इन सब विकारों को पहचानने वाले मन को जगा लिया, यही उस अन्धकार अवस्था में चन्द्रमा का उदय होना है। जब ये सारे विकार पहचाने गये

और विवेक-ज्ञान उत्पन्न करके टाल दिये गये तो यही भगवान् कृष्ण जी का जन्म हुआ। इसका तात्पर्य यही हुआ कि मन को इन विकारों से ज्ञान-विवेक द्वारा निर्मल करके तब भोजन करना; यही जन्माष्टमी के व्रत का तात्पर्य है। अब जिस समय यह ज्ञान अपने मन में आ करके इस प्रकार सारे विकारों को टालने का नाटक रचेगा, तो उस अवस्था में आपको क्या होगा? कि उस ज्ञान के बाद जो मन उलझन में पड़ा है, बंधा पड़ा है, बाहर कुछ करने को तैयार है, लड़ाई-झगड़े की जड़ें लिये बैठा है वह सारा मुक्त हो जायेगा, क्योंकि चन्द्रमा जाग गया। चन्द्रमा अर्थात् अन्दर का बड़ा शान्त प्रकाश जहाँ कि वह ज्ञान देव है; इसने आकर बता दिया कि जो तू करना चाहता है, उससे कहाँ पहुँचेगा? और किया हुआ भी बना रहेगा क्या? बस! इस प्रकार ज्ञानदेव ने जब साफ़ कर दिया तो मन हल्का हो गया और जब यह हल्का हुआ, चन्द्रमा चढ़ा तो उसको क्या है? कि चुपचाप मन टिका, वायु महसूस कर रहा है, चाहे आसन पर बैठा है। वायु महसूस करते गये कि "हाँ भाई! अभी सोना नहीं, थोड़ा नींद को जीतो।" अब यह आ गया शिवजी का राज, शिवरात्रि आ रही है तो ज्यों-ज्यों बैठ करके अपने मन के अनुसार शान्त करके आठ वसुओं के ध्यान में लग गये। यही पृथ्वी, तेज, जल, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र तथा आत्मा-ये आठ वसु हैं।

12. इस प्रकार इन आठ वसुओं का ध्यान करना आरम्भ किया। जैसे हवा का ही ध्यान करने लग गये कि जी! हवा लग रही है, बड़े आकाश में हवा चल रही है, हवा के बीच में ठंडी-गर्मी महसूस करने लग गये कि इसमें इतनी ठंडी और गर्मी है। बड़े सुन्दर तरीके से अकेला बैठा पहचान रहा है। अचानक मन ऐसी डुबकी मारेगा कि स्वप्न जैसी अवस्था खड़ी कर देगा, स्वप्न में ऐसी डुबकी मारी कि जैसे स्वप्न में संसार खड़ा कर दिया। इसी

प्रकार से न जाने आपके कई-कई जन्मों के दृश्य आपको दिखाना शुरू कर दे। लो! यह अन्दर ही अन्दर उस देव निरंजन की अनन्त विद्या है; इसमें न जाने कितने लाखों-सालों का रिकॉर्ड (चित्रण) पड़ा हुआ है और इसके सारे चित्र (तस्वीरें) भी हैं। परन्तु यह उस योग्यता में आना चाहिए कि उन चित्रों को प्रकट कर सके। अब जैसे देखो! किसी प्रकार से यंत्र को लगाते हैं तो किसी समय की किसी की कही हुई बातें सुनने में आने लगती हैं। उसी प्रकार हमारे अन्दर सारी भर्ती है। क्या-क्या हमने किया है, क्या-क्या सुना है, क्या-क्या सोचा हुआ है, क्या-क्या भोगा है, क्या-क्या देखा है? इत्यादि सब है और किस-किस तरह हमने अपने-आप को किन-किन स्थितियों में पाया है? अब इतना अवश्य है कि इस संसार से मेरा मन बिछुड़ा, अन्दर जागा, शान्त निर्मल हो करके हवा, पानी का आनन्द ले रहा है। उसी अवस्था में अचानक कुछ संस्कार जागे, चित्र (तस्वीरें) बनने शुरू हो गये। फिर ध्यान करने वाले व्यक्ति को पता लगेगा कि भगवान् बचाये, बाहर तो कुछ है ही नहीं; जो कुछ है अन्दर ही है। अब यहाँ वेदान्त वालों का सिद्धान्त आ जायेगा कि बाहर मिथ्या संसार है और ब्रह्म सत्य है। तब इसको प्रतीत होगा कि बाहर कुछ नहीं, यह तो स्वप्न की सृष्टि है, जो कुछ है अन्दर ही है, यह सच्चिदानन्द स्वरूप है। अब इसके बीच में सारा संसार भी है, तो कौन वस्तु सत्य हुई? यही मेरी आत्मा जो कि सबकी परमात्मा रूप है। अब ये सारे सत्य उसी कमाई वाले को ही दीखेंगे जिसने सब देहों में जन्म से ही लीला करते हुए उस जीवन के देव को अर्थात् प्रजापति को ही पहचाना है, जो कि एक-एक रूप में सब में बैठा है; चींटी से लेकर मनुष्य तक उसी की तरंगे सबके भड़कावों (जोशों) में भी, भावों में भी हैं। भावों में कैसे हैं? जैसे एक ने दूसरे को कुछ खोटा वचन बोल दिया तो दूसरे के अन्दर क्या भाव बनता है कि "लो जी! उसने मुझे खोटा कह दिया, मैं कैसे सहन करूँ?" अब जैसे ही यह भाव आया तो उसके साथ ही

भड़काव (जोश), क्रोध; क्रोध के साथ ही शब्द भी उल्टे और उसके साथ लड़ाई-झगड़े और ऐसी भड़कावों की विक्षुब्ध अवस्था में यदि कुछ कर दिया तो जन्म-भर के लिये वैर। देखो! कितना लंबा-चौड़ा है यह जाल? और इसी तरह किसी से थोड़ा सुख मिल गया तो उसके प्रति प्रीति; उसका मन में भी एक चित्र (तस्वीर) बस गया कि "जी! वह मेरा भला करने वाला है।" इस प्रकार विभिन्न भावों व भड़कावों (जोशों) के अनुसार बाहर कुछ-न-कुछ सत्ता दे दी और सत्ता के साथ ही उसी ढंग का रजोगुण, उसी के साथ ही बने रहने की इच्छा। इच्छा पूरी की, फिर इच्छा पूरी करते-करते जब वह ठंडी हो जायेगी तो वह मरने जायेगी। यह फिर जितना भी है, वह सब तमोगुण है। अब यह त्रिगुणमय संसार है। ऐसा चाहे पुराणों में सुन लो,चाहे वेदों में सुन लो, चाहे शास्त्रों में। है तो यह शास्त्रों के अनुसार, थोड़ा बुद्धि के अनुसार, थोड़ा अन्दर का विश्लेषण (छानबीन) और उसके अनुसार कुछ समझ।

13. अब पुराणों में भी यही कथा है कि एक त्रिपुरासुर था, उसके तीन पुर (नगर) थे; एक सोने का, एक चांदी का तथा एक लोहे का। तीनों सदा घूमते रहते थे, कभी जुड़ते नहीं थे। उसको वरदान मिला हुआ था कि तीनों जब जुड़ें, तो उस समय भले ही उसका कोई नाश कर दे, अन्यथा उसका कभी नाश सम्भव नहीं था। अब वह था असुर-त्रिपुरासुर। भगवान् शंकर ने उसको वरदान दे रखा था। तो सब देवों ने उसके अत्याचारों से दुःखी होकर अन्त में भगवान् शंकर की आराधना की और उनको प्रार्थना की कि प्रभु! अब आप ही इसके अत्याचारों से हमें बचायें, यह आपका त्रिपुरासुर हम सब देवों को दुःखी कर रहा है और इसको मारने वाला भी कोई नहीं; तो आप ही कृपा करो। उन्होंने कहा अच्छा! कोई बात नहीं। अब ये तीनों जिस क्षण इकट्ठे होंगे, इन

तीनों को उड़ा दूँगा। बहुत वर्षों के बाद तीनों एक क्षण के लिए इकट्ठे हुए, भगवान् शंकर ने उनको पाशुपति अस्त्र मारा, तीनों फूंक डाले; फुंकते ही असुर भी फुंक गया और मर गया। अब अपने भक्त नन्दीगण को भेजा कि जाओ, उन्हीं जलते पुरों में मेरा भक्त जो विश्वकर्मा है उसको जीवित निकाल लाओ। यह कथा है पुराणों की। अब आप इसे अपने अन्दर घटाओ! जैसे कि सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण–आपके ये तीन पुर हैं। कभी मन किसी को सत्ता देता है कि "ये देखो जी! दुष्ट मनुष्य जो मेरा भला भी नहीं चाह रहा।" अब यही है सत्ता देना। अब इसके अनुसार रजोगुण भड़केगा, क्रोध आयेगा और क्रोध में बुरा करने का भाव और उधर बुरा करने के भाव में इतना बहता रहेगा कि नींद भी जल्दी से नहीं आने पायेगी। जब रजोगुण अत्यन्त दुःखी कर देगा तो किसी प्रकार से भी उससे अपना पीछा छुड़ाने के लिए व्यक्ति उद्यत होगा और अन्त में वह निद्रा के अन्धकार में ही डूब जायेगा और वहीं उस दुःख से हल्का होगा। यही तमोगुण की अवस्था है। रजोगुण जब अत्यन्त दुःखी कर देता है और मिथ्या भावों व भड़कावों में भटकाता है तो मनुष्य विचारेगा कि किसी प्रकार से भी इनसे अपना पीछा छुड़ाओ। ऐसी अवस्था में अंधकारमयी तमोगुण की अवस्था में समा जाता है। इस प्रकार ये तीन गुण ही तीन पुर हैं। यही तीन पुर घूम रहे हैं। कभी सत्त्वगुण घूम रहा है अर्थात् कहीं सत्ता दी, कहीं रजोगुण के भावों और भड़कावों में बह रहा है; कहीं अंधकार निद्रा आदि तमोगुण में। सृष्टि का आधार ये तीन पुर सदा घूमते रहते हैं, कभी खड़े नहीं होते। अब इनका फिर नाश कैसे हो? क्योंकि इन्होंने तो वरदान माँग रखा है। अब ये तीनों जब जुड़ें तो प्रभु इनको एक क्षण में नष्ट कर दे तो कर दे, नहीं तो ये कभी नष्ट नही होंगे। अब ये तीनों कहाँ इकट्ठे होंगे? जब आप ध्यान में बैठेंगे तब इन तीनों

की लीला अपनी बुद्धि द्वारा एक-दूसरे के साथ जोड़ करके देखेंगे, तब ये तीनों जुड़ेंगे। अब पाशुपति अस्त्र क्या है? यह जीव तो गुणों के चक्र में पशु बनकर बह जाता है और इसका पति कौन है? वही पालन करने वाला जो कि इन तीनों गुणों से ऊपर उठकर अपने-आप में ज्ञान के साथ शान्त विराजमान है, वह पशुपति है भगवान् शंकर, जो इन सब तीन गुणों को शान्त करके इनसे ऊपर उठकर अपने आनन्द-रूप में विराजमान है। वही भगवान् पशुपति है। इनका वही तीनों गुणों से मुक्त करने वाला जो ज्ञानरूप अस्त्र है, वही पाशुपतास्त्र है। यह जो तीनों गुणों में मस्त हो रहा है सुखी हो रहा है; वही अहंकार रूपी त्रिपुरासुर है। जब तीनों गुणों से कोई मुक्त हो गया अर्थात् ज्ञान-अग्नि से जिसने तीनों पुरों को फूँक दिया, तो उसमें उनका इन्हीं तीनों गुणों में विचरने वाला अहंकार रूपी त्रिपुरासुर भी फुँक गया। अब इस तरह तीन गुण रूपी तीन पुर फुँकने के बाद संसार का जीवन कहीं नहीं जायेगा। जीवन तो रहेगा, जीवन तो ऐसे ही चलेगा। तो वहाँ नन्दीगण है जहाँ कि थोड़ा जीना तो चाहिए; भले ही कोई वस्तु नहीं चाहिए, फिर भी मरना थोड़ा ही है। यही विश्वकर्मा को निकाल कर लाया है। इसका अभिप्राय यह है कि सत्य-आत्मा के साक्षात्कार होने पर या उसकी दृष्टि खुल जाने पर तो त्रिगुणों के साथ रहने वाला, जो अहंकार (मैं यह करता हूँ, मैं वह करता हूँ इत्यादि मैं, मैं का भाव) है वह तो रहेगा नहीं, वह तो नष्ट हो गया। परन्तु देह को बनाये रखने के लिए तीन गुणों के बिना सारे कर्म भी तो नहीं बनते। बस! इतना ही है कि यदि कोई ज्ञानी हो गया तो उसने अपने ज्ञान-रूपी पाशुपतास्त्र द्वारा तीन पुरों को तो फूँक दिया, परन्तु जितना देह को बनाये रखने की इच्छा या भाव है उसके लिये सर्व (विश्व) कर्म भी चाहिए। बस! इतने ही जो कर्म मात्र है वे ही बचे रहेंगे अर्थात् वही हो सकेंगे, न कि मिथ्या

राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि विकारों वाले वे सारे भाव और उनके साथ उनका अहंकार। ये सारे त्रिगुणातीत होने पर नहीं रहेंगे।

14. देखो! अब यह साधारण कथा है। चाहे पुराणों में, चाहे शास्त्रों में अपने ढंग से सुन लो। जैसा कि पहले ऊपर विश्लेषण (छानबीन) किया गया है कि आप के ही अन्दर वह बचपन का देव बैठा है। जैसे-जैसे मन के अनुकूल वस्तु है, उसके अनुसार अनुकूलता की वस्तु दिखा करके बड़ी प्रीति और यदि प्रतिकूलता है तो बड़ा क्रोध पैदा करके दूसरे व्यक्ति को ऐसी सत्ता देता है, जिसे सत्त्व गुण कहते हैं। संस्कृत में बाँधने वाली वस्तु का नाम गुण है। सत्त्व गुण ऐसी सत्ता दे देता है कि "देखो जी! यह कैसा दुष्ट पुरुष है।" अब दुष्ट पुरुष मन में बसा रहेगा तो अपनी क्रोध की आग को तब तक जलाता रहेगा, जब तक कि बदला नहीं ले लेता। शायद यह जन्म-भर न छूटे और मरने के बाद भी न छूटे तथा मरने के बाद भी इन्हीं भावों में बह करके आगे जैसा भी जन्म होगा उसी ढंग के कर्म करेगा। इसलिये यही उचित है कि इन तीनों पुरों को स्वाहा कर दे और स्वाहा करने के लिये ज्ञान द्वारा चले। जैसे कि शास्त्रकारों ने अपने अन्दर की छानबीन की; उसी प्रकार आप भी बाहर वाले मन को अन्दर मोड़कर वैसी छानबीन करने का यत्न करो जिससे आपको अन्दर का सत्य परखने में आये अर्थात् अपनी आत्मा की दृष्टि खुले। अन्दर दृष्टि मुड़ने पर जब ज्ञान आ जायेगा तो सारी लीला दीखेगी। इन्हीं भावों को समझ-समझ कर पहले अपने अन्दर समझे, फिर दूसरों के अन्दर। जब हमारे अन्दर ऐसा है तो दूसरे भी तो ऐसे ही हैं। जो दूसरों की कमज़ोरी समझ करके रियायत कर सकता है कि "जाने दो, यह बेचारा अभी अपने-आप में सम्भल नहीं सकता है, चाहे बूढ़ा हो गया है फिर भी भावों में बह जाता है; चाहे उस के लिये उनमें बहना उसके हित में नहीं है। उसके अन्दर वही

जन्म वाला जीवन का देव है, उसको इस अन्दर के सत्य का ज्ञान नहीं है; वह समझने की शक्ति नहीं रखता। जबकि उसको सही मार्ग पर चलाने वाला विवेक उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिये वह अपने-आप को सही मार्ग पर कैसे चला सकता है?" इतना सब मन में विचार करके अन्दर की धार्मिक बुद्धि रखने वाला प्राणी उसको क्षमा कर दे और उसके अपने अन्दर यह भावना हो कि मेरे से अपराध न हो, मेरे से कोई खराबी न हो, मैं सम्भलता रहूँ। वह बेचारा यदि सही मार्ग पर नहीं चल सकता तो उसको देखकर कहीं मैं भी ऐसा न कर जाऊँ। एक यदि कुएँ में कूदा है तो क्या मैं भी कूदूँ? नहीं, ऐसा करना ठीक नहीं। तो इस प्रकार अपना ज्ञान जगा करके मनुष्य इन भावों या भड़कावों को टाल करके उनसे मुक्ति पा सकता है और इस रीति से केवल मनुष्य ही कर सकता है, दूसरा अन्य कोई जीव नहीं। अब इस तरीके से यदि आप करते गये तो ज्यों-ज्यों आप करते जायेंगे तो देखेंगे कि इससे आपको कई प्रकार से लाभ होगा। पहले-पहल तो थोड़ी-सी श्रद्धा से ही शुरू करेंगे, जैसा कि धर्म-मार्ग के बारे में सुना है। अब श्रद्धा से शुरू करते-करते अन्दर थोड़ा ध्यान में भी ये सब भड़काव या विकार समझ में आने लगेंगे। जैसे ही मन में कोई विकार आया और टला नहीं तो तुरंत पकड़ा जायेगा कि "देखो! अमुक (फलाँ) विकार आया है और मन के बीच में कैसा ज़हर-सा फैला रहा है और मैं यह भी जानता हूँ कि यदि मैं इस ज़हर के अनुसार चल गया तो परिणाम (नतीजा) बुरा होगा।" अब यहाँ पर यही ध्यान वाली बुद्धि ही यह बतायेगी कि "यदि इस विकार का परिणाम बुरा ही होगा तो मैं उससे किनारा करके बच कर ही चलूँ।" तो इस प्रकार एक स्थान पर, दूसरे स्थान पर, तीसरे स्थान पर चलना सीख लिया; समय बीतता गया और करते-करते यह हो गया कि यह नहीं कि मैं जिस समय

अकेला खाली बैठूँ तो इनसे बच कर चलने की कोशिश करने के इरादे करूँ; बल्कि हो सके तो इन भड़कावों या विकारों को कम करते हुए ही मैं टाल दूँ। जैसे मैं नहा रहा हूँ, दातुन-कुल्ला कर रहा हूँ या किसी से बातें ही कर रहा हूँ तब भी ये आते हैं; तो उस समय ही जिस समय ये आते हैं, उनको टाल-टाल कर मैं उनसे रहित होता जाऊँ और उनसे रहित होते हुए ही सर्व-कर्म करूँ। तो यदि ऐसा बनने लग गया तो समझो! यह सीधा मुक्ति का रास्ता हो गया।

15. तो जिस जीवन में भी है; सुबह उठा, नित्य-नैमित्तिक कर्म जैसे नहाना-धोना, संध्या-वन्दन, ध्यान में बैठना आदि कर रहा है। अब जहाँ-जहाँ ये भड़काव या विकार उत्पन्न होते जाते हैं, ऐसी स्मृति ठिकाने रखनी है कि इनको मन में बहने का अवसर नहीं देना और जब इनको मन के बीच में ऐसे बहने का अवसर नहीं मिलेगा तो देह में भी अपने ढंग के परिवर्तन होंगे। एक तो क्या है कि जरा-सा भी बाहर से विपरीत प्रभाव आने पर अपने अन्दर उन भड़कावों या विकारों के वशीभूत होकर उन्हीं के मरोड़ लिये बैठा है कि "देखो जी! अमुक (फलाँ) व्यक्ति कैसा निकम्मा व खोटा है?" उसी भड़काव के मन में बहते-बहते गर्दन टेढ़ी हो गयी, सोचों में पड़ गया, चाल ठीक नहीं है तो एक तो इस प्रकार से देह का निर्माण होगा और एक दूसरी प्रकार से है कि थोड़ा-सा बाहर से विपरीत प्रभाव आते ही चौकन्ना हो गया कि "देखो! यह क्रोध आ गया; दुष्ट राक्षस जैसा, मुझको भड़काने वाला। मैं समझ के साथ पाँव उठाऊँ, समझ के साथ जरा इसको टालता जाऊँ।" अब यह इस प्रकार का जीवन है कि अन्त में टालते-टालते आपने यह देखा कि दातुन-क्रिया करते हुए भी, बातचीत करते हुए भी और सब काम करते हुए भी मैं इन भड़कावों के प्रभाव से मुक्त होता गया; तो उसी ढंग से आपके अन्दर प्राण चलेगा। तो पूर्व के ऋषियों ने

क्या किया? उन्होंने पहले इन विकारों को पहचाना और पहचानकर उनकी कल्याण से विपरीत मार्ग पर चलाने की शक्ति समझी और समझ कर उनको टालने का यत्न किया। अब यह यत्न करके उन्होंने देखा कि जब मनुष्य खाली हो जाता है, उसके लिये बाहर कुछ करने-कराने का नहीं रहता, विशेषकर जैसा कि बुढ़ापे में जब काम तो कुछ होता नहीं तथा ऐसे में बाहर कोई काम करवाने की आशा भी नहीं करता, तो ऐसी अवस्थाओं में प्राण भी यदि चले तो वह भी इन विकारों के बिना ही चले; यह नहीं कि पुराने ढंग से जैसे चुपचाप बैठे तो साँस भी इन्हीं विकारों ने ही चलाना है। "हाँ जी! हम क्रोध में बह रहे थे, किसी का बुरा सोच रहे थे, किसी की गलती हमारे मस्तिष्क में पड़ी थी।" अब श्वास भी तो इन विकारों के साथ-साथ ही चल रहा था और वही इस देह में नाना प्रकार के छिद्र डाल रहा था, कई प्रकार के रोग डाल रहा था। इसी के कारण से देह में कई प्रकार की बीमारियां खड़ी होने की संभावना भी थी अर्थात् शरीर में सुख के विपरीत रचना करने वाला भी था। अब इन्हीं पूर्व के ऋषियों ने इसके लिये भी युक्ति निकाली कि मन को इन सब भड़कावों, जोशों, विकारों से रहित करके आराम से श्वास चलाना। इसके लिये उन्होंने क्या किया कि खाली लेटे-लेटे श्वास नहीं चलाना बल्कि आसन पर बैठे; जो श्वास अन्दर आये उसे समझ से लो; जो श्वास बाहर छोड़ो, समझ से छोड़ो। इस तरह श्वास के लेने और छोड़ने के बीच में जो बुद्धि लगा गये, तो अब यह नहीं कि वही खाली मन और बुद्धि आदत के ही संस्कारों की किरणें जगा-जगा कर दूसरों के ऐसे नाना प्रकार के चित्र सामने खड़े करें जिससे कि श्वास के साथ-साथ वही क्रोध, वही अहंकार और वही सारे भाव, विकार या भड़काव बहें। तो इस प्रकार से फिर वे क्या

करते कि जिस समय भी अकेले बैठे तथा और कुछ काम नहीं है तो अपने-आप को इसी क्रिया में लगा देते कि जो भी श्वास अन्दर आ रहा है, समझ से आ रहा है। लेते समय भी पता लग रहा है कि श्वास लिया जा रहा है; छोड़ते समय पता लग रहा है कि श्वास छोड़ा जा रहा है और एक स्थिति ऐसी भी है कि आप जाग रहे हैं, बातें कर रहे हैं, श्वास तो तब भी चल रहा है; यह श्वास भूल में गया है क्योंकि आपका ध्यान दूसरी ओर है। यदि आपने श्वास लेने और छोड़ने में ही ध्यान रखा तो इतने में सब बातें मन से उतर गयीं। तो इस प्रकार आप जितनी देर भी बैठें चाहे आधा घण्टा, पौन घण्टा, एक घंटा, डेढ़ घंटा तो श्वास को ऐसे चलाना कि वह सारे विकारों का मर्दन करता जाये और मर्दन करता हुआ ही श्वास ले और छोड़े। यदि वह श्वास लेने और छोड़ने में ही अपना ध्यान लगाये रखेगा तो ये स्वयं ही टलते जायेंगे। हाँ, यदि आलसी सुस्त होकर लेटा रहेगा तो आदत वाला, सब मिथ्या विकारों वाला ही श्वास होगा। चाहे इच्छा है, चाहे क्रोध है, चाहे संशय है, चाहे किसी का राग है; ये सब अपने-अपने ढंग से याद द्वारा खड़े होते जायेंगे। तो जैसे खड़े होंगे, वैसे ही किसी का मन भी उलझेगा। यदि उसमें उलझ गये तो उस व्यक्ति का मन दुःख को ही जन्मायेगा। इसमें समझ से श्वास लेना और समझ से श्वास छोड़ना पड़ता है। अब यदि श्वास समझ से ले रहे हैं तो वे विकार समझ में नहीं हैं। यदि ये समझ में बैठ रहे हैं तो समझो कि श्वास समझ से नहीं चल रहा है अर्थात् भूल से चल रहा है। श्वास को यदि ये समझ से लेते जायेंगे तो ये विकार, भड़काव इत्यादि सब उड़ते जायेंगे। तो इसको गीता में भगवान् यूँ कहते हैं कि "हे अर्जुन! जो ऐसे व्यक्ति हैं वे इच्छा, भय और क्रोध इत्यादि से विगत हो गये अर्थात् वे सदा मुक्त रहते हैं।" मुक्ति का अभिप्राय है कि इन बन्धनों से छूटे हुए हैं।

परन्तु इतना आवश्यक है कि प्राणापान को सम करना। "प्राणापानौ

समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ....इत्यादि-इत्यादि।" प्राणापान को सम करना-इसका क्या अभिप्राय है? समझते-समझते जो श्वास लिया जायेगा, वह मध्यम मार्ग में चलेगा। अब जो समझ के बिना ही संसार में जायेगा वह दाँयें या बाँयें होगा। तो तुम समझ के साथ सम में श्वास लो। श्वास समझ के साथ सम में लोगे तो मन कहीं नहीं उलझेगा। एक भी श्वास ऐसा, दूसरा भी ऐसा, तीसरा भी ऐसा श्वास लेते हुए देखते हैं कि फिर भी मन कहीं-न-कहीं भागता जाता है। तो देह के अन्दर बहुत से अंग, उपांग हैं जैसे हृदय, जिगर, तिल्ली, छोटी आँत, बड़ी आँत, पेट इत्यादि। इन किसी भी अंगो, उपांगों की स्मृति या याद रखते हुए समझ के साथ श्वास लेते गये व छोड़ते गये। प्रत्येक अंग या उपांग की याद या स्मृति रखते हुए दो-दो, चार-चार, पाँच-पाँच श्वास लेते और छोड़ते गये। ऐसा करते-करते यदि खाली हैं, कोई और काम नहीं है तो घण्टा, डेढ़ घण्टा, दो-दो घण्टे तक बैठे करते रहें। इस तरह करते हुए जो निर्मल श्वास चलेगा वह सारी देह के रोगों को मिटा देगा और मन को ऐसा अवसर नहीं देगा कि खाली रहने के कारण से वह अपनी पुरानी व्यर्थ की बातों को याद कर-कंर के बहावे। यदि नाना प्रकार के भावों में ही बहता रहता तो अपने जीवन को दुःखी, रोगी ही पाता। इस तरह का यह सारा जीवन है।

16. तो पहले शुरू होगा श्रद्धा से, थोड़ा बाहर के पाप टालने से जैसे जीव-हत्या, चोरी, झूठ इत्यादि। थोड़ा खाने-पीने पर काबू करने से अर्थात् नियम व कायदे से खाना-पीना। अब मन को झाँकने से कि "हाँ जी! थोड़ी-सी बात हुई है, मन किस दशा में है?" मन की इस अवस्था को पहचानना। बिना स्वाध्याय के अर्थात् बिना अपने अध्ययन के, बिना अपने अन्दर की पढ़ाई के यह मुक्ति का मार्ग नहीं खुलेगा। अब पढ़ाई करने वाले को ही पता

लगेगा कि "देखो! मन उछल गया और बाहर के बारे में ही

क्या-क्या सोच रहा है।" ये सारी वस्तुएँ उसी को देखने में आयेंगी जो अपने अन्दर की पढ़ाई करने में बड़ा दक्ष, बड़ा कुशल होगा। और इस प्रकार थोड़ी पढ़ाई करते गये, तो पढ़ाई करते-करते फिर इन भड़कावों या विकारों को थोड़ा टालने की भी इच्छा की। फिर टाल-टाल कर टालते भी गये। टालने में निर्णय करने वाली बुद्धि को भी थोड़ा साथ रखा कि टालना भी है तो क्यों टालना है? फिर क्यों टालना है? यदि नहीं टालते तो बड़ी दुर्गति है। इस तरह से करके यदि यह जीवन अपने अन्दर-ही-अन्दर आप देखने लग गये तो फिर चाहे बूढ़े होने पर भी यह नहीं है कि "लो जी! अकेले में जब मेरा मन नहीं लगता और जब मैं दूसरे अपनों के संग अपना मन लगाने जाता हूँ तो वे मेरा संग सहन नहीं करते, मेरे को धक्का मारते हैं, ये क्या बेटे हैं? ये क्या मित्र हैं?" अब देखो! है यह केवल इसीलिये कि संसार में जो भी मनुष्य आया है, वह अकेला तो रहना जानता नहीं, उसको तो दूसरों के साथ ही रहना आता है जैसे बच्चों इत्यादि में। अब बच्चों इत्यादि का संग तो तभी तक ही अच्छा था जब तक आपके स्वार्थ एक दूसरे के साथ जुड़े हुए थे और एक-दूसरे का संग करने का भाव भी बना हुआ था। अब उनका स्वार्थ तो कुछ है नहीं, हमारा स्वार्थ उनके लिये जैसे बोझा बना हुआ है। तो ऐसी अवस्था में हम किसको अच्छे लगेंगे? तो ऐसी अवस्था में भगवान् का दरवाजा देखना, धर्म का रास्ता पकड़ना, अन्दर की विद्या जानना, इसके बिना दूसरी कोई शरण नहीं है। अब यह जो सत्संग होता है उसका तात्पर्य केवल यही है कि जो जीवन आपको संसार में मिला हुआ था, वही जीवन आप अकेले में खोजो। यदि अपने में आपको यह जीवन मिल गया और उसके बीच में सुख निकल आया जैसे बच्चे को बाहर रहने में सुख था तो समझो। आपका लोक-परलोक सुधर गया। तो बच्चे को अपने-आप में रहने में

सुख कैसे? देखो! एक छोटा बच्चा, जो इस संसार में आया है तो सर्वप्रथम उसका सम्बन्ध पृथ्वी, तेज, जल, वायु इत्यादि आठ वसुओं से होता है। मानो! वायु भी उसको प्यारी लग रही है; सूर्यनारायण का दर्शन भी अच्छा लग रहा है; खेलना, कूदना, टहलना सारा अच्छा लग रहा है। जब यही सारे आठ वसु बच्चे जैसे निर्मल मन के समान आपको अन्दर नज़र आयेंगे और उनके साथ आप बड़े आराम से रहेंगे तो बच्चे जैसी तन्दुरुस्ती के लिये आपका रास्ता खुल जायेगा। इन्हीं वसुओं का ध्यान करते-करते वहाँ जो अन्दर आपकी आत्मा की मूर्ति होगी, वह निर्मल वासुदेव श्रीकृष्ण भगवान् की ही मूर्ति होगी। ये जितने भी प्राकृतिक चिकित्सा वाले हैं, वे इसी बात पर विशेष महत्त्व देते हैं कि प्रकृति को इस ढंग से बनाओ कि वह आपकी माता बनकर आप पर बच्चे जैसी दया करे। परन्तु यह वही कर सकेगा जिसका बच्चे जैसा मन बनेगा। बच्चे का मन कैसा होता है? कि कोई अपराध नहीं, कोई दुष्ट भाव नहीं, उसके मन में किसी के लिये ज्यादा लगन नहीं, कोई मिथ्या तृष्णा नहीं। इस प्रकार का आपका बच्चे जैसा मन तभी होगा यदि आपके अन्दर भी किसी का राग नहीं रहा, किसी का द्वेष नहीं रहा, किसी के मान-मोह की बात नहीं है, नाना प्रकार का काम-क्रोध नहीं है, किसी के प्रति खोटा सोचने की भावना नहीं, दूसरे के लिये कोई खोटा करने की इच्छा भी नहीं। बच्चे को मान लो! कुछ कह भी दिया कि 'तू शैतान है' या उसको थप्पड़ भी मार दिया तो बस! वह रो पड़ेगा। क्या वह किसी के प्रति खोटा करने की सोचता है? नहीं। थोड़ी देर बाद वह तो फिर वैसे का वैसा ही है। यदि आप ऐसा निर्मल मन रखो तो आप के अन्दर सब शील, सन्तोष, वैराग्य, क्षमा इत्यादि देवों का ही वास हो जायेगा और इसी में भगवान् देवकीनन्दन की मूर्ति प्रकट होती है। इस प्रकार निर्मल मन से वायु का सेवन

करो, निर्मल मन से श्वास लो, निर्मल मन से धरती पर टहलो और चाहे टहलते-टहलते गर्मी-सर्दी का भी शुद्ध मन से ही अनुभव करो; ठण्डी-गर्मी की मात्रा ही महसूस करते जाओ। इस प्रकार यदि होने लग गया तो समझो! प्राकृतिक चिकित्सा आपके हाथ लग गयी या उसके साथ आप एक हो गये। ऐसी अवस्था में ऋषि लोग कहते हैं कि लोक-परलोक दोनों में ही उस मनुष्य का ही कल्याण होता है। यही सारा कहने का अभिप्राय है।

17. अब है यह अपने अन्दर की बात। पहले थोड़ा-सा समझेगा तथा शेष धीरे-धीरे ही होगा क्योंकि जो पहले वाला बच्चे का मन था, वह अब शक्ति पकड़ चुका है। अब यह कितनी शक्ति पकड़ चुका है? कि "हाँ जी! जिस मार्ग में मैं गया हूँ, मुझे वही चाहिए।" खाने-पीने की माँग ने भी अपनी एक प्रकृति बना ली कि "जी! मैं तो मीठे के बिना नहीं रह सकता, मेरे को तो ज्यादा दूध चाहिए, मेरे को ऐसा स्वादिष्ट भोजन चाहिए, मैं घी बिना नहीं रह सकता, मुझे नशा चाहिए।" अब देखो कि जन्म से ही इस बच्चे ने अपने अन्दर "यह चाहिए-वह चाहिए", इतनी बना ली है कि यदि इच्छा की वस्तु नहीं मिली तो वह अपने-आप को इतनी विपरीत स्थिति में पाता है कि जैसे कोई बीमार या रोगी होता है, वह सोचने में भी ठीक नहीं रहा, दूसरे से बातचीत भी ठीक नहीं निकलती, चिढ़ा हुआ सा रहेगा। अब इस तरह का जो यह बन्धन जाल है, जो नाना प्रकार की दासता है, उससे थोड़ा रहित होना पड़ेगा। यही सब कंस, चाणूर का ही राज है जिसमें कि सब बन्धन और उनसे उत्पन्न होने वाले विकार ही जीव को अपने ढंग से चलाते हैं। बुद्धि लगा करके किसी भी रास्ते यह सोचना पड़ेगा कि जितनी भी ये बाहर की इच्छाएँ बढ़ती जा रही हैं, अन्त में हाय-हाय करके मारेंगी। अब इनके बिछोड़े में थोड़ी तंगी तो अवश्य होगी। इस तंगी का नाम ही तप है। जैसे मान

लो! किसी वस्तु का सेवन मुझे हानि करता है तो उसका त्याग करने में जो मुझे दु:ख होता है, उस दु:ख को सहन करने के लिए मैं तैयार रहूँ कि "हे प्रभु! यह तंगी मुझे स्वीकार है।" यही पूर्व के ऋषि कहते थे कि धर्म के रास्ते चलने वाला थोड़ा उपवास (फ़ाका) भी करके देख ले; उसी के लिये उन्होंने व्रत भी रखे हुए हैं। थोड़ा नींद को हटा करके, नींद का सुख त्याग करके थोड़ा जागना भी सीख ले, थोड़ा मान-अपमान का वचन सहन करना भी सीख ले, बड़ो का आदर करे, किसी के दुर्वचन को भी सहन कर ले और मन के बीच में यह देख ले कि सहन करने की क्या पहचान है?अर्थात् इन विपरीत अवस्थाओं में मन कैसे-कैसे अनुभव में आता है। जैसे घर में ही यदि एक स्थान पर सहन कर लिया तो उसको सकल संसार में ही सही ढंग से रहना आ जायेगा। मान लो! घर में किसी के बड़े, बूढ़े हैं तथा उनके नाना प्रकार के भड़कावों को उसने सहन कर लिया तो उसको अपने मन की सही पहचान हो गयी। अब जब भी वह बाहर संसार में जायेगा तो न जाने कितने शक्ति वालों का उसको सामना करना पड़ेगा। उनकी तरफ़ से न जाने कितनी उल्टी-सीधी बातें भी आयेंगी तथा उन शक्ति वालों के प्रति अपने में खोटा करने की कोई शक्ति भी नहीं दीख पड़ेगी। तब उस मनुष्य ने यदि उन विपरीत व्यवहार करने वालों में भी उसी आत्मा के दर्शन कर लिये, जिसके कारण से कि वह अपने घर में बड़े, बूढ़ों की भी सभी बातें सहन करता है अर्थात् उसी आत्मा को बाहर वालों में भी बिठा लिया तो समझो! यह भी एक प्रकार की भक्ति हो गयी। जैसे 'मातृदेवो भव','पितृदेवो भव' अर्थात् अपने माता-पिता को ही आपने देव बना लिया। अब वह जो भी आपके लिये करते हैं, जैसा भी आपके प्रति बोलते हैं, परन्तु आगे से आपने क्रोध नहीं किया, आप भड़कावों में नहीं आये। बस! जी,जी करके

आपने सहन कर लिया और उनके साथ निभाते ही गये; उनके सब उद्वेगों, भड़कावों को बड़े आराम के साथ सहन करते गये और उनके प्रति अपना व्यवहार, उत्तेजना या भड़कावे वाला न किया गया तो समझो! इस अवस्था में आप स्वयं अपने स्वामी (मालिक) बन गये; तब आपको यह भी समझ आ जायेगी कि 'मैं' को खाना कैसा होता है? 'मैं' को मारना कैसा होता है? 'अहंकार' को जीतना कैसा होता है? एक स्थान पर यदि आपने अहंकार को जीत लिया तो फिर आप संसार में जहाँ भी जाओगे, कहीं धोखा नहीं खाओगे। बस! वही मनुष्य धोखा खाता है जो कि इस अहंकार को अपने अन्दर आने के लिये खुला रास्ता दे देता है।

18. एक बार की बात है कि सायंकाल को एक व्यक्ति अपना कार्य समाप्त करके घर वापिस लौट रहा था, रास्ते में उसको डाकू मिल गये। डाकुओं ने उसको सारा रुपया-पैसा, घड़ी इत्यादि निकाल कर उनको सौंप देने के लिये कहा। वह व्यक्ति थोड़ा नम्र स्वभाव का था, उसने उन डाकुओं के कहने पर रुपया-पैसा इत्यादि निकाल कर दे दिया। डाकुओं ने उस व्यक्ति को जाने के लिये कहा तथा इस घटना के बारे में घर जाकर गाँव में किसी से भी वर्णन न करने का आदेश दिया। इसी दौरान एक और व्यक्ति जो कि पहलवान जैसा था घर लौट रहा था। उसके साथ भी डाकुओं ने वैसा ही व्यवहार किया जैसा कि पहले वाले व्यक्ति से किया था। अब वह दूसरा व्यक्ति क्योंकि पहलवान जैसा था, इसलिये अपनी शारीरिक शक्ति के अहंकार में उन डाकुओं से थोड़ा मुकाबला करने जैसे बोल में बात करने लगा। अब उसके अहंकार से उद्विग्न होकर उन डाकुओं ने उस पहलवान को तुरन्त छुरा मारकर मार दिया तथा उसका सब रुपया-पैसा भी लूट लिया। अब ऐसी अवस्था में बुद्धिमान पहला व्यक्ति था या दूसरा? दूसरा

व्यक्ति भी तभी बुद्धिमान् समझा जाता यदि वह यह देखता कि इन डाकुओं के पास छुरा इत्यादि हथियार भी हैं तथा उसके पास कुछ भी नहीं है अर्थात् अपने-आप की रक्षा करने का कोई और बल भी नहीं हैं। इसलिये उस समय के अपने मान-अहंकार में न आ करके अपने जीवन को अधिक महत्त्वपूर्ण समझता। अब इस मान-अहंकार के भड़कावे के कारण से उसका कितना अधिक बुरा हुआ। अतः इस तरह के अवसर पाकर जो भड़कावे आते हैं उनको सहन करने की भी आदत बना लो ताकि जब कोई ऐसा अवसर पड़े तो वह हमारी कोई न सहने योग्य हानि न कर जाये। जैसे थोड़ा अहंकार को भी जीतना सीख लो, थोड़ा-सा नम्र होना भी सीख लो, थोड़ा त्यागी बनना और थोड़ा तंगी को सहन करना भी सीख लो। ऐसी अवस्थाओं में यह देखो कि यदि छोटे त्याग से बड़ी हानि टलती है तो छोटा त्याग भी खुशी-खुशी करना सीख लो। अब जीवन से बड़ा तो कुछ है नहीं और यदि यह नहीं रहा, तो आपका रुपया-पैसा क्या करेगा?

19. इस प्रकार जैसा कि पहले भी बताया है कि पहले-पहल इन मान, अहंकार, द्वेष, क्रोध इत्यादि के भड़कावों या जोशों को अपने घर वालों के बीच में ही बुद्धि को साथ रखते हुए सहन करना सीख ले। अब इस तरह इन भड़कावों को, मान-अहंकार को जिसने मारकर देख लिया; उसको बाहर बिना किसी विशेष यत्न के ही ये सब सहन करने आ जायेंगे। इनको मारे बिना मनुष्य का कल्याण सम्भव नहीं। मन यदि यह शिकायत करे कि "जी! तुम तो कायर (डरपोक) हो।" तो इसी मन से पूछना कि "क्या नम्रता का अर्थ कायर होना होता है? और फिर यदि तुम अपने-आप को शक्तिशाली समझते हो तो कितने शक्तिशाली हो? क्या तुम जो चाहो सो कर सकते हो?" जैसा कि पहले भी बताते आ रहे हैं कि यह तो उस जीवन के देव-प्रजापति की ही

सारी तरंगें है जैसे कहीं मान भड़क गया, अहंकार आ गया, क्रोध में मुख से कुछ विपरीत उद्वेगयुक्त या भड़काव वाला शब्द निकलना चाहा, तो इस प्रकार आपने अपने-आप को स्मृति द्वारा संभालते हुए उसकी एक भी तंरग में यदि अपनी 'मैं' उत्पन्न नहीं होने दी तथा अपना-आपा या समझ रख ली, तो आपको वह जीवन मिल गया जो सदा अन्दर का है। फिर बाहर के बिछुड़ने का कोई डर नहीं कि "मर जायेंगे तो कहाँ जायेंगे?" कहाँ जायेंगे? "वहीं जायेंगे जहाँ बैठे हैं। और कहाँ जाना है?" सारा संसार अन्दर ही है अर्थात् अपनी आत्मा में ही है और यह आत्मा ही परमात्मा रूप है और इसी में सब खेल हैं। जैसे ध्यान में भी हम देखते हैं कि अन्दर ही वायु चल रही है, बैठे-बैठे कान खुल जाते हैं तथा दूर-दूर की आवाज़ें भी सुनती हैं। ऐसा हो जायेगा कि अब अपने को किसी की आवश्यकता नहीं। ऐसा ध्यानमयी मनुष्य सदा यह देखता है कि उसका न किसी में राग है, न किसी में द्वेष है, न उसकी किसी से कोई इच्छा है, न ही उसका कोई वैरी है। इस अवस्था में उसको सारा संसार ऐसा भाता है या प्यारा लगता है जैसा कि बच्चे को लगता है और अपने-आप अकेले में ही वह आनन्द मानता है और उसको दूसरों के संग से भी भय प्रतीत होता है। चाहे वह अपने निष्काम कर्मयोग के कर्त्तव्य द्वारा दूसरों के संग में भी दूसरों जैसा ही प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह अपने-आप अकेले के आनन्द में ही रमण करता है और संतुष्ट होता है। अब जो ऐसा मनुष्य है, वह कैसे मरेगा? मरने के बाद भी वह देखेगा कि सारी इन्द्रियाँ भी हैं तथा मन भी है। संसार का जो कुछ भी होगा, उसको सुनेगा भी, दीखेगा भी तथा सुगन्धियाँ भी आयेंगी; इस प्रकार सब कुछ होगा। तो क्या वह मर गया, क्या वह उजड़ गया? बल्कि उसको यहीं सारा स्वर्ग मिल गया। अब वही यदि ध्यान की गहराई में चला गया जैसे कि अपने

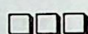
अन्दर के अन्धकार को पहचानना, अन्दर की शान्ति पाना, आत्मा में टिकाव पाना तथा उससे ब्रह्म के पास पहुँचना; तो यह उत्तम लोकों की प्राप्ति है।

20. अब सारे धार्मिक जीवन का यही निचोड़ है कि मनुष्य थोड़ा-सा अपने जीवन को पहचाने कि यह जीवन कहाँ समाप्त होता है? यदि बाहर के सुख की ही तृष्णा को ले करके उसी के रास्ते से रहना हुआ तो हाय-हाय ही हाथ लगेगी। अन्त में यह तृष्णा का सुख छूटेगा तथा मनुष्य मरने से पहले भी इसके साथ दुःखी ही होगा। क्योंकि इसके साथ जो मन है, वह भी तो बाहर का ही है। इसलिये बाहर के जीवन के बुझने से ही वह डरता है कि "जी! फिर मैं कहाँ जाऊँगा? मेरा क्या बनेगा?" क्या बनना है? "वही बनना है जो जीते जी का बनना है।" जिसने जीते जी यह मुक्ति का रास्ता देख लिया, उसके लिये मरना भी कोई समस्या नहीं। जब जीते जी ही चुपचाप बैठने पर उसको स्वप्न जैसा संसार खड़ा दिखाई देता है जिसमें कई प्रकार की वस्तुएँ देखने में आती हैं। अपने घर वालों की याद तक नहीं आती। ऐसा प्रतीत होता है जैसे संसार की आवाज़ें, गाने प्यारे लग रहे हैं; कहीं खेल हो रहे हैं; कहीं जगराते हो रहे हैं; सदा आनन्द की वस्तुएँ दिखायी दे रही हैं। अब यदि मर गया तो यह देखने व सुनने की शक्ति समाप्त थोड़ा ही हो जायेगी। मन भी यहीं रहेगा और यह रौनक मेला भी वैसे का वैसा ही रहेगा। जिस प्रकार सो जाने पर भी संसार की दृष्टि या दूसरों की दृष्टि में वह सोया हुआ प्राणी अचेत या मरा जैसा ही पड़ा है, परन्तु उस सोये हुए के अन्दर भी उसका अपना आत्मा जैसे स्वप्न आदि रचकर सारी सृष्टि दिखाता है और इस सोये हुए प्राणी को भी उनके बीच में घूमता-फिरता दिखाता है, तो फिर यह सोया या मरा हुआ कहाँ हुआ? यह तो सब प्रकार की लीला कर रहा है। सोया हुआ कहाँ है? उसी

प्रकार से मरा हुआ प्राणी भी दूसरों की दृष्टि में मरा पड़ा है और उसी का ही अन्तरात्मा अपने अन्दर सारी लीला लिये बैठा है और सारी लीला कर सकता है। परन्तु उसी के लिये ही कर सकता है जिसको अपने अन्दर इस आत्मा का ज्ञान हो जाये। फिर वह यह नहीं समझता कि मर जाने के बाद मैं नहीं रहूँगा या मैं उजड़ जाऊँगा। वह निर्भय होकर अपनी आत्मा में स्थित रहता है। उसको कभी यह भय नहीं रहता कि मरने के बाद मैं नहीं रहूँगा। अब इस तरीके से यदि कोई इस संसार में आ करके कमाई कर गया तो वह बेपरवाह होकर रहेगा। जब उसके लिये ऐसा हो जायेगा तो फिर मौत किसकी? मौत तो उसी की है जो कि संसार में उलझा हुआ मरेगा। अब धर्म के सत्संग वाले को यही सोचना चाहिए कि यह बाहर के सहारे जो जीवन है, उसके सुख अन्त वाले हैं तथा उसके पीछे अनन्त अनर्थ हैं, दु:ख हैं। अत: उससे बचने के लिये थोड़ी अपनी आत्मा की जागृति शुरू करता जाये। सर्वप्रथम अपनी अन्तरात्मा का और अपने-आप का ज्ञान जगाना और ज्ञान जगाकर अपने विकारों को पहचानना और उनको टालने का अभ्यास करना और यहाँ तक टालने का अभ्यास करना कि उनके बीच में रहते हुए भी उनसे बचे रहना है। संसार में ही कुछ का कुछ होकर केवल इसकी रौनक ही नहीं चाहिए; बल्कि अपने अन्दर के अन्तिम भले पर भी दृष्टि रखनी है। इसलिये पीछे कहे गये अपने अन्दर के जीवन का भी अभ्यास करना अर्थात् अपने अन्दर के भड़कावों को शान्त करते हुए ही दूसरों में बसना। यही अपने को संयम में रखने का जीवन ही सही रूप में अपना है और दूसरा जो साधारण जीवन प्राणी ने पाया है वह तो प्राकृतिक (कुदरती) या इन्हीं भड़कावों वाला है, जिसका अन्त कभी भी भला नहीं है। यदि अपने को संयम में रखने का उत्तम जीवन का अभ्यास हो गया तो उससे श्वास भी

सुख का ही चलेगा। इस प्रकार से यदि श्वास बढ़िया, निर्मल हो गया तो वायु भी प्यारी; सूर्यनारायण भी प्यारा, आठों वसु भी प्यारे हो गये। तो यह वासुदेव भगवान् भी सामने आ गया। वासुदेव कौन है? पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र और आत्मा। इन आठ वसुओं में जब मन शुद्ध हो गया, निर्मल हो गया तो जैसे पहले योगी लोग ध्यान करते थे, वैसे ही निर्मल मन से आप भी उन्हीं के ध्यान के साथ रहने लग गये तो मूर्ति भी प्रकट हो जाती है। अब इस मूर्ति के बाद पूरा विश्वास हो गया कि मेरा परलोक बिल्कुल सही है। अब इतना अवश्य है कि अन्दर संसार भी अपना थोड़ा बल रखता है। इससे बिछुड़ने में थोड़ी देरी भी लगती है और थोड़ी तंगी भी होती है। दूसरों की तरफ़ भी बाहर ज्यादा नहीं देखना बल्कि अपने अन्दर थोड़ी श्रद्धा स्थापित करनी और फिर अन्दर का थोड़ा ज्ञान जागना चाहिए और कुछ नहीं। जैसे मान लो! किसी को कड़वा बोला गया। पीछे मन पश्चात्ताप करता है तो उसी की मन में पढ़ाई करने लग गये कि "देखो भाई! इस प्रकार बोला हुआ आगे क्या परिणाम लायेगा?" तो आगे के लिये कुछ सीख ले कि आगे के लिये कैसे करना है? फिर ऐसे ही अकेले अपने में लगे रहे। यही तो ध्यान है। इतना कुछ कर-कर के संसार से बिछुड़ कर अकेले में मन लगाना सीख ले। जब अन्दर आँख खुल गयी तो बाहर की सारी समस्याएँ धीरे-धीरे दूर हो जायेंगी और यदि अन्दर आँख नहीं खुली तो बाहर ही बहेंगे और बाहर की वस्तु सदा मिलनी नहीं। ऐसी अवस्था में बाहर के जीवन से दुःखी होकर अन्त में मरना ही चाहेगा और अन्त में उसके लिये कुछ भी नहीं रहेगा। तो धार्मिक जीवन का क्या अर्थ है कि थोड़ा-बहुत बाहर से निवृत्त (टलकर) होकर अन्दर के जीवन को थोड़ा पहचानना और यहाँ तक इतनी कमाई करनी कि अन्त में अपनी आत्मा में

शान्ति, ठण्डक और अपनी आत्मा में ही ज्ञान उपजना शुरू हो जाये। इतना ज्ञान कि बाहर सिनेमा जैसे चित्र अपने अन्दर ही दीखने लग गये तथा पूर्व जन्म भी दीखने लग गये। चाहे मैं यह नहीं जानता कि पूर्वजन्म भी हुए हैं, परन्तु ये नज़ारे तो (दृश्य) वैसे ही हैं। अब संसार देखने में इतना आनन्द नहीं है जितना कि यह अन्दर दीख रहा है; यह ब्रह्मलोक है। इस तरह से पूर्व में ये जितने आचार्य हुए हैं उन्होंने कहा है कि यह ऋषियों का जीवन है, ऐसा चाहे पुराणों से सुन लो, चाहे शास्त्रों से या तर्क से सुन लो, चाहे वेदों के मंत्रों से। बस! है यही सब।



प्रवचन-20

दिनांक: 6-2-1994

1. यह जो धर्म का सत्संग है इसका मुख्य तात्पर्य क्या है? कि जिस प्रकार से कोई भी जीव प्रथम इस संसार में आया है और आ करके उसने जो भी अपनी सत्ता या हस्ती को अनुभव किया है कि मैं बना हुआ हूँ, मैं यहाँ रह रहा हूँ, तो उसके साथ इसकी अपनी प्रीति रहती है, जिससे वह समझता है कि मैं ऐसा सदा बना रहूँ, अर्थात् दूसरों के संग से उसको जो अपना-आपा सुख-रूप प्रतीत होता है, उस अपने-आपे के साथ उसको इतना मोह हो जाता है कि उस संसार का संग न रहने पर वह अपने-आप को नष्ट हुआ-सा या उजड़ा हुआ-सा ही मानता है। इसी संसार की प्रीति के कारण वह पुनः संसार में आना चाहता है व संसार में ही अपने-आप को अनुभव करता है। वह कभी भी अपने-आप का सत्यानाश(सदा के लिए मिट जाना) नहीं चाहता। परन्तु जो मिट जाना नहीं चाहता, उसने एक दिन मृत्यु को प्राप्त होना ही है। अब यदि मृत्यु को प्राप्त होना ही है तो वह इससे क्यों ज्यादा डरता है? मृत्यु को प्राप्त होने का मतलब उसको यह समझ में आता है कि मैं सदा के लिए उजड़ गया, मेरा सत्यानाश हो गया, मैं रहा ही नहीं। कोई भी प्राणी यह नहीं चाहता कि मैं एक बार हो गया हूँ तो फिर न होऊँ। मैं जैसा बना हुआ हूँ ऐसा ही बना रहूँ। परन्तु हर एक को यह भी पता है कि एक दिन सब ने इस संसार से जाना है।

2. जो इस धर्म के प्रवीण हैं और धर्म को विशेष करके धारण करने वाले हैं, जिन्होंने इस मार्ग पर चल कर खोज की है; उन्होंने अपनी अन्तरात्मा के सत्य को पा करके यह पहचाना है कि ऐसी कोई डरने की बात नहीं है। एक तत्व, एक सत्य ऐसा

भी(अन्दर)अनुभव में आता है कि जिसका नाश नहीं होता, परन्तु इतना जरूर है कि वह सबके अन्दर छुपा हुआ रहता है। यदि उसके ऊपर से आवरण (पर्दा) जिसको अविद्या कहते हैं, वह उठ जाये तो उस मनुष्य को निश्चय हो जायेगा कि मौत नाम की कोई भी चीज़ नहीं है अर्थात् मौत का अर्थ यह नहीं कि केवल देह छूटने से मनुष्य का जड़-मूल से सत्यानाश हो जाता है। बस! मौत करके वह आम आदमी (साधारण मनुष्य) इतना ही समझता है कि संसार से इस शरीर का छूट जाना और दूसरों के संग से बिछुड़ जाना ही मृत्यु है। परन्तु अन्दर का सत्य समझ में आने पर उसको यह प्रतीत होता है कि ऐसी कोई बात नहीं है कि दूसरों से बिछुड़ने पर मैं मर गया या उसका सत्यानाश हो गया या कुछ भी नहीं रहा। निद्रा में जाने पर तो उसको यह भरोसा सा रहता है कि कुछ समय के बाद मैं उठ जाऊँगा, परन्तु मौत में ऐसा समझता है कि शायद इसके बाद मैं नहीं रहूँगा। इसलिए मौत का शब्द सुनकर भी वह परेशान हो जाता है।

3. अब इसी को देख करके ऋषियों ने धर्म का रास्ता निकाला और उन्होंने यही कहा कि आपके अन्दर एक ऐसा सत्य है, एक ऐसा तत्व है जो कि कभी मरता नहीं और सदा बना रहता है। यदि तुम उस सत्य के तत्व को पा लोगे तो वह अपने-आप में इतना परिपूर्ण है कि उसके बीच में तुम्हारी इच्छा और सुख के विपरीत कुछ नहीं आयेगा और वही तुम्हारी सच्ची आत्मा है और वही तुम्हारा सच्चा स्वरूप भी है। उसी को ब्रह्म कहते हैं। उसी को अन्दर से एक रूप में आत्मा कहते हैं। शास्त्रों में जितने भी शब्द हैं जैसे ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा; अब इनका इतनी गहराई में अर्थ है कि वे झटपट सुनकर समझ में नहीं आते। ऊपर से जो अर्थ समझ में आते हैं वे मनुष्य को रुचिकर नहीं लगते। इसलिए इनके अर्थों को समझने के लिए, इनके अर्थों का व्याख्यान बहुत

गहरी खोज करके लिखा है। परन्तु फिर भी उन्होंने कहा है कि जो भी इस विद्या के बारे में लिखा गया है, वह तब तक समझ में नहीं आयेगा, जब तक आप अपने ध्यान को संसार से मोड़कर अन्दर की तरफ़ नहीं लाओगे। अब ध्यान को मोड़कर अन्दर लाने के लिए उनका एक रास्ता है। उस रास्ते पर चलने के लिए कुछ कर्मकाण्ड भी करना पड़ेगा, कुछ कर्म भी और कुछ भक्ति भी रखनी पड़ेगी और थोड़ा मन को जगाने के लिए ज्ञान भी चाहिए। अब उन्होंने यही कहा है कि धर्म के तीन खंभे या तीन स्तम्भ हैं, जिन पर धर्म का मकान खड़ा है। पहला खँभा (स्तम्भ) है कर्मकाण्ड का और दूसरा खँभा (स्तम्भ) है भक्ति या ध्यान का और तीसरा खंभा (स्तम्भ)वह है जो कि भक्ति-ध्यान करते-करते अंत में अन्दर की पढ़ाई करके जो ज्ञान होगा, वही ज्ञान का तीसरा खंभा (स्तम्भ) है। शास्त्रकारों ने कई प्रकार से कहा है कि "भई! तेरे से और कुछ नहीं होता तो कीर्तन ही कर लो। किसी प्रकार से मन को संसार से मोड़ो तो सही, यह नहीं कि जब अकेले हो गये तभी जाकर सो गए और जब उठे तो संसार में बंध गए, और उसी में घूमने लग गए।" जब से बच्चे की आँखें खुली हैं, तभी से ये संसार की दो तृष्णाएँ सदा से चली आ रही हैं। पहले तो दूसरों के बीच में रहकर उन्हीं के बस में रहना पड़ा। उन्हीं में सीखा और उन्हीं के बीच में राग-प्रीति इत्यादि करके उन्हीं के बीच में उसका मन लग गया। अब उनसे बिछुड़ना भी नहीं चाहता। परन्तु जब थकावट हो गई, परेशानी हो गई और उनके लायक नहीं रहा तो देव ने ऐसा धक्का मारा कि सो गया। अब सोकर फिर ताजा हुआ तो फिर उन्हीं में बंध गया और दिनों-दिन ये जो बन्धन है, संसार में बढ़ता ही गया।

4. अब धर्म का रास्ता चलने वाले ये बताते हैं कि इस प्रकार से जो संसार में रहना है, यह उस बच्चे के लिए तो ठीक

है जो अभी संसार में आया है, क्योंकि उसकी अभी बुद्धि नहीं जागी, और उसने अपने तत्त्वों को जाना नहीं। उसके अन्दर में जो देव बैठा है वह कीड़े में भी है, पतंगे में भी है, वह सबके अन्दर है। दुःख में रोता है, सुख में खुश भी होता है, क्रोध उठता है, कामना (इच्छा) होती है, खोटा चिन्तन होता है, मान-अहंकार भड़कता है, संशय-भय भी उठते हैं, ये सबके अन्दर आते हैं। जिस समय ये आते हैं, उसी ढंग से हर एक व्यक्ति को अपनी 'मैं' दे देते हैं और धकेल करके अपने ही ढंग से चलाते हैं, जो कि मनुष्य के कल्याण (अन्तिम भले) के लिए नहीं है। अब जैसे किसी मनुष्य के साथ खोटा व्यवहार होने पर उसको क्रोध आता है, यह बच्चे के अन्दर भी ऐसे ही होता है। उसके साथ अच्छा व्यवहार न होने पर उसको भी क्रोध आता है जो बड़े के अन्दर आता है, परन्तु बच्चा तो रो लेगा और रों-रो कर चुप भी हो जायेगा और उसके मन में कोई ऐसा दाग नहीं रहता जिससे वैर, लड़ाई-झगड़ा या बाहर कोई वैरी हो। अब यदि मनुष्य उसी में बह गया और उसने ऐसी उस प्रकृति या स्वाभाविक जीवन के देवता की 'मैं' ले ली, तो ऐसी अवस्था (हालत) में वह संसार (दुनिया) के विकारों के चक्कर में पड़कर अपना बुरा ही करेगा और करते-करते ऐसे संस्कार इकट्ठे करेगा; जिससे वह जन्म-जन्मांतरों के लिए अपने अंदर झगड़े खड़े कर लेगा। तो ऐसी अवस्था में शास्त्र वाले कहते हैं कि भाई! तुम बुद्धि-योग से जुड़ करके अपने-आप को सम्भालो और सोचो, जो मिथ्या भाव और काम-क्रोध आदि विकार बनते हैं; वे इस प्रकृति या स्वाभाविक जीवन के देवता के हैं। इसलिये थोड़ा सोच करके, उत्तम नियमों के अनुसार अपने मन को वश में रख कर और समझ कर बुद्धि-पूर्वक काम करना सीखो। यदि तुमने इतना सीख लिया तो समझो धर्म के रास्ते पर चलने लग गए। यह कर्मकाण्ड

है। पहले बुद्धि से विचार करके जीव-हत्या से दूर हो, फिर चोरी से, झूठ से, दुराचार से और फिर नशे आदि से दूर हो करके अब थोड़ा अपनी आत्मा में आओ और अकेले में काया को स्थिर करके बैठो। थोड़ी-सी मन की, थोड़ी शरीर की भी पवित्रता रखो, आलस्य-सुस्ती न करो। यह नहीं कि उठा नहीं जाता, लेटने की इच्छा है तो लेटे रहो, क्योंकि कहने वाला तो कोई है नहीं। परन्तु इस सुस्ती-आलस्य के बीच में अपना समय न बिता करके, थोड़ा अपने को चेतन कर लो। पहले तो बच्चे को तृष्णा चेतन करने वाली थी, जैसे-जैसे बच्चे के अन्दर तृष्णा आती गई, उसकी इच्छा बढ़ती गई। खाना भी बढ़ गया, उससे शरीर भी बढ़ गया, परन्तु यह तृष्णा ज्यादा दिन नहीं चलती। इसका राग तो जरूर छाता है। परन्तु यदि मनुष्य धर्म के रास्ते पर चलना चाहेगा तो वह अपने को काबू करके, अपनी तृष्णा को उड़ा करके, थोड़ा नींद को भी जीतेगा और नाना प्रकार की संसार की तृष्णा से भी मन को मोड़ेगा। तो इसी के लिए उन्होंने पाँच नियम रखे हैं कि थोड़ा अपनी पवित्रता, देह को आलसी न बनाना, नहाना-धोना, इन्द्रियों के साथ मन को खोटा नहीं करना और दूसरे के वैर-दोष आदि का चिन्तन नहीं करना। थोड़ा मन को भी धोना अर्थात् जैसे किसी के सुख को देखकर चिढ़ तो नहीं गया और किसी के दुःख को देखकर खुश तो नहीं हो रहा कि हाँ जी! वह तो मेरा वैरी है, वह मेरा हित नहीं चाहता तो ऐसे में क्यों मैं उसके सुख में सुखी रहूँ और दुःख के बीच में दया भाव रखूँ। यह जो मन की निकम्मी चीज़ें हैं, ये संसार में गिराने वाली हैं। इनके रास्ते मन यदि साफ़ नहीं हुआ, तो यह कभी ध्यान में जाकर उस तत्व तक नहीं पहुँचेगा जिस तत्त्व में यह सारे संसार का रौनक मेला है और जिसमें बिना किसी शर्त के मन बाहर टिक जाता है तथा लग जाता है, और ऐसा लग जाता है कि कभी बिछुड़ने

वाला भी नहीं है और जो मन का सबसे उत्तम सुख है, उस सुख से भरा है; यह सुख सदा बना रहने वाला भी है और इस सुख का कभी सत्यानाश भी नहीं है। इसको अपनी आत्मा-रूप में पहचानने वाले को मृत्यु का भय भी नहीं है। मृत्यु से मैं सदा के लिए उजड़ जाऊँगा, ऐसा भय भी नहीं है। इसलिए थोड़ी मन की भी, तन की भी, इन्द्रियों की भी और वाणी की भी पवित्रता रखे। वाणी से भी कड़वा नहीं बोलना, आँख से भी गलत नहीं देखना और कान से भी गलत नहीं सुनना। जितना-जितना अपने-आप में रहेगा उतना-उतना संसार से बिछुड़ता जायेगा। जितना बिछुड़ेगा, उतना आत्मा की तरफ़ चलता जायेगा। पुराने ऋषि लोग कहते थे कि थोड़ा अपने मन को नित्य-नैमित्तिक कर्मों से जगाते रहो। सवेरा हो गया। कोई कहने वाला नहीं। आँख खुल गई तो उठ जाओ। परन्तु उठने का मन नहीं तो लेटे रहे, इनसे जो कुछ भी होगा, देह में शिथिलता आयेगी। मन में भी शिथिलता आयेगी और मन सोचने लायक नहीं रहेगा। तो ऐसी हालत में ज्यादा सुख व आराम में नहीं जाना; चाहे खाने का हो, चाहे पीने का हो, चाहे सोने का हो या गप्पें हाँकने का ही हो। जब हमने इसकी आदतों के सुख को समय के अनुसार नुकसान देने वाला समझा और उधर से मन को रोका, तो मन दुःखी होता है। इस दुःख को सहन कर लो, दुःख सहन करने का नाम ही तप है। तप नाम तपने का है। अन्दर मन तप रहा है। इस तप को यदि आपने सहन कर लिया तो ऐसी अवस्था में आप का मन टिक जाएगा। अब थोड़ा अन्दर का अध्ययन व अन्दर की पढ़ाई रखी। हाँ भई! कल क्या खाया था, सवेरे कैसा उठा था, मन कैसा है? ये अन्दर की चीज़ों की पढ़ाई करना, पढ़ाई करके पहचानना, यहाँ आकर विद्या शुरू हो जाती है। अब यदि यह विद्या आपके अन्दर चल पड़ी और अन्दर के लक्षण

पहचानने में आने लग गए तथा अन्दर की जो चलने वाली तरंगें हैं, वे समझ में आने लग गईं और उनके नाम भी आप जान गए, जैसा कि शास्त्रों में लिखा है। हाँ जी! आज भड़कावे में आ करके मुँह से कड़वा वचन निकल गया। अब निकल गया, चाहे कैसे भी निकल गया। पीछे मुझे मालूम हुआ कि वह वचन दूसरे को बुरा लगा और उसने मेरे को दस सुनाईं। अब वो दस किस कारण से सुनाईं? वो इसलिए कि मेरे से रोक कर चला नहीं गया। अब थोड़ा-सा अपने अन्दर की पढ़ाई करके, अच्छा भई! पहले जो हुआ सो हुआ अब आगे के लिए सीख ले, जिस तरह से तुमने बोला था क्या वह ठीक था? अजी बिना सोचे-समझे, थोड़ा होश ठिकाने नहीं रहा और भड़कावे में निकल गया। तो अब जिस वक्त मन में भड़काव आये, पहले भड़कावे को देख लो। जिस वक्त भड़काव पर आपकी नज़र पड़ गई तो यह पहले ढंग से आत्मा का दर्शन हुआ, परन्तु यह आत्मा का दर्शन अभी मैला है और ऊपर का है। देखो! थोड़ी-सी बात से ही वह अन्दर का स्वाभाविक जीवन का देवता भड़क जाता है। जैसे यह देवता बच्चे के अन्दर भड़कता है वैसे ही बूढ़ों के अन्दर भी भड़कता है। बच्चों को तो रुलाता है और न जाने क्या-क्या करवा देता है। ऐसे ही जवानों से भी क्या-क्या कर्म करवा देता है, बूढ़ों तक को भी नहीं छोड़ता। उनकी वाणी बदल देता है, उनके भावों को बदल देता है और फिर ऐसे कर्म करवा देता है, कि किये हुए कर्म जन्म तक ही नहीं भूलते बल्कि मरते समय तक भी साथ रहते हैं। अब उन कर्मों से मन में शंका, भय पैदा होते हैं।

5. अब सोने से पहले अकेले होकर या सवेरे उठकर यदि उनका चिन्तन करोगे तो बहुत-सी बातें समझ में आयेंगी और सीखने को मिलेंगी। अब उनको सीख-सीख कर यदि आगे के लिए आप अच्छा करना चाहोगे तो ये पढ़ाई (स्वाध्याय) आपको

अन्तरात्मा को पहचानने के रास्ते पर चलायेगी। संसार से न्यारे हैं और अन्तरात्मा की, अन्दर की चीज़ें समझ में आ रही हैं। अर्थात् अपने–आपे की विद्या प्राप्त हो रही है कि कौन–कौन से ऐसे तत्त्व हैं जो मनुष्य को अपने ही ढंग से विपरीत मिथ्या कर्मों में चला जाते हैं। एक मनुष्य को क्रोध आया तो वह बाहर लड़ाई कर बैठा और दूसरे को क्रोध आया तो उसने क्रोध को पहचान लिया और उस क्रोध के साथ लड़कर कुछ संयम का बर्ताव कर गया। चाहे वचन, पूरी तरह ठीक नहीं निकला। आगे के लिए उसने फिर सीख लिया। करते–करते पांच–सात बार में उसने यह देखा कि इस अन्दर आये क्रोध को मैं अन्दर ही हज़म कर सकता हूँ। अब यह उसके अन्दर एक खाली विद्या ही नहीं, एक सामर्थ्य, एक शक्ति भी उसको मिली। अब जितने भी अन्दर के कारक हैं, उन सबके नाम भी जानना और उनकी शक्ति को भी पहचानना और पहचान करके एक–एक को अपने मन के अन्दर शान्त (दबा) करके, विचार से उनसे न्यारे होते जाना, तो यह अन्दर का जीवन है। एक बाहर का जीवन है जो बच्चे ने दूसरों के संग से सीखा है। इस अन्दर के जीवन के दो फायदे हैं, एक तो बाहर का झगड़ा कम होगा और दूसरे अन्दर की पढ़ाई होने से अकेले में मन लगने लगेगा। अब यह अकेले में मन लगते–लगते इतना लग जायेगा कि एक दिन आप देखेंगे कि छोटे से छोटा कण या तिल जितना भी कोई विकार था, जो कि दुनिया के सम्बन्ध से उगा था, मेरी पहचान में आ गया और मैंने उसको नाम दे दिया और उससे लड़ना सीख लिया। जब मौका आता है तो मैं उसे बड़े आराम से टाल देता हूँ। अब आपके मन को ऐसा सुख होगा कि आप जहाँ भी बैठे हैं, बिना किसी दूसरे के सहारे की सोचे बिना भी आपको आनन्द मिलेगा। जब आपने अपने को इस तरह सुधारना शुरू कर दिया तो आपका आसन सीधा हो जायेगा और

जो प्राण शक्ति पहले गिरी हुई थी, वह अब सीधी होकर चलने लग जायेगी। अन्दर की पढ़ाई करते-करते आपको मालूम होगा कि मनुष्य के अन्दर की चीज़ें ही सारे संसार को चला रही हैं, जैसे किसी के अन्दर काम की, किसी के अन्दर क्रोध की, किसी के अन्दर राग की, कहीं संशय की तो कहीं भय की। तो मनुष्य कौन है? जो जिस-जिस तरह से चल रहा है, उसी तरह से दुनिया उसको पहचानती है। अतः अपने अंदर ही इनको पहचान करके और इनका समाधान करके यदि आपने रोक लिया तो इनके रुकते ही जो शान्ति होगी, वह अपने-आप में आनन्द-रूप होगी। तो उस अवस्था (हालत) में कह देते हैं कि भाई! आत्मा आनन्द-रूप में प्रकट हुआ।

6. पुरातन ऋषि लोग कह गये हैं कि अन्तःकरण की शुद्धि से आत्मा का सुख प्राप्त होता है। अन्तःकरण का मतलब है, यह जो सब खेल कर रहा है। यह मन, अहंकार आदि यही सारे खेल कर रहा है। छोटी-छोटी बातों को ले करके उसी में उलझाये रखता है। जब उससे थक गया तो नींद-आलस्य की स्थिति में मुर्दा हो गया। अब यह दो तृष्णा वाले को खतरा है कि मर जायेंगे, टूट जायेंगे, खत्म हो जायेंगे, फिर क्या बनेगा? क्या नहीं? अब धर्म का सत्संग करने वाले कहते हैं कि इन सारे विकारों को, दोषों को अपने अन्दर पहचान करके और इनके भावों में न बहकर धीरे-धीरे रहना सीख लो। एक दिन में न सही, दो दिन में न सही, साल में या दो साल में सही, आयु के किसी भी हिस्से में सही, यदि आपकी अन्तरात्मा की पहचान खुल गई तो आप किसी भी प्रकार के जीवन में गलत जगह नहीं जा सकते। कैसा भी जन्म हो, किसी भी जगह चले जायें; बुद्धि रखी, बुद्धि बिना ये पहचाने नहीं जाते। बुद्धि का जोड़ मेला है तो भगवान् श्री कृष्ण विराज गये। गीता में भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! बुद्धि का

जोड़ मेला रखो और उसका आचरण करके सदा मेरे में चिन्तन वाले रहो। बुद्धि का जोड़ क्या है? एक तो तत्काल, जोश, उत्तेजना ये आते हैं। हाँ जी! अगले ने कुछ इस तरह का बोल बोला कि वो बचपन, लड़कपन वाला, कीट-पतंग वाला मन अन्दर से भड़क गया और उसने ऐसा मन के अन्दर कड़वापन भर दिया कि जो आगे बोल-वाणी निकलेगी, वह कड़वी ही निकलेगी। अब यहाँ अभी बुद्धियोग नहीं है, यह बचपन है। शास्त्र वाले कहते हैं- कि यह जो बच्चा है वह अपने बन्धनों को नहीं हटा सकता। और अब दूसरा कौन है? कि उसने झट भड़कावे को पहचान लिया और निश्चय किया कि सत्य क्या है? कैसे चलना है? अब ये है भगवान् का चिन्तन। अब यदि यह सारी आयु भर ऐसे पहचानना और चलना सीख ले तो कोई चीज़ छोड़नी नहीं। जहाँ बैठे हो वहीं बैठे रहो, जैसे रहना है वहीं रहना है, परन्तु इतना ज़रूर है, रहने का रास्ता थोड़ा बदलना है। यदि आप कहें, जी! संसार में रहते ऐसा रहना तो होगा नहीं, तो ऐसी बात नहीं है। आप सभी प्राणियों को देखो, सत्संग के मित्रों को देखो। सारे एक जैसे नहीं। कोई ज्यादा क्रोधी है, कोई कम क्रोधी है, कोई ज्यादा लोभी है, कोई कम लोभी है, कोई और नाना प्रकार की ज्यादा तृष्णा वाला है। किसी के अन्दर कम तृष्णा है, किसी के अन्दर बड़ी सहनशक्ति है, कोई झटपट उछल जाता है। कोई ऐसे ही अपने कार्यक्रमों से भय, शंका में पड़ा रहता है, कोई बड़े आराम से चलता है। संसार में सब प्रकार के मनुष्य हैं, परन्तु जिस तरह से जिसने अपना मन साधा है, उसी तरह का उसका प्रदर्शन है। इसे चाहे साकार भगवान् कह लो, है तो वह एक चेतन रूप ही। अब निराकार कौन होगा? कि जहाँ शुद्ध ज्ञान-रूपी समाधि मिल जायेगी। भगवान् गीता में कहते हैं कि "हे अर्जुन! तू मेरे साकार का, व्यक्त भाव वाले का, मेरा सहारा लेकर चलो,

तुम क्यों बड़ी-बड़ी लम्बी समाधियों के चक्कर में पड़ते हो। सबके अन्दर खुली आँख से मेरे को पहचानने की कोशिश करो।" जैसा शास्त्र वालों ने बताया थोड़ा अपने मन को रोक-रोक करके, तप करके, संतोष करके किसी तरह से अन्दर की चीज़ें समझ करके और संसार को भूलकर अकेला हो जाये। अकेले मन में यदि नींद आने लगे तो उस नींद को भी हटाया, फिर इसी का चिन्तन करते-करते यदि डुबकी लग गई तो वह संस्कार वाला मन जैसे नींद में सपने जगाता है, ऐसे ही आपको जागते-जागते ध्यान में एक ऐसा सपने जैसा चित्र दिखा देगा। यह बिल्कुल साकार भगवान् का दर्शन होता है। ऐसे में यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान् श्री कृष्ण जी की मूर्ति आती है या श्री राम जी की मूर्ति आती है, परन्तु अपने समय पर मूर्ति आती जरूर है।

7. यह जो तुम्हारा आत्मा है, जब तक छुपा है तब तक तुम एक रूप में हो और बाकियों को अलग-अलग दीख रहे हो। जिस दिन तुमने इस पर निगाह कर ली तो यह किसमें नहीं है, कीड़े में, पतंगे में, सबकी देहों के काम चला रहा है। अब यह नज़ारे वाला किसमें नहीं है? संसार का नज़ारा तो डर वाला है। कहीं बुढ़ापा, कहीं वैर-विरोध, कहीं लड़ाई-झगड़े, कहीं और किसी की इच्छा पूरी नहीं हुई तब उसका दुःख है और कई प्रकार से शंका, भय, कहीं चोर का, कहीं चकार का, यही है। है या नहीं ?और वहाँ क्या है? जिस जगह बैठे हैं कोई डर नहीं, कोई भय, शंका नहीं, अपना-आपा आनन्द में है। नींद का आनन्द नहीं और आनन्द भी वहाँ आ रहा है। इस अवस्था (हालत) में वह निराकार ज्योति भी वहाँ प्रकट है। अब फिर वहाँ यदि नज़ारे ही देखने हैं, रौनक मेला भी चाहिए, तो ये आनन्द अन्दर ही प्रकट हो गया क्योंकि ये तो अन्दर इतने भरी हुए पड़े हैं कि

बस! सुई लगाने की ज़रूरत है। जितनी चाहे फिल्में उसमें से निकाल लो अर्थात् मनुष्य के अन्दर जैसे इस जन्म के, बचपन के संस्कार हैं, प्रायः सबको दिखते हैं। ऐसे ही अनन्त जन्मों के संस्कार भी अन्तरात्मा में लिए हुए बैठा है। केवल संसार से मन को मोड़ना, पुनः निद्रा में अचेत नहीं होना; तब ऐसी अवस्था में उसमें से अनन्त चित्र प्रकट होने लग जाते हैं। ये सब चित्र संस्कारों के हैं, परन्तु मनुष्य के मन को अत्यन्त बहलाने वाले हैं, तो ऐसी हालत में कौन कहेगा कि मैं मर गया तो उजड़ जाऊँगा। यह कहीं उजड़ता है? यह तो अनन्त है। ऐसे व्यक्ति को मौत का भय जाता रहता है। शास्त्र वाले कहते हैं कि जो अपनी शुद्ध रूप आत्मा को जानता है वह मृत्यु और शोक से तर जाता है। 'तरति मृत्युं, तरति शोकं आत्मनि।'

8. जहाँ आत्मा शुद्ध हो गई और उसको शुद्ध होकर जागना आ गया, और जाग कर अपनी तंगी सहन करते-करते टिका रहता है तो उसके अन्दर ये नज़ारे खुलने लग जाते हैं। शास्त्रों के प्रमाण कहते हैं कि अनन्त जन्मों की पीढ़ियाँ भी इसमें आ जाती हैं। जितना इसको जानोगे उतनी ज्यादा भक्ति उत्पन्न होगी। उसी को लेकर कहते हैं- 'आत्मा सो परमात्मा।'

9. गीता में भगवान् कहते हैं कि तुम बुद्धि का योग रखो। सोच करके, समझ करके थोड़ा विश्लेषण, छानबीन करो कि क्या चीज़ क्या है? "थोड़ा क्रोध आया है, कहाँ ले जायेगा? किस जगह ले जायेगा?" उस व्यक्ति को कहाँ ले गया था। उनके यहाँ झगड़े हो रहे हैं। संसार की लीला इस तरह देखना सीखो। बस देख-देख कर चिन्तन करते-करते अपने-आप को सम्भाल लिया। एक बार सम्भाला, दो बार सम्भाला तो ये सड़क बन जायेगी। पहले पगडंडी बनी, फिर समझ कर चलने की सड़क बनी, फिर सम्भली हुई धर्म की गाड़ी इस पर आराम से चलेगी। इस तरह

से सम्भलते-सम्भलते जो आत्मा तक पहुँच गया, उसके लिए है—'आत्मा सो परमात्मा।' यही वेदों ने भी कहा है 'तत्त्वमसि', वह तुम्हीं हो। परन्तु इस तरह खाली कोरा सुनने से विश्वास करो कि मैं ही ब्रह्म हूँ, वह ही परमात्मा ब्रह्म है, यदि सुना-सुनाया भाव बनाओगे तो यह कमज़ोर भाव है। शास्त्र वाला कहता है कि पहले अन्तःकरण की शुद्धि करो, तब मन के अन्दर बन्धन पहचानने में आयेंगे। उन बन्धनों को टालो, बन्धनों से टला हुआ मन हल्का होगा, फिर उसके अन्दर उस प्रभु की ज्योति जागेगी। उस ज्योति के अन्दर सारा संसार भी देखोगे, फिर तुमको कभी भी यह संशय नहीं होगा कि मैं उस ज्योति से अलग हूँ और वह मेरे से न्यारी है। जैसे पेड़ और पत्ता, यदि पत्तेपन को ही देखो तो पेड़ से न्यारा दीखता है। यदि पेड़ की आत्मा को देखो तो पत्ता पेड़ से न्यारा नहीं है। इसी तरह यह जितना सारा संसार है, सारा लम्बा-चौड़ा यह जीवन सागर है। यह सारा सागर उस प्रभु का है। यह क्षण-भर में प्रकट होता है और क्षण में छुप जाता है अर्थात् क्षण-क्षण प्रकट होता है और क्षण-क्षण भर छुपता है।

10. अपने अन्दर इस तरह करते-करते ये जो संसार (दुनिया) की उलझाने वाली चीज़ें हैं, जिनमें बच्चा उलझता है; थोड़ा उससे न्यारा होना।अच्छे कर्म करके,वाणी को सम्भाल करके, थोड़ा संतोष करके, लोभ को जीतकर, थोड़ी तंगी सहन करके, थोड़ी अन्दर की पढ़ाई की। इस अन्दर की पढ़ाई से अन्दर की विद्या मिलती है। यह अन्दर की विद्या मिलने से अज्ञान नष्ट हो जायेगा, अज्ञान नष्ट होने से अन्दर का ज्ञान होगा, ज्ञान होने पर सब दुःखों से और उनके कारणों से भी मुक्ति हो जायेगी। इसके लिए अपने-आप को प्रेरित करो। जितनी फालतू की चीज़ें हैं,ज़रूरतें हैं,उन ज़रूरतों का अकेले में बैठकर विश्लेषण (छानबीन) किया कि इन फालतू ज़रूरतों को पूरा करने से क्या

होता है? मिथ्या व्याधियाँ (बीमारियाँ) ही बढ़ती हैं। अब आपको मालूम होगा कि हम पुरानी चीज़ें जितनी ज्यादा सम्भाल कर रखना चाहते हैं, उनसे सिवाय दुःख, संकट के और कुछ लाभ नहीं होगा। बल्कि पहली अवस्था की ज़रूरतों को कम करके पूरा करने से ज्यादा अच्छा रहेगा। बस! इस तरह से अपनी आत्मा में ज्ञान उत्पन्न करके, जितना आप अपने को सम्भाल कर चलेंगे, तो उतने ही आप दूसरों से न्यारे हो गये। जितना आप दूसरों से न्यारे हुए, स्वाभाविक जन्म के जीव-भाव या प्राकृतिक जीव-भाव से न्यारे हुए, उतना आप अपनी आत्मा में आ गए।

11. अब मनुष्य जितना बाहर की उलझन से मुक्त होगा, उतना ही अकेले में आयेगा, नींद में भी वह अकेला होता है और भाँग-धतूरा खाकर भी अकेला होता है, परन्तु वह अकेले होना नहीं,वह तो मुर्दा जैसे होना है। जागते-जागते अपने मन का विश्लेषण करते-करते यहाँ तक अपने मन को काबू में करना है कि संसार भूल जाये। जब यह अभ्यास बढ़ता जायेगा तो एक दिन आपको ऐसा मालूम होगा कि अब मैं संसार से काफी अलग हूँ और अब मुझे उनके बारे में सोचने की भी ज़रूरत नहीं है। अब जो अन्दर संसार की तरफ़ भागने वाले तत्त्व या प्रेरणायें हैं, उनको, अपने मन को स्थिर करके पहचानने का यत्न करे और यहाँ तक उस समझ को जगाना कि जब मन में विकार आयें तो पता लगे कि सांस किस प्रकार चल रहा है और चेहरे की आकृति कैसी है? जो मन संसार में था, उसने अपने ढंग का सांस लिया है; कहीं भय में, कहीं शंका में, चाहे किसी तृष्णा में उसके सांस न्यारे थे। शंका के बीच में दबा-दबा सांस चलेगा तो वह सांस दुःख का होगा और एक है जिसने अपने मन में विकार आने पर अपने शरीर की शक्ल भी पहचान ली कि ऐसा सांस हो तो गर्दन में बल पड़ता है, ऐसे ढीले रहा जाता है, ऐसे लेटने की इच्छा

होती है। मन में ऐसा कोई बन्धन हो तो कमर में बल पड़ता है। सबको पहचानते हुए ज्यों-ज्यों उनसे छूटते गये, फिर शरीर सीधा होने लग गया और शरीर की वायु भी निकलने लग गई। पुराने ऋषि लोग कहते हैं कि यदि मन बन्धन वाला होगा तो बन्धन का ही सांस चलेगा। यदि बन्धन का सांस है तो यह नाना प्रकार के संकट, रोग ही उत्पन्न करेगा और यदि आपका मन मुक्त है तो मुक्त मन के साथ आपका सांस भी मुक्त चलेगा। आपका सांस मुक्त है तो आप मुक्त होकर चलेंगे। मन मुक्त करके और किसी प्रकार का संसार का चिन्तन न करके, इन्हीं तत्त्वों का चिन्तन करने लग गये जैसे कि योगी लोग करते थे; जैसे पहले पृथ्वी का ध्यान, पृथ्वी कैसी थी? कल सवेरे मैं घूम रहा था, उसकी मिट्टी ऐसे चमक रही थी,आप उसका मनोमन ध्यान करने लग गए तो ये बच्चे के समान आप पृथ्वी के साथ खेलने लग गए। दूसरे वहाँ पानी भी बह रहा था, जल का ध्यान करने लग गए, जल कैसा था? जल उजला था, उसमें तरंगें उठ रही थीं, इस तरह सारे संसार से कटे बैठे हैं और ध्यान वसुओं का हो रहा है। ये आठ वसु हैं- पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूरज, चांद और आत्मा। ये वेदों में आठ वसुओं को कहा गया है। अब इन वसुओं का ध्यान करते-करते उस खाली मन की अवस्था में यदि आनन्द जाग ज़ाये तो बात ही क्या है। परन्तु जब तक वह आनन्द नहीं जागा तब तक यह अविद्या का राज है। ऐसी अवस्था में इस अविद्या को टालने के लिए महात्मा या योगी लोग अपनी आत्मा या परमात्मा के आनन्द तक पहुँचने के लिए अपने मन को पृथ्वी, जलादि तत्त्वों के ध्यान में लगा देते हैं।

12. इसके लिए पहले सारी अच्छाइयां अपनाईं, शील, संतोष रखा, आत्मा को सम्भाला, थोड़ा संसार की उलझन से न्यारा किया। अब खाली होने पर इन वसुओं का ध्यान करने लग गये। हाँ जी!

पीली-पीली धरती चमक रही है, आप आधी रात को ध्यान कर रहे हैं और मनोमन आपको धरती का पीलापन दिखाई देगा। याद करके फिर उसका ध्यानं कर रहे हैं और जाग रहे हैं। फिर जल का ध्यान किया, वहाँ गए थे, जल बह रहा था, वहाँ पर गोता लगाया था। 'जल कैसा था?' नीला-नीला बड़ा निर्मल जल था, यह जल भी थोड़ा ठंडा था। यह जल का ध्यान हो गया। फिर सूर्य नारायण उदय होने पर सूर्य नारायण की किरणों से गर्मी होने लग गई, यह तेज का ध्यान हो गया। इसी में चलती हवा का स्पर्श महसूस हो रहा है, यह हवा का ध्यान हो गया। अब देखो सूर्य कैसे आकाश में चमक रहा है? कोई बिजली इसको पैदा नहीं करती। यह गर्मी कहाँ से आ गई? यह मेरे देव की है। जिस-जिस का ध्यान करना है, मेरे देव! तू ही बना बैठा है, सूर्य भी तू है, पृथ्वी भी तू है, सूर्य रूप में गर्मी बना बैठा है और धरती रूप में कठोर भी तू ही है। बस! इस तरह स्तुतियां करते-करते अपने मन को लगाये रखे। इसी के बीच में वासुदेव प्रकट हो गए। मूर्ति भी आ गई, हँसने लग गई। हँस कर आपका मन बहला दिया और उसके बाद आपको यह दृश्य भी नज़र आयेगा कि कहीं पानी बहता हुआ नज़र आ रहा है, कहीं सूर्य चमकता हुआ, तो आपका कौन-सा रौनक मेला बिछुड़ा? कौन मर कर बिछुड़ जायेगा? यह सारा तो अन्दर ही है। बस! फिर भक्ति होगी 'मेरे देव! तू ही तू', फिर किसी से आपको ज्यादा कुछ मतलब नहीं। फिर तो यही निष्काम कर्मयोग होगा। संसार में जीने के लिए, दूसरों की प्रसन्नता के लिए जैसा चाहो चल लो, हैं तो आप अपने देव निरंजन के साथ ही।

13. अब मैंने क्या कहना शुरू किया था कि जो कोई भी संसार का जीवन है, वह अन्त में जिस जगह जाकर समाप्त होना है, वहाँ मृत्यु है और मृत्यु के साथ-साथ है मनुष्य का डर। यदि वह बिछुड़ जायेगा तो मेरा क्या होगा? हम उजड़ जायेंगे। परन्तु

यदि आपकी धीरे-धीरे इन साधनों द्वारा अन्दर नज़र खुल गई, चाहे उनमें कर्मकाण्ड भी हो, थोड़ा बाहर से कर्मों द्वारा हटना, थोड़ा मन को जगाना, थोड़ा बुद्धि को भी चेतन करना और इन्द्रियों को भी संभालना, संभालते-संभालते जो आपको ये खींच कर ले जाने वाले थे, यदि इन सारे राग-द्वेष आदि बन्धनों पर आपकी नज़र खुल गई और इनको पहचान करके इनके साथ लड़ना शुरू कर दिया कि "तू वहाँ जाकर क्या करेगा? वहाँ जा करके कितना सुख मिलेगा, कहाँ तक मिलेगा? अन्त में थकावट और दुर्गति ही होगी, सांस उल्टे चलेंगे, देह बिगड़ेगा, इस तरह छानबीन करते हुए को यह सत्य प्रकट हो जायेगा कि बाहर का मिथ्या जीवन अन्त में दुःखदायी ही है।" इसलिए दुर्गति के रास्ते नहीं चलना। सीधा होकर बैठना और तंगी या कष्ट को देख लेना, इसी का नाम तप है। बस! एक-एक करके उन विकारों को टालना शुरू कर दिया तो अन्दर की आँख खुल गई। यही है त्रिनेत्र भगवान् शंकर।



प्रवचन-21

दिनांक: 17.2.1994

1. एक परम-हित की वस्तु ब्रह्म है, परमात्मा है। वह जो ब्रह्म या परमात्मा है, वह क्या चीज़ है? वह मनुष्य को जल्दी समझ में नहीं आता है, क्योंकि जो जीव इस संसार में उत्पन्न हुआ है वह बचपन से ही दूसरों के संग से जीना जानता है, अकेले में तो किसी को जीना आता ही नहीं। परन्तु जो ब्रह्म है, परमात्मा है, भगवान् है वह ज्यादा एकान्त में, अकेले में ही वास करने से समझ में आता है। उस ब्रह्म में, परमात्मा में यह सारा संसार एक है और उस सारे संसार रूप की विभूति होने से ही वह ब्रह्म है। परन्तु जब तक उसका ज्ञान नहीं है तब तक उसके अन्दर वह आनन्द और प्रियता नज़र नहीं आती, जिसमें बिना किसी निमित्त (शर्त)के भी उसका मन लग जाये।अब इसका कारण क्या है? कि बचपन से ही जब से बच्चा जन्मा है, उसने नज़दीक वालों की संगत में ही जीना सीखा है और वह जो नज़दीक वालों की संगत है, वह नाना प्रकार के कुछ भावों के सहारे की है। एक-दूसरे को जब तक अच्छा लगता है, एक-दूसरे से जब तक सुख होता है तब तक तो ठीक है, यह संग भी अच्छा लगता है, परन्तु यह जीवन तो बदलता जाता है, आयु बदलती जाती है, समय बदलता जाता है। इसके अनुसार मनुष्यों के अन्दर वे पहले जैसे भाव भी नहीं रहते, जिन भावों से सुख मिलता था। वे भाव न रहने से वह जो संगत में प्रीति है, वह भी नहीं रहती। इसलिए इन प्राणी और पदार्थों की प्रीति भी जो किसी समय देख ली, वह दूसरे समय में नहीं रहती। पहले-पहले तो ये जो संसार का जीवन है वह मनुष्य को या बच्चे को सुख रूप से लगा है कि हाँ भई! यह संसार तो आनन्द से भरा हुआ है, इसमें हमारे बहुत प्रकार के सुख लेने के हैं। इसका सुख

लेते-लेते मनुष्य को इन सुखों की पराधीनता हो जाती है कि इनके बिना तो हम रह ही नहीं सकते, ये तो होने ही चाहियें। जबकि उस तरह से रहने के अनुसार वैसे सुख तो मिलेंगे नहीं और उनके स्थान पर दुःख ही मिलेगा। मनुष्य को सुख तो कुछ नहीं अपितु दुःख ही होगा, संघर्ष भी होगा और सब प्रकार का संकट भी होगा। परन्तु तब भी क्या करना है? कुछ ऐसी पराधीनता हो जाती है कि उसके बिना दूसरी प्रकार से जीने का कोई रास्ता ही नहीं मिलता और अन्त में यह जो संसार का जीवन है वह मृत्यु ने समाप्त कर देना है और दूसरा जीवन जो भगवान् के साथ है, ज्ञान के साथ है वह अनन्त है। वह कभी समाप्त भी नहीं होना। शास्त्र ने कहा है कि उसके ज्ञान के बिना कुछ नहीं। पहले मनुष्य को यह समझना चाहिए कि यह जितना भी संसार का सुख है, उसमें सदा तीन अवगुण भरे हुए हैं। यह अनित्य है। अनित्य का मतलब है सदा न बना रहने वाला और अनित्य होने से सदा बिछुड़ेगा ही, तो यह दुःख-रूप भी है। संसार के सुख की ये तीन चीज़ें हैं, यह अनित्य है, दुःख है और अनात्मा है। जैसे देखो! अनात्मा का मतलब आत्मा से भिन्न है। किसी को संगत बड़ी प्रिय है, उसमें एक-दूसरे की बातों का बड़ा रस आ रहा है और उस रस में अपनी जो 'मैं' समझ में आ रही है वह इतनी लुभावनी है कि यह सदा बनी रहे। क्योंकि मान मिलता है, आदर मिलता है और मान-आदर के साथ दूसरी नाना प्रकार की बातें हैं, कि एक-दूसरे के भाव बड़े प्रिय हैं, उन प्रिय भावों के साथ ऐसा मन लगा हुआ है कि यदि प्रिय भावों के बीच में कोई उल्टी-सीधी या खोटी आवाज़ें आती हैं तो उनके प्रति द्वेष होता है कि लो जी! हमारा सुख बिगाड़ रहे हैं। अब जैसे आप यह सत्संग सुन रहे हैं और आपको धर्म की बातें सुनने की रुचि भी

है, परन्तु यदि कुत्ते भौंक रहे हैं, तो आपको यह महसूस होगा कि

ये कुत्ते भौंक कर हमारे सत्संग सुनने के सुख को बिगाड़ रहे हैं। इसी प्रकार से जिसका मन सांसारिक सुखों में रंग रहा है, सांसारिक सुखों का तात्पर्य (मतलब) चाहे वे खाने-पीने के, संगत के सुख हैं या अपने परिवार के, मित्र-प्यारों के या उन्हीं के ढंग के जहाँ से मधुर भाव मिलते हैं, और उन भावों के बीच में मन कितना हँसी-मज़ाक में समय बिता रहा है, यदि उसमें थोड़ा-सा भी विघ्न आ जाये तो आपको उस विघ्न डालने वाले के प्रति द्वेष होगा, क्योंकि मन उन सुखों में रंगा हुआ है। परन्तु यह सुख रहना तो है नहीं, अनित्य है। बस! समय के अनुसार ही है और जब तक वह संगत है, तभी तक है। आपके अन्दर जो एक बाहर के सुखों की 'मैं' रूप आत्मा बैठी है वह तो पाँच-चार मनुष्यों की ही है। एक छोटे से समुदाय की ही है, जिनसे आपको सुख मिलता है। परन्तु शास्त्र में बताया गया कि यह सुख-रूप आत्मा या परमात्मा परम व्यापक है और रहना हम सब ने इसी में है। यदि इसके प्रति आपकी प्रीति रहे और आराम से अन्दर रहने का कोई रास्ता मिल जाये और इसमें किसी का डर या शंका न हो और मन भी लगा रहे, तो समझ लो कि आपने इस ब्रह्म को आराम से पहचान लिया चाहे इसके लोक कितने ही हैं। पहले-पहले जो आप पहचानेंगे वह ब्रह्मलोक, विष्णुलोक होंगे परन्तु इन सबसे ऊपर उठ करके जो परमानन्द-स्वरूप पहचानेंगे वह न लोक है न परलोक है, वह केवल (सिर्फ) आपको अपनी आत्मा में ही मिलेगा।

2. अब ये जितने भी दर्जे हैं उनको वही धार्मिक आदमी पा सकता है जो उद्योगी हो और कायदे के साथ यत्न करता हो। यत्न करने का मतलब यह नहीं कि संसार से बिल्कुल मुँह मोड़ करके जंगल में बैठ जाये या किसी कुटिया में बन्द हो जाये। रहना तो सबके बीच में है, क्योंकि सबके बीच में भरा हुआ सारा संसार ही ब्रह्म-रूप है। इसके बीच में रहते हुये यदि उसको

वह आनन्द मिल जाये जो कि सदा एकान्त में रहने वाला अपना है, तो समझ लो कि उसको ब्रह्म मिल गया। जो मेरे अन्दर बसा हुआ है, वही सब के अन्दर भी बसा हुआ है। उसी का नाम परमात्मा है। आत्मा-परमात्मा के अन्दर कोई भेद नहीं है। जब मुझे अपने-आप से कोई संकोच, शंका, भय या डर नहीं है तो दूसरों से भी नहीं होना चाहिए। बस! वही शंका, भय, राग, द्वेष ये आत्मा के सुख को प्रकट नहीं होने देते। जिस प्रकार ये सुख प्रकट हों, वेद-शास्त्रों में ऋषियों ने रास्ता बताया हुआ है। उस रास्ते के अनुसार जीवन को साधना है। इसलिये बाहर ऐसी दृष्टि खोलनी है कि जैसे ब्रह्म जाग रहा है और जैसा भी वह है, हमको उसी के प्रति भक्ति है, न तो उसके शब्द में कोई द्वेष है, न वहाँ कोई डर, शंका या भय है, न ही कोई मान-अपमान है। मान लो जिसने कोई खोटा काम किया है, जब वह रात को कहीं अकेला होगा तो उसको वह किया हुआ खोटा कर्म डरायेगा। इसलिए कहा है कि सारे खोटे कर्म छोड़ना, अच्छे कर्म करना, फिर मन के भावों को शुद्ध करना, दूसरों के सुख में मन मैला नहीं होने देना, दूसरों के दुःख में दया भाव दिखाना, गुण तो देखना अवगुण नहीं देखना, अपना बर्ताव सही रहे, दूसरों के कैसे भी हों सहन कर ले। इन भावों के साथ-साथ यह भगवान् के पाने का रास्ता भी पूर्ण हो रहा है, क्योंकि इसके सहारे कोई भी प्राणी व्यापक में आपका वैरी-विरोधी नहीं होगा। आप तो अपना धर्म करो। भैरों उस मनुष्य को डराता है जिसने किसी को पीटा हो, जिसने किसी को गालियां दी हों, उसको शब्द की आवाज़ आ रही है, कहीं वह तो नहीं आ गया? देखो! यह मन है। यही मन जब मौत में जाता है, वहाँ भी यह भूत-प्रेत बनकर घूमता है। ओहो जी! मैंने उसको मारा था, पता नहीं कहीं वह छुप कर यहाँ रहता है। ये जितनी भी दुर्गतियां हैं, ये सब उसका है। यहाँ छोटे-मोटे स्वार्थ

के लिए खोटे कर्म कर दिये, अब इन खोटे कर्मों के हर वक्त मन में संस्कार जागते रहते हैं। इस संसार में भी जब वह अपने प्यारों से थोड़ा मुँह मोड़ता है तो उसके अन्दर वही संस्कार उसको दुःख देते हैं। तो यही सबसे पहला कर्तव्य है कि भगवान् करे कि खोटे कर्म ही न हों, यदि हो भी गए तो आगे के लिए होशियार रहे और उन मिथ्या कर्मों को पुनः न होने दे और आगे सारे अच्छे कर्म करे।

3. अब रह गया थोड़ा भक्ति-योग। अकेले में बैठकर थोड़ा भगवान् के साथ नाता जोड़े और उसका एक नाम पकड़ लिया। जप करने लगे, कहीं से आवाज़ें आ रही हैं, आपका मन कहेगा देखो जी! ये हल्ला-गुल्ला कर रहे हैं, कहीं गाजे-बाजे बज रहे हैं। कहीं कुछ हो रहा है, कहीं शादी वाले ढोल बजा रहे हैं, तो इनको सुनता हुआ या सुनने में लगा हुआ मन यही कहेगा कि ये किसी को भजन भी नहीं करने देते। यदि ऐसा भाव बना तो समझो कि आप ब्रह्म से दूर ही रहे। ब्रह्म के लिए आपकी भक्ति नहीं जागी। अब आपने क्या करना है कि बस भई! संसार चाहे जैसा भी है, जैसे भी भगवान् प्रकट हो रहा है, जैसे भी उसके शब्द हैं, जैसे भी उसके भाव हैं, उनके प्रति मेरा मन मैला न हो और न ही मैं उसके दोष देखूँ। मैं सब चीज़ों को छोड़कर उससे मैत्री करूँ, तो जितने भी आप दूसरों के सुख में मैत्री वाले हो गए आप ब्रह्मलोक में ही पहुँचेंगे। पहले यदि आपकी इन्द्रियाँ खुल गईं तो देखने-सुनने में जाग रहे हैं, कान में आवाज़ें आ रही हैं, आपको आनन्द आ रहा है, परन्तु तब जब आपके मन में बच्चे की तरह इन सब आनन्द मनाते या आनन्द का अनुभव करते जीवों के प्रति विपरीत भाव या दोष-दर्शन की बुद्धि नहीं है। जैसे बच्चे को किसी गाड़ी, मोटर या हवाई जहाज की आवाज़ सुनती है तो वह उसी में खुश होकर कूदता-फाँदता रहता है।

उसको किसी से भी द्वेष नहीं होता, वह जगत् उसको अच्छा लगता है। इसी प्रकार यदि आपको भी ध्यान में बैठे कान में आवाज़ें सुनती हैं, चाहे कैसी भी सुनती हैं, आपका मन खुश हो रहा है और कोई भी खोटा भाव उनके प्रति नहीं आता। तो बच्चे जैसा स्वर्ग-लोक आपको मिल गया और ऐसा मन में प्रतीत करना कि व्यापक ब्रह्म की ही तो ये सारी आवाज़ें हैं और उसी व्यापक-ब्रह्म के ही सारे भाव हैं। तो उनसे मैत्री भाव रखे। हाँ! इतना है कि मैंने अभी बारीकी में बहुत दूर तक जाना है, आनन्द-रूप आत्मा को पहचानना है। हो सके तो मैं अपना मन धीरे-धीरे इनसे मोड़ता जाऊँ और धीरे-धीरे उनकी मैत्री के साथ-साथ मन उन आवाज़ों को भी भूल करके और अपने मन में आ करके, आगे ध्यान करना शुरू कर दिया। कहीं किसी ने अपमान किया था तो उस अपमान की बात को याद करके मन को दुःखी कर रहा है, तो ऐसी हालतों में इस मन को जप करते-करते या चिन्तन करते-करते ठंडा करते गए। तो यह सब जितना है उस भगवान् से नाता जोड़ने का रास्ता है।

4. गीता में भगवान् ने बताया है कि जो यह सारा संसार है वह एक पेड़ के समान है। जैसे यह पीपल का ही पेड़ है। तो यह सारे पीपल के पेड़ के बीच में एक ही आत्मा है, जहाँ से उसको रस मिलता है, वह रस तने में भी आता है, डालियों, शाखाओं में भी जाता है, पत्तों में भी पहुँचता है, फल-फूल में भी जाता है। उसी पेड़ के बीच में कई पत्ते हैं, अब जितने भी पत्ते हैं वे सारे न्यारे-न्यारे हैं। उन पत्तों में भी पेड़ की ही आत्मा है, परन्तु पत्ता लगता है न्यारा-न्यारा, कोई पत्ता अपनी दिशा में हिलेगा, दूसरे अपनी दिशा में हिलेंगे। वे सब अपने ढंग से चलेंगे, परन्तु आत्मा सब में एक है। इसी तरह से जो ये सारे जीव हैं, उन सबके बीच में एक ही सर्वव्यापक परमात्मा है। अब जब

सब सर्वव्यापक परमात्मा ही है तो कहीं से भी खोटा व्यवहार आये तो आपको उससे द्वेष नहीं, क्रोध नहीं, उसका बुरा करने का नहीं और उनकी आपने उपेक्षा कर दी, अवहेलना कर दी। करते-करते आपको यह हो गया कि कई किस्म के व्यक्ति हैं, उनके कई किस्म के व्यवहार हैं। वे जो जिस जगह बस रहे हैं वे भगवान् की विभूति हैं। एक उसकी कला है, सब में वहीं भगवान् कृष्ण रूप से बैठा है, दूसरा कोई नहीं है। मैंने तो यही देखना है। अब ऐसे व्यक्ति के लिए किसी भी किस्म का मौत का भय भी नहीं है और जीवनकाल में भी भय नहीं है। यह अपने अन्दर ज्ञान-स्वरूप आत्मा कभी खत्म नहीं होता। यह नहीं सोचना चाहिए कि शरीर चला गया तो यह ज्ञान-स्वरूप आत्मा मर गया, और भी जीव-जन्तु, पशु-पक्षी सारे घूमते हैं, उनके बीच में भी तो यही सत्य है। जब सारा संसार तो अभी तक मरा नहीं, तो हमारे अन्दर का कैसे मरेगा? तो वह कभी नहीं मरता, परन्तु इतना है कि मैंने अपनी आत्मा को जो यह एक रूप है, इसको व्यापक रूप देना है और उसके रूप से अनुभव करना है, परन्तु यह होगा तब, जब जीव-भाव के आपके सारे स्वार्थ-भाव खत्म हो करके व्यापक के बन जायेंगे। हाँ जी! मेरा अपना कोई स्वार्थ नहीं है, इसी कारण से मैं किसी को दुःखी नहीं करता, नाना प्रकार से किसी से उलझता नहीं और एकान्त में बैठकर साक्षी रूप ध्यान से सदा जागता हूँ; जहाँ राग नहीं, द्वेष नहीं, मान नहीं, मोह नहीं और कोई विकार नहीं और किसी प्रकार का भय आदि भी नहीं। निर्विकार अवस्था में, शान्त रूप में बैठा है, कोई विचार भी नहीं, उस हालत में देखो! ये ज्ञान रूप तो दीख रहा है, जो यह है वही वह है और जो वह है वही यह है। सो ये शास्त्र वाले कहते हैं-'अहम् ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि', तू ही वह है। 'मैं' ही ब्रह्म हूँ। ब्रह्म का मतलब जो व्यापक है, सब जगह वही 'मैं' है। अब

व्यापक कैसे मरेगा? जैसे यह व्यापक संसार करोड़ों सालों से चलता आ रहा है, खत्म नहीं होता, तो जो यह व्यापक है वही वह है। जो यह है वही व्यापक है। अब जिस वक्त आपकी यह समझ बन जायेगी तो वह आत्मा मिल जायेगी।

5. पहले खोटे कर्मों से बचना, फिर थोड़ा भक्ति-भाव रख करके जैसा भी भगवान् है उसके लिए भक्ति ही रखना कि प्रभु! तू जैसा भी है, मेरे को तो तू वैसा ही अच्छा लगता है। बाहर से जो बोल आ रहे हैं वे भी मेरे लिए ठीक ही हैं, मीठे आ रहे हैं तो भी ठीक हैं और कहीं किसी का भाव और तरह का है तब भी कोई परवाह नहीं और भी जिस तरह के रंग तू दिखा रहा है, परन्तु ऐसी कोई बात नहीं है कि किसी के जीवन को खतरा है। जी तो रहे हैं, सारे मिलकर जी रहे हैं। मनुष्य-लोक में कोई डर नहीं, हाँ! पशु-लोक, पक्षी-लोक में तो डर है। जीव, जीव को खा जाता है, परन्तु मनुष्य के अन्दर तो कोई ऐसी बात नहीं कि किसी के जीवन को खतरा है। सब जी तो रहे हैं। परन्तु इतना ज़रूर है, कि सुख के कारण मन के अन्दर मान, अहंकार और क्रोध आदि आ-आ करके खोटा कर्म करवा करके आदमी को चक्कर में डाल देते हैं। इसलिए बाहर के सुख की अर्थात् विषयों के सुख की तृष्णा को भी जीता, सुख की तृष्णा भी उतनी रखी जितना कि भगवान् दे रहा है और जितना भगवान् नहीं देता उतना सुख भी नहीं चाहिए। चाहे किसी बच्चे ने या बूढ़े ने मेरे को कड़वा वचन ही सुना दिया या कहीं मेरा भाव नहीं रखा, मान-आदर नहीं दिया तो मुझे आराम से सहन करके उसके अन्दर वही आत्मा देखनी है जो मेरे अन्दर है। परन्तु उस वक्त वह आत्मा नहीं दीखती, उस वक्त भड़के मन में क्या दीखता है? यह तो दुष्ट आदमी है, यह तो राक्षस है। पहले तो वह मित्र ही था, परन्तु जिस समय से पर्दा पलट गया, उसका कुछ उल्टा स्वभाव

मन में आया, उसी वक्त वैरी बन गया, दुष्ट बन गया, राक्षस बन गया, क्या-क्या बन गया। अब ये जितनी भी खोटी दृष्टियाँ हैं, ये उसको भगवान् नहीं दीखने देतीं। अब इस वक्त इस मन को देखो और रोक लो, यह आपका यत्न है। चाहे जप से रोक लो, चाहे विचार से रोक लो, चाहे मन में भगवान् का भाव बनाकर रोक लो, किसी प्रकार से भी रोकने के बाद फिर जो है, आपने अपने मन को ठंडा कर लिया तो यह शिवरात्रि हो गई। शिव नाम कल्याण का है। कल्याण का मतलब जो अनन्त सुख रूप है। अनन्त का मतलब जिसका कोई अन्त नहीं है, खात्मा नहीं है। बिना खात्में के जो कल्याण-रूप अर्थात् सदा बने रहने वाला सुख रूप है, उसी का नाम शिव है। उसी शिव की रात्रि (रात्रि नाम है अन्धकार का और रात्रि नाम अज्ञान का भी है) से अभिप्राय है कि आत्मा के ऊपर जो अन्धकार है वह अज्ञान रूप है और बाहर जो अन्धकार है, वह है प्रकाश का विरोधी। तो प्रकाश का विरोधी अन्धकार रात को आता है। परन्तु ज्ञान का विरोधी यह अज्ञान ही आया कि भई! यह दुष्ट आदमी है,यह वैरी है।है तो वह पुरुष ही, जो यह है, वही वह है, परन्तु दीख रहा है दुष्ट पुरुष, राक्षस, यह तो चाण्डाल है; यह तो फलाना है। अब यह ब्रह्म नहीं है, यह जीव की सृष्टि है। अब यदि अज्ञान-रूप निद्रा में इन भावों के साथ जायेंगे तो वहाँ पर यही ब्रह्म आपके अन्दर जैसी आप ने मिथ्या-भक्ति की है वहाँ प्रकट होकर वही दुष्ट राक्षस की शक्लें दिखायेगा।

6. यदि आपने जीते-जी अपने से लड़ना शुरू कर दिया कि अरे कौन दुष्ट है? भई! कौन राक्षस है? यह जरा-सा दुःख हो गया तो क्या हो गया? तू जरा डरपोक है, तू जरा ढीला है, तू जरा कमज़ोर है। तेरे से दुःख नहीं सहा गया। तू उल्टे भाव बनाये बैठा है। वह तो वही है, जो तेरे अन्दर बैठा है। यदि ऐसा

करते-करते रात भर जागते रहे और एक दिन यह भाव बन गया कि जिसने तेरे को इस प्रकार से बोला है चाहे वह तेरा बेटा है, चाहे कोई बूढ़ा है, चाहे कोई मित्र है, चाहे कोई तीसरा चौथा भी है, है वह वही पूर्ण पुरुष, जो मेरे अन्दर है। पूर्ण का मतलब सारे प्रकार का सत्य जो मेरे अन्दर है, वही सत्य उसके अन्दर भी है। जैसे मेरे अन्दर बुद्धि है, वैसे ही वह भी बुद्धिमान् है। सारा संसार वही है जो मेरे अन्दर है, तो पूर्ण पुरुष को छोड़कर कोई दूसरा नहीं है। जिस दिन मन में यह सोच करके, आपने अपने मन को ठंडा कर लिया, शान्त कर लिया, उस दिन आपका ब्रह्म हाजिर हो गया। यदि आपको वह पुरुष पुरुष नहीं दिखा तो समझो! आपने ब्रह्म का एक अंग अलग कर दिया। जैसे एक अंग अलग हुआ, ऐसे न जाने कितने अंग अलग करने पड़ेंगे। फिर अन्त में यह होगा कि ये पांच-चार तो हमारे प्यारे हैं, इनके संग से तो हमें सुख होता है, पर ये दूसरे हमारे क्या लगते हैं? जब दूसरों के प्रति रूठे हो गये, तो आपके जितने भाव दुनिया में रूठे होंगे, उतने ही आप सिकुड़ते गये। सिकुड़ने का नाम ही जीव है। अब मनुष्य बन कर यदि आपने सिकुड़ना शुरू किया तो कहाँ तक सिकुड़ोगे कीड़ा बन कर, पतंगा बन कर, चींटी बन कर। इसलिये आपने ऐसे कर्म ही नहीं करने जिससे कि आपको सिकुड़ना पड़े। इसलिये सिकुड़ना नहीं बल्कि व्यापक होना है। व्यापक होने के लिये यह राग-द्वेष छोड़ना है। जैसे आप अपने पांच-चार परिवार वालों या मित्रों में बैठे हैं तो आनन्द में हैं। परन्तु यदि कोई इन पाँच-चार का सुख बिगाड़ने वाला आ गया तो वह हमारा वैरी है। अब उनसे सिकुड़ेगा। लेकिन एक दिन जितने ये पाँच-चार प्रेमी थे, ये भी प्रेमी नहीं रहने तो फिर और छोटा-सा हो गया। तो यह जितना जो है उसमें अपने ब्रह्म को जीव-भाव में छोटा रखना ठीक नहीं है। इसलिए व्यापक का मन बनाना। पुराने ऋषि लोग कहते थे कि जिनका चरित्र उदार है, खुले आम है, व्यापक

है, मन खुला है उनका तो सारा संसार ही अपना कुटुम्ब है।

7. अब ये जितनी भी सारे संसार की माया है, ये पर्दा करने वाली है; इस व्यापकता में जीव को छोटा बनाने वाली है। छोटे के अन्दर ही छोटे का संसार बनाने वाली है और उसी तरह से कर्म करवाती है और व्यापक ब्रह्म की तरफ़ मन को लगने नहीं देती। अब इस लगन को भगवान् में लगाने के लिए सारे शुद्ध कर्म करना, खोटा कर्म कोई होने नहीं देना। मन के भाव भी शुद्ध रखने—जैसे सबके सुख में सुखी होना, किसी के भी दुख में दया भाव जगाना, किसी के छोटे से भी गुण को देख कर प्रसन्न होना और किसी का दोष दिखने पर अनदेखा सा ही मन में रखना। इसी का नाम उपेक्षा है और यहाँ तक भी मन से त्याग करना कि जिस त्याग से हमारा कुछ बिगड़ता नहीं, बल्कि संवरता ही है। हाँ! यदि आप अपना मकान छोड़ दो तो फिर आपके बच्चे कहाँ रहेंगे? धन,परिवार छोड़ दो तो फिर काम कैसे चलेगा? परन्तु यदि ये राग, द्वेष, मान,मोह आपने छोड़ दिये तो इससे आपका कुछ नहीं बिगड़ेगा। इसी तरह व्यर्थ के काम, व्यर्थ की इच्छायें जो पूरा करने पर शरीर को रोगी बनायें और रोगी बनाकर पराधीन करें और पराधीन करके मार डालें, इनकी भी क्या ज़रूरत है? इसके लिए थोड़ा संयम रखना, संयम रख करके फिर इस व्यापक की भक्ति, चाहे कीर्तन द्वारा हो, चाहे जप द्वारा हो, चाहे अपने विचारों द्वारा हो, अपने मन में बैठ करके व्यापक के साथ जोड़-मेला करो।

8. यदि व्यापक के साथ भाव जाग गये, कहीं से आवाज़ आ रही है, कहीं जगराते हो रहे हैं, तो यह नहीं जी! कि मेरी नींद भग हो रही है और ये बच्चों को पढ़ने भी नहीं देते, ये दुष्ट किसी को सोने भी नहीं देते। अब इस व्यापक के बारे में ज्यादा चिन्तन करने से ब्रह्म दूर ही है। ऐसी हालत में क्या है? चलो भई! कहीं जगराते हो रहे हैं, कहीं शादियों के ढोल बज रहे हैं,

कहीं गाने-बजाने में लोग मौज ले रहे हैं तो मैं उस व्यापक ब्रह्म की खुशी में खुश हो जाऊँ। इस तरह यदि आपने अपने मन को खुश कर लिया तो बताओ, आपका कौन बुरा करने वाला है और आप ब्रह्म के बीच में ही मिल गए।

9. यह ब्रह्म अभी निर्विकल्प नहीं है अर्थात् केवल शुद्ध ज्ञान और आनन्द-रूप नहीं है, किन्तु नाना प्रकार के सर्वरूपों वाला है अर्थात् अनन्त आकारों वाला है। यह विकल्पों वाला है, परन्तु इतना है कि मन लगाने के लिए ठीक है। अनन्त जीव हैं तो ब्रह्म का लोक समझ लो, भगवान् विष्णु का लोक समझ लो, लोक तो मिल गया। यह तो नहीं कि मरने के बाद दुर्गति है। उसमें दुर्गति है जिसमें पता नहीं कि शरीर में कैसे विकार होते हैं? रोग आते हैं तो भगवान् की बड़ी दया है। जिसका मन सादा हो गया, जिसका मन बाहर संसार से थोड़ा निकल गया, फिर थोड़ा शुद्ध हो करके व्यापक के प्रति प्रीति कर गया। उधर संसार का राग छूट गया और उस राग को जो भंग करने वाला द्वेष था या इस राग को जो मैला करने वाला था, वह द्वेष छूट गया। अब जो थोड़ा मान, वह जो 'मैं' मिलती है, वह जो प्रेमी-प्यारे 'मैं' देते हैं, वह बड़ी मीठी होती है। अब जब वह 'मैं' नहीं देते और उल्टा-सीधा बोलते हैं तो वहाँ मन नहीं लगता और वहाँ मन कटुता को भी महसूस करता है तथा मान भड़कता है। ऐसी अवस्था में भी वह कटु बोलने वाला आपको भगवान् का प्यारा ही दीखे, तो आपने मान को भी जीत लिया। ऐसी हालत में जब आपका मन नींद को जीतकर जागेगा तो भगवान् की दया से उसको सुख प्रकट होगा। कैसा सुख प्रकट होगा? जैसा नींद में सोने से होता है। यही सुख यदि किसी को जागते-जागते होगा तो यहाँ जो बुद्धि जागेगी अर्थात् इस सुखमयी अवस्था का अनुभव होने पर बुद्धि यदि इस सुख के बारे में खोज करने लगेगी कि यह कहाँ से आया, तो उसको इस परमात्मा की

आनन्दस्वरूपता का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट होगा। तभी यह सच्चा ज्ञानी बनेगा, यह ज्ञानयोग होगा। कैसे बुद्धि जागेगी? अच्छा भई! ये जो सुख आ रहा है ये किसी खाये–पीये का नहीं, आदर–मान का नहीं, बच्चों के प्यार का नहीं, तो यह किसका सुख है? यह भई! अन्दर का ही सुख है। यह देखो, बुद्धि निश्चय करेगी। अन्दर क्या है? अन्दर वही है जो इस देह को जीता रख रहा है सारी देह को चला रहा है, तो क्या वह तेरे अन्दर ही है? सारे विश्व के अन्दर यही व्यापक भगवान् आनन्द–रूप है, इसी का नाम व्यापक ब्रह्म है। अब बतला कि तू मरेगा कैसे? जितने भी संसार में जीव हैं, सब भगवान् के अंग हैं। जब सब भगवान् के ही अंग हैं तो किसी के भी सुख में हम दुःखी नहीं, किसी के भी दुःख में हम सुखी नहीं और किसी में भी गुण हैं तो वह हमें प्यारे हैं लेकिन अवगुणों की तरफ़ हमारी निगाह ही नहीं है। अवगुण तो अपने ही देखना। भगवान् गीता में कहते हैं कि जब किसी को कोई खोटा बर्ताव आता है तो समझो! वह मेरा ही रूप है, परन्तु तभी तक तुमको वह मेरा रूप समझ में नहीं आता जब तक तुम्हारी भक्ति नहीं जागती। यदि तुमने वह खोटा समझा है तो इसलिए कि अभी तुमको पता नहीं कि वहाँ कौन भगवान् बैठा था, किस रूप में था? उस रूप में भी वह प्यारा है।

10. भगवान् गीता में कहते हैं कि जब तेरी भक्ति पूरी हो जायेगी तब ही तुम मेरे को तत्त्व से जानोगे और पहचानोगे कि किसमें मैं किस रूप में बैठा हूँ। हाँ जी! उसने मुझे ऊँचा बोला, तो भई! तुम ध्यान में बैठकर उससे पहले मैत्री करो और उसके ऊँचा बोले हुए शब्दों की उपेक्षा करो, फिर ध्यान करने पर याद आयेगा कि ओहो! किसी समय में मैंने उससे ऐसा–ऐसा बर्ताव किया था, वह उसके मन में रड़क रहा था। उसी रड़क रहे बर्ताव के कारण उसने ऊँचा बोला है, तो बस! फिर इसमें मेरी ही गलती थी, उस बेचारे को क्या दोष देना? जैसे भगवान् की तुमने उसके

अन्दर भावना की थी, वही भगवान् तेरे को वैसा बोल रहा है, यह सब समझ में आया।

11. इसी तरह कोई बच्चे अपने बाप को उल्टी-सीधी बातें बोलते थे। एक दिन उस बाप ने एक महात्मा जी को आकर कहा कि जी! ये मेरे बेटे आपके पास आते हैं, इनको थोड़ा समझा दो कि अपने बाप के साथ थोड़ा बर्ताव ठीक रखें। महात्मा जी ने कहा कि ये बातें तो हम सबको कहा ही करते हैं, इनको भी समझा देंगे। परन्तु महात्मा जी ने उस व्यक्ति से पूछा कि तुम अपने माँ-बाप के प्रति कैसा व्यवहार करते थे? तो उस व्यक्ति ने गिरती-गिरती सी वाणी में कहा कि मैं तो अच्छा व्यवहार ही करता था। परन्तु महात्मा जी ने कहा कि तुम्हारी वाणी तो यह बताती है कि तू इनसे भी निकम्मा था। अब जैसा व्यवहार तू अपने माता-पिता के साथ करता था, वही इन बच्चों ने भी सीख लिया। वे देख रहे थे कि बूढ़ों के साथ कैसा बोला जाता है। ये तो बच्चे थे, इनके मन में वैसी की वैसी तस्वीर आ रही थी। अब जिस वक्त तुम्हारा बुढ़ापे का समय आ गया है, तो इनके वही संस्कार जागकर, जैसा इन्होंने बूढ़ों के साथ बर्ताव देखा था, वैसा ही ये कर रहे हैं। तुम अपना व्यवहार यदि उस समय ठीक कर लेते तो ऐसा क्यों होता। ऐसा कहने का तात्पर्य (मतलब) यह है कि भगवान् किस में किस रूप में बैठा है, इसका थोड़ा ध्यान करो। ध्यान करने पर भगवान् अन्दर प्रकट हो करके बता देगा, उसका पूरा विवरण दे देगा कि भई ऐसा क्यों हुआ? हाँ जी! उनके अन्दर से जो खोटा बोल निकला वह भगवान् ने ही निकलवाया, तो बस अपने में भक्ति रखो। जैसा भी है भगवान् को प्रीति से मन ही मन नमस्कार करो तो यही सच्ची भक्ति है। इसी को भगवान् परा-भक्ति कहते हैं। यह उसी को मिलती है जो ऊपर कहे हुए के अनुसार चले।

12. पहले विशुद्ध बुद्धि से युक्त हो। तो विशुद्ध बुद्धि क्या

है? कि ये संसार के सुख मैले हैं, अनित्य है, दुखदायी हैं और अन्त में इनके संग से जो 'मैं' मिलती है वह बनी रहने वाली नहीं है। तो इसको हटाने वाली, इससे टालने वाली जो बुद्धि है वह शुद्ध बुद्धि है। इस बुद्धि से पहले युक्त हो। जैसे बहुत दिनों से चाय पीते रहे तो उसको चाय न देने पर चाय वाला मन कहता है कि चाय दे दो, नहीं तो किसी से बात भी नहीं करने दूँगा। चाहे आपको वह चाय नुकसान करने वाली है, परन्तु तब भी उसकी शक्ति तो बनी ही बैठी है। इस का नाम है— तृष्णा की शक्ति। वह पुराना मन कहता है कि तू कोई इतना आज़ाद थोड़े ही है कि मनमानी कर ले, मैं तो तेरे को अपने रास्ते पर ही चलाऊँगा। अब इससे बचने के लिए, थोड़ा धर्म की रीति से अपनी आत्मा को थोड़ा नियम में भी रखना, कहीं खुला नहीं छोड़ देना, अपने वश में रखना। वश में रखने का यत्न करोगे तभी बुद्धि आयेगी और तब आगे का रास्ता चला जायेगा। इस प्रकार से नाना प्रकार के रस, उनकी संगत का सुख और उन्हीं का सारा कुछ इन शब्द आदि विषयों को भी थोड़ा पीछे हटा दो। ये जितने ज़रूरत के हैं उतने तो रख लें और जितने कोरा समय बिताने के लिए हैं उनको त्याग दें। राग-द्वेष आदि जो अन्दर बैठे हैं उनका अब त्याग ही कर दिया। राग से किनारा करके अब भजन करने को आ गए, एकान्त में जप कर रहे हैं, परन्तु मन वहीं है। यह है राग वाला मन जो रंगा हुआ उसी की तरफ़ जा रहा है और जिसने विघ्न डाला था, उसकी याद आने पर द्वेष, क्रोध खड़ा करता है। जितने हमारे हैं उनके ऊपर तो राग का रंग चढ़ा हुआ है और जो दूसरे हैं वे हमारे कौन लगते हैं? इस राग-द्वेष को भी थोड़ा ढीला कर लो, तब अहंकार छोड़ना, अपनी 'मैं' नहीं चलाये रखना। 'मैं' किसी की भी सदा चलती नहीं। इस 'मैं' को भी ढीला छोड़ना। यह 'मैं' भी सदा किसी की पूरी होती नहीं। इसलिए इस 'मैं' का त्याग कर दो, फिर ऐसा व्यक्ति

ब्रह्म-भाव को प्राप्त होता है। जैसे कोई भी जीव है, सब भगवान् का है। यह सब उसी का रंग-रूप है। जब वह व्यापक में आ गया तो उसका मन प्रसन्न हो जायेगा। न कोई राग रहा, न कोई द्वेष रहा, न कोई चिन्ता, और न ही कोई भय। चिन्ता, भय उस छोटे दायरे वाले को होता है जो व्यापक भगवान् के दायरे से दूर हो गया हो।

13. अब जिसने भगवान् को सामने रखने की कोशिश की; चाहे ध्यान द्वारा, चाहे कीर्तन द्वारा, चाहे और प्रकार के जाप द्वारा, तो ऐसे व्यक्ति को न कोई शोक होगा और न ही कोई इच्छा होगी। उसको यह ज्ञान होगा कि जो भी प्राणी है, सब चेतन रूप से एक ही है। अब वह प्राणी मेरी 'परे' की भक्ति को प्राप्त होगा। 'परे' की भक्ति क्या है? जहाँ तक मैं 'परे' से 'परे' तक फैला हुआ हूँ। अब वह मेरे को भक्ति योग से जानेगा कि किसमें, 'मैं' किस रूप में बैठा हूँ। भगवान् ने गीता में कहा है— कि छल करने वालों में जूआ भी 'मैं' हूँ। अब ये जो साँप (नाग) हैं इनके बीच में भी शेषनाग 'मैं' हूँ। ये जो भगवान् की विभूतियां हैं जिसको भगवान् की इन सारी विभूतियों का ज्ञान हो गया, तो उसका राग-द्वेष टल गया और एक दिन अकेला हो करके उस आनन्द को प्रकट कर लेगा और उस आनन्द को पाकर यह समझेगा कि जो पाना था वह पा लिया, जो करना था, वह कर लिया और अब आगे पाने की कोई चीज़ भी नहीं है। अब मैं मरूँगा कैसे? संसार भी और सब चीज़ भी तो यही है।



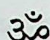
आरती श्री सत्गुरु प्यारे की

आरती सत्गुरु प्यारे की, कि जग के तारण हारे की
गगन से फूल बहुत बरसें,
देवता दर्शन को तरसें।
केसर का तिलक, चाँद–सी झलक,
छवि है मेरे सत्गुरु प्यारे की।
कि जग के तारण हारे की। आरती........
प्रीत मेरे मन में बसे ऐसी,
कि मिश्री बीच मिठत जैसी।
दया जब होय, पाप सब धोय,
लाज रखो दास बेचारे की।
कि जग के तारण हारे की। आरती.......?
प्रभु जी तुम ईशन के ईशा,
अनाथों के हो जगदीशा।
हम भूलनहार, आप बखशनहार,
खड़े हैं तेरे द्वारे जी।
कि जग के तारण हारे की। आरती......
चद्दर पई कान्धे पर सोहे,
छवि पई मन मेरा मोहे।
चिप्पी है हाथ, तू मेरे नाथ,
जावां चरणां तो वारे जी।
कि जग के तारण हारे की। आरती......
हो भक्तों के तुम हितकारी,
कि वर्षा हो रही सी भारी।
सिंहासन छोड़, आ पहुँचे तोड़,
भीग गये वस्त्र सारे जी।
कि जग के तारण हारे की। आरती........

ॐ नमो नारायणाय नमः

After Publishing Jeevan Charit (Edition 2017) donation received from Blessed Donors for further Publishing of three spiritual books i.e. Spirtual Discourses Vol. 1 (A) & (B) in Hindi and Biography of Revered Swamiji Maharaj in English and free Distribution of Spiritual Books of Revered Swami Dayanand 'Giri' ji Maharaj is given below:

S. No.	Name of Donor	Date	R.No.	Amount Rs. P.
1.	Sh. K.C Ahuja, Ambala City	15.01.18	688	5100.00
2.	Smt. Suman Lata Goyal, Patiala w/o Late Sh. Sudershan Kumar Goyal	16.01.18	689	2500.00
3.	Smt. Pana Devi w/o Late Sh. Radha Krishan, Ambala City	16.01.2018	690	2500.00
4.	Sh. Surjit Nagpal, Ambala City	17.01.18	691	5100.00
5.	Smt. & Sh. H.C. Madan, Ambala City	18.01.18	692	2100.00
6.	Sh. Rakesh Gupta, Ambala City	18.1.18	693	1100.00
7.	Sh. N.N. Sharma (Vaid Ji)	18.1.18	694	3100.00
8.	Dr. Neelam Marwaha Ji, Chandigarh	19.1.18	695	51000.00
9.	Sh. Anand Sharma, I.A.S. (Chd.)	19.1.18	696	21000.00
10.	Receipt No. 697	Cancelled	697	----
11.	Smt. & Sh. A.S. Mahajan, A/Cantt	19.1.18	698	21000.00
12.	Shri Madhav Limbajee Jadhav, Pune	22.1.18	699	5100.00
13.	Prof. K.L. Gogia, A/City	22.1.18	700	31000.00
14.	Sh. Yog Raj Garg, Ambala City	30.1.18	701	1100.00
15.	Sh. Jeevan Parkash Kalia, Mata Chintpurini (H.P.)	30.1.18	702	11000.00
16.	Smt. Vimla Bhanot Ji, New Delhi	7.2.18	703	5100.00
17.	Smt. & Sh. Jai Parkash Mathur, Delhi	15.2.18	704	31000.00
18.	Smt. & Sh. Dayanand Mathur, Gurugram	15.2.18	705	21,000.00
19.	Smt. & Sh. Gian Chand Garg, A/City	21.2.18	706	5100.00
	Total			2,24,900.00



Expenditure on publishing three spiritual books : i.e. Spirtual Discourses Vol. 1 (A) & (B) in Hindi and Biography of Revered Swamiji Maharaj in English

S. No.	Description	Amount Rs. P.
1.	Designing of title of 3 books	2000.00
2.	86 Rim (23 x 36) Ballarpur 70 gsm @ Rs. 65/- per kg + Tax	1,11802.00
3.	5 Rim Art Paper (For three books) 140 gsm	12000.00
4.	Multi Colour Printing, Plate Making (For Three Books)	10220.00
5.	Lamination (Three Books)	4000.00
6.	Hard Bound Cloth Binding (Bhag-1 @ Rs. 20/-; Bhag-2 @ Rs. 20/-; Biography @ 14/-) 2200 x 20 =44000; and 1000 x 14 = 14000	58000.00
7.	79 Form B&W Printing (including plate making) @ 180/- per form	14220.00
	Total Expenditure	**2,12,262.00**

—	**After publishing Jeevan Charit 2017 edition of Rev. Swamiji Maharaj Balanced Amount**	**11,123.00**
—	**Exp. on sending the spiritual books till 28.2.18**	**– 1,425.00**
		9698.00
—	**Add : Donation Received from blessed devotees**	**+ 2,24,900.00**
—	**Add : Interest received from 2.9.17 to 2.12.17**	**+ 971.00**
	Total	**2,35,569.00**
	Less: Amount spent on printing	**– 2,12,262.00**
	Balance Left	**23,307.00**







स्वामी जी महाराज द्वारा प्रणीत

आध्यात्मिक जीवन पद्यावली में से लिये गये कुछ छन्द

शुभ गुण किसी का जो, दृष्टि में समाये,
निज में हर्षा कर उसको मन में बसाये।
ईर्ष्या जाये, द्वेष छूटे, टूटे अभिमान;
अल्पता का भाव छूटे, ब्रह्म में प्रयाण ।।50।।

आपहु किये बिना कछु बने नहीं बात,
दूजे के बताने से टूटे न घनी रात।
शुद्ध मन निज में ही सामर्थ्य स्वयं पाये;
सूझने का सभी कुछ स्वयं ही सुझाये।।40।।

किसी का अपराध भी न मन में बसाये,
तासे क्रोध क्षोभ मिथ्या कर्म कराये।
करुणा का संग राखे पर शोधन का भाव;
शम सुख सहित देखे विद्या का प्रभाव।।252।।

तुमने नहीं देखा, नाम सुना भगवान्,
फिर कैसे करोगे निज मन से उसका ध्यान?
सब शुभ गुणों की उसकी मूरत बनाओ;
नामों के सतत् स्मरण से निज मन में बैठाओ।।49।।